प्रश्न और उत्तर

(१९५०-१९५१)

प्रश्न और उत्तर

(१९५०-१९५१)

प्रथम संस्करण १९७५
मूल फ्रेंच भाषामें 'आंत्रतियें : १९५०-५१' के नामसे १९६७ में प्रकाशित
स्वत्वाधिकार श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९६७
हिन्दी अनुवाद © श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९७५
सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : रु० ३०.००

खंड ४

श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्टकी ओरसे
श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी द्वारा प्रकाशित
श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी द्वारा भारतमें मुद्रित
वितरक :
शब्द : श्रीअरविंद बुक्स डिस्ट्रिब्यूशन एजेंसी, पांडिचेरी-६०५००२

प्रकाशकका वक्तव्य

यह बात ध्यान देने योग्य है कि "प्रश्न और उत्तर" शीर्षक यह लेख-माला (जो मूलमें फ्रेंच भाषामें है) किस प्रकार आरंभ हुई। सच पूछा जाय तो इसके लिये कोई स्वेच्छाकृत निर्णय नहीं लिया गया था, बल्कि यह आश्रमकी अधिकांश क्रियावलियोंकी तरह भौतिक आवश्यकताके वश शुरू हुई थी, क्योंकि आश्रममें आध्यात्मिक और भौतिक सर्वदा ही एक-दूसरेमें घुले-मिले रहते हैं। आश्रम "विद्यालय" सन् १९४३ में स्थापित हुआ था; लड़के बड़े हो गये थे और फ्रेंच भाषा सीखने लगे थे; फिर दिन-दिन विद्यार्थियोंकी संख्या बढ़ने लगी थी और अभी पर्याप्त अध्यापक नहीं थे। इसलिये श्रीमाताजीने स्वयं फ्रेंच भाषाकी कुछ क्लासें लेनेका निर्णय किया। वह सबसे ऊंची श्रेणीके विद्यार्थियोंको प्रति सप्ताह तीन दिन पढ़ाने लगीं। वह अपनी फ्रेंच रचनाओं या श्रीअरविंदकी पुस्तकोंके फ्रेंच अनुवादमेंसे कुछ अंश पढ़तीं और विद्यार्थी तथा उनके अध्यापक कुछ प्रश्न पूछते। फिर, धीरे-धीरे, आश्रमके साधक भी इन क्लासोंमें भाग लेने लगे और प्रश्न पूछने लगे। इन वार्तालापोंका मूल यही था और यह "श्रीमाताजीकी क्लास" नामसे अधिक प्रसिद्ध थी। अतएव इसमें पूछे गये प्रश्न सभी प्रकारों और सभी स्तरोंके थे।

आरंभमें ये वार्तालाप शॉर्टहैंडमें लिखे गये थे। उनमेंसे कुछ तो खो गये या अपूर्ण हैं। केवल सन् १९५३ से हमने इन्हें ध्वन्यंकित करना आरंभ किया था।

ये वार्तालाप मूल फ्रेंच तथा अंगरेजी और हिन्दी अनुवादके साथ सबसे पहले 'श्रीअरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र पत्रिका' में अपूर्ण रूपमें छपे थे। इन वार्तालापोंके उद्धरण १९५७ और १९५९ के बीच विभिन्न अंकोंमें प्रकाशित हुए; उसके बाद, इन उद्धरणों और चार व्यक्तिगत वार्तालापों-को छोड़कर बाकी सब नवंबर, १९६३ से फरवरी, १९६७ तक क्रमशः कालक्रमानुसार प्रकाशित हुए।

पुस्तक रूपमें सबसे पहला पूरा संस्करण, 'आंत्रतिएं: १९५०-५१', १९६७ में प्रकाशित हुआ और उसका संशोधित अंगरेजी अनुवाद, 'क्वेस्चन एण्ड आन्सर्स: १९५०-१९५१', सन् १९७२ में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तकका हिन्दी अनुवाद पहली बार ही हो रहा है। इसका अनुवाद प्रधानतया अंगरेजी भाषामें सन् १९७२ में प्रकाशित पुस्तकसे ही किया है, कहीं-कहीं मूल फ्रेंचसे सहायता ली गयी है।

श्रीमाताजीकी रचनाओंका अनुवाद करना एकदम असंभव काम है, लेकिन फिर भी जो मूल — फ्रेंच — समझनेमें असमर्थ हैं उनके लिये यह हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है।

अनुवाद और पुनरीक्षण श्रीअरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्रके हिन्दी विभागने किया है।

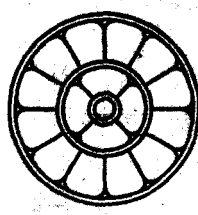

श्रीमातृवाणी

प्रश्न और उत्तर

(१९५०-१९५१)

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

श्रीमाताजी

जन्म

२१ फरवरी, १८७८

भारतमें आगमन

२९ मार्च, १९१४

महासमाधि

१७ नवम्बर, १९७३

शताब्दी

२१ फरवरी, १९७८

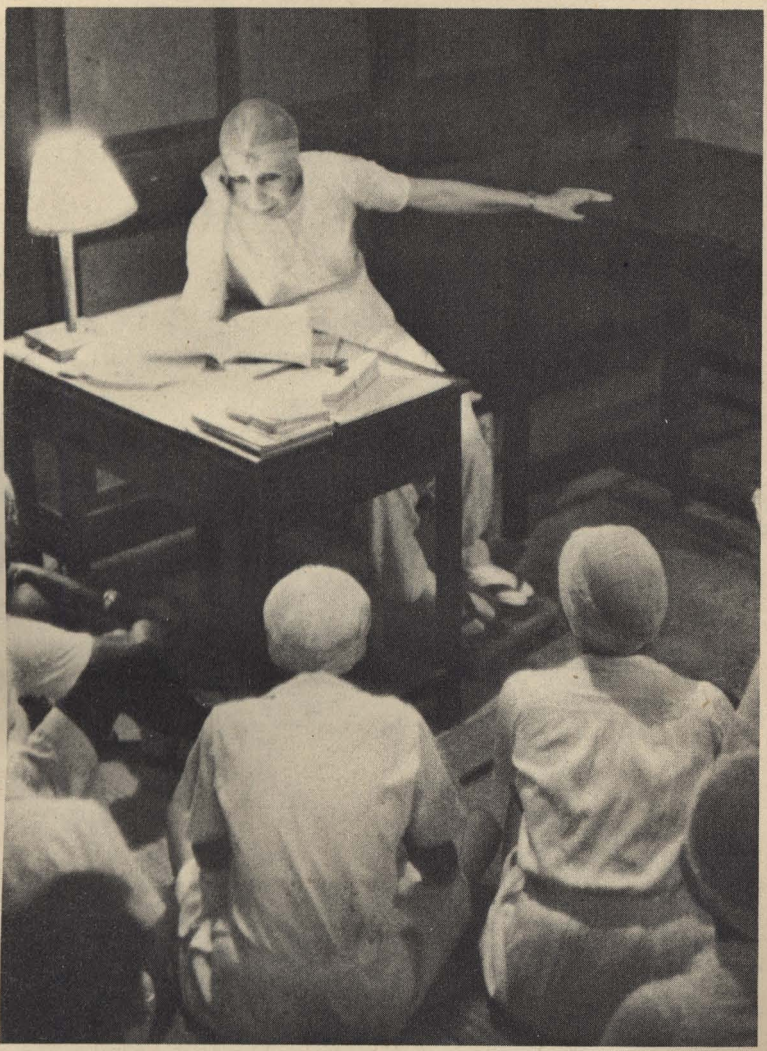

२१ दिसंबर, १९५०

"हे निश्चल प्रशांत चैतन्य! तू एक सनातन रहस्यमयी सत्ता स्फिंक्सके रूपमें विश्वकी सीमापर पहरा दे रहा है; और फिर भी कुछ लोगोंको तू अपना रहस्य बता देता है: वे तेरी परम इच्छाशक्ति बन सकते हैं जो बिना पक्षपातके चुनाव करती और बिना कामनाके कार्य करती है।"

(श्रीमाताजी: 'प्रार्थना और ध्यान', १० नवंबर, १९१४)

यह अचल-अटल 'चेतना' "स्वप्नोंकी माता"[1] है, यह सनातन रहस्यवाली सत्ता है जो विश्वकी सीमापर एक पहेलीके रूपमें पहरा देती है, जिसे हमें हल करना है। यह पहेली हमारे जीवनकी समस्या है, विश्वका मूल अभिप्राय है। हमारे जीवनकी समस्या है भगवान्‌को प्राप्त करना अथवा यों कहें कि फिरसे भगवान्‌के विषयमें सज्ञान होना जो स्वयं 'विश्व-ब्रह्मांड' हैं, जीवनके उत्स, कारण और लक्ष्य हैं।

जो लोग शाश्वत रहस्यमयी सत्ताका गुप्त भेद खोज लेते हैं वे क्रियात्मिका और सर्जनात्मिका दिव्य शक्ति बन जाते हैं।

सत्य चेतनाका विकास करने और आत्मशासन प्राप्त करनेके मूलमें सबसे बड़ी कठिनाई है बिना पक्षपातके चुनाव करना तथा बिना कामनाके कार्य संपन्न करना। इस भावमें चुनाव करनेका तात्पर्य है सत्य वस्तु क्या है यह देखना और उसे जीवनमें उतारना; और इस प्रकार चुनाव करना, किसी वस्तु, किसी व्यक्ति, कार्य और परिस्थितिके प्रति जरा भी व्यक्तिगत पक्षपात रखे बिना चुनाव करना ठीक वह कार्य है जो एक सामान्य मानव-प्राणीके लिये अत्यंत कठिन है। फिर भी बिना किसी पक्षपातके, सभी आकर्षणों और पसंदगियोंसे मुक्त होकर, एकमात्र पथ-प्रदर्शक परम सत्यके पक्षमें खड़े होकर हमें कार्य करना सीखना होगा; और एक बार जब हम परम सत्यके अनुरूप आवश्यक कार्यका चुनाव कर लें तब हमें बिना किसी कामनाके उसे कार्यान्वित करना होगा।

यदि तुम ध्यानपूर्वक अपनेको देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि काम करनेसे पहले तुम्हें एक आंतरिक आवेगकी आवश्यकता होती है, एक ऐसी चीज-

---

[1] "स्वप्नोंकी माता" श्रीअरविंदकी एक कविताका नाम है।

की आवश्यकता होती है जो तुम्हें चलाती है। साधारण मनुष्यमें यह आगे बढ़ानेवाली चीज प्रायः कामना होती है। इस कामनाके स्थानपर परम सत्यके एक सुस्पष्ट, यथार्थ और सतत दर्शनको ला बिठाना होगा।

कुछ लोग इसे ईश्वरकी 'वाणी' या ईश्वरकी 'इच्छा' कहते हैं। इन शब्दोंका सच्चा अर्थ विकृत हो गया है, इसलिये मैं "परम सत्य" कहना पसंद करती हूं, यद्यपि यह उस परम सद्वस्तुका एक बहुत ही सीमित पक्ष है जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता, परंतु जो समस्त सत्ताका मूल स्रोत और लक्ष्य है। मैं जानबूझकर 'ईश्वर' शब्दका प्रयोग नहीं कर रही हूं, क्योंकि धर्मोंने यह नाम एक ऐसी सर्वशक्तिमान् सत्ताको दे रखा है जो इस सृष्टिसे भिन्न तथा इससे बाहर है। यह अयथार्थ है।

परंतु भौतिक स्तरपर यह विभेद सुस्पष्ट है। क्योंकि अभीतक हम वही सब हैं जो हम नहीं होना चाहते, और वह, वह (भगवान्) वह सब हैं जो हम होना चाहते हैं।

हम यह कैसे जान सकते हैं कि भागवत इच्छा क्या है?

हम इसे जानते नहीं, अनुभव करते हैं। इसे अनुभव करनेके लिये हमें इतनी अधिक तीव्रताके साथ, इतनी अधिक सच्चाईके साथ इच्छा करनी चाहिये कि प्रत्येक बाधा दूर हो जाय। जबतक तुम्हारे अंदर कोई अभिरुचि, कोई कामना, कोई आकर्षण, कोई पसंदगी है तबतक ये सब चीजें तुमसे परम सत्यको छिपाये रखती हैं। अतएव, सर्वप्रथम कर्तव्य है अपनी चेतनाकी समस्त क्रियाओंपर प्रभुत्व स्थापित करने, शासन करने तथा उन्हें सुधारने और जो परिवर्तित न हो सकें उन्हें जड़मूलसे निकाल बाहर करनेका तबतक प्रयास करते रहना जबतक कि वे (समस्त क्रियाएं) परम सत्यकी एक पूर्ण एवं स्थायी अभिव्यक्ति न बन जायें।

और इसकी इच्छा करना ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि बहुत बार हम इसकी इच्छा करना ही भूल जाते हैं।

आवश्यकता इस बातकी है कि हमारे अंदर एक ऐसी अभीप्सा हो जो हमारी सत्ताके अंदर एक स्थायी अग्निकी तरह जलती रहे और जब-जब हमारे अंदर कोई कामना, कोई अभिरुचि, कोई आकर्षण उठे तब-तब उसे इस अग्निमें झोंक दिया जाय। यदि तुम इसे लगातार करते रहो तो देखोगे कि तुम्हारी सामान्य चेतनाके अंदर सत्य-चैतन्यकी एक क्षीण किरण उदित होने लगी है। प्रारंभमें वह धीमी होगी, कामनाओं, अभिरुचियों, आकर्षणों और पसंदगियोंके समस्त कोलाहलके पीछे बहुत दूर होगी।

परंतु तुम्हें इन सबके पीछे जाना होगा और उस सत्य-चैतन्यको प्राप्त करना होगा जो पूर्ण स्थिर, प्रशांत और लगभग निश्चल-नीरव है।

जो लोग सत्य-चैतन्यके संपर्कमें होते हैं वे एक साथ ही सभी संभावनाओंको देखते हैं और यदि आवश्यक हो तो जानबूझकर अत्यंत प्रतिकूल संभावनातकको चुन सकते हैं। परंतु इस बिंदुतक पहुंचनेके लिये तुम्हें बहुत दूरतक जाना होगा।

अपनी रुचियोंको उदासीन कर देना चाहिये या भूल जाना चाहिये ?

वे तुममें होनी ही नहीं चाहियें !

जब मन शांत हो जाता है, जब वह निर्णय देना, अपने तथाकथित ज्ञानके द्वारा अपनेको आगे बढ़ाना बन्द कर देता है तो मनुष्य-जीवनकी समस्याको हल करना आरंभ करता है। मनुष्यको निर्णय देनेसे दूर रहना चाहिये, क्योंकि मन केवल कर्मका एक यंत्र है, सच्चे ज्ञानका यंत्र नहीं— सच्चा ज्ञान दूसरी जगहसे आता है।

यदि मनुष्य निर्णय देनेसे दूर रहे तो वह अधिकाधिक 'सत्य' के यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करेगा और संसारकी नव-दशांश विपत्तियां दूर हो जायेंगी।

यदि मन यह स्वीकार कर सके कि वह नहीं जानता तो संसारकी महान् विशृंखला बहुत अधिक हदतक समाप्त हो जायगी।

इसके बाद "विचार और झांकियां" पुस्तकके इस अंशपर विचार किया गया: 'जब हम भोगोंके परे चले जाते हैं तब हमें मिलता है आनंद। कामना ही सहायक थी और अब कामना ही बाधक है।' श्रीमाताजीने तुरत इतना और जोड़ दिया:

...उस अवस्थाके अनुसार जहां तुम हो।

स्वभावतः ही मैं उन लोगोंकी बात कर रही हूं जो सच्चाईके साथ अपने सच्चे सत्यके विषयमें सचेतन होना और अपने जीवनमें उसे प्रकट करना चाहते हैं...। मैं समझती हूं, जो लोग यहां हैं उन सबपर यह बात लागू होती है।

और मैं अध्यापकोंसे कहती हूं कि उन्हें अधिकाधिक 'सत्य' के अनुसार

शिक्षा देनी चाहिये, क्योंकि हम यहां स्कूल चलाते हैं तो इसलिये कि वह संसारके लाखों-करोड़ों स्कूलोंसे भिन्न हो; इसलिये कि वह बालकोंको साधारण जीवन और दिव्य जीवन, सत्यके जीवनके बीच विभेद करनेका — वस्तुओं-को दूसरे तरीकेसे देखनेका मौका दे। यहां साधारण जीवनको ही दुह-राते रहनेकी इच्छा करना व्यर्थ है। अध्यापकका लक्ष्य है बच्चोंकी आंखों-को एक ऐसी वस्तुकी ओर खोल देना जो उन्हें अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगी।

२३ दिसंबर, १९५०

श्रीमाताजी 'बुलेटिन', अप्रैल १९४९ में छपे
अपने लेख 'एकाग्रता और विक्षेप' को
पढ़ती हैं।

यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि समस्याको हल करने, कोई पाठ पढ़नेके लिये बहुत अधिक एकाग्रता और लवलीनताकी — बौद्धिक लवलीनता और एकाग्रताकी — आवश्यकता होती है। परंतु एकाग्रता केवल बौद्धिक वस्तु ही नहीं है, यह सत्ताकी सभी क्रियाओंमें, यहांतक कि शारीरिक क्रियाओंमें भी, पायी जा सकती है। अपनी स्नायुओंपर तुम्हारा ऐसा संयम होना चाहिये कि तुम जो कुछ करते हो उसपर पूर्ण रूपसे एकाग्र हो सको और, अपनी एकाग्रताकी तीव्रताके द्वारा ही बाह्य स्पर्शोंके प्रति तुरत प्रत्युत्तर प्राप्त कर लो। ऐसी एकाग्रता प्राप्त करनेके लिये शक्तियों-के ऊपर सचेतन प्रभुत्व प्राप्त करनेकी आवश्यकता होती है।

क्या तुम उन शक्तियोंके प्रति सचेतन हो जिन्हें तुम ग्रहण करते और खर्च करते हो?

मनुष्य जब कोई शक्ति खर्च कर देता है, विशेषकर जब वह उसे अत्य-धिक नष्ट कर देता है तो वह उसके विषयमें कम या अधिक सचेतन होता है! यहां मुख्य प्रश्न है ग्रहण और व्ययके बीचके सतत विनिमयका! समझ आनेसे पहले छोटे-छोटे बच्चे बहुत सारी शक्ति ग्रहण करते हैं और उसे खुले दिल, बिना सोचे-विचारे खर्च करते हैं और इस कारण बिना थके लगातार घंटों खेलते रहते हैं। परंतु धीरे-धीरे, जैसे-जैसे विचार विकसित होता है वैसे-वैसे, मनुष्य खर्च की हुई शक्तिको नापना-तौलना

और उसका हिसाब लगाना आरंभ कर देता है — साधारणतया यह निरर्थक है, क्योंकि तुम्हें जबतक शक्ति ग्रहण करनेकी प्रक्रियाका ज्ञान नहीं हो जाता तबतक ग्रहण की हुई शक्तिको अपने अंदर निष्क्रिय रखनेकी जगह मुक्त रूपसे खर्च करते रहना ही अधिक अच्छा है।

सबसे पहले तुम्हें शक्तियोंको ग्रहण करनेके विषयमें, अपनी सत्तामें उनके प्रवेश करने तथा खर्च हो जानेके विषयमें सचेतन होना चाहिये। दूसरे, तुम्हारे अंदर एक प्रकारकी उच्चतर सहजवृत्ति होनी चाहिये जो तुम्हें यह बता दे कि अत्यंत अनुकूल शक्तियां कहांसे आती हैं; फिर तुम विचारके द्वारा, स्थिरताके द्वारा अथवा किसी दूसरी प्रक्रियाके द्वारा — बहुत-सी प्रक्रियाएं हैं — उन शक्तियोंके साथ अपना संपर्क स्थापित करो। तुम्हें इस बातका ज्ञान होना चाहिये कि तुम किस शक्तिको चाहते हो, वह कहांसे आती है और उसमें क्या है। उसके बाद ही ग्रहण की हुई शक्ति-पर संयम प्राप्त होता है। नब्बे प्रतिशत लोग पर्याप्त शक्ति ग्रहण नहीं करते या बहुत अधिक ग्रहण करते हैं और जो कुछ ग्रहण करते हैं उसे हजम नहीं करते — ज्यों ही वे काफी मात्रामें ले चुकते हैं त्यों ही तुरत-फुरत अशांत-चंचल बनकर, बातचीत करके, शोरगुल मचाकर या अन्य उपायोंसे उसे बाहर फेंक देते हैं। तुम्हें यह जानना चाहिये कि ग्रहण की हुई शक्तिको किस प्रकार अपने अंदर बनाये रखा जाता है और किसी दूसरी चीजपर नहीं, केवल अभीप्सित क्रियापर उसे पूर्णतः एकाग्र किया जाता है। यदि तुम यह कर सको तो तुम्हें अपनी इच्छाका उपयोग करनेकी आवश्यकता नहीं होगी। तुम्हें बस आवश्यकता होगी गृहीत शक्तियोंको एक साथ एकत्र करने तथा उन्हें सचेतन रूपमें व्यवहृत करने-की, जो कुछ तुम चाहते हो उसे संपन्न करनेके लिये अधिक-से-अधिक तल्लीनताके साथ एकाग्र होनेकी।

फिर तुम जो करना **चाहते हो** — तुम्हारी सत्ताका उच्चतर भाग जो करना चाहता है — उसका सच्चा मूल्य आंकना आना चाहिये, क्योंकि मनुष्य जो कुछ करना **चाहता है** उसे करना कठिन नहीं है।

एकाग्रता क्या चीज है?

इसका अर्थ है अपनी चेतनाके बिखरे हुए सभी धागोंको एक ही बिंदुपर, एक ही भाव या विचारपर वापस ले आना। जो लोग पूर्ण मनोयोगकी स्थिति प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं वे जो कार्य हाथमें लेते हैं उसीमें सफल

होते हैं; वे हमेशा तेज प्रगति करते हैं। और इस प्रकारकी एकाग्रता ठीक मांसपेशीकी भांति विकसित की जा सकती है; इसके लिये मनुष्य प्रशिक्षणके विभिन्न पथों, विभिन्न पद्धतियोंका अनुसरण कर सकता है। उदाहरणके लिये, तुम जानते हो कि अत्यंत दयनीय दुर्बल व्यक्ति भी नियमित अभ्यासके द्वारा किसी भी अन्य व्यक्तिके समान बलशाली हो सकता है। मनुष्यका संकल्प ऐसा नहीं होना चाहिये जो मोमबत्तीकी तरह झिलमिलाकर बुझ जाय।

संकल्पशक्तिको, एकाग्रताकी शक्तिको अवश्य बढ़ाना चाहिये; बस, प्रश्न है पद्धतिका, नियमित अभ्यासका। यदि तुम चाहो तो कर सकते हो।

परंतु संकल्पको कमजोर बनानेके लिये यह विचार नहीं उठना चाहिये कि 'भला इससे लाभ क्या'? यह भावना कि मनुष्य एक विशिष्ट स्वभाव लेकर पैदा होता है और उस विषयमें कुछ भी नहीं कर सकता, एक मूर्खतापूर्ण बात है।

२५ दिसंबर, १९५०

एक शिष्य बच्चोंको समझाते हैं कि जब सूर्य २१ दिसंबरको सबसे अधिक दक्षिणकी ओर झुक जाता है तो उस दिन सालका सबसे छोटा दिन होता है; उसके बाद सूर्य फिरसे उत्तरकी ओर बढ़ने लगता है। श्रीमाताजी टिप्पणी करती हैं:

यही कारण है कि ईसामसीहसे बहुत पहलेसे २५ दिसंबर 'ज्योति' का त्योहार माना जाता था। यह त्योहार ईसाई धर्मके बहुत पहलेसे प्रचलित था; यह मिस्रमें प्रारंभ हुआ था और बहुत संभव है कि 'ज्योति' के वापस आनेके दिनके रूपमें उसी दिनको ईसाका जन्मदिन निश्चित कर दिया गया हो।

उसके बाद श्रीमाताजी अगस्त, १९४९ के 'बुलेटिन' से 'अक्षय शक्ति' शीर्षक अपना लेख पढ़ती हैं।

यह क्यों होता है कि जैसे-जैसे मानसिक क्रियाएं बढ़ती हैं वैसे-वैसे अपनी शक्तियोंको पुनः प्राप्त करनेकी क्षमता घटती जाती है?

वयस्क लोगोंमें मानसिक क्रिया शक्तियोंके आदान-प्रदानकी सहज-स्वाभाविक क्रियाको नष्ट कर देती है। चौदह वर्षकी उमरतक प्रत्येक बालक, कुछ थोड़े-से विरल अपवादोंको छोड़कर, एक छोटा-सा पशु होता है; वह पशुओं-की तरह, एक जैसी क्रियाओं और परिवर्तनोंके द्वारा, अपनी शक्तियोंको सहज-स्वाभाविक रूपसे पुनः-पुनः प्राप्त करता रहता है। परंतु मन सत्ता-के अंदर असंतुलन ले आता है; सहज-स्वाभाविक क्रियाके स्थानपर एक ऐसी चीज आ जाती है जो जानना, नियमित करना, निश्चित करना आदि-आदि चाहती है। और अपनी शक्तियोंको सहज-स्वाभाविक रूपमें पुनः-पुनः प्राप्त करनेकी इस क्षमताको फिरसे पानेके लिये मनुष्यको सहजवृत्ति-से ऊपर, एक उच्चतर स्तरपर उठना होता है, अर्थात्, सामान्य मानसिक क्रियासे ऊपर सीधे संबोधिमें पहुंच जाना होता है।

(श्रीमाताजी पढ़ना जारी रखती हैं): **"....फिर भी शक्तिका एक ऐसा स्रोत है जो, एक बार प्राप्त कर लेनेपर, कभी नहीं सूखता, चाहे जीवनकी परिस्थितियां और शारीरिक अवस्थाएं जो भी क्यों न हों। यह वह शक्ति है जिसे हम आध्यात्मिक शक्ति कह सकते हैं, जिसे हम नीचेसे, निश्चेतनाकी गहराईमेंसे नहीं, बल्कि ऊपरसे, मनुष्यों तथा विश्वके परम मूलसे, अति-चेतनके सर्वशक्तिमान् और शाश्वत ज्योतिपुंजसे ग्रहण करते हैं। यह यहां, हमारे चारों ओर सर्वत्र विद्यमान है और प्रत्येक वस्तुमें अनुप्रविष्ट हो रही है। उसके साथ संबंध स्थापित करने और उसे ग्रहण करनेके लिये बस इतना ही पर्याप्त है कि हम सच्चाईके साथ उसके लिये अभीप्सा करें, श्रद्धा और विश्वासके साथ उसकी ओर अपने-आपको खोलें जिसमें कि हमारी चेतना विश्वगत चेतनाके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करनेके लिये विस्तारित हो जाय।"**

मैं इन लेखोंमें समूची यौगिक शब्दावलीको सामान्य शब्दोंमें भर देनेकी कोशिश कर रही हूं, क्योंकि 'बुलेटिन' के ये अंक अधिकांशतः उन लोगोंके लिये अभिप्रेत हैं जो साधारण जीवन यापन करते हैं — यद्यपि ये योगके विद्यार्थियोंके लिये भी हैं — मेरा मतलब है कि उन लोगोंके लिये हैं जो

प्रधान रूपसे, विशुद्धतः भौतिक स्थूल जीवनमें दिलचस्पी रखते हैं पर साथ ही अपने भौतिक जीवनमें उससे अधिक पूर्णता प्राप्त करनेका प्रयास करते हैं जिसे लोग सामान्य परिस्थितियोंमें प्रायः पा लेते हैं। यह बहुत कठिन कार्य है पर यह एक प्रकारका योग है। ये लोग अपनेको 'जड़वादी' कहते हैं और यदि यौगिक शब्दोंका व्यवहार किया जाय तो ये उत्तेजित या क्रुद्ध हो उठनेकी प्रवृत्ति रखते हैं, इसलिये हमें उनकी ही भाषा बोलनी चाहिये और ऐसे शब्दोंसे बचना चाहिये जिनसे उन्हें धक्का पहुंचनेकी संभावना हो; परंतु अपने जीवनमें मैं ऐसे लोगोंसे परिचित हुई हूं जो अपनेको 'जड़वादी' कहते थे और फिर भी उन लोगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक कठोर साधनाका अनुसरण करते थे जो योग करनेका दावा करते हैं।

हम बस यह चाहते हैं कि मनुष्य प्रगति करे; वह चाहे यौगिक जीवन यापन करनेका दावा करे या न करे, इससे कुछ नहीं आता-जाता, बशर्ते कि वह प्रगति करनेके लिये आवश्यक प्रयास करे।

ध्यान और एकाग्रतामें क्या अंतर है?

ध्यान विशुद्धतः मानसिक क्रिया है; इसमें केवल मानसिक सत्ता रस लेती है। मनुष्य ध्यान करते समय एकाग्र हो सकता है पर यह मानसिक एकाग्रता है; वह नीरवता प्राप्त कर सकता है पर यह शुद्ध मानसिक नीरवता है, और सत्ताके अन्य भाग अचल-अटल और निष्क्रिय रखे जाते हैं ताकि वे ध्यानमें बाधा न डालें। तुम दिनके बीस घंटे ध्यानमें बिता सकते हो फिर भी बाकी चार घंटे एकदम साधारण मनुष्य ही बने रहोगे, क्योंकि ध्यानके समय केवल मन ही संलग्न रहा है — सत्ताके बाकी अंगोंको, प्राण और शरीरको, दबाकर रखा गया था ताकि वे बाधा न डालें। ध्यानमें सत्ताके अन्य भागोंके लिये सीधे तौरपर कुछ भी नहीं किया जाता।

अवश्य ही इसकी अप्रत्यक्ष क्रियाका कुछ फल हो सकता है पर...। मैंने अपने जीवनमें ऐसे लोगोंको देखा है जिनमें ध्यान करनेकी अद्भुत क्षमता थी, परंतु, ध्यानसे बाहर आनेपर, वे अत्यंत साधारण व्यक्ति बन जाते थे, यहांतक कि कभी-कभी बुरे व्यक्ति बन जाते थे; अगर उनके ध्यानमें बाधा पड़ती तो वे आग-बबूला हो उठते थे। क्योंकि उन्होंने केवल अपने मनको ही अपने वशमें रखना सीखा था, सत्ताके बाकी अंगोंको नहीं।

परंतु एकाग्रता उससे अधिक सक्रिय स्थिति है। तुम मनमें एकाग्र हो सकते हो, प्राणमें, चैत्य पुरुषमें, शरीरमें एकाग्र हो सकते हो। यहां-

तक कि सर्वांगीण रूपसे सत्ताके समस्त भागोंमें एकाग्र हो सकते हो। एकाग्र होना अथवा एक बिंदुपर अपने-आपको एकत्र कर लेनेमें समर्थ होना ध्यान करनेसे कहीं अधिक कठिन है। तुम अपनी सत्ता या चेतनाके एक भागको एकत्र कर सकते हो अथवा अपनी संपूर्ण चेतनाको या उसके विभिन्न अंशोंको एकत्र कर सकते हो अर्थात् तुम्हारी एकाग्रता आंशिक, पूर्ण या सर्वांगपूर्ण हो सकती है और प्रत्येक अवस्थामें परिणाम अलग-अलग होगा।

अगर तुममें एकाग्र होनेकी शक्ति है तो तुम्हारा ध्यान अधिक मजेदार और करनेमें अधिक आसान होगा। परंतु मनुष्य एकाग्रताके बिना भी ध्यान कर सकता है। बहुत-से लोग अपने ध्यानमें विचारोंकी एक शृंखलाका अनुसरण करते हैं — इसे ध्यान कहते हैं एकाग्रता नहीं।

जिस क्षण हम पूर्ण एकाग्रताकी स्थितिमें पहुंच जाते हैं और फिर जिस क्षण इस एकाग्रतासे आरंभ करके विश्वव्यापी शक्तिकी ओर खुलते हैं, उन दोनों क्षणोंको क्या हम स्पष्ट जान सकते हैं?

हां, तुम किसी चीजपर एकाग्र होते हो या जहांतक तुम्हारे लिये संभव हो अपने-आपको एकत्र करते हो। जब तुम अपनी एकाग्रतामें एक प्रकारकी पूर्णता प्राप्त कर लो और यदि इस पूर्णताको पर्याप्त दीर्घकालतक बनाये रख सको तो एक दरवाजा खुल जाता है और तुम अपनी सामान्य चेतनाकी सीमाके परे चले जाते हो — तुम एक गभीरतर या उच्चतर ज्ञानमें प्रवेश कर जाते हो अथवा अपने अंदर पैठ जाते हो। तब तुम एक प्रकारकी चकाचौंध करनेवाली ज्योतिका, एक आंतरिक चमत्कारका, एक प्रकारके आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण निश्चल-नीरवताका अनुभव करते हो। निःसंदेह, ऐसी अनेक संभावनाएं हैं पर घटनाक्रम बराबर एक जैसा ही होता है।

इस अनुभवको प्राप्त करना पूरी तरह इस बातपर निर्भर है कि अपनी एकाग्रताको उसकी पूर्णताके सर्वोच्च शिखरपर पर्याप्त लंबे कालतक बनाये रखनेकी तुममें कितनी क्षमता है।

क्या इस अनुभवको पानेके लिये हर बार एकाग्र होना आवश्यक है?

आरंभमें, हां, क्योंकि जो कुछ तुमने प्राप्त किया है उसे बनाये रखनेकी, अपनी एकाग्रताको अधिक-से-अधिक मात्रामें बनाये रखनेकी सामर्थ्य तुममें

नहीं है — तुम नीचे सरक आते हो और जो अनुभूति तुम्हें हुई है उसकी स्मृति भी खो देते हो। परंतु तुम जब एक बार एक पथपर चल चुकते हो तो उसी पथपर दूसरी बार और बार-बार चलना अधिक आसान होता जाता है। अतएव दूसरी एकाग्रता पहलीसे अधिक आसान होती है। तुम्हें एकाग्रताका अभ्यास तबतक करते रहना चाहिये जबतक कि तुम एक ऐसी स्थितिमें न पहुंच जाओ जहां फिर अपना आंतरिक संपर्क कभी न खोओ।

उस समयसे तुम्हें इसी आंतरिक और उच्चतर चेतनामें बराबर बने रहना चाहिये जहांसे तुम सब काम कर सकते हो। उस समय तुम अपने शरीरको और जड़ जगत्‌को देखते हो और यह जानते हो कि तुम्हें क्या करना चाहिये और उसे कैसे करना चाहिये।

यह एकाग्रताका प्रथम उद्देश्य है, पर स्वभावतः ही अंतिम लक्ष्य नहीं है।

इस एकाग्रताको प्राप्त करनेके लिये बहुत अधिक प्रयासकी आवश्यकता है; तुरत-फुरत या यहांतक कि शीघ्रतासे इसका फल पाना बहुत कम संभव होता है। परंतु एक बार यदि भीतरी दरवाजा खुल जाता है तो तुम इस संबंधमें निस्संदिग्ध हो सकते हो कि तुम यदि निरंतर प्रयास करते रहना जानो तो वह फिर अवश्य खुलेगा।

जबतक दरवाजा नहीं खुल जाता तबतक तुम अपनी क्षमतापर संदेह कर सकते हो, पर जब एक बार वह खुल गया तो फिर संदेह करना संभव नहीं, बशर्ते कि तुम अपनी अभीप्सा और संकल्पको निरंतर बनाये रखो।

इस अनुभवका बहुत बड़ा मूल्य है।

'स्वप्नोंकी माता' का क्या अर्थ है?

जब श्रीअरविंद 'अचल-अटल' और प्रशान्त 'चैतन्य' की चर्चा करते हैं तब वह बहुधा काव्यमय भाषाका प्रयोग करते हैं जो बहुत व्यंजनात्मक होती है। उन्होंने 'स्वप्नोंकी माता' पदका व्यवहार किया है, क्योंकि उन्होंने अपनेको उस व्यक्तिके स्थानमें रखा है जो नीचे है, जो किसी रहस्यमयी वस्तुको, एकदम आश्चर्यमयी, दुष्प्राप्य और प्रायः दुर्बोध वस्तुको देखता है, निहारता है। परंतु तुम यदि दूसरे दृष्टिकोणसे देखो तो तुम कह सकते हो कि वह सृजनात्मिका 'चेतना,' 'विश्वका' 'मूलस्रोत,' 'विश्वजननी,' सृष्टिकर्त्री महाशक्ति आदि-आदि है।

जब हम बुरी तरह खेलते हैं तब देखते हैं कि हमारे अंदर

शक्ति ही नहीं है, पर जब हम अच्छे ढंगसे, बहुत अधिक उत्साहके साथ खेलते हैं तो देखते हैं कि शक्ति आ रही है। ऐसा क्यों ?

यह पूर्णतः सत्य है। पार्थिव शक्तिके साथ संपर्क बनानेके लिये हमें स्वयं अपने अंदर एक विशेष प्रकारका सामंजस्य स्थापित करना चाहिये। यदि तुम खेलको अच्छी तरह जानते हो, यदि तुम खेलकी चालोंको चलना जानते हो और उसमें उत्साहपूर्ण दिलचस्पी लेते हो, यदि तुममें एक प्रकार-की महत्त्वाकांक्षा है (बिलकुल बालोचित शायद), जीतनेकी इच्छा है तो जैसे-जैसे तुम सफलता प्राप्त करते जाते हो वैसे-वैसे तुम एक प्रकारका हर्ष अनुभव करते हो, वह संभवतः बहुत गहरा नहीं होता, परंतु वह शक्ति-के आदान-प्रदानके लिये आवश्यक समस्वरता उत्पन्न करता है। दूसरी ओर, जो लोग यह नहीं जानते कि हार कैसे स्वीकार की जाती है, जो अपनी इच्छाके अनुसार सब कुछ घटित न होनेपर क्रोधित और लाल-पीले हो जाते हैं, वे अपनी शक्ति अधिकाधिक खोते जाते हैं।

और फिर तुम अवसादमें गिर पड़ो तो तुम शक्तिके प्रत्येक स्रोतको—ऊपरसे, नीचेसे, सर्वत्रसे,—काट देते हो। यह तामसिकतामें जा गिरनेका सबसे उत्तम तरीका है। तुम्हें निरुत्साहित होना पूरी तरह अस्वीकार कर देना चाहिये।

अवसाद सर्वदा तीव्र अहंकारका द्योतक होता है। जब तुम उसे अपने समीप आते हुए अनुभव करो तो अपने-आपसे कहो : "मैं अहंकारकी बीमारी-की अवस्थामें हूं, मुझे अपनेको इससे मुक्त करना होगा।"

२८ दिसंबर, १९५०

श्रीमाताजी नवम्बर १९४९ की 'बुलेटिन' से 'यथार्थ निर्णय' शीर्षक लेख पढ़ती हैं। हमारे निर्णयको गलत बनानेवाले विभिन्न तत्त्वोंका विवेचन करनेके बाद श्रीमाताजी आगे इस प्रकार व्याख्या करती हैं :

मनुष्यकी इंद्रियां उसकी मनोवैज्ञानिक स्थितिके प्रभावके अधीन होती हैं,

क्योंकि आंखोंके दर्शन और मस्तिष्ककी ग्रहणशीलताके बीच कोई चीज आ जाती है। यह बहुत सूक्ष्म वस्तु है; मस्तिष्क स्नायुओंके माध्यमसे आंखोंके दर्शनोंको ग्रहण करता है; वहां कोई बौद्धिक क्रिया नहीं होती; वह मानों तत्क्षण होता है, परंतु आंखके देखने और मस्तिष्कमें उसका प्रत्युत्तर देनेवाले तथा उसका मूल्यांकन करनेवाले कोषके बीच एक क्षीण अवकाश होता है। और वास्तवमें मस्तिष्कका यह मूल्यांकन ही भावनाओंके प्रभावके अधीन होता है। जो कुछ आंख देखती है और मस्तिष्क उसे जो मूल्य प्रदान करता है उन दोनोंके बीचका यह क्षीण प्रकंपन ही प्रत्युत्तरको मिथ्या बना देता है। और यह कोई सद्भावका प्रश्न नहीं है, क्योंकि अत्यंत सच्चे लोग भी यह नहीं जानते कि क्या घटित हो रहा है, अत्यंत शांत-स्थिर लोग भी, जिनमें कोई तीव्र भावावेग नहीं होता, जो कोई भावावेग अनुभव भी नहीं करते, इस प्रकार प्रभावित हो जाते हैं और इस हल्के-से मिथ्या बनानेवाले प्रकंपनके हस्तक्षेपको नहीं समझ पाते।

कभी-कभी नैतिक भावनाएं भी मिलजुल जातीं और निर्णयको गलत बना देती हैं, पर हमें सभी नैतिक भावनाओंको अपनेसे बहुत दूर फेंक देना चाहिये; क्योंकि नैतिकता और 'सत्य' एक-दूसरेसे बहुत दूर हैं (यदि मेरी इस बातसे किसीको चोट पहुंच रही हो तो मुझे इसका दुःख है, पर बात ऐसी ही है)। जब तुम समस्त आकर्षण और समस्त विकर्षणको जीत चुकोगे केवल तभी यथार्थ निर्णय कर सकोगे। जबतक ऐसी चीजें हैं जो तुम्हें आकर्षित करती हैं और ऐसी चीजें हैं जो तुम्हें विकर्षित करती हैं तबतक तुम्हारे लिये यह संभव नहीं कि तुम्हारी इन्द्रियां पूर्णतः विश्वसनीय रूपसे कार्य कर सकें।

प्रत्येक व्यक्ति, उदाहरणार्थ, यह जानता है कि जब कोई दुर्घटना घटित होती है तो वहां उसे देखनेवाले दो, तीन या दस व्यक्ति हो सकते हैं पर सभी लोग एक ही चीज कभी नहीं देखते; घटती एक ही बात है पर कोई दो व्यक्ति ऐसे नहीं होते जो उसे एक ही ढंगसे देखते हों। आंतरिक धक्केके होनेसे वे जो कुछ घटित होता है उसके केवल एक बहुत छोटे-से भागको ही देखते हैं।

परंतु सभी धारणाओंको — एक भावना और उसके विपरीत भावनाको — सुसमंजस करनेका एक तरीका है — रेखाके दो छोरोंके रूपमें उन्हें समझना चाहिये; फिर इन दो छोरोंके बीचमें एक-दूसरीके पीछे आनेवाली अनगिनत दूसरी भावनाओंको रखना चाहिये, फिर तुम देखोगे कि उनके मध्य एक प्रकारकी संगति है। तुम्हें यह भी मालूम होगा कि यह एक बहुत मजेदार अभ्यास है।

(श्रीमाताजी पढ़ना जारी रखती हैं) : **"जो मनुष्य पसंद और नापसंद, कामनाओं और अभिरुचियोंसे एकदम ऊपर उठ गया है, केवल वही प्रत्येक वस्तुकी ओर पूर्ण निष्पक्षताके साथ उन इन्द्रियोंके द्वारा देख सकता है जो विशुद्ध बाह्य रूपसे वस्तुओं-की ओर उसी तरह देखती हैं जैसे सजीव चेतनाकी स्पष्ट दृष्टि-से युक्त कोई अत्यंत सूक्ष्म और पूर्ण मशीन देखती है।"**

मैं कहती हूं "बाह्य या वस्तुनिष्ठ रूपसे"। बाह्य रूपसे देखनेका तात्पर्य स्वयं अपनी ओरसे कुछ भी मिलाये बिना, समस्त व्यक्तिगत प्रतिक्रियासे मुक्त होकर देखना और निर्णय देना। मनुष्यको कोई व्यक्तिगत भावना मिलाये बिना वस्तुओंको देखना सीखना चाहिये।

और मैं यह भी जोड़ रही हूं कि यह 'पूर्ण मशीन' सजीव चेतनाकी स्पष्ट दृष्टिके बिना कुछ नहीं कर सकती। जब चेतना 'एक' होती है तो तुम तादात्म्यके द्वारा जान सकते हो; अर्थात् अपनी चेतनाको उस वस्तु या मनुष्यके साथ युक्त करके जिसे तुम निष्पक्ष भावसे जानना या जिसके बारे-में निष्पक्ष भावसे निर्णय देना चाहते हो, तुम उस वस्तु या मनुष्यके साथ एक आंतरिक संपर्क स्थापित कर लेते हो और फिर पूर्ण निश्चितताके साथ उसे जान लेना तुम्हारे लिये संभव हो जाता है।

.....फिर निर्णयको विकृत और दूषित करनेवाली चीज है परिमाणोंके विषयमें हमारी दुश्चिंता। पूर्ण रूपसे सत्य निर्णय देनेके लिये तुम्हें यह जानना चाहिये कि कामनाके बिना उसे किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय और कैसे कर्म किया जाय — हजारमें केवल एक ही व्यक्ति ऐसा कर सकता है। लगभग सभी लोग परिणामके विषयमें आतुर होते हैं अथवा परिणाम प्राप्त करनेके लिये महत्त्वाकांक्षी होते हैं। उन्हें परि-णामोंके विषयमें उत्कंठित नहीं होना चाहिये; बस, इसलिये कार्य करो कि तुमने जान लिया है कि यही काम है जिसे तुम्हें अवश्य करना चाहिये; अपने-आपसे कहो : "मैं इसे कर रहा हूं, क्योंकि यही वह चीज है जिसे करना चाहिये, और पीछे चाहे जो हो उससे मेरा कोई मतलब नहीं।"

यह स्पष्ट ही एक आदर्श है और जबतक इसे प्राप्त नहीं कर लिया जाता तबतक कार्यमें सर्वदा मिलावट रहेगी। अतएव जबतक तुम परम सत्यके सुस्पष्ट दर्शनके द्वारा परिचालित नहीं होते, तुम्हें सर्वदा वही कार्य करनेका नियम बना लेना चाहिये जो तुम्हारे लिये करणीय है, क्योंकि बस करने लायक वही कार्य है, और कोई नहीं।

३० दिसंबर, १९५०

"हम सफलताकी खोज नहीं करते, हमारा लक्ष्य तो है पूर्णता। हम यश और प्रसिद्धिकी इच्छा नहीं करते, हम एक भागवत अभिव्यक्तिके लिये अपने-आपको तैयार करना चाहते हैं।"

(श्रीमाताजी : 'टूर्नामेंट' बुलेटिन, अप्रैल १९५०)

'पूर्णता' क्या है ?

कुछ लोग पूर्णताको शीर्ष स्थानपर रखते हैं। सामान्यतया लोग सोचते हैं कि मनुष्य जो कुछ अधिक-से-अधिक कर सकता है वही पूर्णता है। परंतु मैं कहती हूं कि शीर्षाग्र ही पूर्णता नहीं है, वह कोई चरम सीमा नहीं है। कोई चरम सीमा है ही नहीं — जो कुछ तुम करते हो उससे अधिक अच्छा करनेकी संभावना सर्वदा बनी रहती है, और ठीक और अधिक अच्छा करनेकी संभावना ही प्रगतिका वास्तविक अर्थ है।

जब कोई चरम सीमा ही नहीं है तब भला हम पूर्णता कैसे प्राप्त कर कर सकते हैं ?

यदि हम कोई प्रगति करें तो क्या यह कहा जा सकता है कि हम 'पूर्णता'की ओर जा रहे हैं ?

तुम 'पूर्णता' और 'प्रगति'को एक साथ मिला-जुला रहे हो। तुम अनिवार्य रूपसे 'पूर्णता'की ओर ही प्रगति नहीं करते। प्रगतिमें संभवतः एक विशेष प्रकारकी पूर्णता है, परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि प्रगति ही 'पूर्णता' है। बल्कि 'प्रगति' एक प्रकारका आरोहण है।

'पूर्णता' एक प्रकारकी समस्वरता, साम्यावस्था है।

परंतु साम्यावस्था क्या है ? यहां किसने थोड़ी-सी भौतिकी पढ़ी है ?

तराजूमें, जब दोनों पलड़ोंमें समान भार रख दिया जाता है तब कहा जाता है कि साम्यावस्था या संतुलन स्थापित हो गया है।

हां, ठीक है। और जब मैं कहती हूं कि 'पूर्णता' एक प्रकारकी साम्यावस्था या संतुलन है तो मेरा क्या मतलब होता है ?

जब, एक विशेष परिस्थितिमें, सिद्धिके विपरीत जो कुछ होता है, अर्थात् जो कुछ विरोध होता है उसे एक सचेतन शक्ति-द्वारा जीत लिया जाता है तो परिणाम सिद्धिकी अभिव्यक्ति होता है।

हां, कुछ-कुछ ऐसा ही होता है, परंतु मैं इसे दूसरी तरहसे कहना चाहूंगी।

पूर्णताकी भावना एक ऐसी चीज है जो हमारे पास भगवान्‌से आती है, यह एक स्तरसे दूसरे स्तरमें उतरती है; और हम एक स्तरसे दूसरे स्तरमें वापस ऊपर उठते हैं।

यह भी एक विकसनशील भावना है। हमेशा ही यही कहा जाता है कि जब कोई सृष्टि अपनी अधिकतम संभावनाको प्राप्त हो जाती है तो उसे ही पूर्णता कहते हैं; पर यही पूर्णता नहीं है! और ठीक यही वह भावना है जिसका मैं प्रतिवाद करती हूं। यह सब प्रगतिका एक पग है। अर्थात्, प्रकृतिके पास जो कुछ होता है उसकी चरम सीमापर पहुंचकर जब वह देखती है कि वह और आगे नहीं बढ़ सकती, और अधिक नहीं हिल सकती तो वह सब कुछ नष्ट कर देती है और फिरसे आरंभ करती है। इसे पूर्णता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्णताका विनाश नहीं किया जा सकता। पूर्णता केवल तभी आयेगी जब प्रकृति जो कुछ आरंभ कर चुकी है उसे फिर नष्ट न कर सके। अभीतक ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जिसमें उसने जो कुछ आरंभ किया था उसे यह समझकर नष्ट न कर दिया हो कि यह पर्याप्त नहीं था या वह जो कुछ करना चाहती थी वह नहीं था। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अपनी सृष्टिमें पूर्णता प्राप्त कर ली है। उसने जो कुछ किया है उसे यदि विनष्ट करनेकी आवश्यकता न पड़े तभी उसे अधिकतम कहा जा सकता है।

आप कहती हैं कि हमें सफलताकी खोज नहीं है, पर क्या सफलता एक प्रकारकी पूर्णता नहीं है?

साधारण मानव मनके लिये शायद सफलता एक प्रकारकी पूर्णता है, पर हमारे लिये नहीं।

पूर्णता कोई निष्क्रिय स्थिति नहीं है, यह एक प्रकारकी संतुलनकी अवस्था है; पर एक प्रगतिशील, सक्रिय संतुलन है। मनुष्य पूर्णतासे पूर्णताकी

ओर जा सकता है। एक ऐसी अवस्था आ सकती है जहांसे और आगे जानेके लिये किसी निचली सीढ़ीपर उतर आनेकी आवश्यकता नहीं होगी; वर्तमान समयमें प्रगतिकी चाल इसी प्रकारकी है, पर इस नयी स्थितिमें, पुनः आगे बढ़नेके लिये, पीछे लौटनेके लिये बाध्य होनेकी जगह हम सदा आगेकी ओर, कभी रुके बिना, चल सकते हैं। वास्तविकता यह है कि मनुष्य एक बिन्दुपर आ जाता है और, मानव सत्ताकी वर्तमान परिस्थितिमें वह असीम रूपमें प्रगति नहीं कर सकता, उसे या तो एक उच्चतर जातिमें बदल जाना होगा अथवा वर्तमान जातिको छोड़कर अन्य जाति पैदा करनी होगी। मनुष्य, जैसा कि वह है, तबतक पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता जबतक कि वह अपने-आपसे बाहर नहीं निकल जाता—मनुष्य एक मध्यवर्ती सत्ता है। साधारण भाषामें यह कहा जा सकता है: "ओह! यह मनुष्य पूर्ण है।" परंतु यह एक साहित्यिक अलंकार है। ठीक आजकी स्थितिमें मनुष्य अधिक-से-अधिक जो कुछ प्राप्त कर सकता है वह है एक ऐसा संतुलन जो प्रगतिशील नहीं होता। संभवतः वह एक स्थितिशील संतुलन प्राप्त कर सकता है, पर जो कुछ स्थितिशील होता है वह सब प्रगतिके अभावके कारण भंग हो सकता है।

क्या सत्ताके प्रत्येक भागमें भगवान्‌की संसिद्धि ही पूर्णता नहीं है?

नहीं, जो तुम सोच रहे हो वह फिर प्रगतिकी सीढ़ीका एक डंडा है, 'पूर्णता' नहीं है।

अब हम एक ऐसी परिभाषा पानेकी चेष्टा करेंगे जो सभी अवस्थाओंमें — अर्थात् व्यक्ति, समष्टि, पृथ्वी और विश्वमें — लागू हो सके।

हम कह सकते हैं कि 'पूर्णता' व्यक्तिमें, समष्टिमें, पृथ्वीपर और विश्वमें तभी प्राप्त होगी जब कि **प्रत्येक** 'मुहूर्त्त', अभिव्यक्त होनेवाली 'शक्ति'के प्रति हमारी ग्रहणशीलता प्रकार और मात्रामें एक समान होगी।

यही है परम संतुलनकी अवस्था।

अतएव, जो कुछ ऊपरसे आता है और जो कुछ नीचेसे प्रत्युत्तर देता है उन दोनोंके बीच कोई पूर्ण संतुलनकी अवस्था अवश्य होगी, और इन दोनोंका मिलन ही पूर्ण संतुलनकी अवस्था है और वही है 'सिद्धि' — सतत प्रगतिमें सिद्धि।

(फिर माताजी वही लेख पढ़ना जारी रखती हैं):

"....'प्रतीत' होनेकी अपेक्षा 'होना' कहीं अधिक अच्छा है। यदि हमारी सच्चाई पूर्ण हो तो हमें अच्छा प्रतीत होनेकी आवश्यकता नहीं। और पूर्ण सच्चाईसे हमारा तात्पर्य यह है कि हम अपने सभी विचारों, सभी हृद्गत भावों, सभी इंद्रिय-संवेदनों और सभी कर्मोंमें अपनी सत्ताके केंद्रीय सत्यके सिवा और कोई चीज अभिव्यक्त न करें।"

जब तुम पूर्णतः सच्चे होते हो तो तुम अपनी सत्ताके उच्चतम आदर्शके साथ, अपनी सत्ताके सत्यके साथ समस्वर होकर जीवन बितानेका सतत प्रयत्न करते हो। प्रत्येक मुहूर्त्त, तुम जो-जो कुछ सोचते, जो कुछ अनुभव करते और जो कुछ करते हो उस सबमें, यथासंभव समग्र रूपमें, यथासंभव पूर्ण रूपसे, तुम अपने-आपको उच्चतम आदर्शके साथ अथवा, यदि उसके विषयमें सचेतन हो तो, अपनी सत्ताके सत्यके साथ समस्वर बनाते हो—तब तुम यथार्थ सच्चाईको प्राप्त करते हो। और, यदि तुम वैसे हो, यदि तुम अहंकारजन्य उद्देश्योंसे या व्यक्तिगत कारणोंसे कार्य नहीं करते, यदि तुम अपने आंतरिक सत्यके द्वारा परिचालित होकर कार्य करते हो, अर्थात् यदि तुम पूर्णतः सच्चे हो तो, चाहे सारा जगत् तुम्हारा विरोध किसी भी ढंगसे क्यों न करे, तुम्हारे लिये कोई फर्क नहीं पड़ता। पूर्ण सच्चाईकी इस अवस्थामें तुम्हें अच्छा प्रतीत होनेकी अथवा दूसरोंके द्वारा समर्थित होनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि जब तुम अपनी सत्य चेतनाके साथ समस्वर होते हो तो तुम सबसे पहली चीज यह अनुभव करते हो कि तुम इस बातकी परवा नहीं करते कि तुम कैसे दीखते हो। चाहे तुम ऐसे दीखो या वैसे, चाहे तुम उदासीन, तटस्थ, निर्लिप्त, चकित प्रतीत होओ, इस सबका कोई महत्त्व नहीं, बशर्ते कि, मैं इसे फिर दुहरा दूं, तुम पूर्ण रूपसे सच्चे होओ। अर्थात् तुम कभी यह न भूलो कि अपने आंतर, केंद्रीय सत्यको उपलब्ध करनेके लिये ही जीते हो।

अन्य किसीको प्रसन्न करना नहीं, बल्कि भगवान्‌को ही प्रसन्न करना, पूर्णता नहीं है क्या?

हां, यदि तुम चाहो, ऐसा कह सकते हो पर मनुष्य जब सच्चा नहीं होता तो वह बहुत आसानीसे अपने-आपको धोखा दे देता है; और यदि कोई अपनेको सुखी अनुभव करता है तो वह कहता है: "ओह, मुझे विश्वास है कि मैं भगवान्‌को प्रसन्न कर रहा हूं।"

४ जनवरी, १९५१

श्रीमाताजी अगस्त, १९५० की 'बुलेटिन'से
"रूपांतर" शीर्षक लेख पढ़ती हैं और फिर
उसकी व्याख्या करती हैं :

हम चाहते हैं सर्वांगीण रूपांतर, शरीर और उसकी सारी क्रियाओंका रूपांतर।

पहले जब रूपांतरकी बात कही जाती थी तब उसका एकमात्र अभिप्राय होता था आंतरिक चेतनाका रूपांतर। स्वयं अपने अंदर गभीरतर चेतना-की खोजनेका प्रयास किया जाता था और शरीर तथा उसकी क्रियाओंको बोझ और अनावश्यक वस्तु मानकर उनका परित्याग कर दिया जाता था ताकि एकमात्र आंतरिक क्रियाओंमें ही तल्लीन रहा जा सके। श्रीअरविंदने घोषणा की कि यह पर्याप्त नहीं है; 'सत्य'की मांग है कि भौतिक प्रकृति को भी इस रूपांतरमें भाग लेना चाहिये और गभीरतर 'सत्य'की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। किंतु जब लोगोंने यह सुना तो बहुतोंने समझा कि यह जानने-का जरा भी कष्ट उठाये बिना ही कि अंतरमें क्या हो रहा है, शरीर और उसकी क्रियाओंको रूपांतरित करना संभव है। स्वभावतया ही यह बात पूरी-पूरी ठीक नहीं है। सब चीजोंसे अधिक कठिन है भौतिक रूपांतर, और इस कार्यको हाथमें लेनेसे पहले तुम्हें अपनी आंतरिक चेतनाको 'सत्य'के अंदर दृढ़ और ठोस रूपसे प्रतिष्ठित करना होगा ताकि यह रूपांतर 'सत्य'-की अंतिम अभिव्यक्ति हो सके। — कम-से-कम इस समयके लिये यही है।

इस रूपांतरका आरंभ-बिंदु है ग्रहणशीलता, हम इसकी बात पहले कह चुके हैं। रूपांतर संसिद्ध करनेके लिये यह अपरिहार्य शर्त है। तब आता है चेतनाका परिवर्तन। चेतनाके परिवर्तन और उसकी तैयारीकी तुलना प्रायः अंडेके अंदर मुर्गीके बच्चेकी तैयारीसे की जाती है। अंतिम क्षणतक अंडा देखनेमें वही-का-वही बना रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं दीखता, और जब बच्चा पूरा रूप ले लेता है, एकदम जीवंत हो उठता है, तब स्वयं वह बच्चा अपनी नन्हीं चोंचसे अंडेके छिलकेमें छेद कर देता है और बाहर निकल आता है। चेतनाके परिवर्तनके क्षणमें ठीक ऐसी ही कुछ चीज होती है। लंबे अरसेतक तुम्हें ऐसा लगता है कि कुछ भी नहीं हो रहा, तुम्हारी चेतना पूर्ववत् ही है, और यहांतक कि यदि तुममें तीव्र अभीप्सा है, तो तुम्हें एक विरोधका भी अनुभव होता है, मानो तुम किसी दीवारसे टकरा रहे हो जो

चिल्ला नहीं चाहती। किंतु जब तुम अंदरसे तैयार हो जाते हो, एक आखिरी प्रयास.... सत्ताके छिलकेपर चोंचकी एक चोट, — और सारी चीज खुल पड़ती है और तुम दूसरी चेतनामें जा पहुंचते हो।

मैंने कहा था कि यह "मूलगत संतुलनमें ही क्रांति" है, अर्थात् चेतना पूर्णतः उलट जाती है। इसकी तुलना समभाजक कांच या प्रिज्ममेंसे गुजरने-वाली प्रकाश-किरणकी अवस्थासे की जा सकती है। या यह मानो ऐसा होता है जैसे तुमने किसी गेंदके अंदरके हिस्सेको उलटकर बाहर कर दिया हो, जो कि केवल चतुर्थ आयाममें ही किया जा सकता है। व्यक्ति तीन आयामोंवाली सामान्य चेतनासे निकल आता है और चौथे आयामकी उच्च-तर चेतनामें और फिर असंख्य आयामोंमें प्रवेश कर जाता है। यही अपरि-हार्य आरंभबिंदु है। जबतक तुम्हारी चेतनाका आयाम नहीं बदल जाता, वह जैसी-की-तैसी बनी रहेगी, चीजोंको छिछली दृष्टिसे ही देखेगी और सारी गहराइयां उससे ओझल रहेंगी।

क्या यहां कोई ऐसा है जो चेतनाकी इस उलट-पलटका अनुभव कर चुका है और अपने अनुभवको (मौनमें) व्यक्त कर सकता है?

क: यह अनुभव मुझे हृदयमें पीड़ाकी भांति हुआ और सारे दिन बना रहा। दूसरे दिन जब मैं बिस्तरसे उठा तो मुझे ऐसा लगा मानों मैं गहरे ध्यानसे उठा हूं और मेरे सारे विचार, मेरे सारे कार्य एक ऐसी चीज या ऐसे केंद्रसे निर्देशित होते जान पड़े जो मेरे सिरके समीप रहकर नियन्त्रण कर रहा था। मेरे मुंहसे निकलनेवाला प्रत्येक शब्द सही था।

यह पीड़ा कैसी थी? दबाव जैसी? चीरने जैसी? तनाव जैसी?

क: ऐसा लगता था मानों मेरे अंदर कोई चीज प्रसव नहीं थी, किंतु यह सब कुछ रातको बदल गया और दूसरे दिन सुबह बेचैनी चली गयी थी।

निस्संदेह, यह चीज थी उच्चतर चेतनाकी ओर सूनका उद्घाटन; उच्चतर चेतनाकी ओर मनोमय चेतनाका आरोहण। और शायद मानुक प्राणसत्तामें कोई विरोध था जिसके कारण वह पीड़ा हुई थी, दुःखका बोध हुआ था, और जो रात्रिको उच्चतर लोकमें चेतनाके उन्मुक्त होते ही विलीन हो गया।

ख : जब मैं श्रीअरविंदके सामने खड़ा हुआ, मैंने एक तीखी पीड़ा अनुभव की। मैंने उनसे प्रार्थना की कि मुझे मुक्त करें। और एकाएक पीड़ा तीव्र आनंदमें बदल गयी।

यह अपने चैत्य पुरुषके साथ तुम्हारा संपर्क था।

ग : पृथ्वीसे ऊपर चेतनाके आरोहणकी अनुभूति प्रायः ही होती है। हम ऐसे प्रदेशमें प्रवेश करते हुए प्रतीत होते हैं जहां सब समस्याएं, सब प्रश्न हल होनेकी जगह विलीन हो जाते हैं। उनका फिर कोई महत्त्व नहीं प्रतीत होता। फिर भी यह "ज्ञानसे ज्ञानकी ओर" आना नहीं है।

यह है चैत्य केंद्रमें विद्यमान भगवान्‌के प्रति आंतरिक सत्ताका उद्घाटन और यहां तुम हर क्षण केवल यही नहीं जानते कि क्या करना चाहिये बल्कि यह भी जानते हो कि उसे क्यों करना चाहिये और कैसे करना चाहिये, और तुम चीजोंके बाह्य रूपके पीछे विद्यमान सत्यको देखनेकी दृष्टि पा जाते हो। चीजोंको देखनेका जो सामान्य तरीका है, दूसरे शब्दोंमें, तुम जो इन्हें बाहरसे देखते हो और इतना अधिक बाहरसे देखते हो कि किन्हीं विरल प्रसंगोंको छोड़कर, तुम यह भी नहीं जान पाते कि दूसरा व्यक्ति क्या सोच रहा है (तुम्हें बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है, तुम्हें केवल चीजोंकी सतह दिखायी देती है, सतहके पीछे होनेवाली कोई भी चीज नहीं दिखायी देती), परंतु यह आंतरिक उद्घाटन हो जानेपर और चैत्य केंद्रमें विद्यमान भागवत उपस्थितिसे यह तादात्म्य हो जानेपर, तुम चीजोंको अंदरसे बाहरकी ओर देखने लगते हो और तुम जो कुछ अंदर देखते हो उसकी कम या अधिक विकृत अभिव्यक्ति ही उसका बाह्य रूप बन जाती है : तुम सत्ताओंकी आंतरिक स्थितिके प्रति सचेतन हो जाते हो और उनका रूप, उनका बाह्य अस्तित्व इस आंतरिक सत्यकी कम या अधिक विकृत अभिव्यक्ति होता है। इसीलिये मैं कहती हूं कि मूलगत संतुलन ही पूरी तरह बदल जाता है। जगत्‌से बाहर होने और उसे अपनेसे बाहरकी किसी चीजके रूपमें देखनेकी बजाय तुम जगत्‌के अंदर रहते हो और बाहरी रूपोंको अंदर ही की चीजकी — जो तुम्हारे लिये सत्य है — न्यूनाधिक रूपमें बेढंगी अभिव्यक्तिके तौरपर देखते हो।

८ जनवरी, १९५१

श्रीमाताजी अगस्त १९५० की 'बुलेटिन' से "बालकको क्या जानना चाहिये" शीर्षक लेख पढ़ती हैं :

> आप कहती हैं कि मनुष्यको "यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि अंतमें सत्यकी विजय होगी।" परंतु यह दृढ़ विश्वास तो मनुष्य जो कुछ साधारण जीवनमें सीखता है उससे बहुत भिन्न, और बहुधा उसके बहुत विपरीत प्रतीत होता है?

हां। साधारण तौरपर यह विश्वास किया जाता है कि प्रकृतिमें सभी वस्तुएं सर्वदा बुरे रूपमें समाप्त होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति उन लोगोंकी कहानी जानता है जो अपने जीवनमें महान् सफलताका उपभोग करनेके बाद शोचनीय अंतको प्राप्त हुए, उन लोगोंकी कहानी जानता है जिनमें असाधारण क्षमताएं थीं और जिन्होंने अंतमें उन्हें खो दिया; उस राष्ट्रकी कहानी जानता है जो दीर्घकालतक एक अद्‌भुत सभ्यताका उदाहरण था — सभ्यता लुप्त हो जाती है और राष्ट्र एक ऐसी शोचनीय वस्तुमें बदल जाता है कि कोई याद भी नहीं कर पाता कि वह पहले क्या था। ऐसा लगता है कि पृथ्वीका इतिहास ऐसी जीतोंकी कहानी है जिनके बाद हारें आती हैं, ऐसी हारोंकी कहानी नहीं जिनके बाद जीतें आती हैं।

परंतु वास्तवमें जब कभी वैश्व और दिव्य वस्तुओंका प्रश्न उठता है विराट् दर्शन-शक्ति तथा दिव्य ज्ञानशक्तिकी आवश्यकता होती है जिससे यह जाना जा सके कि सत्य किस प्रकार अभिव्यक्त होता है। संसारमें एक प्रकारकी सामान्य निराशावादी दृष्टि है जो कहती है कि वस्तुएं अच्छे रूपमें भले शुरू हों पर समाप्त बुरे रूपमें ही होती हैं; वास्तवमें दुर्बलता, धूर्तता, मिथ्याचार और दुष्टता ही वे चीजें हैं जो सर्वदा प्राधान्य प्राप्त करती प्रतीत होती हैं। यही कारण है कि जिन लोगोंने संसारको अपने निजी व्यक्तिगत आयामके अंदर देखा है उन्होंने कहा है कि संसार बुरा है और जितनी जल्दी संभव हो हमें उसे समाप्त कर देना चाहिये और इससे बाहर निकल जाना चाहिये। गुरुजोंने यह शिक्षा तो दी है, परंतु उनकी शिक्षा केवल यही सिद्ध करती है कि उनकी दृष्टि अत्यंत संकीर्ण है तथा उनके मानवीय व्यक्तित्वके आयामसे सीमित है।

वास्तवमें, भंगुरिणी वतिया स्पार-गाडीकी तरह होती हैं; वे आगे बढ़ती हैं, फिर पीछे हटती हैं, आगे बढ़ती और पीछे हटती हैं; इसका अर्थ होता है, वैश्व जीवनमें और पार्थिव जीवनमें भी, उत्तरोत्तर प्रगति, यद्यपि ऊपर-से देखनेमें यह प्रगति पीछेके हटावसे कट जाती है। परंतु ये पीछेके हटाव केवल बाहरी रूप हैं, ठीक जैसे आदमी आगे कूदनेके लिये पीछे हटता है। तुम पीछे हटते हुए प्रतीत होते हो पर वह केवल और आगे जा सकनेके लिये होता है।

परंतु तुम मुझसे कहोगे कि यह सब तो बहुत ठीक है, पर एक बच्चेको यह विश्वास कैसे दिलाया जाय कि सत्यकी विजय होगी? कारण, जब वह इतिहास पढ़ेगा, जब वह प्रकृतिका अवलोकन करेगा तो वह देखेगा कि वस्तुएं सर्वदा अच्छे रूपमें समाप्त नहीं होतीं।

बच्चोंको जगत्‌में भागवत अभिव्यक्तिको देखना सिखाना चाहिये न कि उस पक्षको जो बुरे तौरपर समाप्त होता है।

नहीं, यदि बच्चा यह समझे कि भगवान् जगत्‌से भिन्न हैं तो उसकी यह भावना कि प्रत्येक वस्तु बुरे रूपमें समाप्त होती है, बिलकुल उचित होगी।

सन् १९६२ में, जिस समय यह वार्तालाप प्रकाशित हुआ, श्रीमाताजीने सानुषंगिक रूपसे निम्नांकित मंतव्य व्यक्त किया: "तो भी, मूलतः अबतक मृत्यु विद्यमान है वस्तुएं सर्वदा बुरे ढंगसे समाप्त होती रहेंगी। जब मृत्यु-पर विजय प्राप्त हो जायगी अर्थात् जब नयी प्रगति करनेके लिये 'निश्चेतना'-में वापस जानेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी — केवल तभी यह संभव होगा कि वस्तुएं बुरी तरह समाप्त न हों।

"विकासकी, कम-से-कम पार्थिव विकासकी, सारी प्रक्रिया इसी प्रकारकी है (मैं नहीं जानती कि अन्य ग्रहोंमें यह कैसे होती है!) पश्चिमवालों-का कहना है कि विश्वकी सृष्टि होती है, फिर वह प्रलयमें खिंच जाता है, फिर एक नया विश्व आता है और इसी प्रकार चलता रहता है। और इसके अनुसार हमारा यह सातवां विश्व होना चाहिये, और सातवां होने-के कारण यह वह विश्व है जो प्रलयमें वापस नहीं जायगा बल्कि पीछे हटे बिना निरंतर प्रगति करता रहेगा। इसी कारण आज मानव-सत्तामें स्था-यित्वकी और अविच्छिन्न प्रगतिकी यह आवश्यकता विद्यमान है। यह इसलिये है कि समय आ गया है।"

बच्चोंको भागवत न्यायकी भावना देनी चाहिये।

परंतु उस विषयके बारेमें हम कुछ भी नहीं जानते, क्योंकि अभी जगत् जैसा है उसमें यह न्याय अभिव्यक्त नहीं होता।

फिर भी, यदि कोई जरा-सी गहराईके साथ वस्तुओंका निरीक्षण करे तो वह देखता है कि प्रगति हो रही है, वस्तुएं अधिक अच्छी, और अच्छी-से-अच्छी होती जा रही हैं, यद्यपि ऊपरसे देखनेमें उनमें कोई सुधार नहीं होता। और कुछ ऊंचाईपर बैठी हुई चेतनाके लिये यह बिलकुल स्पष्ट होता है कि समस्त अशुभ — कम-से-कम हम जिसे अशुभ कहते हैं — समस्त मिथ्यात्व, जो कुछ 'सत्य'के विपरीत है वह सब, समस्त दुःख-कष्ट, समस्त बाधा-विरोध एक प्रकारके असंतुलनका परिणाम है। मैं समझती हूं कि जो व्यक्ति इस उच्चतर स्तरसे वस्तुओंको देखनेका अभ्यासी है वह तुरत देखता है कि बात ऐसी ही है। परिणामतः, विश्व किसी असंतुलनपर स्थापित नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह बहुत समय पहले ही विलीन हो गया होता। हम अनुभव करते हैं कि विश्वके मूलमें कोई परमोच्च संतुलनकी स्थिति अवश्य रही होगी, और संभवतः, जैसा कि हमने उस दिन कहा था, एक उत्तरोत्तर बढ़ते हुए संतुलनकी अवस्था रही होगी, संतुलनकी ऐसी अवस्था जो उस सबके ठीक विपरीत होगी जिसे हमें "अशुभ" कहना सिखाया गया है और जिसे हम यह नाम देनेके अभ्यस्त हो गये हैं। कोई वस्तु "अशुभ" नहीं है, बल्कि एक प्रकारका "अशुभ" है, कम या अधिक आंशिक असंतुलन है।

यह बात बहुत सरल ढंगसे बच्चोंको सिखायी जा सकती है। यह बात भौतिक वस्तुओंकी सहायतासे दिखायी जा सकती है कि कोई वस्तु संतुलित अवस्थामें न होनेपर गिर सकती है, जो वस्तुएं संतुलनकी स्थितिमें होती हैं केवल वे ही अपने स्थान और कालावधिको बनाये रख सकती हैं।

एक दूसरा भी गुण है जिसे बहुत छोटी उम्रसे ही बच्चोंमें पैदा करना चाहिये : वह है व्याकुलताको, नैतिक अशांतिको अनुभव करनेका अभ्यास जिसे वह उस समय अनुभव करता है जब वह कोई काम कर डालता है, इसलिये नहीं कि उससे उसे न करनेके लिये कहा गया था, इसलिये नहीं कि वह दंडसे डरता है, बल्कि सहज-स्वाभाविक भावसे अनुभव करता है। उदाहरणार्थ, एक बच्चा दुष्टतावश अपने एक साथीको चोट पहुंचाता है; अब, यदि वह अपनी सामान्य, स्वाभाविक स्थितिमें है तो बेचैनी अनुभव करेगा, अपनी सत्ताकी गहराईमें दुःख अनुभव करेगा, क्योंकि उसने जो कुछ किया है वह उसके आंतरिक सत्यके विपरीत है।

कारण, समस्त शिक्षाओंके बावजूद, विचार-बुद्धि जिन सब चीजोंको सोच-समझ सकती है उन सबके बावजूद, उसकी सत्ताकी गहराईमें कोई ऐसी चीज है जिसमें एक पूर्णताका, महानताका, सत्यका बोध है और इस सत्यका विरोध करनेवाली समस्त गतिविधियोंके द्वारा उसका दुःखद रूपमें खंडन किया गया है। यदि बच्चा अपनी परिस्थितियोंके द्वारा, अपने चारों ओरके शोचनीय उदाहरणोंके द्वारा नष्ट नहीं हुआ है तो फिर यदि वह अपनी सामान्य अवस्थामें है तो वह अपनी सत्ताके सत्यके विपरीत कोई बात करनेपर, सहजभावसे, किसीके कुछ कहे बिना, एक प्रकारकी बेचैनी अनुभव करेगा। और ठीक यही चीज है जिसपर आगे चलकर उसकी प्रगतिका प्रयास आधारित होना चाहिये।

कारण, यदि तुम अपनी प्रगतिका आधार बनानेके लिये किसी एक शिक्षा या किसी सिद्धांतको ढूंढना चाहो तो तुम ऐसी कोई चीज कभी नहीं पाओगे—अथवा, अधिक यथार्थ रूपमें कहा जाय तो, तुम कोई और ही वस्तु पाओगे, क्योंकि वातावरण, युग, सभ्यताके अनुसार दी हुई शिक्षाएं एक-दूसरेसे एकदम विपरीत होती हैं। जब एक आदमी कहता है "यह अच्छा है", तो दूसरा उसी युक्तितर्क तथा उसी प्रभावशाली शक्तिके साथ कहता है: "नहीं, यह बुरा है", परिणामतः, इस चीजके ऊपर निर्माण नहीं किया जा सकता। धर्मने सर्वदा एक सिद्धांत स्थापित करनेका प्रयास किया है। वह तुमसे कहेगा कि यदि तुम इस सिद्धांतका अनुसरण करो तो तुम सत्यमें रहोगे और यदि न करो तो मिथ्यात्वमें जा गिरोगे। परंतु ऐसी चीजें किसी परिणामपर नहीं पहुंचातीं। उन्होंने केवल गड़बड़झाला ही उत्पन्न किया है।

बस एक ही सच्चा मार्गदर्शक है और वह है आंतरिक पथप्रदर्शक जो मानसिक चेतनाके भीतरसे नहीं गुजरता।

स्वभावतः ही, जब कोई बच्चा सर्वनाशी शिक्षा प्राप्त करता है तो वह अपने अंदरकी इस नन्हीं-सी सच्ची सत्ताको बुझा देनेका अधिकाधिक प्रयास करता है, और कभी-कभी तो वह इतना सफल हो जाता है कि उसके साथ अपना समस्त संपर्क खो देता है और साथ-ही-साथ भले-बुरेको पहचाननेकी शक्ति भी खो देता है। यही कारण है कि मैं इस चीजपर अधिक जोर देती हूं और यह कहती हूं कि अत्यंत छोटी अवस्थासे ही बच्चोंको यह सिखाना चाहिये कि उनके अंदर, पृथ्वीके अंदर, विश्वके अंदर एक आंतर सत्य विद्यमान है, और इस सत्यकी क्रियाके फलस्वरूप ही वे, यह पृथ्वी और यह विश्व अपना जीवन धारण करते हैं; यदि वह सत्य न होता तो बच्चा कभी न जीवित रहता, थोड़े समयतक जो वह जीता

है उतना भी न जी पाता, और प्रत्येक चीज जैसे ही अस्तित्वमें आती वैसे ही विलीन हो जाती। और चूंकि यही विश्वका सच्चा आधार है, इसलिये स्वभावतः इसीकी विजय होगी, और जो कुछ इसका विरोध करता है वह उतने दिनतक नहीं बना रह सकता जितने दिन यह बना रहता है, क्योंकि यह 'सत्' है, शाश्वत वस्तु है जो कि विश्वके मूलमें विद्यमान है।

निस्संदेह, प्रश्न यह नहीं है कि बच्चेको दार्शनिक व्याख्याएं बतायी जायें, पर उसे भली-भांति यह अनुभूति दी जा सकती है कि जो अपने अंदरकी इस नन्हीं, बहुत नीरव वस्तुका अनुसरण करनेसे इस प्रकारके आंतरिक सुख-संतोष और कभी-कभी तीव्र हर्षका अनुभव कराती है, वही चीज उसे अपने विपरीत कोई कार्य करनेसे रोकेगी। इसी प्रकारके अनुभवपर शिक्षा आधारित हो सकती है। बच्चेके अंदर यह धारणा बैठा देनी चाहिये कि जबतक वह अपने अंदर वह सच्चा संतोष नहीं प्राप्त कर लेता जो एकमात्र स्थायी वस्तु है तबतक कोई चीज स्थायी नहीं हो सकती।

क्या कोई बच्चा एक वयस्ककी तरह इस आंतरिक सत्यके प्रति सचेतन हो सकता है?

बच्चेके लिये यह बिलकुल स्पष्ट है, क्योंकि यह शब्द या विचारकी किसी जटिलतासे रहित एक प्रकारका बोध है — बस, वहां वह चीज होती है जो उसे चैन देती है और वह चीज होती है जो उसे बेचैन बनाती है (यह आवश्यक रूपसे हर्ष या शोक नहीं है जो केवल तभी आते हैं जब बात बहुत तीव्र होती है)। और यह सब एक वयस्कको अपेक्षा बच्चेमें बहुत अधिक सुस्पष्ट होता है, क्योंकि वयस्कमें सर्वदा ही मन होता है जो कार्य करता है और उसके सत्य-बोधको मेघाच्छन्न कर देता है।

बच्चेको सिद्धांत बतलाना एकदम निरर्थक है, क्योंकि ज्योंही उसका मन जागृत होगा वह तुम्हारे सिद्धांतोंको काटनेके लिये हजारों युक्तियां खोज लेगा, और इस विषयमें वह ठीक ही होगा।

बच्चेके अंदरकी यह छोटी-सी सत्य वस्तु उसके चैत्य पुरुषमें विराजमान शाश्वत उपस्थिति है — यह पौधों और जानवरोंमें भी होती है। पौधोंमें यह सचेतन नहीं होती, जानवरोंमें चेतन होना आरंभ करती है और बच्चोंमें बहुत सचेतन होती है। मैं ऐसे बच्चोंसे मिली हूं जो पांच वर्षकी अवस्थामें अपने चैत्य पुरुषके विषयमें अपनी १४ वर्षकी अवस्थाकी अपेक्षा बहुत अधिक सचेतन थे, और १४ वर्षमें पच्चीस वर्षकी अपेक्षा अधिक सचेतन थे, और अधिकतर, जिस क्षणसे बच्चे स्कूल जाते हैं जहां वे उस ढंगका शिक्षण

मानसिक प्रशिक्षण पाते हैं जो उनका ध्यान उनकी सत्ताके बौद्धिक अंशकी ओर खींच ले जाता है, वे लगभग सर्वदा और लगभग पूर्ण रूपमें अपने चैत्य पुरुषके साथका यह संपर्क खो देते हैं।

यदि तुम केवल एक अनुभवी निरीक्षक होते, यदि तुम आंखोंमें ताककर बता सकते कि व्यक्तिके अंदर क्या हो रहा है! . . . ऐसा कहा जाता है कि आंखें अंतरात्माका दर्पण हैं; यह एक बोलचालका प्रचलित ढंग है, यदि आंखें तुम्हारे सामने चैत्य पुरुषको प्रकट नहीं करतीं तो इसका कारण यह है कि वह बहुत दूर पीछेकी ओर है, बहुत-सी चीजोंसे ढका हुआ है। सावधानीके साथ छोटे बच्चोंकी आंखोंमें ताको और तुम एक प्रकारकी ज्योति देखोगे — कुछ लोग उसे स्पष्टता या सरलता कहते हैं — पर इतनी सच, इतनी सच! वह संसारको आश्चर्यके साथ ताकता है। हां, आश्चर्यका यह भाव, चैत्य पुरुषका आश्चर्य है जो सत्यको देखता है पर संसारके विषयमें बहुत नहीं समझता, क्योंकि वह इस संसारसे बहुत दूर है। बच्चोंमें यह चीज होती है पर जैसे-जैसे वे अधिक सीखते हैं, अधिक बुद्धिमान बनते हैं, अधिक शिक्षित होते हैं, यह चीज लुप्त हो जाती है, और तुम उनकी आंखोंमें सभी प्रकारकी चीजें देखते हो: विचार, कामनाएं, आशा, घृष्टताएं आदि, — परंतु इस प्रकारकी नहीं लो, जो इतनी पवित्र होती है, अब वहां नहीं होती। और तुम निश्चित रूपसे यह जान सकते हो कि वहां मन घुस आया है और चैत्य पुरुष बहुत दूर पीछे चला गया है।

जिस बच्चेमें अभी समझ सकने योग्य पर्याप्त विकसित मस्तिष्क नहीं है उसकी ओर यदि तुम संरक्षण या स्नेह या उत्सुकता या संवेदनाकी एक तरंग भेजो तो तुम देखोगे कि वह भी प्रत्युत्तर देता है। परंतु तुम यदि, उदाहरणार्थ, एक चौदह वर्षके लड़केको लो जो कालेजमें पढ़ता है, जिसके माता-पिता सामान्य लोग हैं और जिसके साथ बुरा व्यवहार होता रहा है, तो उसका मन बहुत अधिक सामनेकी ओर होगा; उसमें कोई कठोर चीज होती है, चैत्य पुरुष पीछेकी ओर चला जाता है। ऐसे लड़के तरंग-का प्रत्युत्तर नहीं देते। हम कहेंगे कि वे काठ या पत्थरसे बने हैं।

यदि बच्चेके अंदर आंतरिक सत्य, चैत्य पुरुषमें विद्यमान भागवत उपस्थिति इतनी सचेतन है तब तो फिर यह नहीं कहा जा सकता कि बच्चा एक छोटा-सा जानवर है—कहा जा सकता है क्या?

क्यों नहीं? जानवरोंमें भी कभी-कभी बहुत तीव्र चैत्य सत्य विद्यमान रहता

है। स्वभावतः ही, मैं समझती हूं कि एक पशुकी अपेक्षा एक बालकमें चैत्य पुरुष कुछ अधिक मुखित, कुछ अधिक सचेत होता है। परंतु मैंने जानवरोंके साथ, केवल जाननेके लिये, परीक्षण किये हैं, मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि पशुओंमें मैंने कुछ गुणोंको बहुत शुद्ध, बहुत सरल गुणोंको बहुत ही विरल लोगोंमें देखा है। उन्हीं गुणोंको मैंने पशुओंमें देखा है, जैसे बिल्लियोंमें। मैंने बिल्लियोंका बहुत अध्ययन किया है; यदि कोई उन्हें भली प्रकार जाने तो वे अद्भुत प्राणी हैं। मैंने ऐसी माता-बिल्लियोंको देखा है जिन्होंने अपने बच्चोंके लिये पूर्णतः अपने-आपको उत्सर्ग कर दिया —लोग इतने अधिक आदरके साथ मातृ-प्रेमकी चर्चा करते हैं, मानो वह शुद्ध रूपमें कोई मानवीय विशेषत्व हो। परंतु मैंने माता-बिल्लियोंके अंदर साधारण मनुष्यकी क्षमताके परेकी मात्रामें इसे अभिव्यक्त होते हुए देखा है। मैंने एक माता-बिल्लीको देखा है जो तबतक अपना खाना कभी छूती भी नहीं थी जबतक कि उसके बच्चे अपनी आवश्यकताके अनुसार ग्रहण न कर लें। मैंने एक दूसरी बिल्लीको देखा है जो आठ दिनतक लगातार अपने बच्चोंके पास, एक अपनी कोई आवश्यकता पूरी किये बिना पड़ी रही, क्योंकि वह उन्हें अकेले छोड़नेसे डरती थी; और एक बिल्ली अपने बच्चेको यह सिखानेके लिये कि एक दीवालसे एक जंगलतक कैसे कूदना चाहिये, पचास बारसे अधिक एक ही क्रिया दुहराती रही और मैं इतना और जोड़ दूं कि वह ऐसी सावधानी, बुद्धिमत्ता, कुशलताके साथ करती रही जो बहुत-सी अशिक्षित औरतोंमें नहीं होती। और यह ऐसी क्यों था? —क्योंकि वहां कोई मानसिक हस्तक्षेप नहीं था। यह एकदम स्वाभाविक सहजप्रवृत्ति थी। परंतु सहजप्रवृत्ति है क्या चीज? — जाति-विशेषमें विद्यमान भगवान्‌की उपस्थिति और वही है पशुओंका चैत्य, व्यक्तिगत नहीं, समष्टिगत चैत्य।

मैंने पशुओंमें सभी प्रकारकी भावात्मक, स्नेहात्मक, भावुकतापूर्ण प्रतिक्रियाओंको, सभी प्रकारकी भावनाओं और बोधोंको देखा है जिनके लिये मनुष्य इतना गर्व करते हैं। बस, अंतर इतना है कि पशु उनके विषयमें बातें नहीं कर सकते और कुछ लिख नहीं सकते, इसलिये हम उन्हें निम्न कोटिके प्राणी मानते हैं, क्योंकि वे जो कुछ अनुभव करते हैं उनके बारेमें पुस्तकोंकी बाढ़ नहीं ला देते।

जब मैं बच्चा था, यदि मैं कोई बुरी बात करता तो पूरा बेचैनीका अनुभव करता और उसे फिर न करनेका निर्णय करता। तब मेरे माता-पिता भी मुझसे उसे कभी न करनेके

...लिये कहा करते। क्यों? क्योंकि मैं स्वयं ही उसे अभी ... करनेका निश्चय कर लेता।

बच्चेको कभी डाँटना-फटकारना नहीं चाहिये। माता-पिताओंकी बुराई करनेके लिये मुझे दोष दिया जाता है! परंतु मैंने उन्हें यह करते हुए देखा है, और हाँ, मैं जानती हूं कि नब्बे प्रतिशत माता-पिता उस बच्चेको डाँटते-फटकारते हैं जो अपने-आप कोई भूल स्वीकार करनेके लिये आता है; वे बच्चेकी बात धैर्यपूर्वक सुननेके बजाय और उसे यह समझानेके बजाय कि उसकी दोष क्या है और उसे कैसे कार्य करना चाहिये, कहते हैं: "तुम बड़े दुष्ट हो। चले जाओ, मुझे अभी फुरसत नहीं।" और बच्चा, जो कि अच्छी भावनाके साथ आया था, बिलकुल आहत होकर लौट जाता है और यह भावना लेकर जाता है कि "भला मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया गया?" तब बच्चा यह देखता है कि मेरे माता-पिता पूर्ण नहीं हैं — जो बात स्पष्ट ही आजके दिन उनके विषयमें सही है — वह देखता है कि वे गलत हैं और वह अपने-आपसे कहता है: "वह मुझे क्यों डाँटते हैं, वह भी तो मेरे जैसे ही हैं"

११ जनवरी, १९५१

श्रीमाताजी अपने लेख "बच्चेको सर्वदा क्या याद रखना चाहिये" में गिनाये हुए कुछ मुद्दोंपर अपनी टिप्पणी दे रही हैं।

(बुलेटिन, अगस्त १९५०)

"विनम्र होना"

यह है अपने यथार्थ मूल्यको समझना।

साधारणतया लोग अपने व्यक्तित्वका अतिरंजित मूल्यांकन करते हैं और फिर वैसे ही अतिरंजित निरुत्साहकी ओर आगे बढ़ते हैं। एक दिन तो वे कहते हैं, "मैं अद्भुत व्यक्ति हूं", और दूसरे दिन, "ओह! मैं बिलकुल निकम्मा हूं, मैं कुछ नहीं कर सकता।" यह बात ठीक घड़ीके लोलककी

तरह है, है न? हम क्या हैं इसे ठीक-ठीक जाननेसे अधिक कठिन और कोई बात नहीं है। हमें अपना मूल्य न तो अत्यधिक बढ़ाना चाहिये और न घटाना चाहिये, बल्कि अपनी सीमाओंको समझना और यह जानना चाहिये कि हम अपने सामने रखे हुए आदर्शकी ओर कैसे प्रगति कर सकते हैं। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो बड़े-चढ़े रूपमें देखते हैं और तुरत कल्पना करने लगते हैं कि वे सब कुछ कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, छोटे-छोटे अफसर होते हैं जो यह कल्पना करते हैं कि वे संसारके सभी युद्धोंको जीत लेनेकी क्षमता रखते हैं, ऐसे क्षुद्र लोग होते हैं जो यह समझते हैं कि वे संसारके प्रत्येक व्यक्तिसे बड़े हैं। दूसरी ओर, मैं कुछ ऐसे लोगोंको जानती हूं जिनमें योग्यताएं थीं पर उन्होंने यह सोचनेमें अपना सारा समय बिता दिया कि "मैं बिलकुल निकम्मा हूं।" सामान्यतया ये दोनों छोर एक ही व्यक्तिमें पाये जाते हैं। परंतु किसी ऐसे व्यक्तिको पाना बहुत दुर्लभ है जो यह जानता हो कि वह ठीक-ठीक कहां खड़ा है और ठीक-ठीक कहांतक बढ़ सकता है। हमने यहां मिथ्याभिमानकी चर्चा नहीं की है क्योंकि हम आशा करते हैं कि तुम एक सफलता पाते ही मिथ्याभिमानसे नहीं भर उठोगे।

जरा सोचो तो कुछ पौधे भी गर्वीले होते हैं! मैं उन पौधोंकी बात कर रही हूं जिन्हें लोग अपने लिये लगाते हैं। यदि कोई उन्हें शब्दोंसे या भावोंके द्वारा आदर प्रदान करता है, यदि कोई उनकी प्रशंसा करता है तो, बस, वे अपना सिर ऊंचा कर लेते हैं — अभिमानके साथ! यही बात पशुओंकी भी है। मैं तुम्हें एक बड़ी मजेदार कहानी सुनाने जा रही हूं।

पेरिसमें "पौधोंका बगीचा" नामक एक बगीचा है जहां पौधोंके साथ-साथ पशु भी रखे जाते हैं। अभी-अभी एक बड़ा शानदार सिंह बगीचे-वालोंको मिला था। निश्चय ही उसे एक पिंजड़ेमें रखा गया था। और वह क्रोधसे भरा रहता था। उस पिंजड़ेमें एक दरवाजा था जिसके पीछे वह छिप सकता था और वह ठीक उस समय जब दर्शक उसे देखनेके लिये आते वह वहां छिप जाता था! मैंने इसे लक्ष्य किया और एक दिन पिंजड़ेके पास चली गयी और उससे बोलने लगी (पशु बातचीतके प्रति बड़े संवेदनशील होते हैं, वे वास्तवमें सुनते हैं)। मैंने शीरसे बड़ी मीठी भाषामें बोलना शुरू किया, मैंने कहा, "ओह! तुम कितने सुन्दर हो, कितने दुःखकी बात है कि तुम इस तरह अपनेको छिपा रहे हो, हम लोग तुम्हें कितना देखना चाहते हैं....।" हां, तो उसने सुना। फिर, धीरे-धीरे उसने मेरी ओर कनखियोंसे ताका, फिर उसने मुझे अच्छी तरह देखनेके

लिये अपनी गर्दन बढ़ा दी; उसके बाद उसने अपना पंजा बाहर निकाला और अंतमें उसने अपनी नाकको नोक लड़से लगा दी। मानो कह रहा हो "आखिर, एक व्यक्ति तो है जो मुझे समझता है!"

"उदार होना"

मैं यहां भौतिक उदारताकी चर्चा नहीं करूंगी जिसका स्वाभाविक अर्थ है अपने पास जो कुछ हो उसे दूसरोंको देना। परंतु यह गुण भी बहुत अधिक लोगोंमें नहीं पाया जाता, क्योंकि जैसे ही कोई धनी होने लगता है, वह दान कर देनेके बदले कहीं अधिक अपने धनको बचाये रखनेकी बात सोचने लगता है। मनुष्य जितना अधिक धनाढ्य होता है उतना ही कम वह उदार होता है।

मैं यहां नैतिक उदारताकी चर्चा करना चाहती हूं। उदाहरणार्थ, जब अपना कोई साथी सफल हो तो प्रसन्नता अनुभव करनी चाहिये। आत्मनिःस्वार्थसावके, उच्च त्यागके कार्योंमें एक प्रकारका सौंदर्य होता है जो हमें आनंद प्रदान करता है। यह कहा जा सकता है कि नैतिक उदारताका तात्पर्य है दूसरोंकी यथार्थ मूल्य-मर्यादा और श्रेष्ठताको पहचाननेमें समर्थ होना।

१३ जनवरी, १९५१

श्रीमाताजीके "जीनेका विज्ञान" शीर्षक लेख (बुलेटिन, नवंबर १९५०) की व्याख्या।

"उद्देश्यहीन जीवन हर्षहीन जीवन होता है।" क्यों?

> यदि मनुष्यके सामने कोई लक्ष्य हो तो वह शांतिपूर्वक उस पथका अनुसरण कर सकता है जो उस लक्ष्यकी ओर ले जाता है।

किंतु शांतिसे मार्गपर चलनेके लिये लक्ष्यका होना आवश्यक नहीं है। बहुत

सारे लोग ऐसे होते हैं जिनका कोई लक्ष्य नहीं होता और वे बिना किसी प्रयत्नके अपनी नियमित दिनचर्याके मार्गपर बहुत शांतिसे चलते रहते हैं।

लक्ष्य आनंद प्रदान करता है।

कभी-कभी अपने लक्ष्यतक पहुंचनेके लिये मनुष्यको अपना सारा जीवन ही खपा देना पड़ता है। तो ऐसी स्थितिमें जीवनके अंतमें ही आनंद मिल सकेगा!

लक्ष्य एक आदर्श होता है और आदर्श जीवनमें समृद्धि लाता है।

हां, किंतु किसीका आदर्श बहुत ही स्थूल हो सकता है; आदर्श वह चीज नहीं है जो आनंद देती है।

लक्ष्य जीवनको एक अर्थ देता है, उसके अस्तित्वका एक कारण होता है और यह कारण एक प्रयासकी अपेक्षा करता है और उस प्रयासमें ही हमें आनंद मिलता है।

बिलकुल ठीक है। प्रयास ही आनंद देनेवाली चीज है। जो मनुष्य प्रयास करना नहीं जानता उसे कभी आनंद नहीं मिलता। जो लोग मूलतः आलसी होते हैं उन्हें कभी आनंद नहीं मिलता,—उनमें आनंदित होनेकी क्षमता ही नहीं होती। प्रयास ही आनंद देता है। वह सत्ताके तारोंमें एक खास खिंचावपर थरथराहट पैदा कर देता है। उससे आनंद अनुभव करनेकी सामर्थ्य आती है।

किंतु जो प्रयास आनंद देता है, वह परिस्थितियोंद्वारा लादा गया होता है या प्रगतिकी ओर ले जानेवाला?

तुम दो चीजोंको मिला रहे हो। एक तो है भौतिक और दूसरी है मनोवैज्ञानिक। यह बिलकुल स्पष्ट है कि जो काम इसलिये किया जाता है कि तुमने उसे करनेका निश्चय कर लिया है और जो काम परिस्थितियोंद्वारा थोपा गया है — वे परिस्थितियां चाहे कम या अधिक अनुकूल ही क्यों न हों — उन दोनोंका परिणाम बिलकुल एक जैसा नहीं होता। उदाहरणार्थ, सभी जानते हैं कि यौगिक अभ्यास करनेवाले लोग अपने

उपवास किया करते हैं। बहुतसी यौगिक साधनाओंमें तो बड़े लंबे-लंबे उपवासोंका विधान है और जो लोग ये उपवास करते हैं वे साधारणतया इन्हें करके बहुत प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे अपनी इच्छासे करते हैं। किंतु उसी व्यक्तिको लो और उसे ऐसी परिस्थितिमें रख दो जहां भोजनका अभाव हो, चाहे इस कारण कि भोजन मिल ही न सकता हो या इस कारण कि उसके पास पैसे न हों, तुम उस व्यक्तिको एक दयनीय अवस्थामें पाओगे, वह विलाप करता हुआ मिलेगा कि जीवन बड़ा भयानक है, यद्यपि दोनों अवस्थाएं एक जैसी ही हैं; बस, एक अवस्थामें तो उसने भोजन न करनेका स्वयं निश्चय किया था और दूसरीमें उसने इसलिये भोजन नहीं किया कि वह अन्यथा कर ही नहीं सकता था। यह जानी हुई बात है, किंतु यही एकमात्र कारण नहीं है।

जिस किसी क्षेत्रका प्रयास हो, भौतिक, नैतिक या बौद्धिक प्रयास, केवल प्रयास ही वह चीज है जो हमारे अंदर उन स्पंदनोंको पैदा करती है जिनसे तुम विश्वव्यापी स्पंदनोंके संपर्कमें आनेमें सक्षम होते हो और यही वह चीज है जो तुम्हें आनंद प्रदान करती है। प्रयास ही तुम्हें तमस्‌से बाहर खींच लाता है, प्रयास ही तुम्हें विश्वशक्तियोंके प्रति ग्रहणशील बनाता है। और सबसे बढ़कर, जो चीज तुम्हें सहजरूपसे आनंद देती है वह है विश्व-शक्तियोंके साथ अपनी शक्तियोंका आदान-प्रदान। यहांतक कि जो लोग योग नहीं करते, जिन लोगोंमें कोई आध्यात्मिक अभीप्सा नहीं है, जिनका जीवन बिलकुल सामान्य है, उन्हें भी यह चीज आनंद देती है। बस, लोग इसे जानते नहीं, वे यह नहीं कह सकते कि उन्हें इसी कारण आनंद होता है, पर बात यही है।

कुछ ऐसे लोग हैं जो ठीक सुन्दर पशुओं जैसे होते हैं। उनकी सभी गतियां सामंजस्यपूर्ण होती हैं, उनकी शक्तियां सुसंगत रूपमें खर्च होती हैं, उनका सहज-स्वाभाविक प्रयत्न सदा ही शक्तियां खींच लाता है और वे सदैव प्रसन्न रहते हैं। किंतु कभी उनका मस्तिष्क विचार-शून्य होता है, कभी हृदय भावनाशून्य होता है, वे बिलकुल पशुवत् जीवन बिताते हैं। मैंने ऐसे सुन्दर पशुजैसे लोगोंको देखा है। वे खूबसूरत थे, उनकी गतियां सुसमंजस थीं, उनके अंदरकी शक्तियां संतुलित थीं, वे उन्हें बेहिसाब खर्च करते थे और बेहिसाब ही ग्रहण करते थे। उनका संपर्क भौतिक विश्व-शक्तियोंके साथ था और वे प्रसन्नताके साथ जीवन बिताते थे। वे शायद तुम्हें यह न बता पाते कि वे प्रसन्न हैं। उनकी प्रसन्नता इतनी स्वतः-स्फूर्त्त थी कि वह एकदम स्वाभाविक बन गयी थी। फिर उनके लिये इसका कारण बताना तो और भी कठिन होता, क्योंकि उनमें अभीतक बुद्धिका

भली-भांति विकास नहीं हुआ था। मैं ऐसे लोगोंको भी जानती थी जो आवश्यक प्रयत्न भी कर सकते थे, — अवश्य ही कोई सुविवेचित युक्ति-संगत प्रयत्न तो नहीं, बल्कि सहज-स्वाभाविक प्रयत्न, — और वह भी भौतिक, प्राणिक, बौद्धिक आदि किसी भी क्षेत्रमें, और इनके इस प्रयत्नमें सदा ही आनंद रहता था। उदाहरणके लिये, एक व्यक्तिको लो जो पुस्तक लिखने बैठता है, वह प्रयत्न करता है और उसके मस्तिष्कमें कोई चीज स्पंदित हो उठती है जिससे कि वह विचारोंको आकर्षित कर सके। बस, वह तत्काल आनंदका अनुभव करने लगता है। यह बिलकुल निश्चित है कि तुम चाहे जो कुछ करो, चाहे वह कार्य एकदम स्थूल ही क्यों न हो, जैसे कमरा बुहारना, या रसोई बनाना, तुम यदि उसे करनेके लिये अपनी पूर्ण शक्तिभर आवश्यक प्रयत्न करो तो तुम्हें आनंद मिलेगा, भले ही वह कार्य तुम्हारी प्रकृतिके विपरीत ही क्यों न हो। जब तुम कुछ प्राप्त करना चाहते हो तो तुम बहुत स्वाभाविक ढंगसे आवश्यक प्रयत्न करते हो; उससे तुम्हारी शक्तियां प्राप्य वस्तुपर एकाग्र हो जाती हैं और तुम्हारे जीवनके बने रहनेका एक कारण, एक हेतु मिल जाता है। वह तुम्हें अपने-आपको सुसंगठित करनेके लिये, अपनी शक्तियोंको एक-न-एक प्रकारसे केंद्रित करनेके लिये बाध्य करता है, क्योंकि तुम बस उसी एक चीजको करना चाहते हो न कि ऐसी अन्य पचासों चीजोंको जो कि उसका खंडन करती हों। और इच्छा-शक्तिकी इस तीव्रतामें, इस एकाग्रतामें ही आनंदका मूल निहित होता है। यह तुम्हें अपनी खर्च होनेवाली शक्तियोंके बदलेमें नयी शक्तियां ग्रहण करनेकी क्षमता प्रदान करता है।

श्रीमां वही लेख पढ़ना जारी रखती हैं : "... अपनी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये सबसे पहला पग है अपने विषयमें सचेतन होना।"

"अपने-आपको जानने और अपने-आपको संयमित करने" का क्या अर्थ है?

इसका अर्थ है अपने आंतरिक सत्यके प्रति सचेतन होना, अपनी सत्ताके विभिन्न अंगों और उनकी अपनी-अपनी क्रियाओंके विषयमें सचेतन होना। व्यक्तिको यह जानना चाहिये कि वह ऐसा क्यों कर रहा है, वैसा क्यों कर रहा है; उसे अपने विचारोंको जानना चाहिये, अपने हृद्गत भावोंको जानना चाहिये, अपनी सारी क्रियाओंको, सारी गतियोंको, अपनी क्षमता आदि सबको जानना चाहिये। और अपने-आपको जानना ही पर्याप्त नहीं है; यह

आवश्यक है कि यह ज्ञान हमें सचेतन संयम प्रदान करे। अपने-आपको पूर्णतः जाननेका अर्थ है अपने-आपको पूर्णतः संयमित करना।

किंतु यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने जीवनमें प्रतिक्षण अभीप्सा बनाये रखे।

इसे आरंभ करनेके लिये न तो कोई समय बहुत जल्दीका है, और न जारी रखनेके लिये कोई समय बहुत देरका। कहनेका मतलब यह कि जब तुम कम उम्रके हो तब भी अपने-आपको ध्यानपूर्वक देखना, जानना-समझना और धीरे-धीरे संयमित करना आरंभ कर सकते हो। और जब तुम उस अवस्थामें पहुंच जाते हो जिसे लोग 'बुढ़ापा' कहते हैं, जब तुम बहुत बूढ़े हो जाते हो, उस समय भी यदि तुम अपने-आपको अधिकाधिक अच्छे रूपमें जानने और अधिकाधिक अच्छे रूपमें संयमित करनेका प्रयास करो तो उसे देर नहीं कह सकते। बस, यही है जीवन यापन करनेका (यथार्थ) विज्ञान।

अपने-आपको पूर्ण बनानेके लिये तुम्हें सबसे पहले स्वयं अपने प्रति सचेतन होना होगा। उदाहरणके लिये, मुझे निश्चय है, तुम्हारे जीवनमें यह घटना अवश्य ही कई बार घटी होगी; अचानक कोई तुमसे पूछता है, "तुमने ऐसा क्यों किया?" और सहज उत्तर निकलता है, "मालूम नहीं।" यदि कोई तुमसे पूछता है, "किस चीजके विषयमें सोच रहे हो?" तो तुम उत्तर देते हो, "मालूम नहीं।" "तुम क्यों थके हुए हो?" "मालूम नहीं।" "तुम क्यों प्रसन्न हो?" "मालूम नहीं।" इत्यादि-इत्यादि। निःसंदेह, यदि मैं किन्हीं पचास जनोंको लूं और उनकी किसी तैयारीके बिना अकस्मात् पूछूं, "तुमने ऐसा क्यों किया?" तो यदि वे अंदरसे 'जागृत' न हुए तो बस यही उत्तर देंगे, "मालूम नहीं।" (अवश्य ही मैं उन लोगोंकी बात नहीं कर रही जिन्होंने अपने-आपको जाननेके लिये और अपनी गतियोंका अंतिम सीमा-तक अनुसरण करनेके लिये किसी अनुशासनका अभ्यास किया है। ऐसे लोग स्वभावतः ही सचेत और एकाग्र होकर सही उत्तर दे सकते हैं, यद्यपि इसमें कुछ समय लगेगा।) यदि तुम अपने सारे दिनपर अच्छी तरह निगाह डालो तो तुम्हें पता चलेगा कि बात ऐसी ही है। तुम कोई बात कहते हो और यह भी नहीं जानते कि ऐसा क्यों कह रहे हो — जब शब्द मुंहसे बाहर निकल जाते हैं केवल तभी तुम्हें यह बोध होता है कि यह बात ठीक वही नहीं थी जिसे तुम कहना चाहते थे। उदाहरणके लिये, तुम किसीसे मिलने जाते हो, तुम जो शब्द कहनेवाले हो उन्हें पहलेसे ही तैयार कर लेते हो, किंतु उस व्यक्तिके सम्मुख पहुंचकर तो कुछ भी नहीं कहते या तुम्हारे मुंहसे कुछ और ही शब्द निकल जाते हैं। क्या तुम कह सकते

हो कि उस व्यक्तिके वातावरणने तुमपर किस हदतक प्रभाव डाला और तुमने जो बात तैयार कर रखी थी उसे कहनेसे रोका? कितने लोग यह बता सकेंगे? उन्हें तो यह बोध भी नहीं होता कि वह व्यक्ति इस या उस अवस्थामें था और इसी कारण वे उससे वह बात न कह पाये जिसकी उन्होंने तैयारी की थी। अवश्य ही, कभी-कभी ऐसे स्पष्ट अवसर आते हैं जब व्यक्ति इतनी अप्रसन्न मुद्रामें होते हैं कि तुम उनसे कुछ भी नहीं कह सकते। पर मैं ऐसी स्थितिकी बात नहीं कह रही। मेरा तात्पर्य है, पारस्परिक प्रभावके स्पष्ट बोधसे, यह देख पानेसे कि तुम्हारी प्रकृतिपर क्या क्रिया और प्रतिक्रिया हो रही है; लोगोंको इस बातकी जानकारी नहीं रहती। उदाहरणके लिये, तुम अचानक बेचैन या प्रसन्न हो जाते हो; किंतु कितने लोग कह सकते हैं कि "यह बात है?" और यह जानना है भी कठिन, यह आसान बिलकुल नहीं है। इसके लिये आवश्यक है कि हम बिलकुल 'जागृत' रहें, बहुत अधिक ध्यानके साथ निरीक्षण करते रहनेकी स्थितिमें निरंतर बने रहें।

ऐसे लोग होते हैं जो रोज बारह घंटे सोते हैं और बाकी समय कहते हैं, "मैं जाग्रत् हूं!" ऐसे भी लोग होते हैं जो रोज २० घंटे सोते हैं और बाकी समय केवल अर्ध-जाग्रत् ही रहते हैं।

ऐसी स्थितिमें रहनेके लिये जिसमें कि तुम सतर्कतासे निरीक्षण कर सको, तुम्हारे पास मानो सर्वत्र ऐसे बेतारके तार रहने चाहियें जो तुम्हारी चेतनाके सच्चे केंद्रके साथ सतत संपर्क बनाये रखें। तब तुम प्रत्येक चीज अंकित कर लोगे, प्रत्येक चीज संगठित कर लोगे और इस प्रकार तुम अनजाने पकड़में नहीं आओगे, तुम धोखा नहीं खाओगे, गलती नहीं करोगे, और तुम जो कुछ कहना चाहोगे उससे भिन्न कुछ नहीं कहोगे। किंतु साधारणतः कितने लोग इस अवस्थामें रहते हैं? जब मैं "सचेतन होने"की बात कहती हूं तो मेरा तात्पर्य ठीक यही होता है। जिन दशाओं और परिस्थितियोंमें तुम रहते हो उनसे यदि अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहते हो तो तुम्हें पूरी तरह जागृत रहना होगा; ऐसा नहीं होना चाहिये कि तुम अचानक पकड़में आ जाओ। तुम्हें कोई काम यह जाने बिना नहीं करना चाहिये कि तुम उसे क्यों कर रहे हो, कोई बात यह जाने बिना नहीं कहनी चाहिये कि तुम उसे क्यों कह रहे हो। तुम्हें निरंतर जागरूक रहना चाहिये।

तुम्हें यह भी समझना चाहिये कि तुम लोग कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं हो, जीवन सब प्रकारकी शक्तियों, चेतनाओं, गतियों और स्पंदनोंका एक सतत आदान-प्रदान है। यह एक ऐसी चीज है मानों एक भीड़में तुम

देखते हो : जब हर एक धकेलता है, तो सब आगे बढ़ते हैं और जब सब पीछे हटते है तो हर एक पीछे हटता है। यही बात आंतरिक जगत्में, तुम्हारी चेतनामें भी होती है। वहां तुमपर सदैव शक्तियों और प्रभावोंकी क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है, यह वातावरणमें विद्यमान एक गैसकी जैसी चीज है और यदि तुम एकदम जाग्रत् न रहो तो ये चीजें तुम्हारे अंदर प्रवेश कर जाती हैं और इनका पता तुम्हें केवल तभी चलता है जब वे तुम्हारे अंदर भली-भांति प्रविष्ट हो चुकती हैं और इस प्रकार निकलकर आती हैं मानों तुम्हारे अंदरसे निकलती हों। कितनी बार ऐसा होता है कि मनुष्य किसी अन्य व्यक्तिसे मिलता है जो घबड़ाया हुआ, क्रोधमें या खिन्न अवस्थामें है, और फिर वह स्वयं उसीके जैसा घबड़ाया हुआ या क्रुद्ध या खिन्न बन जाता है और यह नहीं जानता कि ऐसा क्यों हो गया। भला ऐसा क्यों होता है कि कुछ प्रतिद्वंदियोंके सामने तो तुम बहुत अच्छा खेलते हो, और कुछ दूसरोंके सामने नहीं खेल पाते? और जो व्यक्ति शांत स्वभावके हैं, दुर्जन बिलकुल नहीं हैं, वे किसी क्रुद्ध भीडके बीच पड़कर अचानक क्यों उग्र हो जाते हैं! और यह कोई नहीं जानता कि किसने उस चीजकी शुरुआत की; यह ठीक ऐसी चीज है जो पाससे गुजर गयी और चेतनाको बहा ले गयी। ऐसे लोग होते हैं जो इस तरह स्पंदन छोड़ सकते हैं और दूसरे कारण जाने बिना उसका प्रत्युत्तर देते हैं। प्रत्येक चीज, सबसे छोटीसे लेकर सबसे बड़ीतक, ऐसी ही है।

किसी समूहके अंदर अपने व्यक्तित्वको बनाये रखनेके लिये यह आवश्यक है कि हम अपनी "आत्मा"के प्रति पूर्णतया सचेतन हों। पर किस "आत्मा"-के प्रति? अपनी उस 'आत्मा'के प्रति जो किसी भी प्रकारके मिश्रणसे ऊपर है, जिसे मैं तुम्हारी सत्ताका 'सत्य' कहती हूं। और जबतक तुम अपनी सत्ताके 'सत्य'के प्रति सचेतन नहीं हो तबतक एकदम अनजानमें ही हर प्रकारकी चीजोंसे चालित होते रहते हो। सामूहिक विचार और सामूहिक सुझावका बड़ा प्रबल प्रभाव पड़ता है। व्यक्तिके विचारपर इनकी निरंतर क्रिया होती रहती है। और विलक्षण बात तो यह है कि इनकी जानकारी किसीको नहीं होती। व्यक्ति सोचता है कि वह 'अमुक प्रकारसे' सोच रहा है, किंतु वास्तवमें समुदाय ही उस प्रकार सोच रहा होता है। समुदाय सदा ही व्यक्तिसे निम्न कोटिका होता है। तुम समान गुणवाले, एक ही श्रेणीके कुछ व्यक्तियोंको लो, वे जब अकेले होंगे तब वे भीड़में रहनेवाले उसी श्रेणीके लोगोंसे कम-से-कम दो अंश ऊपर होंगे। बात यह होती है कि भीड़में अंधकारपूर्ण और अचेतन चीजोंका मिश्रण रहता है और तुम बेबस होकर अचेतनतामें फिसल जाते हो। इससे बच निकलनेका बस एक ही

उपाय है; वह है अपने विषयमें सचेतन होना, अधिकाधिक सचेतन होना और अधिकाधिक सतर्क होना।

यह छोटा-सा अभ्यास करनेका प्रयत्न करो। दिनके आरंभमें कहो, "जो कुछ मुझे कहना होगा उसपर विचार किये बिना मैं कुछ नहीं बोलूंगा।" तुम्हारा यह विश्वास है, है न, कि तुम जो कुछ भी कहते हो सोचकर कहते हो! किंतु यह बिलकुल ही सही नहीं है, तुम देखोगे कि कितनी ही बार जो शब्द तुम बोलना नहीं चाहते वही फूट पड़नेको तैयार हैं और उसे बाहर निकलनेसे रोकनेके लिये तुम्हें सचेतन प्रयत्न करनेके लिये विवश होना पड़ता है।

मैंने ऐसे लोगोंको देखा है जो झूठ न बोलनेके लिये बहुत ही सावधान रहते थे; किंतु जब वे किसी समुदायमें होते थे, तो सत्य न बोलकर सहज-भावसे झूठ बोलने लगते थे। वे ऐसा करना नहीं चाहते थे पर यह "यूंही" हो जाता था। क्यों? — क्योंकि वे झूठ बोलनेवालोंकी संगतिमें रहते थे; उनके साथ झूठका वातावरण होता था और बिलकुल सहज-भावसे वे इस रोगसे आक्रांत हो जाते थे।

इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके, धीरे-धीरे, निरंतर प्रयास करके, सबसे पहले बड़ी सावधानी और सतर्कताके साथ मनुष्य सचेतन होता है, अपने-आपको जानना और बादमें अपने-आपको वशमें करना सीखता है।

१५ जनवरी, १९५१

> **"जब हम बहुत सावधानीके साथ (अपनी सत्ताकी) गतिविधियोंका निरीक्षण करते हैं, उन्हें मानों अपने उच्चतम आदर्शके न्यायालयमें पेश करते हैं और उसके निर्णयके सामने अपने-आपको समर्पित करनेका सच्चा संकल्प बनाये रखते हैं, केवल तभी हम यह आशा कर सकते हैं कि अपने अंदर एक ऐसा विवेक उत्पन्न करें जो कभी भूल नहीं करता।"**
>
> ("जीवन-विज्ञान", बुलेटिन, नवंबर १९५०)

तुम्हें अपनी गतिविधियोंके मूलका स्पष्ट बोध होते रहना चाहिये, क्योंकि सत्ताके अंदर परस्पर-विरोधी प्रेरणाएं उठती हैं — कुछ तुम्हें यहां धकेलती

है तो कुछ वहां, और इससे स्पष्ट ही जीवनमें अराजकता उत्पन्न होती है। यदि तुम स्वयं अपना निरीक्षण करो तो देखोगे कि जैसे ही तुम कोई ऐसी चीज करते हो जो तुम्हें किंचित् चिंतित कर देती है तो तुरत ही मन कोई अनुकूल कारण दिखाकर तुम्हारा समर्थन कर देता है — यह मन हर चीजपर सुनहरा मुलम्मा चढ़ा सकता है। ऐसी परिस्थितियोंमें अपने-आपको जानना कठिन होता है। यदि कोई ऐसी परिस्थितिमें अपने-आपको जानना चाहे तो ऐसा करनेके लिये और मनोमय सत्ताके छोटे-छोटे सभी मिथ्यात्वोंको स्पष्ट रूपमें देखनेके लिये उसे पूर्णतः सच्चा होना चाहिये।

यदि तुम अपने सारे दिनकी विभिन्न गतियों और प्रतिक्रियाओंका अपने मनद्वारा सिंहावलोकन करते रहो, ठीक उसी तरह जैसे कोई एक ही चीजको अनिश्चित कालतक दुहराता रहता है, तो इससे तुम्हारी प्रगति नहीं होगी। इस अवलोकनके द्वारा यदि प्रगति करनी हो तो तुम्हें अपने अंतरमें कोई ऐसी चीज ढूंढनी होगी जिसके प्रकाशमें तुम स्वयं अपने जज बन सको; वह कोई ऐसी चीज होगी जो तुम्हारे लिये तुम्हारी सत्ताके सर्वोत्तम अंगका प्रतिनिधित्व करती है जिसमें कुछ प्रकाश है, कुछ सद्भावना है और जो वास्तवमें प्रगतिसे घनिष्ठ संबंध रखती है। उस चीजको अपने सामने रखो और पहले सिनेमाकी तरह उन सब चीजोंको निकालो जिन्हें तुमने किया है, जिन्हें तुमने अनुभव किया है, तुम्हारे जितने भी आवेग, जितने भी विचार आदि हैं सबको उसी तरह निकालो; फिर उन्हें शृंखलाबद्ध करनेका प्रयास करो, यानी यह पता लगाओ कि अमुकके बाद अमुक क्यों हुआ? तुम्हारे सामने जो प्रकाशमान परदा है उसपर दृष्टि डालो: कुछ चीजें तो ठीक गुजर जाती हैं। उनकी कोई भी छाया पर्देपर नहीं पड़ती। इसके विपरीत, कुछ अन्य थोड़ी-सी छाया डालती हैं, और फिर कुछ ऐसी होती हैं जो बिलकुल ही काली और विरक्तिजनक छाया डालती हैं। यह क्रिया तुम्हें सच्चाईसे करनी होगी, मानो तुम कोई खेल खेल रहे होओ: "इन परिस्थितियोंमें मैंने ऐसा-ऐसा किया, ऐसे-ऐसे अनुभव किया, ऐसे-ऐसे विचार किया; मेरे सामने ज्ञान और आत्म-प्रभुत्वका आदर्श है, तो मेरा यह कार्य इस आदर्शके अनुसार था या नहीं?" वह यदि उसके अनुसार था तो पर्देपर कोई छाया नहीं छोड़ेगा और पर्दा स्वच्छ पारदर्शक बना रहेगा तथा उसके विषयमें चिंता करनेकी कोई जरूरत नहीं होगी। यदि वह उसके अनुकूल नहीं था तो उसकी एक छाया पड़ेगी। उसकी छाया क्यों पड़ी? इस काममें कौन-सी चीज आत्मज्ञान और आत्म-प्रभुत्वके संकल्पके विपरीत थी? अधिकतर तुम देखोगे कि वह चीज अचेतनतासे मिलती-जुलती है — तब तुम उसे अचेतन चीजोंके पुलिन्देमें शामिल

कर दो और यह निश्चय कर लो कि अगली बार कुछ भी करनेसे पहले तुम सचेतन रहनेका प्रयत्न करोगे। किंतु अन्य विषयोंमें तुम देखोगे कि तुम्हारे कार्यको, तुम्हारे विचार आदिको विकृत करनेके लिये जो चीज आयी थी वह एक कुरूप, तुच्छ, एकदम काली अहंभावना थी। तब तुम इस अहंको अपने 'प्रकाश' के सम्मुख रखो और अपने-आपसे पूछो: "इसे यह अधिकार क्यों है कि यह मुझसे वैसा कार्य कराये, वैसा विचार कराये .....?" और ऐसे समय किसी भी प्रकारकी कोई बेढंगी व्याख्या मत स्वीकार करो, बल्कि अनुसंधान करो और फिर तुम्हें अपनी सत्ताके एक कोनेमें एक ऐसी चीज मिलेगी जो यह सोचती और कहती होगी: "ओह नहीं, मुझे सब कुछ स्वीकार है पर यह नहीं।" तुम देखोगे कि यह कोई क्षुद्र मिथ्याभिमान है, आत्मप्रीतिकी कोई क्रिया है, कहीं छिपी हुई कोई अहं-भावना है, इस प्रकारकी पचासों चीजें हैं। तब अपने आदर्शके प्रकाशमें इन चीजोंकी ओर एक गहरी दृष्टि डालो: "इस क्रियाको पोसना मेरे आदर्शकी खोज और प्राप्तिके अनुकूल है या नहीं? इस छोटे-से अंधियारे कोनेको मैं इस प्रकाशके सामने रख रहा हूं जिससे कि वह प्रकाश इसके अंदर प्रवेश कर जाय और यह तिरोहित हो जाय।" तब यह खेल समाप्त हो जाता है। किंतु, तुम जानते हो, इससे तुम्हारे सारे दिनका खेल समाप्त नहीं हो जाता। क्योंकि ऐसी और बहुत-सी चीजें बाकी रह जाती हैं जिन्हें प्रकाशके सम्मुख लाना है! पर यदि तुम यह खेल जारी रखो,—यदि तुम इसे सच्चाईके साथ करो तो यह सचमुचमें एक खेल ही है—तो मैं विश्वास दिलाती हूं कि छः महीनोंके भीतर तुम अपने-आपको पहचान न पाओगे, तुम अपने-आपसे कहोगे, "अरे! क्या मैं ऐसा था? असंभव!"

तुम चाहे पांच वर्षके हो या बीस, पचास अथवा साठके, फिर भी तुम अपने आंतरिक प्रकाशके सम्मुख प्रत्येक चीजको रखकर इस प्रकार अपने-आपको रूपांतरित कर सकते हो। तुम देखोगे कि जो तत्त्व तुम्हारे आदर्शसे मेल नहीं खाते, वे सामान्यतया ऐसे तत्त्व नहीं हैं जिन्हें तुम्हें अपने अंदरसे पूरेका पूरा निकाल बाहर करना हो (ऐसी चीजें बहुत ही कम होती हैं); वे बस ऐसी चीजें हैं जो अपने स्थानपर नहीं हैं। यदि तुम हर चीजको—अपने विचारों, अपनी भावनाओं, अपने आवेगों आदिको—अपने आंतरिक प्रकाश अर्थात् चैत्य-केंद्रके इर्द-गिर्द सुव्यवस्थित करो तो देखोगे कि सारी आंतरिक अस्तव्यस्तता प्रकाशमय सुव्यवस्थामें बदल जायगी।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि यदि कोई राष्ट्र या समूची पृथ्वी ही इस प्रकारकी कोई विधि अपना ले तो मनुष्यको दुःखी बनानेवाली अधिकांश

चीजें विलीन हो जायेंगी, क्योंकि संसारका अधिकांश दुःख इस तथ्यके कारण आता है कि चीजें ठीक अपनी-अपनी जगहपर नहीं हैं। यदि जीवन इस प्रकार संगठित हो कि कुछ भी व्यर्थ न जाय और हर चीज अपनी-अपनी जगहपर रहे तो ये अधिकांश दुःख-कष्ट फिर गायब हो जायेंगे। एक प्राचीन मनीषीने कहा है :

"अशुभ नामकी कोई चीज नहीं है। बस, संतुलनकी कमी है। कोई चीज बुरी नहीं है। सिर्फ चीजें अपने स्थानपर नहीं हैं।"

यदि हर चीज यथास्थान हो, राष्ट्रमें, भौतिक जगत्‌में, व्यक्तियोंके अनुभव, विचार और कर्ममें तो अधिकांश मानव-कष्ट तिरोहित हो जायगा। दो चीजें विचारणीय हैं : चेतना और वे उपकरण जिनके द्वारा चेतना अभिव्यक्त होती है। पहले उपकरणोंकी बात लें : हमारे पास मनोमय सत्ता है जो विचार उत्पन्न करती है, भावनात्मक सत्ता है जो भावनाएं उत्पन्न करती है, प्राणिक सत्ता है जो कार्यकी शक्ति उत्पन्न करती है और अन्नमय सत्ता है जो कार्य करती है।

प्रतिभाशाली व्यक्ति चाहे जिस चीजका उपयोग करके कोई सुन्दर चीज बना सकता है, क्योंकि उसमें प्रतिभा है : किंतु उसी प्रतिभाशाली व्यक्तिको कोई निर्दोष, पूर्ण यंत्र दे दो तो वह एक अद्‌भुत चीज बना देगा। एक महान् संगीतज्ञकी बात लो। यदि उसके हाथोंमें कोई रद्दी पियानो दे दिया जाय जिसमें कुछ सुर ही गायब हों, तो भी वह कोई सुन्दर चीज निकाल देगा; किंतु उसके हाथमें कोई अच्छा, सुरीला पियानो दे दिया जाय तो वह और भी अधिक सुन्दर चीज उत्पन्न करेगा। दोनों ही दशाओंमें चेतना वही है, किंतु अभिव्यंजनाके लिये उसे एक अच्छे यंत्रकी आवश्यकता होती है — एक ऐसा शरीर होना चाहिये जिसमें मानसिक, प्राणिक, आंतरात्मिक और शारीरिक क्षमताएं विद्यमान हों।

यदि तुम्हारे शरीरकी गठन बुरी हो, शरीर बेडौल हो तो अच्छी शिक्षाके बाद भी किसी सुगठित सुन्दर शरीरवाले व्यक्तिकी तरह अच्छे ढंगसे व्यायाम करना तुम्हारे लिये कठिन होगा। यही बात मनके साथ भी है — जिसका मन सुव्यवस्थित, विमिश्र, पूर्ण और परिमार्जित होता है वह साधारण स्तरके या कुव्यवस्थित प्रकारके मनवाले मनुष्यकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर सकेगा। सबसे पहले तुम्हें अपनी चेतनाको शिक्षित करना चाहिये, अपने विषयमें सचेतन होकर अपनी चेतनाको अपने आदर्शके अनुरूप व्यवस्थित करना चाहिये,

किंतु साथ-ही-साथ तुम उन यंत्रोंकी भी उपेक्षा नहीं कर सकते जो तुम्हारे शरीरमें हैं।

एक उदाहरण लो। तुम अपने गहनतम आदर्शके साथ अपने शरीरमें निवास कर रहे हो, किंतु तुम विद्यालयकी एक कक्षाके सामने उपस्थित हो और तुम्हें विद्यार्थियोंको कुछ पढ़ाना है। हां, तो यह प्रकाश, चेतनाका यह प्रकाश ऊपरकी ओर है, किंतु तुम्हें अपनी श्रेणीके सामने समझानी हैं कुछ विज्ञानकी बातें। ऐसे समय तुम्हारे लिये कौन-सी चीज अधिक सुविधाजनक होगी, उस विषयके ज्ञानका भंडार या ऐसी अंध-प्रेरणा जिसे किसी ऐसे भंडारकी आवश्यकता नहीं होती? तुम्हारा निजी अनुभव क्या है? ... तुम देखते हो कि कुछ दिन ऐसे होते हैं जब कि सब कुछ ठीक-ठीक चलता है, तुम्हारी वाणीमें ओज रहता है, तुम्हारे विद्यार्थी तुम्हारी बात ध्यानसे सुनते हैं और आसानीसे समझते हैं। किंतु अन्य ऐसे दिन भी आते हैं जब तुम्हें जो चीज पढ़ानी होती है वह आती ही नहीं, बच्चे सुनते ही नहीं और इसका कारण यह होता है कि तुम स्वयं ऊबे होते हो और दूसरोंको भी ऊबा देनेवाले होते हो। इसका अर्थ यह है कि पहली दशामें तुम्हारी चेतना जाग्रत् थी और तुम्हारे कार्य-पर एकाग्र थी, जब कि दूसरी दशामें वह कम या अधिक निद्रित थी— तुम बिलकुल बाह्य साधनोंपर निर्भर थे। किंतु इस दशामें, यदि तुम्हारे पास उस विषयके ज्ञानका कुछ भंडार हो तो तुम अपने विद्यार्थियोंको कुछ कह सकते हो; यदि तुम्हारा मन सुशिक्षित हो, तैयार हो, यदि वह एक अच्छा यंत्र हो जो तुम्हारे व्यवहार करनेके समय भली-भांति उत्तर दे सकता हो, और यदि सब आवश्यक टिप्पणियां और विचार भी तुम्हारे पास एकत्रित हों तो सब कुछ ठीक-ठीक चल जायगा। किंतु यदि तुम्हारे मस्तिष्कमें कुछ भी न हो और उसके साथ-साथ तुम अपनी उच्चतर चेतनाके संपर्कमें न होओ तो इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं कि तुम कोई किताब ले लो और अपना पाठ पढ़कर सुना दो — तुम्हें किसी दूसरे व्यक्तिके मनका उपयोग करनेके लिये बाध्य होना होगा।

खेलोंकी बात लो। यहां भी ऐसे दिन आते हैं जब सब कुछ ठीक चलता है; तुमने पहलेसे कोई विशेष तैयारी नहीं की है, परंतु फिर भी तुम हर चीजमें सफल रहे। पर तुमने यदि पहले अच्छी तरह अभ्यास किया होता तो परिणाम और भी अधिक उत्तम निकलता। उदाहरणार्थ, तुम यदि किसी ऐसे प्रतिद्वंद्वीके साथ खेलते हो जिसने धीरे-धीरे गंभीरता पूर्वक, धैर्य और लगनके साथ अभ्यास किया है, और जिसमें अचानक प्रबल

अभीप्सा जाग उठी है तो तुम्हारी अभीप्साके बावजूद वह तुम्हें हरा देगा, जबतक कि तुम्हारी अभीप्सा तुम्हारे प्रतिद्वंद्वीकी अभीप्सासे बहुत अधिक ऊंची न हो। यदि तुम्हारे सामनेका खिलाड़ी कोई ऐसा व्यक्ति है जो उस खेलकी तकनीक ही जानता है, पर उसमें कोई सचेतन अभीप्सा नहीं है, और इस ओर तुम पूरी सचेतन स्थितिमें होओ, तो स्पष्ट ही तुम उसे पराजित कर दोगे, क्योंकि चेतनाका गुण तकनीकके गुणसे श्रेष्ठ है। लेकिन एककी जगह दूसरी नहीं ले सकती। जो चीज श्रेष्ठ है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है, रहे, किंतु तुम्हारे स्नायु भी ऐसे होने चाहियें जो शीघ्रतासे उत्तर दे सकें, तुम्हारी गतियां अपने-आप होनी चाहियें; सुचारु रूपसे खेल सकनेके लिये उस खेलके सारे रहस्योंको जानना भी आवश्यक है। तुम्हारे पास दोनों चीजें होनी चाहियें। अधिक ऊंची चीज है चेतना जो तुम्हें ठीक समयपर ठीक क्रिया करनेकी योग्यता देती है, किंतु यही एकमात्र चीज नहीं है। जब तुम पूर्णता प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें एककी उपेक्षा यह तर्क देकर नहीं करनी चाहिये कि दूसरीको तुमने पा लिया है।

क्या जीतनेके लिये ही खेलना चाहिये?

जब तुम्हारी चेतना तीन या चार वर्षकी हो तो प्रोत्साहन देनेके लिये यह भावना एकदम आवश्यक होती है। किंतु पचास वर्षकी अवस्थामें भी तुम्हारी चेतना चार वर्षकी जैसी हो सकती है, है न? ना, जब तुम्हारी चेतना परिपक्व हो जाय तब तुम्हें जीतनेके लिये कतई नहीं खेलना चाहिये। तुम्हें खेलना चाहिये बस, खेलनेके लिये; खेलना सीखनेके लिये, खेलमें प्रगति करनेके लिये और इसलिये कि तुम्हारा खेल तुम्हारी उच्चतम आंतरिक चेतनाकी अभिव्यक्ति बन सके — बस, यही चीज है महत्त्वपूर्ण। उदाहरणके लिये, जो लोग अच्छा खेलना पसंद करते हैं वे अपने साथ खेलनेके लिये रद्दी-रद्दी खिलाड़ियोंको खोज-खोजकर नहीं चुनते ताकि उनसे जीतनेका आनन्द मिल सके, वे चुनते हैं उत्तम खिलाड़ियोंको और उन्हींके साथ खेलते हैं। मुझे याद है, मैंने टेनिस खेलना आठ वर्षकी आयुमें सीखा था, मेरे लिये यह व्यसन जैसा हो गया था। किंतु मैं कभी अपने छोटे साथियोंके साथ नहीं खेलना चाहती थी क्योंकि मैं उनसे कुछ सीख न पाती थी (साधारणतया मैं उन्हें हरा दिया करती थी)। मैं हमेशा श्रेष्ठ खिलाड़ियोंके पास जाया करती थी। कभी-कभी उन्हें आश्चर्य भी होता था, पर आखिर वे मेरे साथ खेल लिया करते थे — मैं खेलमें कभी जीतती नहीं थी पर सीखती बहुत थी।

२० जनवरी, १९५१

"आंतरिक खोजकी इस क्रियाको पूरा करनेके लिये यह अच्छा है कि मनके विकासकी उपेक्षा न की जाय। क्योंकि मनरूपी यंत्र समान रूपसे बड़ा सहायक या बड़ा बाधक हो सकता है। मनुष्यका मन अपनी स्वाभाविक अवस्थामें सदा सीमित दृष्टि-वाला होता है, उसकी समझ संकीर्ण होती है, उसकी धारणा अनमनीय होती है। अतएव उसे विशालतर, नमनीय और गभीर बनानेके लिये सतत प्रयासकी आवश्यकता होती है।"

("जीवन-विज्ञान", बुलेटिन, नवंबर १९५०)

दुर्भाग्यकी बात है कि अधिकांश लोग जितना अधिक सोचते हैं उतना ही अधिक अपने-आपको श्रेष्ठ मानने लगते हैं। मन अपने-आपसे संतुष्ट रहता है और प्रगतिके लिये अधिक अभीप्सा नहीं करता — वह समझता है कि वह हर चीज जानता है। और बहुत लोग यह मानते हैं कि उनके सोचनेकी विधि ही उत्तम है; वे यह नहीं समझ सकते कि एक ही विषय-पर विचार करनेकी 'सदा' बहुत-सी विधियां होती हैं। और उनका विचार जितना ही अधिक सबल और सुनिश्चित होता है उतना ही अधिक उनको यह विश्वास होता जाता है कि सोचनेकी बस 'एक' वही विधि है। इसलिये मैंने यहां कहा है कि कुछ अभ्यास तुम्हारी विचारधाराको विशाल बना सकते हैं और उनके द्वारा एक ही साथ कई दृष्टियोंसे चीजोंको देखनेकी आदत पड़ सकती है।

"यह बहुत आवश्यक है कि हर चीजपर यथासंभव अधिक-से-अधिक दृष्टिकोणोंसे विचार किया जाय। इस संबंधमें एक अभ्यास ऐसा है जो विचारमें बहुत नमनीयता और ऊंचाई लाता है; वह अभ्यास इस प्रकार है: एक स्पष्टतः प्रतिपादित सिद्धांतको ले लिया जाता है, उसके विरोधमें उसके ठीक विपरीत दूसरी प्रतिज्ञा रखी जाती है जो उतनी ही भली-भांति प्रतिपादित की जाती है। फिर ध्यानपूर्वक चिंतनके द्वारा समस्याका विस्तार किया जाता है या उसका अतिक्रमण किया जाता है जिससे कि एक ऐसा समन्वय मिल जाय जो उन दो विपरीत सिद्धांतोंको एक विशालतर, उच्चतर और व्यापकतर मंतव्यके अंदर सम्मिलित कर ले।"

कोई एक प्रतिपादित सिद्धांत कहो।

क: सिद्धांत: जगत्में प्रत्येक व्यक्तिको अपना कष्ट झेलना पड़ता है।
विपरीत सिद्धांत: ऐसे लोग होते हैं जो समस्त मानवीय कष्टोंसे परे रहते हैं।

और इसका समन्वय?

ख: प्रत्येक व्यक्तिकी सत्तामें एक ऐसा अंग है जो सब कष्टोंसे परे रहता है।
ग: जगत्में भिन्न-भिन्न प्रकारके लोग होते हैं।
घ: कष्टसे परे जानेके लिये दुःखका भोग आवश्यक है।

यह समन्वय नहीं है।

क: अपने सिद्धांतमें मैंने 'सामान्य' लोगोंकी बात कही, विपरीत सिद्धांतमें 'असाधारण' लोगोंकी।

हां, पर तुम मानते हो कि असाधारण व्यक्तियोंको कष्ट नहीं झेलना होता; परंतु उच्चतर व्यक्तियोंको भी दुःख भोगना पड़ता है।

बस, प्रश्न है चेतनाके अंतरका। कुछ लोगोंमें बाह्य चेतनाकी स्थितियां ही सबसे अधिक विकसित होती हैं। इसके विपरीत, कुछ ऐसे लोग होते हैं जिन्होंने उच्चतर चेतनाकी स्थितियोंको विकसित करनेपर विशेष ध्यान दिया होता है। इसलिये यह कहना कि, "प्रत्येकको अपना-अपना कष्ट झेलना पड़ता है", बाह्य चेतनाके लिये (भौतिक घटनाओंके, प्राणिक सत्ता, भावनात्मक सत्ता और मनोमय सत्ताको स्पर्श करनेवाली घटनाओंके लिये) सत्य उतरता है। ऐसे लोगोंके लिये तो सदा ही बहुत बड़ी संख्यामें विपत्तियां आती रहेंगी, फिर इस कारण और भी अधिक आती रहेंगी कि विपत्तियां व्यक्तिके सामर्थ्यके अनुपातमें आती प्रतीत होती हैं, व्यक्ति जितना सह सकता है उसी सामर्थ्यके अनुपातमें वे आती प्रतीत होती हैं। यह ठीक हो सकता है कि जिनमें अधिक सामर्थ्य होता है उन्हें कष्ट और दुर्भाग्य अधिक परिमाणमें प्राप्त होते हैं।

किंतु ऐसे लोग होते हैं जो सब दुर्भाग्योंसे परे रहते हैं फिर भी उनके लिये दुर्भाग्यका अस्तित्व रहता है। क्यों? क्योंकि, उनकी आंतरिक चेतना बाह्य चेतनाकी अपेक्षा अधिक सबल, अधिक विकसित होती है (यहां मैं 'रूपांतरित' व्यक्तियोंकी बात नहीं कह रही, क्योंकि उनमें हम ऐसी अवस्था होनेकी कल्पना कर सकते हैं जहां शारीरिक सत्ता भी दुःख-कष्टोंसे परे रहती है। अभी हम वर्तमान मनुष्योंके बारेमें बातें कर रहे हैं)। यदि तुम्हारी चेतना किसी ऐसे स्थलमें अधिष्ठित है जहां इन बाह्य वस्तुओंका अस्तित्व नहीं होता तो यह कहा जा सकता है कि तुम्हें अपना दुःख नहीं झेलना पड़ता क्योंकि तुम उससे परे रहते हो। फिर इसके भी अपवाद होते हैं। ऐसे मानव-व्यक्ति भी होते हैं जो दुःख-कष्टोंसे परे होते हैं। फिर भी अपना दुःख झेलते हैं। इन दो विरोधी प्रतीत होनेवाली चीजोंके बीच हम कैसे मेल बैठा सकते हैं?

उनके दुर्भाग्य दूसरे प्रकारके होते हैं।

नहीं, मानव कष्ट और दुर्भाग्य सदा एक ही स्वभावके होते हैं। कुछ कष्ट ऐसे होते हैं जो स्वयं तुमसे, परिस्थितियोंसे या सामान्य दशासे आते हैं, अर्थात्, तुम्हारे ये कष्ट तुम्हें जन्मसे मिले रहते हैं और इनसे कोई बच नहीं सकता। इनकी तीव्रता हमेशा एक-सी नहीं होती, किंतु ये सर्वदा रहते अवश्य हैं। अतः ऐसा लगता है कि यहां विरोधाभास है और फिर भी यह सही नहीं है; क्योंकि कुछ लोगोंके लिये ऐसा होता है कि उस दशाके विद्यमान रहनेपर भी मानों उसका अस्तित्व नहीं होता। मानों जब वह हो तब भी नहीं होती! न तो यह पूरा सत्य है, और न वह, न यह पूरा मिथ्या है और न वह।

मानव-चेतनाकी एक ऐसी स्थिति है जिसमें ये दोनों चीजें एक साथ रह सकती हैं (यह चेतना वास्तवमें मानवीय ही है, अभी अतिमानवीय नहीं बनी है)। व्यक्तिपर कष्ट आ सकते हैं और यह हो सकता है कि वह उन्हें अनुभव न करे, वह इस प्रकार रहे मानो उनका कोई अस्तित्व ही न हो। तात्पर्य यह कि कोई दुर्भाग्य, कोई कष्ट केवल बाह्य चेतनाको, शारीरिक, प्राणिक और मानसिक चेतनाको ही स्पर्श करता है, किंतु चैत्य सत्ता,—सच्ची चैत्य चेतना वास्तवमें सब कष्टोंसे परे रहती है। एक बहुत साधारण उदाहरण लें: किसी बीमारीका। शरीरमें गड़बड़ी होनेसे तुम्हें कष्ट होता है, कभी-कभी बहुत अधिक कष्ट होता है, किंतु ऐसे लोग होते हैं जो चेतनाकी ऐसी स्थितिमें रहते हैं कि उनके लिये शारीरिक कष्ट-

का अस्तित्व ही नहीं होता, वह उनके लिये वास्तविक नहीं होता। यही बात बिछोहकी है। यदि तुम किसीसे प्रेम करते हो और उससे तुम्हारा बिछोह हो जाता है तो तुम्हें कष्ट होता है — यह एक सर्वसामान्य कष्ट है, इससे व्यक्तियोंका प्रेमबंधन टूट जाता है — किंतु चेतनाकी एक विशेष स्थिति होती है जहां दो प्राणियोंके बीचका सच्चा बंधन नहीं टूट सकता, क्योंकि वह उस स्तरकी वस्तु नहीं होता जहां चीजें टूटा करती हैं। इसलिये, जो कुछ भी घटित हो, मनुष्य उससे ऊपर रहता है।

किंतु चेतनाकी उच्चतर स्थितिमें पहुंचनेसे पहले एक ऐसी स्थिति आती है जहां मनुष्य अपने अंदर बुद्धि-वृत्तिको,—एक स्पष्ट, सुनिश्चित, युक्ति-संगत तर्क-बुद्धिकी वृत्तिको विकसित कर सकता है जो चीजोंको पर्याप्त रूपमें तटस्थ दृष्टिसे देख सके। और इस बुद्धिका पर्याप्त विकास कर चुकनेपर तुम अपने सब आवेगों, अनुभवों, कामनाओं, समस्त अस्तव्यस्तताओं-को इस तर्क-बुद्धिके समक्ष रख सकते हो और इससे तुम विवेकशील बन जाते हो। अधिकांश लोग तकलीफमें पड़कर अविवेकी हो जाते हैं। उदाहरणके लिये, जब वे बीमार हो जाते हैं तब अपना समय यह कहते हुए बिताते हैं, "ओह, मैं कितना बीमार हूं, कितना कष्टकर है यह, क्या बराबर ऐसी ही स्थिति बनी रहेगी?" और स्वभावतः अवस्था बिगड़ती चली जाती है। या जब कोई दुर्भाग्य उनपर आ पड़ता है तो वे चिल्ला उठते हैं, "केवल मुझपर ही ऐसी चीजें आती हैं और मैं सोचता था कि अबतक सब कुछ ठीक ही चल रहा है", और उनके आंसू फूट पड़ते हैं, स्नायुएं परेशान हो उठती हैं। हां, अतिमानवकी तो बात ही अलग है, स्वयं मनुष्यके भीतर ही एक उच्चतर सामर्थ्य है जिसे विवेक-बुद्धि कहते हैं, जो चीजोंको धीरतासे, शांतिसे, युक्तिसंगत ढंगसे देख सकती है। यह बुद्धि तुमसे कहती है, "चिंता न करो, इससे कुछ भी सुधार न होगा, तुम्हें शिकायत नहीं करनी चाहिये, जब यह बात घट ही गयी तो इसे स्वीकार कर लेना चाहिये।" तब तुम तुरंत शांत हो जाते हो। यह मन-के लिये एक बहुत अच्छा प्रशिक्षण है; इससे निर्णय-शक्ति, दृष्टि और वस्तुनिष्ठताका विकास होता है और साथ ही तुम्हारे चरित्रपर इसकी बहुत स्वस्थ क्रिया होती है। इससे तुम्हें अपनी स्नायुओंपर जोर डालनेकी मूर्खतासे बचने और विवेकपूर्ण व्यक्तिकी तरह आचरण करनेमें सहायता मिलती है।

मनके लिये एक चीज बहुत कठिन होती है, किंतु मेरी दृष्टिमें वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह यह है कि अपने मनको चीजों और मनुष्योंके विषयमें निर्णय मत करने दो। यह कहना कि "यह अच्छा है, वह बुरा है, यह

ठीक है, वह गलत है, इसमें यह दोष है, उसमें वह बुरी चीज है", आदि-आदि,—यह निंदात्मक फैसला होता है।

जो लोग बुद्धिसे काम लेते हैं, वे जितने अधिक बुद्धिमान् होते हैं उतना ही अधिक वे यह समझने लगते हैं कि वे कुछ भी नहीं जानते और मनके द्वारा कोई कुछ भी नहीं जान सकता। तुम एक विशेष ढंगसे सोच सकते हो, एक विशेष रीतिसे निर्णय कर सकते और देख सकते हो, किंतु किसी भी चीजके बारेमें सुनिश्चित नहीं हो सकते,— और कभी भी कोई किसी चीजके बारेमें सुनिश्चित नहीं हो सकता। हमेशा कहा जा सकता है, "शायद वह ऐसा है", या "शायद यह ऐसा है", आदि-आदि, और यह अनिश्चित कालतक चलता रह सकता है, क्योंकि मन ज्ञानप्राप्तिका यंत्र नहीं है।

विचारोंके ऊपर विशुद्ध भाव होते हैं। विचारोंका कार्य है विशुद्ध भावोंको प्रकट करना। और जैसे विशुद्ध भाव विचारके ऊपर हैं, वैसे ही ज्ञान विशुद्ध भावोंके लोकसे बहुत ऊपर है। अतएव विचारसे ऊपर उठकर विशुद्ध भावमें जाना हमें सीखना होगा और स्वयं विशुद्ध भाव भी और कोई वस्तु नहीं, केवल ज्ञानका रूपांतर है। और ज्ञान तो केवल पूर्ण एकात्मतासे ही प्राप्त हो सकता है। अतः, जब तुम अपनी छोटी मानवीय मनोवृत्तिके अंदर, स्थूल चेतनाके अंदर सिमटे रहते हो, जो सदा सक्रिय रहती है, जो हर चीजपर दृष्टि डालती है, हर चीजको अपनी नकली श्रेष्ठताकी ऊंचाईसे जांचती है, जो कहा करती है, "वह बुरा है, उसे ऐसा नहीं होना चाहिये", तब तुम निश्चित रूपसे, बिना किसी अपवादके, सदा ही धोखा खाते हो। सबसे अच्छा है चुप रहना, चीजोंको बहुत अच्छी तरह देखना, धीरे-धीरे अपने अंदर सब कुछ अंकित कर लेना और कोई फैसला दिये बिना सबको अंतरमें रखे रहना। जब तुम इन सबको स्थिर भावसे, बिना किसी हलचलके अपने अंदर रख सकोगे और उसे शांतिपूर्वक अपनी चेतनाके उच्चतम अंगके समक्ष पेश कर सकोगे, साथ ही सतर्क नीरवता बनाये रखनेका प्रयत्न करोगे और प्रतीक्षा करोगे, तब शायद, धीरे-धीरे, मानों बहुत दूरसे और बहुत ऊपरसे आनेवाली कोई प्रकाश-जैसी चीज प्रगट होगी और तुम्हें सत्यका थोड़ा-सा अधिक ज्ञान प्राप्त हो जायेगा।

किंतु जबतक तुम अपने विचारोंको फड़फड़ाते रहोगे, उन्हें छोटे-छोटे टुकड़ोंमें काटते रहोगे तबतक तुम कभी कुछ नहीं जान पाओगे। आवश्यक हो तो तुम्हारे सामने मैं यह बात सौ बार दुहराऊंगी, पर मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि जबतक तुम्हें इस बातपर विश्वास नहीं हो जाता तबतक तुम अपने अज्ञानसे कभी बाहर नहीं निकल सकोगे।

क्या विशुद्ध भावोंकी कोई ठीक-ठीक गणना है?

यह जाननेके लिये तुम्हें परम प्रभुके पास जाकर उनसे मिलना होगा और उन्हींसे पूछना होगा! गणनामें मुझे कोई रुचि नहीं है।

लो, एक छोटी-सी कहानी सुना दूं। मेरे एक मित्रने भारतकी यात्रा की थी। उनसे अपनी यात्राका विवरण सुनानेको कहा गया। एक वृद्धा आस्तिक महिला भी वहां मौजूद थीं। उन्होंने पूछा: "क्या भारतमें अंतरात्माओंकी गणना होती है?" मित्रने उत्तर दिया, "हां।" "कितनी हैं वे?" वृद्ध महिलाने पूछा। उन्होंने उत्तर दिया, "केवल एक।"

२५ जनवरी, १९५१

श्रीमाताजी "जीवन-विज्ञान" लेखको पढ़ती हैं। (बुलेटिन, नवंबर, १९५०)

> **"हमारे अंदर प्राणमय सत्ता ही कामना और आवेगकी, उत्साह और उग्रताकी, क्रियात्मक शक्ति और निराशापूर्ण अवसादकी, उत्तेजना और विद्रोहकी घर है। वह हर चीजको सक्रिय कर सकती है, गढ़ सकती और उपलब्ध कर सकती है पर साथ ही वह हर चीजको बरबाद और एकदम चौपट भी कर सकती है। अतएव, मनुष्यमें, उसके इस अंगको प्रशिक्षित करना सबसे अधिक कठिन मालूम होता है। इसके लिये लंबे श्रम और महान् धैर्यकी आवश्यकता होती है और यह कार्य पूर्ण सच्चाईकी मांग करता है। क्योंकि, सच्चाईके बिना व्यक्ति प्रथम पगसे ही धोखा खाने लगेगा और प्रगतिका उसका सारा प्रयास ही व्यर्थ हो जायेगा।"**

कामना और सच्ची आवश्यकताके बीच सीमा-रेखाका पता पाना बहुत कठिन है (निःसंदेह, यौगिक आदर्श तो यह है कि कभी कोई आवश्यकता अनुभव ही न की जाय और इसलिये कभी किसी चीजकी कामना ही न हो), किंतु यह लेख उन सभी सद्भावनापूर्ण लोगोंके लिये लिखा गया है जो अपने-

आकांक्षा जागने और संयमित करनेका प्रयास करते हैं और यहीं वास्तवमें हमारे सामने एक ऐसी समस्या आ उपस्थित होती है जो हमसे अपरिमित सत्यनिष्ठाकी मांग करती है, क्योंकि जीवनके साथ अपना संबंध स्थापित करनेका प्राणसत्ताका एकदम पहला तरीका है कामना — और फिर ऐसी चीजें तो हैं ही जो आवश्यक होती हैं। किंतु यह कैसे जाना जाय कि वे चीजें वास्तवमें आवश्यक हैं, उनके लिये कोई कामना नहीं है? . . . इसके लिये हमें बहुत, बहुत ही ध्यानपूर्वक आत्मनिरीक्षण करना होगा। यदि तुम्हारे अंदर कोई चीज ऐसी हो जो एक नन्हेंसे तीव्र स्पंदनकी जैसी अनुभूत होती हो तो तुम निश्चित रूपसे मान सकते हो कि तुम्हारे अंदर कामना है। एक उदाहरण लें, तुम कहते हो, "यह भोजन मेरे लिये आवश्यक है", —तुम विश्वास करते हो, कल्पना करते हो, सोचते हो कि तुम्हें अमुक चीजकी आवश्यकता है और उस चीजको पानेके लिये आवश्यक उपाय करते हो। यह एक आवश्यकता है या कामना, यह जाननेके लिये, तुम्हें अपने-आपको बहुत ध्यानसे देखना होगा और स्वयंसे पूछना होगा, "यदि यह चीज मुझे न मिल सकी तो क्या होगा?" तब, यदि तत्काल यह उत्तर मिले कि, "ओह, यह तो बहुत बुरा होगा", तो निश्चित समझो कि यह कामनाका विषय है। हर चीजके लिये यही बात है। प्रत्येक समस्याके समक्ष तुम पीछे हटो, अपने-आपपर दृष्टिपात करो और पूछो, "देखूं, यह चीज मुझे मिलती है या नहीं?" उस क्षण यदि तुम्हारे अंदर कोई चीज प्रसन्नतासे उछल पड़ती है, तो निश्चित समझ सकते हो कि यह कामना है। इसके विपरीत, यदि कोई चीज तुमसे कहती है, "ओह, मुझे यह चीज नहीं मिलनेकी", और तुम बहुत उदास अनुभव करते हो, तो यह चीज भी कामना है।

यदि तुम चाहते हो कि प्राणिक सत्ता तुम्हें धोखा न दे तो तुम्हें केवल बहुत सावधान ही नहीं रहना होगा वरन् तुम्हारी सत्यनिष्ठाको प्रायः चमत्कारिक होना होगा — मैंने तुम्हें निरुत्साहित करनेके लिये "चमत्कारिक" शब्दका व्यवहार नहीं किया है; इसके विपरीत, तुम्हारे अंदर सत्य-निष्ठाके लिये और भी अधिक अभीप्सा जगानेके लिये कहा है।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं): "प्राणिक सत्ताका सहयोग हो तो कोई भी सिद्धि असंभव नहीं लगती, कोई भी रूपांतर अव्यावहारिक नहीं लगता।"

बस, यही आश्चर्यजनक बात है। मेरी समझमें प्राण अपनी शक्तिके प्रति बहुत अचेतन होता है और इसी कारण यह महत्त्वपूर्ण है: उसमें वह क्रिया-

शक्ति है जिसके कारण कोई भी कठिनाई ऐसी नहीं जो उसके लिये अति कठिन हो; किंतु उसे सही पक्षमें रहना चाहिये। यदि वह सहयोग देता है तो हर चीज अद्भुत हो जाती है, लेकिन उससे यह सतत सहयोग पाना आसान नहीं है। वह बहुत अच्छा कार्यकर्ता है, वह बहुत ही अच्छी तरह काम करता है, किंतु काम करनेमें वह सदा अपनी निजी संतुष्टि चाहता है, वह उस कामसे कुछ पाना चाहता है, उस कामसे जो भी सुख मिल सकता है, जो भी लाभ मिल सकता है उसे पाना चाहता है; और जब किसी भी कारणसे (कितने ही कारण हो सकते हैं) यह संतुष्टि उसे प्राप्त नहीं होती तो वह खुश नहीं होता, बिलकुल खुश नहीं होता। "यह उचित नहीं है, मैं काम करता हूं और बदलेमें मुझे कुछ भी नहीं मिलता," ऐसा सोचकर वह खीझ उठता है, निश्चल हो जाता है, चुप हो जाता है और सब समय कहता है, "मैं हूं ही नहीं।" तब फिर शरीरकी सारी शक्ति निकल जाती है, तुम थक जाते हो, अशक्त हो जाते हो, और कुछ भी नहीं कर सकते। फिर अचानक ही अवस्था और भी खराब हो जाती है, क्योंकि यहां मैं कह दूं कि प्राणके साथ मनकी बहुत दोस्ती है — युक्ति-प्रधान मन नहीं, बल्कि स्थूल मन प्राणके साथ बहुत अधिक दोस्ती रखता है। अतः प्राणके यह कहते ही कि "मेरा इससे कोई सरोकार नहीं, मेरे साथ बुरा व्यवहार हुआ है, मुझे अब इसमें कुछ करना-धरना नहीं है", मन स्वभावतः ही आ उपस्थित होता है, उसे उत्साहित करता है, समझाता है, अच्छे-अच्छे कारण पेश करता है और वही पुरानी कहावत शुरू हो जाती है: "जीवन जीने योग्य नहीं, लोग सचमुच घिनौने हैं, सारी परिस्थितियां मेरे विपरीत हैं, बस, इस सबको छोड़ देना ही अच्छा है," आदि-आदि। ऐसा प्रायः ही होता है, किंतु कभी-कभी बुद्धिकी एक हल्की-सी चमक कहींसे आ जाती है और कहती है, "ओह, बहुत हो चुका यह नाटक!"

किंतु प्राणका भाव ही यदि बहुत जोर पकड़ ले और तुम समयपर प्रतिक्रिया न करो तो तुम निराशामें पड़ जाते हो, और सोचते हो, "सचमुच यह जीवन मेरे जैसे लोगोंके लिये नहीं बना है, मैं कहीं अन्यत्र, किसी स्वर्गमें अधिक सुखी होऊंगा जहां हर कोई बड़ा भला होता है और मनुष्य जो कुछ चाहे कर सकता है" आदि-आदि; और इसीसे स्वर्गकी कल्पनाओंका जन्म होता है — निस्संदेह, मेरा ख्याल है कि मन और प्राण इन दोनों साथियों-ने ही मिलकर स्वर्गका आविष्कार किया है! क्योंकि, यदि जीवन और संसार तुम्हारी कामनाके अनुसार नहीं होते तो तुम रोना आरंभ कर देते हो, "ओह, काफी देख लिया, यह जगत् बहुत ही दुःखपूर्ण और धोखेबाज है, मैं तो अब मर ही जाना चाहता हूं।" तब एक ऐसा क्षण आता है जब यह

...ति गंभीर हो जाती है, निरुत्साहकी मात्रा बढ़ जाती है, निराश ...हताशा बदल जाती है असंतोषमें। मैं यहां बात कर रही हूं दुरन्त ...वाले लोगोंकी (यह उनका दोष नहीं है!), और ऐसे लोग भी हैं जिन...ा स्वभाव अच्छा होता है (यह भी उनका दोष नहीं है!) किंतु बात ...सी ही है — जिनका स्वभाव बुरा होता है, वे क्रुद्ध हो जाते हैं, निराश ...रते हैं, हर चीजको तोड़-फोड़ देना, गिरा डालना चाहते हैं, कहते हैं, अब तुम देखना, वे मेरे इच्छानुसार काम नहीं करते, उन्हें दंड मिलेगा।" फिर बात थोड़ी और गंभीर हो जाती है, क्योंकि मन वहां बराबर एक साथीकी तरह सहायता देनेके लिये विद्यमान रहता है और प्रतिशोधके बारेमें पूर्ण विचार बनाना आरंभ कर देता है — निरुत्साहके कारण तुम एक प्रकारकी मूर्खता करते हो और शठताके वश दूसरे प्रकारकी। निरुत्साहके कारण की हुई मूर्खताओंका संबंध स्वयं तुमसे होता है, जब कि शठताके की गयी मूर्खताओंका संबंध दूसरोंसे होता है; और कभी-कभी ये मिलकर मूर्खताएं बड़ी संगीन हो जाती हैं। यदि तुम्हारे अंदर थोड़ी-सी भी सद्भावना है तो सबसे अच्छा यह है कि जब कोई ऐसा दौरा हो तो यह नियम बना लो कि तुम जरा भी नहीं हिलोगे, बस, अपने-आपसे यह कहोगे, "मैं टससे मस नहीं हूंगा, इस तूफानके निकल जानेकी प्रतीक्षा करूंगा," और कई महीनों नियमित रूपसे किये गये प्रयत्नोंपर तुम कुछ ही क्षणमें पानी फेर सकते हो।

अतएव तुमसे एक सान्त्वनाकी बात कहती हूं (श्रीमां पढ़ती हैं):

> जो लोग अपने चैत्य पुरुषके साथ इतना पर्याप्त संपर्क स्थापित कर चुके हैं कि उनकी अभीप्साकी लौ और उनके आत्मदान करनेकी चेतना जीवंत बनी रहे, उनके लिये ऐसे दौरे कम होते और कम खतरनाक होते हैं। इस चेतनाकी सहायतासे वे अपने प्राणसत्ताके साथ वैसे ही धैर्य और स्नेहके साथ व्यवहार कर सकते हैं जैसे किसी विद्रोही बालकके साथ किया जाता है। उसे सत्य और ज्योति दिखा सकते हैं, उसे विश्वास दिलानेकी कोशिश कर सकते हैं और एक क्षणके लिये जो सद्भावना उसमें झलक गयी थी उसे जगानेका प्रयास कर सकते हैं।

और अब अंतिम सान्त्वना : जो लोग सचमुच सच्चे होते हैं, जिनमें आत्मदानकी सदिच्छा होती है, उन सबके लिये ये सारे दौरे प्रगतिके साधकोंमें बदल सकते हैं। जब-जब तुमपर इस प्रकारका कोई आक्रमण हो, किसी

जाएगा, तब-तब तुम उस संकटको नयी प्रगतिके रूपमें बदल सकते हो, उसको और ले जानेवाली एक मंजिल बना सकते हो। यथार्थमें, यदि तुममें इतनी पर्याप्त सचाई हो कि तुम अपने अंदर उस दौरेके कारणको,—तुमने क्या गलत किया है, क्या गलत सोचा है, क्या गलत अनुभव किया है उसे,—प्रत्यक्ष देख सको, यदि तुम अपनी दुर्बलताको, उग्र व्यवहारको या दिखावटी अभिमानको (मैं यह तो कहना भूल ही गयी थी कि मनकी अपेक्षा प्राण कहीं अधिक मिथ्याभिमानसे भरा होता है) देख सको, यदि इन सबको पूरी-की-पूरी खुली आंखों देख सको और यदि ईमानदारी और सच्चाईसे स्वीकार कर सको कि जो कुछ हुआ है वह तुम्हारे दोषके कारण ही हुआ है तो तुम्हारी उस विकृत स्थलपर तपता हुआ लाल लोहा रख देते हो। तब तुम दुर्बलताको शुद्ध कर उसे एक नयी चेतनामें परिवर्तित कर सकते हो और इसके बाद तुम देखोगे कि तुम कुछ अधिक विकसित हो गये हो, तुमने यथार्थमें प्रगति कर ली है।

> "हो सकता है कि प्रगति धीमी हो, पग-पग बाधा-भरे हों, किंतु यदि साहसपूर्ण संकल्प बनाये रखा जाय तो एक दिन विजयका आना सुनिश्चित है। और सत्यकी जाज्वल्यमान चेतनाके सम्मुख समस्त कठिनाइयोंका गल जाना और विलीन हो जाना निश्चित है।"

अगर मैं दोष और कठिनाइयोंपर जोर दे रही हूं, तो इसलिये नहीं कि प्रगति करनेका तुम्हारा उत्साह ही भंग कर दूं, वरन् तुम्हें यह बतानेके लिये जोर दे रही हूं कि तुम्हें कोई काम आवश्यक साहसके साथ करना चाहिये और ठीक इस कारण हताश नहीं होना चाहिये कि तुम्हें सफलता तुरंत नहीं मिली; यदि तुम्हारे अंदर अभीप्सा विद्यमान हो, यदि तुम्हारे अंदर संकल्प विद्यमान हो तो यह बिलकुल निश्चित है कि जल्दी हो या देरसे सफलता मिलेगी अवश्य। और यह बात मैं उन लोगोंके लिये कह रही हूं जो बिलकुल ही सामान्य परिस्थितियोंमें, शायद तुमसे कम अनुकूल परिस्थितियोंमें रहते हैं और फिर भी अपने-आपको जानना और अपने-आपको जीतना, अपने-आपपर प्रभुत्व जमाना, अपने-आपको वशमें करना सीख जाते हैं। अतः यदि परिस्थितियां अनुकूल हों तो तुम्हारी सफलताकी संभावना कहीं अधिक हो जाती है। एक चीज हमेशा आवश्यक होती है और वह है खेलको छोड़ न देना। वास्तवमें, यह एक बहुत बड़ा खेल है और इसका जो फल है उसके लिये अंततक खेलते रहनेका कष्ट उठाना उचित है।

"...अंततः, हमें शारीरिक जिज्ञासाकी एक सुविशेषित और स्पष्टदर्शी प्रणालीके द्वारा अपने शरीरको सबल और नम्यशील बनाना चाहिये, जिससे कि वह भौतिक जगत्‌में उस सत्य-शक्ति का उपयुक्त यंत्र बन सके जो हमारे भीतर अभिव्यक्त होना चाहती है।"

शरीरको संगठित करना, उदाहरणके लिये, प्राणिक सत्ताकी अपेक्षा कहीं कम कठिन होता है। किंतु मन और प्राणके जैसे स्वभाव और प्रवृत्तियां हैं, इस बेचारे गुलाम शरीरके साथ वे क्या-क्या नहीं करते! वे इसके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, शायद इसे बिगाड़ भी डालते हैं (यह शरीर हल्की-सी आपत्ति करता है, थोड़ा बीमार पड़ जाता है) और उसके बाद ये दोनों साथी कहते हैं, "कैसा जानवर है यह शरीर, यह हमारे कामसे हमारा साथ नहीं दे पाता!" दुर्भाग्यवश अपने दोनों मालिकों — मन और प्राण — की आज्ञाओंका पालन शरीर आंखें मूंदकर, विवेचना किये बिना करता है। मन अपने सिद्धांत लेकर आता है, "यह मत खाना, इससे तुम्हें नुकसान होगा, यह न करना, यह बुरा है," और यदि मन समझदार और स्पष्टदर्शी न हुआ तो शरीरको उससे जो आज्ञाएं मिलती हैं उनके परिणामोंको बेचारा शरीर भोगता है। मैं यहां प्राणसे मिलनेवाले दुखों की बात नहीं कहती। मन अपने कठोर सिद्धांतोंके द्वारा और प्राण अपने अभिदावारों, भावावेगों और आवेशोंके द्वारा बहुत शीघ्र ही शरीरका संतुलन बिगाड़ देते हैं और थकान, निःशक्तता और बीमारीकी अवस्था उत्पन्न कर देते हैं।

"....शरीरको इस अत्याचारसे मुक्त करना होगा और यह केवल तभी हो सकता है जब सत्ताके चैत्य केंद्रके द्वारा उसका एकत्व बना रहे।"

स्पष्ट ही यह समस्त रोगोंका इलाज है।

"...शरीरमें सहन करने और परिस्थितियोंसे मेल बिठानेकी विलक्षण क्षमता है।" हम जो कुछ कल्पना कर सकते हैं उससे बहुत अधिक चीजें करनेकी क्षमता उसमें है। अपने ही घर और स्वेच्छाचारी मालिक इसपर शासन करते हैं उनसे कहीं यह यदि सत्ताके चैत्यिक सत्यके द्वारा शासित हो और इसे

... वेखकर आश्चर्यचकित रह जायेंगे कि इसमें क्या-क्या करनेकी ... क्षमता निहित है।"

... पृष्ठमें यह प्रमाणित हो चुका है कि शरीरमें ऐसे कष्टोंको सहनेकी ... है जिन्हें साधारणतया सहन करना असाध्य है। तुमने निश्चय ही ... ऐसी कहानियां सुनी या पढ़ी होंगी जिनमें शरीरको भयानक चीजें ... और सहनी पड़ीं और उसने उन सबका सामना किया और प्रमा-... कर दिया कि उसमें सहनेकी प्रायः अशेष क्षमता निहित है। कुछ ... ऐसी परिस्थितियोंमें आ पड़े जिनसे उनकी मृत्यु हो जानी चाहिये ... किंतु वे जीवित बच गये और इसका कारण यह था कि उनमें जीवित ... की इच्छा बहुत बलवती थी और शरीरने उस इच्छाका पालन किया।

"....तब इस स्वस्थ और संतुलित जीवनमें शरीरके ऊपर एक नया सामंजस्य प्रगट होगा जो उच्चतर लोकोंके सामंजस्य-को प्रतिबिंबित करेगा और शरीरको आकारका पूर्ण सुडौलपन तथा आदर्श सौंदर्य प्रदान करेगा।"

... अंतिम स्थिति है। अभी मानव-शरीर जैसा है उसकी तुलना यदि ... के किसी उच्चतर आदर्शसे की जाय तो स्पष्ट है कि बहुत कम लोग ... उत्तीर्ण होंगे। प्रायः प्रत्येक मनुष्यके अंगोंके अनुपातमें एक ... का असंतुलन विद्यमान है; हम इसके इतने आदी हो गये हैं कि ... दृष्टिमें यह चीज आती ही नहीं, किंतु यदि हम उच्चतर सौंदर्यके ... से देखें तो यह चीज दीखने लगती है; पूर्ण सौंदर्यकी तुलनामें ... शरीर ही ठहर सकते हैं। इस असंतुलनके हजारों कारण हैं, ... एक ही है। वह है सत्ताके अंदर सच्चे सौंदर्यकी, परमोच्च ... की इस सहज-वृत्ति और भावनाको स्थापित करना जो कि धीरे-धीरे ... पर क्रिया करे और शरीरको सौंदर्य प्रगट करनेके योग्य बनाये। यह ... भी एक ऐसी चीज है जिसे लोग नहीं जानते; शरीर सुम्हारी ... से अनंतगुना अधिक नमनीय है। तुमने निश्चय ही देखा होगा ... (यद्यपि बहुत ही अस्पष्ट रूपमें) कि जो लोग आंतरिक शांतिमें, आंतरिक ... में, प्रकाशमें और पूर्ण सद्भावनामें निवास करते हैं उनका रूप उन ... जैसा नहीं होता जो कुविचारोंमें और अपनी प्रकृतिके निम्नतर अंगों-... निवास करते हैं। जब मनुष्य अपनी श्रेष्ठतम स्थितिमें रहता है, ... निम्नतम प्रकृतिसे ऊपर रहता है, तब उससे एक ऐसी चीज विकीर्ण

होती है जो उसमें उस समय नहीं होती जब वह पशुताकी अवस्थामें निवास करता है।

यदि मनुष्य अपना रूप अहंभावसे या उस विख्यात चीज दंभके कारण बदलना चाहे तो स्वभावतः ही उसे सफलता नहीं मिलेगी, क्योंकि यह काम करनेकी शक्ति तो एक और ही अधिक गंभीर चीजमें है; लेकिन तुम यदि सब समय बुरी इच्छा, खोटे विचारसे बचे रह सको तो देखोगे कि तुम्हारे रूप और आकृतिमें एक प्रकारका सामंजस्य क्रमशः प्रगट होने लगा है। क्योंकि यह सच है कि शरीर आंतरिक स्थितियोंको प्रगट करता है।

किंतु तुम एक बात भूल जाते हो। यदि तुम समूचे दिनमें पांच या छः घंटे उच्चतर चेतनामें बिता लेते हो तो तुम्हें लगता है कि यह बहुत हो चुका और बाकी समय तुम कम या अधिक एक छोटे पशुकी भांति रहते हो, तुम अपने-आपपर नियंत्रण नहीं रखते, परिस्थितियोंकी हांकपर चलते हो। और तुम उस चीजके पास जाना एकदम भूल जाते हो जो अमर स्थित है, जो तुम्हें अपनी प्रकृतिके निम्नतर क्षेत्रोंमें नीचे गिरनेसे रोक सकती है।

यदि तुम इसके लिये प्रयत्न करनेका कष्ट उठाते तो इसमें अपने शरीरसे तुम्हें बहुत अधिक सहायता प्राप्त होती।

तुम्हें शरीरको हेय दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये और न इसकी अत्यधिक भर्त्सना ही करनी चाहिये, क्योंकि यह दोषी नहीं है; यदि अपने शरीरको सिखाने और साधनेके लिये तुम किसी उपयोगी पद्धतिको अपनाओ तो तुम्हें अभी जो उससे लाभ प्राप्त होता है उससे अनंतगुना अधिक लाभ मिलेगा। अभी बिलकुल हाल ही में लोगोंने शारीरिक अनुशीलनको एक महत्त्वपूर्ण चीज कहना शुरू किया है। यदि सौ वर्ष पीछेकी ओर ताको तो तुम देखोगे कि जिन लोगोंको और कोई काम नहीं रहता था वे ही शारीरिक व्यायाममें संलग्न रहते थे। सौ वर्ष पहले इसे एक व्यसन समझा जाता था। जब कोई कहता था, "मैं अपने लड़केको स्कूल नहीं भेजना चाहता, उसे आजीविका कमानी चाहिये", तो ऐसा उत्तर देनेवाले बहुत लोग मिलते थे, "नहीं, नहीं, क्षमा करें, आप बड़ी भारी भूल कर रहे हैं, यदि आप अपने बच्चेको उसके प्रौढ़ जीवनके लिये तैयार नहीं करेंगे तो उसे जो कुछ करना चाहिये उसे करनेमें वह असमर्थ रहेगा।" लेकिन यह बात लोग कहते थे मनके संबंधमें, शरीरके बारेमें नहीं। इतने सारे बच्चे ऐसी अवस्थाओंमें रहते थे जो कम या अधिक अच्छी होती थीं, उनका शरीर उनके लिये वास्तवमें एक कठिनाई होता था, किंतु लोग यही कह देते थे, "वह सुधर जायेगा, वह बिलकुल ठीक हो

जायगा....।" अभ्यास और धैर्यसे तुम अपने शरीरको ऐसा बना सकते हो कि जीवनके कर्मोंके साथ वह ठीक-ठीक निभा सके। आजकल लोग स्वस्थ और संतुलित जीवनका मूल्य स्वीकार करने लगे हैं। और मैंने यह कहा है कि यह सामंजस्य प्रगतिशील होगा।

> "...यह सामंजस्य प्रगतिशील होगा, क्योंकि सत्ताका सत्य निश्चल नहीं होता, वह तो एक वर्द्धमान, अधिकाधिक सर्वांगपूर्ण और सर्वतोमुखी पूर्णताका निरंतर प्रगटीकरण है। जैसे ही शरीर वर्द्धमान सामंजस्यकी इस गतिका अनुसरण करना सीख जायगा वैसे ही रूपांतरकी एक सतत प्रक्रियाके द्वारा विघटन और विनाशकी आवश्यकतासे बच निकलना उसके लिये संभव हो जायगा। इस तरह मृत्युके अटल नियमके बने रहनेके लिये कोई कारण नहीं रह जायगा....। 'सत्य' के चारों गुण हमारी सत्तामें स्वयं ही अभिव्यक्त होंगे। चैत्य आत्मा होगा सच्चे और विशुद्ध प्रेमका, मन होगा अचूक ज्ञानका, प्राण अभिव्यक्त करेगा अजेय शक्ति और बलको, और शरीर अभिव्यक्ति होगा पूर्ण सौंदर्य और पूर्ण सामंजस्यकी।"

रहस्यवेत्ताओं और धार्मिक लोगोंमें बहुत कम लोग ही यह बात जानते हैं कि सत्ताके प्रत्येक अंगके अंदर भगवान् भिन्न-भिन्न ढंगसे प्रगट होते हैं। उच्चतर अंगोंमें 'वह' प्रगट होते हैं 'शक्ति', 'प्रेम' आदिके रूपमें, किंतु भौतिक स्तरमें 'वह' प्रगट होते हैं 'सामंजस्य' और 'सौंदर्यके' रूपमें।

अतएव, शारीरिक सुन्दरताको प्रगट करनेकी समस्या एक आध्यात्मिक समस्या हो जाती है।

२७ जनवरी, १९५१

श्रीमाताजी "पहलेकी बातें" नामक पुस्तकसे स्वप्नके विषयमें एक पुराना लेख पढ़ती हैं।

> "....हमारे जीवनका एक तिहाईसे अधिक भाग सोनेमें बीत जाता है....।"

भौतिक नींदकी ओर, इसलिये, हमें ध्यान देना बहुत आवश्यक है। मैंने "भौतिक नींद" कहा है, क्योंकि हमें यह विश्वास करनेकी आदत है कि जब शरीर सोता है तो हमारी सारी सत्ता नींदमें चली जाती है।

> "...ऐसा बहुधा कहा जाता है कि नींदमें मनुष्यका सच्चा स्वभाव जाग जाता है...।"

मनुष्यके सच्चे स्वभावसे तात्पर्य उसका गभीरतर स्वभाव नहीं, बल्कि उसका सहज-स्वभाव है जो संयमके अधीन नहीं है, क्योंकि नींदके समय संकल्प-शक्तिका नियंत्रण हट जाता है। और जो-जो चीजें मनुष्य जागृत अवस्थामें नहीं करता वे सब नींदके समय करता है, क्योंकि उस समय संकल्पशक्तिका नियंत्रण उठ जाता है।

> "....जो कामनाएं विलीन न होकर दबी पड़ी रहती हैं...वे सब संकल्पशक्तिके निद्रित रहनेपर अपनी तृप्तिकी चेष्टा करती हैं।....और, चूंकि कामनाएं निर्माण-कार्यके सच्चे शक्तिशाली केंद्र हैं, वे हमारे अंदर और हमारे चारों ओर ऐसी परिस्थितियोंका एक समूह संगठित कर देती हैं जो उनकी तृप्तिके लिये अत्यंत अनुकूल होता है।"

एक दूसरे पाठमें मैं मानसिक रचना करनेकी शक्तिके विषयमें बोल चुकी हूं: मन ऐसी सत्ताओंकी रचना करता है जिनका कम या अधिक स्वतंत्र जीवन होता है और जो अभिव्यक्त होनेका प्रयास करती हैं। यहां मैं विचारकी बात नहीं, बल्कि कामनाकी बात कह रही हूं। कामनाका संबंध प्राणिक तलसे है पर इस कामनाके मर्मस्थलमें सर्वदा ही एक विचार विद्यमान रहता

है और जब कामना अपने अंदर मानसिक रचनाकी इस शक्तिकी प्राणगत उपलब्धिकी शक्तिको धारण करती है तो वह भी अधिक सजीव और सशक्त बन जाती है। प्राण सत्ताकी क्रियाशीलताका, सक्रिय शक्तिका, केंद्र है और ये दोनों मिलकर एक ऐसी चीज उत्पन्न करते हैं जो बहुत शक्तिशाली होती है और जिसमें अपने-आपको चरितार्थ करनेकी प्रबल प्रवृत्ति होती है — इसके अलावा, विश्वके अंदरकी प्रत्येक वस्तु अभिव्यक्त होना चाहती है, और जो चीजें अभिव्यक्त होनेसे रोक दी जाती हैं वे, बस इसी तथ्यके कारण, अपनी शक्ति और क्षमता खो देती हैं। जो पद्धतियां आत्मसंयम प्राप्त करना चाहती हैं उनमेंसे अधिकांशने दमनका, क्रियाओंके निग्रहका प्रयोग किया है और उनकी कारणा यह रही है कि यदि कोई पर्याप्त लंबे समयतक इस निग्रहको जारी रखे तो वह अवांछित तत्त्वोंको मार डालनेमें सफल होता है। यह बात बिलकुल सही होती यदि यह केवल भौतिक जगत्का प्रश्न होता, पर भौतिक जगत्के पीछे अवचेतन जगत् है और अवचेतन जगत्के पीछे अपार निश्चेतन जगत् पड़ा है। और लोग यह नहीं जानते कि यदि वे अपने अंदर स्वयं कामनाको ही, कामनाके बीजको ही नष्ट नहीं कर देते तो यह रचना, जिसे तुम व्यक्त होनेसे रोक रहे हो, मानों अवचेतनाके अंदर दबा दी जाती है — नीचे खदेड़ दी जाती है और एकदम अवचेतनाके तलमें दबी पड़ी रहती है — और, यदि तुम अवचेतनामें जाओ और उसे खोजो तो देखोगे कि वह वहां अपना कार्य करनेके लिये प्रतीक्षा कर रही है। यही कारण है कि इतने सारे लोगोंको वर्षोंपर वर्ष संयम कर चुकनेके बाद सहसा कोई अवांछित क्रिया, वह जितने ही अधिक दिनोंतक दमित थी उतनी ही अधिक शक्तिके साथ नीचेसे ऊपर उमड़कर आश्चर्यमें डाल देती है। इसलिये स्वप्न बहुत उपयोगी है, क्योंकि उस समय दमनकी यह क्रिया नहीं होती, उस समय सचेतन संकल्पके न होनेके कारण (क्योंकि वह निद्रित हो जाता है अथवा अन्यत्र चला जाता है) नीचे दबी हुई कामना उमड़ आती है और स्वप्नोंके रूपमें व्यक्त होती है, इतनी अधिक अभिव्यक्त होती है कि हमें अपनी प्रकृतिके विषयमें बहुत सारी बातें मालूम हो जाती हैं। इसी कारण यह कहा जाता है कि मनुष्य नींद और स्वप्नोंमें अपनी सच्ची प्रकृतिका पता लगा सकता है। परंतु यह उसकी सच्ची प्रकृति, उसकी गभीरतर प्रकृति नहीं होती जो उसकी चैत्य प्रकृति है, बल्कि सहज-प्राकृत, असंयमित प्रकृति है।

"इस तरह रातके कुछ घंटोंमें हमारे सचेतन विचारद्वारा वितर किये गये बहुत-से प्रयासोंका फल नष्ट हो सकता है...।

अतएव हमें अपने स्वप्नोंको जानना सीखना होगा और, सबसे पहले, उनमें विभेद करना सीखना होगा, क्योंकि अपने स्वरूप और गुणमें वे परस्पर बहुत अधिक भिन्न होते हैं। बहुधा एक ही रातमें हम अपनी नींदकी गहराईके अनुसार विभिन्न श्रेणियोंके स्वप्न देख सकते हैं।

मैं नहीं जानती कि यहां कोई ऐसा व्यक्ति उपस्थित है जिसने इस व्यापार-का निरीक्षण किया है, परंतु रात्रिके घंटोंके अनुसार या जितनी देर तुम सोते हो उसके अनुसार तुम्हारी नींद अलग-अलग प्रकारकी होती रहती है। यदि तुम निरीक्षण करनेका कष्ट उठाओ (परंतु बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो कष्ट उठाते हों) तो हो सकता है कि कभी असमय अचानक जगा दिये जानेपर तुम देखो कि तुम्हें कभी दुबारा उसी प्रकारकी नींद नहीं आयी। ऐसे समय भी होते हैं जब तुम्हें विभिन्न प्रकारके स्वप्न आते हैं; यदि तुम सावधान रहो तो तुम इस बातको बहुत स्पष्ट रूपमें देखोगे। फिर ऐसे समय भी होते हैं जब तुम्हारे लिये जग जाना बड़ा कठिन होता है, क्योंकि तुम गहरी नींदमें होते हो, तुम बाहरी चीजोंके विषयमें एकदम अचेतन होते हो। अन्य समयोंमें, इसके विपरीत, बस जरा-सी आवाज, चाहे वह जितनी भी मद्धिम हो, तुम्हें नींदसे चौंका देनेके लिये काफी होती है।

रातके समय मैं कुछ चीजोंसे भयभीत नहीं होता, पर दिनके समय मैं उनसे भयभीत हो जाता हूं। क्यों?

इसका अर्थ है कि तुम्हारा प्राण-पुरुष तुम्हारे भौतिक पुरुषसे अधिक वृद्ध है।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं:) "... इसमें कोई संदेह नहीं कि कई दृष्टियोंसे हमारी अवचेतनामें हमारी सामान्य चेतनाकी अपेक्षा बहुत अधिक ज्ञान है।"

यहां मैं एक शब्दका संशोधन कर रही हूं: वास्तवमें "अवचेतना" वह चीज नहीं है जिसमें हमारी सामान्य चेतनाकी अपेक्षा अधिक ज्ञान है, बल्कि वह "अति-चेतना" है, वह चीज जो हमारी चेतनाकी पकड़से बच निकलती है, इस कारण नहीं कि वह निम्नतर है वरन् इस कारण कि वह उच्चतर है। जब रातके समय हम कोई असमंजस अपने

सम्मुख रखते हैं तो यह समस्या हमारी सत्ताके उच्चतर क्षेत्रोंमें चली जाती है और सवेरे हम उसका उत्तर, समाधान पा जाते हैं, क्योंकि वहां, अपनी चेतनाकी गहराईमें, हम उन चीजोंको जान जाते हैं जिन्हें हम अपनी बाहरी चेतनामें नहीं जानते।

> नींदके समय अक्सर हमें यह लगता है कि हम ज्योतिके राज्यमें, उच्चतर ज्ञानके राज्यमें प्रवेश कर रहे हैं, पर जगनेपर हम केवल थोड़ा-सा संस्कार, स्मृति ही वापस लेकर आते हैं। क्यों?

इसका कारण यह है कि सत्ताकी जो क्रमपरंपरा अत्यंत बाह्य चेतनासे उच्चतम चेतनातक जाती है, उसमें व्यवधान हैं, उसकी धारा टूटी हुई है, और जब चेतना चढ़ती है, उतरती है और फिर दुबारा चढ़ती है तो वह किन्हीं अंध छिद्रोंमेंसे गुजरती है जिनमें कुछ भी नहीं होता। फिर यह नींदमें, एक प्रकारकी अचेतनतामें प्रवेश कर जाती है और यथा-साध्य उत्तम रूपमें दूसरी ओर जगती है और मुश्किलसे यह याद रखती है कि वह ऊपरसे क्या वापस ले आयी है। बस, यही चीज बहुत बार और विशेष रूपसे उस अवस्थामें घटित होती है जिसे समाधि कहते हैं। जो लोग समाधिमें प्रवेश करते हैं वे देखते हैं कि उनकी सक्रिय बाह्य चेतना और उनकी ध्यानकी चेतनाके बीच एक प्रकारकी रिक्तता है। ऊपर तो वे लगभग अनिवार्य रूपसे सचेतन हैं — उस अवस्थाके विषय-में सचेतन हैं जिसमें वे हैं —, परंतु जब वे अपने शरीरकी ओर वापस लौटते हैं तो रास्तेमें एक प्रकारके छिद्रमें प्रवेश करते हैं जहां वे सब कुछ खो देते हैं — वे अपने साथ अपने अनुभवको वापस लानेमें असमर्थ हो जाते हैं। अपने अंदर बहुत-से ऐसे स्तरोंका निर्माण करनेके लिये एक बहुत बड़ी साधनाकी आवश्यकता होती है जो चेतना द्वारा उच्चतर स्तरमें अनुभूत वस्तुओंको न भूलनेकी क्षमता प्रदान करते हैं। यह कोई असाध्य साधना नहीं है पर यह अत्यंत लंबी साधना है और अटूट धैर्य-की मांग करती है, क्योंकि इसका अर्थ है मानों तुम अपने अंदर एक सत्ताका, एक शरीरका निर्माण करना चाहते हो; और उसके लिये सबसे पहले आवश्यक ज्ञानकी आवश्यकता है, पर साथ ही एक दीर्घ-कालीन प्रयास तथा अध्यवसायकी भी आवश्यकता है जो बहुतोंको निरु-त्साहित कर सकती है। परंतु यदि तुम अपनी उच्चतर सत्ताके ज्ञानमें हिस्सा बंटाना चाहते हो तो यह पूर्ण रूपसे अनिवार्य है।

क्या अपने स्वप्नोंको लिख रखना उपयोगी है?

हां, एक वर्षसे अधिक समयतक मैंने स्वयं इस प्रकारके आत्मानुशासनका प्रयोग किया। मैं प्रत्येक चीज लिख लेती थी — थोड़े-से शब्द, एक छोटी-सी बात, कोई संस्कार — और मैं एक याददाश्तसे दूसरीमें जानेकी चेष्टा करती थी। प्रारंभमें यह बहुत सफल नहीं था, परंतु लगभग चौदह महीनेके बाद, मैं, अंतकी ओरसे आरंभ कर, सभी क्रियाओंको, रात्रिके आरंभसे लेकर सभी स्वप्नोंको स्मरण कर लेती थी। यह चीज एक ऐसी सचेतन, सतत सचेतन स्थितिमें पहुंचा देती थी कि अंतमें मैं बिलकुल नहीं सोती थी। मेरा शरीर लंबा पड़ा रहता था, घोर निद्रामें, परंतु चेतनामें मुझे जरा भी आराम नहीं मिलता था। इसका परिणाम पूर्णतः आश्चर्यजनक निकला, इस तरह तुम निद्राकी विभिन्न अवस्थाओंके विषयमें सचेतन हो जाते हो, नींदमें जो कुछ घटित होता है उसकी प्रत्येक चीजके बारेमें पूर्णतः, पूरे ब्योरेके साथ सचेतन हो जाते हो, तब कोई चीज तुम्हारे अधिकारसे बाहर नहीं निकल सकती। परंतु जिन्हें समय यदि तुम्हारे पास बहुत काम हो और तुम्हें वास्तवमें नींदकी आवश्यकता हो तो मैं तुम्हें इसका प्रयास न करनेकी सलाह देती हूं।

जो हो, एक चीज है जो एकदम अपरिहार्य है, जब तुम जगते हो तब तनिक भी हरकत नहीं करनी चाहिये; तुम्हें पूर्ण अचलताकी स्थितिमें जगना सीखना चाहिये, अन्यथा प्रत्येक चीज विलीन हो जाती है।

क्या स्थूल शरीर और स्थूल मस्तिष्कके अलावा मनको भी विश्राम करनेकी आवश्यकता होती है?

हां, पूर्ण आवश्यकता होती है। और केवल नीरवतामें ही मन ऊपरसे सच्चा प्रकाश पा सकता है। मैं नहीं समझती कि मनोमय पुरुषको थकावट हुआ करती है; यदि वह थकावट अनुभव करता है तो वह एक प्रकारसे मस्तिष्कको कोई प्रतिक्रिया होती है। मन केवल नीरवतामें ही अपने-आपसे ऊपर उठ सकता है। परंतु निद्रा और स्वप्नकी दृष्टिसे जिसकी कि हम यहां चर्चा कर रहे थे, एक बड़ी ही अद्भुत बात है। मैंने इसका परीक्षण किया है। यदि तुम न केवल अपने मस्तकमें नीरवता बल्कि अपनी प्राणिक सत्तामें भी विश्रांति स्थापित करनेमें समर्थ होओ, अपनी सत्ताके सभी क्रिया-कलापोंको बंद कर सको, और यदि इन्द्रोंके राज्यसे बाहर निकलकर वहां प्रवेश कर सको जिसे सच्चिदानंद, परात्पर चेतना कहते हैं तो तुम

अवस्थाके तीन मिनटोंमें तुम्हें आठ घंटेकी नींदसे अधिक आराम मिल सकता है। यह बहुत आसान नहीं है, बिलकुल नहीं...। यह वह चेतना है जो पूर्ण रूपसे सचेतन है पर पूर्ण आदि 'ज्योति'के अंदर विद्यमान और एकदम शांत-स्थिर है। यदि तुम उसे प्राप्त कर लो, यदि तुम अपने अंदरकी प्रत्येक चीजको अचल-अटल बना सको तो तुम्हारी समूची सत्ता इस परम चेतनामें हिस्सा बंटाती है और मैंने भली-भांति निरीक्षण किया है कि जहांतक आरामका प्रश्न है (और आरामसे मेरा मतलब है शारीरिक विश्राम, मांसपेशियोंकी विश्रांति) उस अवस्थाके तीन मिनट साधारण निद्राके आठ घंटोंके बराबर होते हैं।

क्या प्राणिक शरीरको भी आरामकी आवश्यकता होती है?

हां। प्राणिक शरीर एक प्रकारके आच्छादनके रूपमें भौतिक शरीरको घेरे रखता है और उसकी घनता लगभग उतनी होती है जितनी कि गतिके स्पंदनोंकी जो इस समय दिखायी देते हैं जब दिन बहुत गर्म होता है। और यही वह चीज है जो सूक्ष्म शरीर और अत्यंत स्थूल प्राण-शरीरके बीच, माध्यस्थ है। यही चीज सब प्रकारकी छूत, अकादट, अशक्तता और यहांतक कि दुर्घटनाओंसे शरीरकी रक्षा करती है। अतएव, यदि यह आवरण पूरी तरह अक्षत रहे तो यह प्रत्येक वस्तुसे तुम्हारी रक्षा करता है, परंतु कोई थोड़ा-सा अतिप्रबल भावावेग, मामूली थकावट, कोई असंतुष्टि अथवा किसी प्रकारका कोई मानसिक आघात उसको मानों खरोंच देनेके लिये पर्याप्त होता है और बिलकुल थोड़ीसी खरोंच किसी भी प्रकारकी चीजके भीतर प्रवेश करनेका द्वार बन जाती है। चिकित्सा-विज्ञान भी अब यह स्वीकार करता है कि यदि तुम पूर्ण प्राणिक संतुलनकी स्थितिमें रहो तो तुम्हें कोई बीमारी नहीं लगती या हर हालतमें तुम छूतकी बीमारीसे एक प्रकारसे सुरक्षित रहते हो। यदि तुम्हारे अंदर यह संतुलन हो, यह आंतरिक सामंजस्य हो जो आवरणको अक्षुण्ण बनाये रखता है तो यह हर चीजसे तुम्हारी रक्षा करता है। ऐसे लोग होते हैं जो बिलकुल साधारण जीवन यापन करते हैं, जो यह जानते हैं कि कैसे सोना चाहिये, कैसे खाना चाहिये और उनका स्नायविक आवरण इतना अभेद्य होता है कि वे सभी खतरोंमेंसे मानों आंखें मूंदकर बाहर निकल आते हैं। यह एक ऐसी क्षमता है जिसे मनुष्य अपने अंदर उत्पन्न कर सकता है। यदि कोई अपने आवरणके दुर्बल स्थलके विषयमें सचेतन हो जाय तो कुछ मिनटोंकी एकाग्रता, शक्तिका आवाहन, आंतरिक शांति उस स्थलको ठीक कर देने, स्वस्थ बना देने तथा अनिष्टकारी चीजके विलीन होनेके लिये पर्याप्त है।

२ फरवरी, १९५१

श्रीमाताजी सन् १९२९ के अपने पुराने वार्तालापका प्रथम अंश पढ़ती हैं:

> "तुम किसलिये योग करना चाहते हो? शक्ति पानेके लिये? शांति और स्थिरता प्राप्त करनेके लिये? मानवजातिकी सेवा करनेके लिये? इनमेंसे कोई भी उद्देश्य यह सूचित करनेके लिये पर्याप्त नहीं है कि योग-पथपर आना तुम्हारे लिये देव-निर्दिष्ट है।"

सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि तुम शब्दोंमें विचार करते हो, पर ये शब्द अर्थसे खाली होते हैं। अधिकांश समय ये कोरे शब्द होते हैं — तुम भग-वान्‌की बात करते हो, परात्पर ब्रह्मकी बात करते हो, योगकी बात करते हो, तुम बहुत-सी बातें कहते हो, पर क्या उन सब बातोंका तुम्हारे मस्तक-में किसी ठोस वस्तुसे कोई सादृश्य होता है? किसी विचार, किसी भाव, किसी स्पष्ट भावना, किसी अनुभवके साथ कोई मेल होता है? अथवा वे खाली शब्द ही होते हैं?

कहा जाता है कि योग ही "जीवनका अंतिम लक्ष्य है", परंतु तुम मेरा इस "अंतिम लक्ष्य"से क्या समझते हो? कुछ लोग कहते हैं, इसका मतलब है "अपने-आपको जानना"; यह इसका व्यक्तिगत और निजी पक्ष है। यदि इसे थोड़ा और आगे बढ़ाया जाय तो इसका मतलब होता है अपनी सत्ताके सत्यके विषयमें सचेतन होना: तुम क्यों पैदा हुए हो और तुम्हें क्या करना चाहिये? यदि इसे और आगे बढ़ाया जाय तो तुम अन्य मनुष्योंके साथके अपने संबंधोंके विषयमें सचेतन हो सकते हो; और थोड़ा और आगे चलकर यह पूछ सकते हो कि संसारमें मनुष्यजातिका मुख्य कार्य, लक्ष्य क्या है। और उससे भी आगे चलकर यह पूछ सकते हो कि मनो-वैज्ञानिक दृष्टिसे पृथ्वीकी स्थिति क्या है। विश्व क्या है, इसका लक्ष्य क्या है, इसका मुख्य कार्य क्या है? इसी तरह तुम एक-एक पग बढ़ते हो और अंतमें समस्याको उसके पूरे रूपमें देखते हो। तुम्हें शब्दोंके पीछे विद्य-मान वस्तुको, अनुभूतिको देखना चाहिये। यहां हम योगके विषयमें चर्चा कर रहे हैं, पर दूसरी जगह लोग दूसरे ढंगसे कह सकते हैं; कुछ लोग कहेंगे, "मैं अपने अस्तित्वका कारण ढूंढ रहा हूं" आदि-आदि। वास्तव

हमारे यहाँ आनेवाले लोग कहेंगे, "मैं भगवत् उपस्थितिका पता लगाने आया हूँ"। इस 'बीज'को प्रकट करनेके पचासों तरीके हैं, पर वह 'बीज' ही सबसे प्रधान है; तुम्हें अपने सिरमें, अपने हृदयमें, सर्वत्र इसे अनुभव करना चाहिये। यह बीज खूब ठोस, सजीव होना चाहिये अन्यथा तुम आगे नहीं बढ़ सकते। तुम्हें शब्दोंसे बाहर निकल आना होगा और कर्ममें प्रवृत्त होना होगा — अनुभूतिमें प्रवेश करना होगा, जीवनमें पैठना होगा।

(श्रीमाताजी एक विद्यार्थीकी ओर मुड़ती हैं) क्या तुम योग करना चाहते हो?

हाँ, माताजी!

तुम क्यों योग करना चाहते हो?

भगवान्‌की उपस्थितिका अनुभव करनेके लिये।

और तुम?

भगवान्‌को पानेके लिये, और उसके लिये हमें स्वयं पूर्ण बनना होगा।

और तुम? योगमें तुम्हारी क्यों रुचि है?

क्योंकि मैं अपने-आपको जाननेमें समर्थ होना हूँ।

और तुम?

उसे करनेके लिये जिसे हम आंतरिक सत्यके क्रममें अनुभव करते हैं।

और तुम? क्या तुम योग करते हो?

कभी-कभी।

तुम सच्चे हो, पर कभी-कभी क्यों?... (दूसरे विद्यार्थीसे) क्या तुम्हें कोई धारणा है कि योग क्या है?

मेरी समझमें यह एक पथ है जिसके.....।

पथके अंतमें क्या है ?

भगवान्‌की सतत उपस्थिति।

(दूसरे छात्रकी ओर मुड़कर) योगमें तुम्हें सबसे अधिक कौन-सी बात पसंद है ?

मैं नहीं समझता कि योग क्या है। क्या आपपर एकाग्र होने-को योग कहते हैं ?....

यह एक अच्छा प्रतीक है।

जो हो, प्रसन्नताकी बात है कि किसीने यह नहीं कहा है कि वह शक्ति पानेके लिये योग करना चाहता है। ऐसे देश और लोग हैं जो अस्पष्टतः यह जानते हैं कि योग नामकी कोई चीज है, और वे इस भावनाके साथ आरंभ करते हैं कि वे दूसरोंसे अधिक ऊंची कोटिके मनुष्य बन जायेंगे, वे दूसरोंकी अपेक्षा बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त करेंगे और फलतः दूसरोंपर अधिकार जमानेमें सक्षम होंगे — यह योग करनेका अत्यंत बुरा कारण है, अत्यंत स्वार्थपूर्ण है, ऐसा कारण है जो अत्यंत हानिकारक परिणाम उत्पन्न करता है। दूसरे लोग, जो बहुत विक्षुब्ध होते हैं, जिनका जीवन बहुत कठिन होता है, जिन्हें दुश्चिंताएं, दुःख-शोक, अनेक परेशानियां होती हैं, कहते हैं, "ओह, मैं एक ऐसी चीज पा जाऊंगा जो मुझे शांति, समता प्रदान करेगी और मैं थोड़ा-सा विश्राम पा सकूंगा।" और वे योगमार्गमें दौड़ पड़ते हैं और समझते हैं कि अब वे एकदम संतुष्ट और सुखी हो जायेंगे। पर, दुर्भाग्यवश, बात पूर्णतः ऐसी नहीं है। जब तुम इस प्रकारके कारणोंसे योग आरंभ करते हो तो तुम्हें निश्चित रूपसे अपने मार्गपर महान् कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। अन्य कारण हैं 'लोकोपकार' और 'मानव-प्रेम' जो लोगोंकी दृष्टिमें महान् गुण हैं। बहुत-से लोग कहते हैं कि "मैं इसलिये योग करने जा रहा हूं कि मनुष्यजातिकी सेवा करनेमें समर्थ हो सकूं: दुःखियोंको सुखी बनाऊं, संसारकी ऐसी व्यवस्था करूं जिससे प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो सके।" मैं कहती हूं कि यह पर्याप्त नहीं है — मैं यह नहीं कहती कि यह अपने-आप बुरामें है, यद्यपि एक बार मैंने एक वृद्ध पुष्पवादीको व्यंग्यमें यह कहते हुए सुना था: "वह अवस्था बहुत जल्दी नहीं

आयगी जब कि संसारमें दुःख-दैन्य नहीं रह जायगा, क्योंकि ऐसे बहुत अधिक लोग हैं जो इस दुःख-दैन्यके कारण प्रसन्न हैं और उसके सहारे जीते हैं।" यह एक व्यंग्योक्ति है, पर यह एकदम गलत नहीं है। यदि शांत करनेको कोई दुःख-दैन्य न हो तो परोपकारी लोगोंके बने रहनेका कोई कारण ही नहीं रह जायगा — वे अपने-आपसे कितना संतुष्ट रहते हैं, वे कितना अधिक यह समझते हैं कि वे स्वार्थी नहीं हैं! मैंने ऐसे लोगोंको देखा है जो यदि पृथ्वीपर जरा भी दुःख-दैन्य न हो तो बहुत दुःखी हो जायेंगे! यदि दूर करनेको कोई दुःख-कष्ट न हो तो वे लोग भला क्या करेंगे, उनका क्या कार्य रह जायगा और फिर उनका गौरव ही क्या होगा? वे लोग दूसरोंको यह कैसे दिखा सकेंगे कि "हम स्वार्थी नहीं हैं!" लोग यह कैसे जानेंगे कि वे लोग बड़े उदार और करुणासे भरे हुए हैं?

(श्रीमाताजी फिर पढ़ने लगती हैं) — "... **क्या भगवान्‌के प्रेमके लिये तुम योग करना चाहते हो? ... ऐसी स्थितिमें और बस ऐसी ही स्थितिमें यह कहा जा सकता है कि तुम इस पथके लिये तैयार हो। बस, यही है पहला पग: भगवान्‌के लिये अभीप्सा।**"

अभीप्साकी पहली क्रिया यह है: तुम्हें एक प्रकारका अस्पष्ट बोध होता है कि विश्वके पीछे कोई चीज विद्यमान है जो जानने योग्य है, जो संभवतः (क्योंकि अभी तुम उसे जानते नहीं) एकमात्र ऐसी चीज है जिसके लिये जीना चाहिये, जो दिव्य 'सत्य' के साथ तुम्हारा संबंध करा सकती है; वह कुछ ऐसी चीज है जिसपर विश्व निर्भर है पर जो विश्वपर निर्भर नहीं; वह एक ऐसी चीज है जो अभी तुम्हारी समझसे परे है पर जो तुम्हें सभी वस्तुओंके पीछे विद्यमान प्रतीत होती है। ... उसके विषयमें अधिकांश लोग जो कुछ अनुभव करते हैं उससे बहुत अधिक बातें मैंने यहां कही हैं, पर यह प्रथम अभीप्साका आरंभ ही है — उसे जानना और इस चिर-मिथ्यात्वमें निवास न करना जिसमें वस्तुएं इतनी विकृत, इतनी कृत्रिम हो गयी हैं; यह एक सुखदायी चीज होगी। और सुखद होगा एक ऐसी चीजको ढूंढ़ निकालना जिसके लिये जीवन धारण करना सार्थक हो।

"दूसरा पग है इस अभीप्साको जीवनमें प्रयुक्त करना, इसे निरंतर जागृत बनाये रखना, इसे जीवंत और शक्तिसंपन्न बनाना।"

कभी-कदास अपने-आपसे यह कहनेके बदले कि "ओ! हां, मैं भगवान्‌को ढूंढ़नेकी बात सोच रहा हूं", ऐसे समय जब ठीक कोई दुःखदायी बात उपस्थित होती है, जब तुम थोड़े ऊबे हुए होते हो, क्योंकि तुम अपनेको थका-मांदा अनुभव करते हो — हां, ऐसे बहुत सारे सामान्य कारण होते हैं —, तब एकाएक तुम्हें याद हो आता है कि योग नामकी भी एक चीज है, भगवान् नामकी भी कोई चीज है जिसे जानना चाहिये और जो तुम्हें जीवनकी इस नीरसतासे बाहर निकाल सकती है।

> "..... एकमात्र एकाग्रता — भगवान्‌की इच्छा और उनके उद्देश्योंके प्रति संपूर्ण और सर्वांगीण आत्मार्पणकी स्थिति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे की गयी भगवान्‌पर एकाग्रता ही तुम्हें उस लक्ष्यतक पहुंचायेगी।"

यही दूसरा पग है। यानी तुम भगवान्‌को खोजने और जाननेकी तथा उनके अनुकूल जीवन बितानेकी इच्छा करना आरंभ कर देते हो। इसके साथ-ही-साथ तुम्हें यह अनुभव करना चाहिये कि यह चीज इतनी बहुमूल्य है, इतनी महत्त्वपूर्ण है कि तुम्हारा संपूर्ण जीवन भी इसे प्राप्त करनेके लिये पर्याप्त नहीं। तब पहली क्रिया होती है आत्म-दानकी; तुम अपने-आपसे कहते हो, "अब मैं स्वयं अपना ही नहीं बना रहना चाहता, अपनी तुच्छ व्यक्तिगत संतुष्टियोंके लिये ही नहीं जीना चाहता, मैं इस अद्‌भुत् वस्तुसे संबंध स्थापित करना चाहता हूं जिसे मनुष्यको अवश्य पाना चाहिये, अवश्य जानना चाहिये, अवश्य जीवनमें उतारना चाहिये और जिसके लिये मैं अभीप्सा करता हूं।"

> "अपने हृदयमें एकाग्र होओ। उसके भीतर पैठ जाओ; अंदर चले जाओ और गहराईमें तथा दूरतक चले जाओ, जितनी दूर जा सको चले जाओ। तुम्हारी चेतनाके जो तार चारों ओर बिखरे हैं उन्हें एकत्र करो, सबको एक साथ लपेट लो, अपनी आंतर सत्ताकी निश्चल-नीरवतामें कूद पड़ो और डूब जाओ।"

स्वभावतः, जब मैं हृदयकी बात कहती हूं तो उसका मतलब शरीरका स्थूल अंग नहीं है, बल्कि सत्ताका आंतरिक, चैत्य केन्द्र है।

श्रीमाताजी फिर उसी पुरानी बातलापके दूसरे प्रश्नपर आ जाती हैं: "योगसाधनाके लिये अपनेको तैयार करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये?"

जिस महिलाने मुझसे यह प्रश्न किया था उसको मैंने उत्तर दिया था— "सबसे पहले सचेतन होना चाहिये।" अतएव उसने सचेतन होनेकी चेष्टा की और कुछ महीनोंके बाद आकर बोली, "ओह! कितना बुरा उपहार आपने मुझे दिया! पहले मेरा जिन लोगोंके साथ संबंध था, वे सभी बड़े अच्छे लगते थे, उनके प्रति मेरी सद्भावना थी, वे भी मेरे साथ सुन्दर व्यवहार करते थे और अब, जबसे मैंने सचेतन होना आरंभ किया है, मैं अपने अंदर ऐसी सभी प्रकारकी चीजें देख रही हूं जो सर्वथा सुन्दर नही हैं, और साथ-ही-साथ दूसरोंमें भी ऐसी चीजें देखती हूं जो जरा भी आकर्षक नहीं हैं!" मैंने उसे उत्तर दिया, "यह बिलकुल संभव है! यदि तुम तकलीफ उठाना नहीं चाहती तो यह अधिक अच्छा है कि तुम अपने अज्ञानसे बाहर न निकलो।"

अतएव सबसे पहला पग है यह जानना कि आया तुम सत्यको देखना और जानना चाहते हो या अपने अज्ञानमें ही आरामसे पड़े रहना चाहते हो।

> (श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं): "....आज औसत मानवका मनोभाव क्या है? .... जैसे ही वह किसी ऐसी चीजको देखता है जो पूरी सच्चाईके साथ भागवत स्वभावमें हिस्सा बंटाती है, वैसे ही क्या वह क्रोध और विद्रोहसे नहीं भभक उठता? क्या वह यह नहीं अनुभव करता कि भगवान्‌के शासनका मतलब है उसकी परम प्रिय संपत्तियोंका नाश?"

इसका बिलकुल स्पष्ट अर्थ यह है कि जबतक तुम अपने तुच्छ व्यक्तिगत अहंमें निवास करते हो तबतक कभी ऐसा कार्य नहीं कर सकते, ऐसी छलांग नहीं भर सकते जो तुम्हें भगवान्‌के साथ तादात्म्य प्राप्त करनेके योग्य बनाये।

इस अवसरपर मैं तुम्हें एक बात बतला सकती हूं: बहुत पहले यहां ऐसे लोग थे जो यह समझकर आये थे कि आश्रममें मर्ती हो जाना ही अमर होनेके लिये काफी है। और उन्होंने अमर होनेके लिये बहुत अभीप्सा की। वे ऐसे बूढ़े थे जिन्हें अपने सम्मुख बहुत

लंबा रास्ता नहीं दिखायी पड़ता था और जो उसे असीम रूपसे लंबा बनानेकी इच्छा करते थे। कारण, यही चीज है जिसे मनुष्य "अमरता" के नामसे जानते हैं — वे जो कुछ हैं बस उसे ही अनंत कालतक बनाये रहें। अतएव, जिस व्यक्तिने सबसे पहले यह मत प्रकट किया उसे मैंने उत्तर दिया — "मैं नहीं जानती कि प्रत्येक मनुष्य अमर बन सकता है या नहीं — संभवतः नहीं — परंतु जिन लोगोंमें अमर होनेकी क्षमता है उनमेंसे भी कितने लोग ऐसे हैं जो उसका मूल्य चुकाने-के लिये प्रस्तुत हैं?" क्योंकि, उसके लिये जिन चीजोंका त्याग करना जरूरी है उनकी संख्या इतनी अधिक है कि शायद आधे रास्तेतक जाकर वे कह उठेंगे: "ओह! नहीं, मूल्य बहुत अधिक है!" मुझे एक चित्रकारकी बात याद है जिससे अमरत्वकी संभावनाके संबंधमें मेरी बातचीत हुई थी। उसने मुझसे पूछा — "नया जगत् किस तरहका होगा?" मैंने उससे कहा — "उदाहरणके रूपमें, वस्तुएं स्वयं अपने-आपमें ज्योति-र्मय होंगी और जैसे सूर्यसे पृथ्वीपर प्रतिफलित ज्योति आती है उस तरहकी फिर कोई ज्योति नहीं होगी।" जिस समय मैं उससे यह बात कह रही थी, मैंने देखा कि उसका चेहरा अधिकाधिक लंबा, अधिकाधिक गंभीर होता जा रहा है; अंतमें वह बोला, "परंतु उस समय मनुष्य छायाके अभावमें चित्रकारी कैसे कर सकेगा? छाया ही तो वस्तुओंकी ज्योतिको स्पष्ट प्रकट करती है।" ... मैंने उससे कहा — "आपने समस्याकी ठीक चाबी प्रदान की है।"

बहुतेरे, बहुत बड़ी संख्यामें ऐसे लोग हैं जो पूछते हैं कि नया जीवन कैसा होगा और मैं उन्हें उत्तर देती हूं, "उस समय शक्तियों-में परस्पर आदान-प्रदान होगा, निरंतर प्रवाहित होनेवाली एक शक्ति होगी, शरीरकी रचना बिलकुल दूसरे ढंगकी होगी, ये सब कदाकार अंग विलीन हो जायेंगे और उनका स्थान मनोवैज्ञानिक क्रियाएं ले लेंगी तथा खानेकी, सदा खाते रहनेकी आवश्यकता दूर हो जायगी।" एक बार फिर मैंने लंबे होते हुए चेहरे देखे! लोगोंने कहा — "ओह! जो सब अच्छी चीजें हम खाते हैं वे सब नहीं रहेंगी!"

ये सब छोटे-छोटे उदाहरण हैं, ऐसे दूसरे बहुतेरे उदाहरण हैं, और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बातें हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, सबसे अधिक कठिन चीज है अहंकारका त्याग। जो व्यक्ति इसके लिये तैयार नहीं है उसके लिये यह मृत्युके ही समान है और ऐसी मृत्युके समान है जो शारीरिक मृत्युसे बहुत अधिक है, क्योंकि उनके लिये अहंकारकी मृत्यु ठीक अस्तित्व-के ही विलीन हो जानेके समान है — वैसे यह बात सही नहीं है पर वह

ऐसी ही छाप आरंभमें डालती है। अमर होनेके लिये मनुष्यको समस्त सीमाबंधनोंका परित्याग करना होगा और अहं ही सबसे बड़ा सीमाबंधन है; अतएव, यदि "मैं" अमर नहीं हूं तो उससे भला क्या लाभ?

उसी पुराने वार्तालापके समय किसीने श्रीमाताजीसे पूछा था कि यहां जो लोग इकट्ठे हुए वे कैसे आ मिले, श्रीमाताजीने उत्तर दिया था:

"हम सब पूर्वजन्मोंमें मिल चुके हैं। अन्यथा इस जीवनमें एकत्र न हो पाते।"

कहा जा सकता है कि यह संयोग है अथवा यह इस कारण है कि हम सर्वदा एक साथ रहे हैं, और दोनों ही बातें समान रूपसे सत्य हैं। चूंकि यह महिला गुह्यवादमें रुचि रखती थी, इसलिये मैंने उससे यह भी कहा, "हम पूर्वजन्ममें मिल चुके हैं" और यह सच है, है न? परंतु यह चीजोंको देखनेका एक तरीका है। इसके अलावा, "हम सब एक ही परिवारसे संबंधित हैं", यह भी सच है पर उस तरह नहीं जिस तरह मनुष्य समझते हैं।

मैंने यह भी कहा, "हम लोगोंने पृथ्वीपर भगवान्‌की विजय और उनकी अभिव्यक्तिके लिये युग-युगमें एक साथ कार्य किया है।" यह बिलकुल स्पष्ट है, क्योंकि विश्वकी सृष्टि इसीलिये हुई है और इसलिये विश्वका प्रत्येक भाग, वह चाहे जो हो, इसके लिये कार्य करता है, जाने-अजाने हर हालतमें उसीके लिये कार्य करता है।

५ फरवरी, १९५१

श्रीमाताजी १४ अप्रैल, १९२९ का "वार्त्तालाप" पढ़ती हैं। योगके खतरोंकी चर्चा करके ("यदि तुम महत्त्वाकांक्षासे मुक्त नहीं हो सकते तो इस चीजको मत छूओ। यह आग है जो जला देती है"), श्रीमाताजी योगकी दो पद्धतियोंकी बात कहती हैं:

"....योगके दो पथ हैं, एक तपस्याका पथ और दूसरा समर्पणका पथ।"

समर्पणका क्या अर्थ है?

इसका अर्थ है कि मनुष्य अपने-आपको पूर्ण रूपसे भगवान्‌को दे दे।

हां, पर फिर क्या होता है? यदि तुम पूर्ण रूपसे अपने-आपको भगवान्‌के हाथोंमें दे दो तो फिर भगवान् ही योग करते हैं, तब तुम नहीं करते; इसलिये वह बहुत कठिन नहीं होता। परंतु, यदि तुम तपस्या करते हो, तो तुम स्वयं योग करते हो और सारी जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर होती है—बस, यहीं है "खतरा"। परंतु ऐसे लोग होते हैं जो पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर रखना चाहते हैं और उसके खतरोंको भी उठाते हैं, क्योंकि वे बहुत स्वतंत्र प्रकृतिके होते हैं। संभवतः उन्हें बहुत शीघ्रता नहीं होती —यदि सफलता पानेमें कई जन्म भी लग जायं तो इससे उनका कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। परंतु कुछ दूसरे लोग ऐसे होते हैं जो बहुत शीघ्र पहुंचना चाहते हैं तथा लक्ष्यतक पहुंचनेके विषयमें अधिक निःसंशय होना चाहते हैं, हां, ऐसे लोग समूची जिम्मेदारी भगवान्‌पर छोड़ देते हैं।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं) "....योगका प्रथम प्रभाव होता है मानसिक संयमका दूर हो जाना; और जो बुभुक्षाएं सोयी रहती हैं वे एकाएक मुक्त हो जाती हैं और समस्त सत्तापर आक्रमण करनेके लिये दौड़ पड़ती हैं।.....

"उस समय तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम इन चीजों (आवेगों, विशेषकर काम-वासनाके आवेगों) को अपनेसे दूर रखो, उनसे अपने-आपको विच्छिन्न कर लो, उन्हें यथासंभव कम-से-कम महत्त्व दो और यदि तुम्हें उनके विषयमें सोचना भी पड़े तो अनासक्त और उदासीन बने रहो।"

कठिनाईको दबाकर उसपर बैठ जानेसे यह बहुत अधिक कठिन है। कठिनाईसे अलग हटकर पीछे खड़ा हो जाना, उसे ऐसी चीजकी तरह देखना जिससे तुम्हारा कोई मतलब न हो, जिसमें तुम्हें कोई दिलचस्पी न हो, जिससे तुम्हारा कोई संबंध न हो, जिसका संबंध संसारसे तो है पर तुमसे

नहीं, यह बहुत अधिक कठिन है — परंतु यही चीज है जिसे करनेपर तुम सफल हो सकते हो। यह चीज आत्माकी एक प्रकारकी मुक्ति, और अपनी आंतर सत्तामें विश्वासकी मांग करती है — तुम्हें यह विश्वास होना चाहिये कि यदि तुम यथार्थ मनोभाव ग्रहण करो तो तुम्हारे साथ जो कुछ घटित होगा वह सबसे उत्तम होगा; परंतु जब तुम्हारे साथ कोई दुःखदायी घटना घटती है और तुम उससे भयभीत हो उठो तो फिर तुम कुछ नहीं कर सकते। चाहे जो भी कठिनाई, जो भी बाधा क्यों न आये तुम्हें अपने अंदर इस विश्वासको अवश्य बनाये रखना चाहिये। अधिकांश समय, जब कोई अप्रिय बात होती है तो तुम कहते हो, "क्या यह और भी बढ़ेगी; अभी कौन-सी और दुर्घटना घटेगी ?" आदि-आदि। परंतु इसके बदले तुम्हें कहना चाहिये, ये चीजें मेरी नहीं हैं; ये तो अवचेतनाके जगत्‌की चीजें हैं। निस्संदेह इनके साथ मुझे कुछ भी करना-धरना नहीं है और यदि ये फिरसे मुझे दुबारा पकड़नेके लिये आयें तो मैं इनसे डटकर लड़ूंगा।" स्वभावतः ही तुम उत्तर दोगे कि यह कहना आसान है पर करना कठिन है। परंतु यदि तुम वास्तवमें पूर्ण विश्वासका भाव ग्रहण करो तो फिर ऐसी कोई कठिनाई नहीं रह जायगी जिसे तुम जीत न सको। दुश्चिंता कठिनाईको और भी बड़ा बना देती है।

स्पष्ट ही यहां एक कठिनाई है; तुम्हारी सचेतन सत्तामें कोई चीज कठिनाईको नहीं चाहती, सच्चे हृदयसे उसे जीतना चहाती है, पर तुम्हारी चेतनाके अन्य भागोंमें ऐसी असंख्य क्रियाएं होती हैं जिनके विषयमें तुम सचेतन नहीं हो। तुम कहते हो, "मैं उससे मुक्त होना चाहता हूं", पर दुर्भाग्यवश इतना कहना पर्याप्त नहीं है कि "मैं चाहता हूं", चेतनाके दूसरे भाग ऐसे हैं जो छिपे रहते हैं ताकि तुम उनके विषयमें व्यग्र न होओ, और जब तुम्हारा ध्यान दूसरी ओर मुड़ जाता है तो ये भाग अभिव्यक्त होनेकी चेष्टा करते हैं। इसी कारण मैं कहती हूं और बार-बार दुहराती हूं कि "पूर्ण रूपसे सच्चे बनो, अपने-आपको धोखा देनेकी कोशिश मत करो, यह न कहो कि 'मैं जो कुछ कर सकता हूं वह सब कर चुका हूं'।" यदि तुम सफल नहीं होते तो इसका अर्थ यह है कि तुम जो कुछ कर सकते हो उसे नहीं कर रहे। क्योंकि, तुम जो कुछ कर सकते हो "वह सब" यदि वास्तवमें करो तो तुम निश्चय ही सफल होगे। यदि तुममें कोई दोष है और तुम उससे छुटकारा पाना चाहते हो पर फिर भी वह बना रहता है और तुम कहते हो कि "मैं जो कुछ कर सकता था कर चुका", तो तुम निश्चित रूपसे यह मान लो कि

जो कुछ तुम्हें करना चाहिये था वह सब तुमने नहीं किया है। यदि तुमने किया होता तो तुम अवश्य विजयी हुए होते, क्योंकि जो कठिनाइयां तुम्हारे पास आती हैं वे ठीक-ठीक तुम्हारी शक्तिके अनुपातमें ही आती हैं— ऐसा कुछ भी घटित नहीं हो सकता जिसका संबंध तुम्हारी चेतनाके साथ नहीं है, और जो कुछ तुम्हारी चेतनासे संबंधित है उसपर विजय पानेकी सामर्थ्य तुममें है। यहांतक कि जो चीजें और जो सुझाव बाहरसे आते हैं वे भी तुम्हारी चेतनाकी अनुमतिके अनुपातमें ही तुम्हें स्पर्श कर सकते हैं। अपनी चेतनापर प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये ही तुम्हारी रचना हुई है। यदि तुम कहते हो कि "मैं जो कुछ कर सकता था वह सब कर चुका हूं और सभी चीजोंके बावजूद वह बनी हुई है, इसलिये मैं अब छोड़ रहा हूं", तो तुम इस विषयमें बिलकुल निस्संदिग्ध हो सकते हो कि तुम्हें जो कुछ करना चाहिये था वह सब तुमने नहीं किया है। जब "सभी चीजोंके बावजूद" कोई भूल-भ्रांति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है तो इसका मतलब है कि तुम्हारी सत्तामें छिपी कोई चीज एकाएक शैतानकी तरह बाहर निकल आती है और तुम्हारे जीवनकी पतवार अपने हाथमें ले लेती है। अतएव, करनेकी बस एक ही चीज है और वह है जो छोटे-छोटे अंधकारपूर्ण कोने तुम्हारे अंदर छिपे हैं उन्हें ढूंढ़ निकालो और यदि ठीक इस अंधकारके ऊपर अपनी सदिच्छाकी छोटी-सी चिनगारी डाल दो तो वह हार मान लेगा और विलीन हो जायगा, और जो चीज तुम्हें असंभव प्रतीत होती थी वह केवल संभव और सुसाध्य ही नहीं बन जायगी बल्कि 'ऐसी चीज बन जायगी जो संपन्न हो चुकी है'। इस तरह तुम एक मिनटमें उस कठिनाईसे छुटकारा पा सकते हो जो अन्यथा वर्षों हैरान-परेशान कर सकती थी। मैं इस विषयमें तुम्हें पूरा आश्वासन देती हूं। यह बात केवल एक चीजपर निर्भर है और वह यह है कि तुम्हें सचमुच, सच्चे हृदयसे उससे छुटकारा पानेकी इच्छा करनी होगी। और प्रत्येक चीजके लिये बस यही बात है, शारीरिक बीमारियोंसे लेकर बड़ी-से-बड़ी मानसिक कठिनाइयोंतकके लिये। चेतनाका एक भाग कहता है, "मैं यह नहीं चाहता", पर उसके पीछे ऐसी चीजोंका एक अंबार छिपा रहता है जो कुछ नहीं कहतीं, अपनेको सामने नहीं प्रकट करतीं और साधारणतया अज्ञानवश ही बस यह चाहती हैं कि चीजें जैसी हैं वैसी ही बनी रहें वे यह विश्वास नहीं करतीं कि कठिनाईसे मुक्त होना आवश्यक है, वे विश्वास करती हैं कि प्रत्येक चीज संसारके हितमें सर्वोत्तम होती है। जिस महिलाके साथ मेरा यह वार्तालाप हुआ था वह कहा करती थी, "जब हम परिवर्तनकी इच्छा करती

है तो उसके साथ-ही-साथ कठिनाई आरंभ हो जाती है"। फ्रांसके एक बहुत बड़े लेखक इस बातको बार-बार दुहराते हैं और इसीके आधारपर उन्होंने अपना परम प्रिय सिद्धांत गढ़ लिया है, "जब तुम अपनेको पूर्ण बनानेकी इच्छा करते हो तो दुःख-दैन्य आरंभ हो जाता है और यदि तुम अपनेको पूर्ण बनानेकी इच्छा न करो तो तुम्हें कोई दुःख-कष्ट नहीं होगा।" मैं तुम्हें बता दूं कि यह बात बिलकुल गलत है, परंतु तुम्हारे अंदर, सब बातोंके बावजूद, ठीक वैसी ही चीजें होती हैं जो चाहती हैं कि उन्हें एकदम अकेला छोड़ दिया जाय, किसी भी तरह परेशान न किया जाय : वे मानों कहती हैं : "ओह ! कितना परेशान करते हो तुम, हमें अकेला ही छोड़ दो।"

> "सारा जगत् विषसे (संदेह, हिचकिचाहट, निरुत्साह आदिसे) भरा हुआ है। तुम इसे प्रत्येक सांसके साथ अपने अंदर ग्रहण करते हो। यदि तुम किसी अवांछित व्यक्तिके साथ थोड़ी-सी बात करते हो अथवा यदि ऐसा कोई मनुष्य महज तुम्हारे पाससे गुजर जाता है तो तुम्हें उससे छूत लग सकती है...। जबतक तुम्हारा संबंध मनुष्यजातिके साथ है और जबतक तुम साधारण जीवन बिताते हो तबतक यदि तुम सांसारिक लोगोंसे मिलते-जुलते रहो तो उससे कुछ आता-जाता नहीं; परंतु तुम यदि दिव्य जीवन पाना चाहते हो तो तुम्हें अपने संग-साथ और अड़ोस-पड़ोसके विषयमें बहुत अधिक सावधान होना होगा।"

इस समस्याको हल करनेका प्रयास करनेके लिये संन्यासी लोग जंगलोंमें चले जाया करते थे और एक पेड़के नीचे बैठ जाते थे ; वहां निस्संदेह, उन्हें किसी अन्य मनुष्यकी किसी प्रकारकी छूतसे भय करनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। परंतु इस संकल्पके एकदम अंततक जाना बहुत कठिन है, क्योंकि बहुत तेजीसे यह बात फैल जाती है कि एक संत पेड़के नीचे ध्यानमें बैठे हैं, और तुरत प्रत्येक व्यक्ति वहां दौड़ पड़ता है ! अब वह अपनी कठिनाईसे तो बचता नहीं, उल्टे उसकी कठिनाई बढ़ जाती है, क्योंकि दूसरोंको शिक्षा देनेसे अधिक खतरनाक वस्तु दूसरी नहीं है। तुम बस थोड़ा-सा जानते हो और दूसरोंको सिखाना आरंभ कर देते हो, और इसलिये तुम जो कुछ जानते हो उससे अधिक कहनेके लिये विवश हो जाते हो, क्योंकि लोग तुमसे प्रश्न पूछते हैं जिनका उत्तर तुम तबतक नहीं दे सकते जबतक कि तुम नीरवतामें स्थित एक वीर न होओ।

संसारमें, जो लोग आध्यात्मिक गुरु बनकर अपने-आपको धोखा देना चाहते हैं — जब लोग उनके पास आते और उनसे ऐसी बातें पूछते हैं जिन्हें वे नहीं जानते तो वे उन्हें गढ़ लेते हैं। अतएव, यदि तुम अपनी आंतरिक साधनामें दिखावा करना आरंभ कर देते हो तो निश्चित रूपसे अत्यंत बुरी खाईमें गिर सकते हो — सभी चीजोंमें झूठा दिखावा अत्यंत सर्वनाशी होता है। संसारमें शायद तुम जो नहीं हो वह माने जा सकते हो, क्योंकि लोग बड़ी आसानीसे अपने-आपको धोखेमें डाल देते हैं, और वह तुम्हें सर्वनाशकी ओर नहीं ले जायगा (यद्यपि तुम, यदि अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा दो तो वह सर्वदा सर्वनाशकी ओर ले जाता है), परंतु आध्यात्मिक जगत्में; मनुष्योंके साथ तुम्हारा सरोकार नहीं होता, तुम्हारा सरोकार होता है भगवान्के साथ; वहां तुम्हारे लिये यह झूठा दावा करना असंभव है कि तुम ऐसे हो या वैसे, क्योंकि भगवान् तुमसे कहीं अधिक जानते हैं, जानते हैं न? वह जानते हैं कि तुम क्या हो और यह बात नहीं है कि जो कुछ तुम कहोगे उससे वह प्रभावित हो जाएंगे।

सभी आध्यात्मिक साधनाओंमें सबसे पहली बात यह सिखायी जाती है कि अपनी अनुभूतियोंका वर्णन दूसरोंके सामने नहीं करना चाहिये। यदि तुम्हें अपने मनसे स्पष्ट समझनेकी आवश्यकता हो तो अपने आध्यात्मिक गुरुके सामने अपनी अनुभूतियोंको कहो, दूसरे किसीके सामने न कहो, और अपने आध्यात्मिक गुरुके सामने कहते समय भी बहुत सावधान रहो। जब तुम उनके सामने वह सब बातें रखते हो या उनकी व्याख्या करते हो जो तुम्हारे अंदर घटित हुई हैं, तब तुम यदि खूब ध्यानपूर्वक अपना निरीक्षण करो तो देखोगे कि तुम्हारे अंदर ऐसी चीजें हैं जिनके विषयमें तुम पूरी तरह सज्ञान नहीं हो; तुम्हारी अनुभूतियोंमें बहुत-से व्यवधान हैं, उनके सातत्यमें व्यवधान हैं (चेतनाके सातत्यको बनाये रखना तथा अंततक गतिविधिका अनुसरण करना अत्यंत कठिन है); ऐसी स्थितिमें, जब तुम अपने अनुभवका वर्णन करते हो तो, चाहे कोई वस्तु उसमें जोड़नेकी इच्छा न होनेपर भी, तुम्हारी सच्चाईमें कोई कमी न होनेपर भी, तुम उसमें कुछ चीज जोड़ देते हो जो वहां नहीं होती। जब लोग मेरे पास आते हैं और मुझसे कुछ कहते हैं, कोई आंतरिक घटना सुनाते हैं तो वे कभी-कभी देखते हैं कि मेरा ध्यान दूसरी जगह है, मुझसे जो कुछ कहा जा रहा है उसे मैं बहुत महत्त्व नहीं दे रही हूं — बात ऐसी नहीं है, बात यह है कि मैं वह चीज सुनती हूं जो भीतर है, मैं उसे देखती हूं जो पूर्णतः सही है और जो थोड़े-से तथ्य उसमें जोड़े गये

है। और बस, इसी बातके कारण मैं सामान्यतया इन चीजोंको उत्साहित नहीं करती। मैं जानती हूं कि जो कुछ घटित हुआ है उसे यदि वे मुझे सुना सकें तो उन्हें शांति और सांत्वना मिलेगी, पर इसके लिये मनुष्यमें अद्भुत प्रकारका वैज्ञानिक मनोभाव होना चाहिये। कोई वैज्ञानिक तुमसे यह कभी नहीं कहेगा कि "यह ऐसी बात है", "यह वैसी बात है", जबतक कि वह जो कुछ कहता है उसका प्रमाण प्राप्त करनेके लिये सभी संभव परीक्षण नहीं कर लेता। आध्यात्मिक विषयोंके लिये भी मनुष्यको उसी पद्धतिका अनुसरण करना चाहिये। मनुष्यको यह नहीं कहना चाहिये कि "मैंने यह किया, घटनाएं इस प्रकार घटीं", बल्कि इसके बदले यह कहना चाहिये कि "मेरी धारणा यह थी कि... बातें इस प्रकारकी प्रतीत हुईं" और "ऐसा लगा मानों इसके और उसके बीच कोई संबंध था...." और यह सब बातें केवल सामान्य बातचीतकी शैलीके रूपमें नहीं कहनी चाहिये बल्कि ऐसी चीजके रूपमें कहनी चाहिये जो वास्तवमें मानसिक स्थितिको प्रकट करती हो। यदि तुम कोई स्पष्टीकरण चाहो तो तुम्हें स्वयं पहले ही उसकी व्याख्या नहीं कर देनी चाहिये, क्योंकि एक बार जब तुमने मुझे उसकी व्याख्या दे दी तो फिर मेरे पास तुम्हें देनेके लिये कोई व्याख्या रह ही नहीं गयी! तुम मेरे पास पुष्प ले आते हो, उदाहरणार्थ, सभी प्रकारके फूल ले आते हो, पर उन्हें सजाते नहीं, मुझसे कहते हो, "मैं ये कुछ फूल आपके लिये ले आया हूं, यह आपका काम है कि इनसे आप एक गुलदस्ता तैयार करें।" इस ढंगसे मेरे लिये कार्य बहुत अधिक आसान हो जाता है, ठीक है न? जिन चीजोंकी आवश्यकता है उन्हें मैं ले सकती और जो कुछ घटित हुआ है उसकी व्याख्या तुम्हें दे सकती हूं! परंतु तुम यदि एक बना-बनाया गुलदस्ता मेरे पास ले आओ जिसमें मैं ऐसे फूल देखूं जो फूल हैं ही नहीं, जो नकली हैं, तो मेरे पास तुमसे कहनेके लिये कोई चीज नहीं रह जायगी, क्योंकि मुझे केवल वे ही चीजें चाहिये जो मानों "विशुद्ध" हों। अतएव इस सलाहको याद रखो: मैं सदा ही तुम्हारी बात सुननेके लिये तैयार हूं पर मेरे पास पहलेसे तैयार चीजें मत ले आओ। जो कुछ घटित हुआ है उसका ठीक-ठीक वर्णन मेरे सामने करो और फिर भी यह निश्चित जानो कि जैसे ही मनमें चीजें रूपांतरित होती हैं, मन सर्वदा यह जानता है कि छिद्रोंको कैसे भरा जाय — वह युक्तिसंगत, संलग्न बातें पसंद करता है; और तुम्हारे अनजानमें, बिल्कुल सहजभावसे वह ऐसे तत्त्व प्रदान कर देता है जो तुम्हारे अनुभवमें नहीं थे। मैं किसीको दोष नहीं देती, मैं जानती हूं कि

यह एक सहज-स्वाभाविक व्यापार है। मनुष्यको अपने कथनमें बिल्कुल ठीक और यथार्थ होनेके लिये अत्यधिक सावधान होना चाहिये।

क्या यह कहना खतरनाक नहीं है कि "मेरी कार्यवाहियां मेरी नहीं हैं, मुझे उनके विषयमें चिंता करनेकी जरूरत नहीं?"

हां, स्पष्ट ही, यदि तुम कहो, "मैं कुछ नहीं कर सकता, वह तो प्रकृति-का कार्य है, क्रियाएं तो अपनी स्वाभाविक धाराका अनुसरण करेंगी ही," तो तुम ठीक वही काम करोगे जिसे न करनेके लिये मैंने कहा है, इस तरह तुम अपनी कामनाओंकी तृप्तिको ढकनेके लिये एक सुन्दर ढक्कनके रूपमें भगवान्‌का उपयोग करते हो। परंतु इसके विपरीत यह भावना भी वैसी ही गलत है कि "मैं किसी कामके योग्य नहीं, क्योंकि ऐसी भावना मेरे मनमेंसे गुजरी है," ठीक है न?

स्वभावतः ही, जब कोई आवेग तुम्हारे अंदर उठे जिसे तुम नहीं चाहते तो सबसे पहले करनेकी बात है यह संकल्प कि यह चीज फिर न उठे; परंतु, इसके विपरीत, यदि तुम सच्चे दिलसे यह न चाहो कि वह विलीन हो तो उसे बनाये रखो, पर योग करनेकी चेष्टा मत करो। तुम्हें इस मार्गको तबतक ग्रहण नहीं करना चाहिये जबतक तुमने पहलेसे समस्त कठिनाइयोंको जीतनेका संकल्प न कर लिया हो। तुम्हारा निर्णय सच्चा और पूर्ण होना चाहिये। इसके अलावा, जब तुम धीरे-धीरे आगे बढ़ोगे तब देखोगे कि जिसे तुमने पूर्ण समझा था वह वैसा नहीं है, जिसे तुमने सच्चा समझा था वह वैसा नहीं है, और तब तुम थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ोगे; परंतु सफल होनेके लिये तुम्हारे अंदर प्रगति करनेके लिये जितना संभव हो उतना सर्वांगपूर्ण संकल्प होना चाहिये। यदि तुममें यह संकल्प हो और यदि कोई आवेग तीव्र रूपमें तुम्हें अधिकृत कर ले तो इस संकल्पको अचल-अटल बनाये रखो, तुम्हारी सत्ता डग-मगानी नहीं चाहिये; तुम्हें इन चीजोंके आनेकी आशा अवश्य करनी चाहिये, पर जब वे आयें तो तुम अपने-आपसे कहो, "हां, ये चीजें नीचे-से आती हैं, मैं नहीं चाहता कि ये दुबारा आयें, ये मेरी नहीं हैं।" यह ठीक वही बात कहना नहीं है कि "इन्हें चलने दो, क्योंकि ये तो प्रकृतिका स्वरूप है।"

फिर प्राण-सत्तामें अनुभूतिका आना भी पहलेसे आरंभ हो जाना चाहिये जिसमें कि जब आवेग उसके अंदर आये तो वह उनके विरुद्ध विद्रोह कर सके। अधिकतर मनुष्य और जो योग करनेकी आशा करते

है वे भी, जैसे ही कोई आवेग आता है, कहते हैं, "यह बिल्कुल ठीक है, कुछ भी नहीं करना है, यह सब ठीक ही है।" फिर, जब तुम्हारे अंदरकी कोई चीज विद्रोह करती है, जब कोई चीज यह कहती है कि "मैं इसे नहीं चाहती," तो यह तुम्हारी सत्ताका उच्चतर भाग होता है। जो चीज योग करनेका संकल्प करती है वह तुम्हारा शरीर या तुम्हारा प्राण, यहांतक कि तुम्हारा मन भी नहीं है, वह तुम्हारे मनका उच्चतर भाग या तुम्हारा चैत्य पुरुष होता है। बस, एकमात्र वही चीज संकल्प कर सकती है — तुम्हारा शरीर यह अच्छी तरह नहीं जानता कि यह सब क्या है, तुम्हारा प्राण रूपांतरका आरंभ होनेपर कुछ दुश्चिंताकी दृष्टिसे ताकता है, मन अपनी भावनाओंके साथ घोषणा करता है, "यह उस तरीकेसे किया जा सकता है, इस भांति इसकी व्याख्या की जा सकती है," आदि-आदि। इसलिये तुमने यदि संकल्प ले लिया है तो यह तुम्हारी सत्ताके उच्चतर भागसे आता है, और बस इसी भागके ऊपर तुम्हें निर्भर करना चाहिये, दूसरी किसी चीजपर नहीं — वही है तुम्हारा "मैं"। और उसे अंतमें यह समझना होगा कि वह कोई व्यक्तिगत "मैं" नहीं है बल्कि विश्वव्यापी और दिव्य है।

परंतु क्या स्वयं प्राण ही वह चीज नहीं है जिसे अंतमें परिवर्तित होनेका निर्णय करना चाहिये?

मैं तुम्हें विश्वास दिला दूं कि यदि प्राणको स्वयं अपने ऊपर छोड़ दिया जाय तो वह कभी रूपांतरित होनेका निर्णय नहीं लेगा — वह अपने-आपसे बिलकुल संतुष्ट होता है, और, इसके अतिरिक्त, मनका साथी होनेके कारण प्राण जो कुछ करेगा उसकी सभी संभव व्याख्याएं मन उसे प्रदान करेगा। जो लोग अपनी प्राणमय चेतनामें निवास करते हैं, जब वे ऐसा कहते नहीं तब भी, वे सर्वदा अपने-आपसे बहुत संतुष्ट रहते हैं। उनके साथ जो कुछ घटित होता है उस सबसे भी वे बहुत संतुष्ट रहते हैं और वे सदा अपने प्रवेगोंके विषयमें कहते हैं, "कितना मजेदार है यह, कितना मजेदार!" अतएव, यदि तुम प्राणके निर्णय करनेके लिये प्रतीक्षा करो तो तुम्हें बहुत लंबे समयतक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है!

तुम्हें अपने प्राणको सिखाना होगा कि वह अवश्य आज्ञा माने। कोई संतुष्टि अनुभव करनेसे पहले उसे यह समझना चाहिये कि उसे आज्ञा माननेके सिवा और कुछ नहीं करना है। यही कारण है कि "मैं कहती

हूं कि योग आरंभ करना बहुत आसान नहीं है; यदि तुम सच्चे नहीं हो तो शुरू मत करो।

शरीर बड़ा आज्ञाकारी है; वास्तवमें वह अपनी शक्तिभर काम करनेकी कोशिश करता है, पर वह यह नहीं जानता कि किसकी आज्ञा माननी चाहिये; क्योंकि वह सामान्यतया उच्चतर सत्ता या चैत्य पुरुषके सीधे संपर्कमें नहीं होता। आवेग सीधे मनसे अथवा प्राणाच्छादित मनसे उसके पास आते हैं और वे जो कुछ चाहते हैं वह करता है। प्राणके निर्णय लेनेसे पूर्व (और मैं कह चुकी हूं कि प्राणके लिये निर्णय लेना बहुत आसान नहीं है), मनके उच्चतर भागमें एक ज्योतिका उदय होना आरंभ हो जाना चाहिये, एक ऐसी ज्योतिका जो तुम्हें उच्चतर चेतना या तुम्हारे चैत्य पुरुषके संपर्कमें ला देती है, और बस इसी ज्योतिको अपना आधार बनाकर तुम्हें अपने मनको, प्राणको, और अंतमें शरीरको सारी बातें समझानी चाहियें।

८ फरवरी, १९५१

श्रीमाताजी "वार्तालाप" (१९२९) का दूसरा अध्याय आगे पढ़ती हैं।

> **"....बाह्य सत्ता एक पपड़ीकी तरह है। साधारण मनुष्योंमें यह पपड़ी इतनी कड़ी और मोटी होती है कि वे अपने अंदर विद्यमान भगवान्‌के विषयमें सचेतन नहीं होते। परंतु एक बार यदि, एक मुहूर्तके लिये भी, आंतरिक सत्ता जागृत हो जाय और कह दे, 'मैं यहां हूं और मैं तुम्हारी हूं' तो यह ऐसी बात है मानों एक पुल तैयार हो चुका है और थोड़ा-थोड़ा करके पपड़ी अधिकाधिक पतली होती जायगी और अंतमें दोनों भाग पूर्णतः युक्त हो जायेंगे, और आंतरिक और बाह्य एक बन जायेंगे।"**

क्या तुमने कभी अपनी सत्ताको एकरूप करनेकी बात सोची है? क्या कभी तुम्हें यह देखकर घबराहट हुई है कि अभी तो तुम एक व्यक्ति हो और दूसरे समयों दूसरेमें बन जाते हो, एक समय तो तुम एक चीज करना चाहते हो दूसरे समय तुम उसे नहीं कर पाते, तुम अपनेको

एक ऐसे व्यक्तित्वके सामने उपस्थित पाते हो जिसे तुम अपना 'स्व' कह सकते हो और फिर भी, उसके साथ-ही-साथ उस व्यक्तित्वके बहुत-से ऐसे भाग हैं जो तुमसे बच निकलते हैं?

मैंने उन विभिन्न व्यक्तित्वोंका, जो मेरे अंदर हो सकते हैं, एकीकरण करनेका प्रयास नहीं किया है, पर मैंने उन्हें एक-दूसरेके सामने, बुरोंके सामने अच्छोंको रखनेका प्रयत्न किया है, और मैंने कभी अच्छोंके अंदर इतनी पर्याप्त शक्ति नहीं पायी है कि वे बुरोंके विरुद्ध लड़ सकें।

क्या तुमने कभी यह नहीं सोचा है कि इस विषयका तुम्हारा निर्णय कि क्या "अच्छा" है और क्या "बुरा", विशुद्धतः मानवीय निर्णय है? और यह संभव हो सकता है कि यह तुम्हारे अंदर विद्यमान भागवत सत्ताके निर्णयके साथ आवश्यक रूपसे मेल न खाता हो? जिन "बुरी" वस्तुओंसे तुम छुटकारा नहीं पा सके वे शायद वे वस्तुएं थीं जो अपने स्थानमें नहीं थीं, जो समुचित रूपसे संतुलित नहीं थीं, और यह बड़े दुःखकी बात होती यदि वे नष्ट हो गयी होतीं, क्योंकि, संभवतः, उनके साथ-ही-साथ तुम्हारी शक्तिका तथा तुम्हारे अंदर विद्यमान भागवत 'उपस्थिति'का कोई अंश विलीन हो गया होता। जो लोग किसी गुरुके निदेशनके अनुसार योग नहीं करते, वे साधारण नैतिक धारणाओंका अनुगमन करते हैं और कभी-कभी वे बहुत उद्विग्न हो उठते हैं, क्योंकि वे अपनी संपूर्ण सदिच्छाके बावजूद प्रत्याशित परिणाम नहीं प्राप्त कर पाते। यह इस कारण होता है कि सामान्यतया वे अपनी सत्ताको रूपांतरित करनेके बदले उसका समर्थन करना चाहते हैं और नैतिक धारणाएं बहुत बुरी होती हैं। सत्ताके एकीकरणके कार्यमें, तुम्हारे अंदर पर्याप्त कल्पना-शक्ति अवश्य होनी चाहिये ताकि तुम अपनी उन गतिविधियोंको, जो तुममें हैं, उन गतिविधियोंको, जिन्हें तुम रखना चाहते हो, उस वस्तुके सामने रख सको जिसे तुम भागवत 'उपस्थिति'से अत्यंत मिलती-जुलती कल्पना कर सकते हो; स्वभावतः ही प्रारंभमें वह केवल एक कल्पना होती है जो सत्यसे एकदम दूर होती है, पर वह तुम्हें नैतिक संकीर्णतासे और साथ ही तुम्हारी चेतनाके सीमा-बंधनोंसे भी थोड़ा मुक्त होनेमें सहायता पहुंचायेगी। उदाहरणार्थ, तुम जो कुछ हो और जो कुछ करते हो उसे तुम उस चेतनाके सम्मुख रखनेकी भावना रखते हो जो एक साथ ही अनंत और शाश्वत है। ये दोनों शब्द आरंभमें शायद तुम्हारे लिये बहुत अधिक अर्थ नहीं रखते, पर वे तुम्हें अपनी

सीमाएं तोड़ने और अपने-आपको किसी ऐसी वस्तुके सामने रखनेको बाध्य करते हैं जो तुम्हें चारों ओरसे इतना अधिक अतिक्रांत कर जाती है कि उसका निर्णय वही नहीं हो सकता जो कि एक मानव मनका निर्णय होता है। बस, व्यक्तिको पूर्ण रूपसे इसी भांति शुरू करना चाहिये। यदि तुम नैतिक सिद्धांतोंके अनुसार अपना विश्लेषण करनेका यत्न करो तो तुम निश्चय ही भागवत योजनाके विपरीत चले जाओगे। यह बात नहीं कि भगवान् अ-नैतिक हैं, इस बातपर ध्यान दो, परंतु यह उस प्रकारकी नैतिकता नहीं है जिसे मानवजाति जरा भी समझती है, यह ठीक वही नहीं है।

(श्रीमाताजी पढ़ना जारी करती हैं): "... **महत्त्वाकांक्षाके कारण अनेक योगियोंका सर्वनाश हुआ है।.... एक योगीकी कहानी प्रसिद्ध है जिसने अद्भुत शक्तियां प्राप्त की थीं। एक दिन उसके शिष्योंने उसे एक बड़े भोजमें निमंत्रित किया। भोजन एक लंबी नीची मेजपर परोसा गया। शिष्योंने अपने गुरुसे किसी रूपमें अपनी शक्तिका प्रदर्शन करनेके लिये आग्रह किया। वह जानता था कि उसे प्रदर्शन नहीं करना चाहिये, पर महत्त्वाकांक्षाका बीज उसकी चेतनामेंसे पूर्णतः दूर नहीं हुआ था, और उसने सोचा, 'आखिरकार यह एक बहुत निर्दोष कार्य है और इससे यह सिद्ध होगा कि ऐसी चीजें संभव हैं तथा ईश्वरकी महानताके प्रति उनका आदर-भाव बढ़ेगा।' अतएव उसने शिष्योंसे कहा, 'मेज-पोश या उसपर जो कुछ है उसे छुए बिना मेजको हटा दो।' शिष्य चिल्ला उठे, 'ओह, ऐसा नहीं किया जा सकता, सब चीजें नीचे गिर जायेंगी।' गुरुने आग्रहपूर्वक कहा, 'बस, मेज हटा लो।' मेज हटा दी गयी और चमत्कार घटित हो गया: मेज-पोश समस्त थालियोंके साथ हवामें लटका रहा मानों मेज उसके नीचे विद्यमान हो। शिष्य आश्चर्यचकित रह गये। परंतु एकाएक गुरु उछल पड़ा और इस प्रकार रोता-चीखता भाग निकला, 'अब कभी मैं शिष्य नहीं बनाऊंगा! धिक्कार है मुझे! मैंने अपने भगवान्‌को धोखा दिया है!'**"

यह एक ऐसा प्रलोभन है जो प्रत्येक गुरुके सामने पग-पगपर आता है, और इसका बहुत सीधा-सा कारण यह है कि सामान्य मनुष्यवर्ग, साधारण रूपमें, दिव्य शक्तियोंके साथ व्यक्तिगत संपर्क न होनेके कारण, बिलकुल

नहीं समझता कि ज्योतित चेतना क्या वस्तु हो सकती है और उसके लिये भौतिक प्रमाण मांगती हैं। वास्तवमें इसी मांगके ऊपर अधिकांश धर्म स्थापित हैं और, उन्होंने ऐसे कारणोंसे, जिन्हें मैं बहुत स्पष्ट रूपमें "राजनीतिक" कह सकती हूं, अपने मूलमें कम या अधिक पर्याप्त संख्यामें चमत्कारोंको रखा है जिन्हें उनके संस्थापकोंने कर दिखाया था, और इस प्रकार उन्होंने अज्ञ लोगोंमें कम या अधिक भोंड़े रूपमें इस प्रवृत्तिको, किसी व्यक्तिकी दिव्य शक्तिमें विश्वास करनेके लिये उस चीजको देखनेकी आवश्यकताको प्रोत्साहित किया है जिसे वे "चमत्कार" कहते हैं। यह एक असाधारण अज्ञान है, क्योंकि चमत्कार करनेके लिये किसी दिव्य शक्ति या चेतनाका होना बिलकुल आवश्यक नहीं है। सच पूछा जाय तो उच्चतर क्षेत्रोंकी चेतनामें रहकर अन्य समस्त लोकोंके केवल माध्यमसे प्रकृतिपर कार्य करनेकी अपेक्षा प्राण-जगत्की छोटी-छोटी सत्ताओंकी सहायतासे चमत्कार दिखाना अनंतगुना अधिक आसान है, क्योंकि वे सत्ताएं भौतिक जगत्के संस्पर्शमें आने और उसपर क्रिया करनेके लिये काफी स्थूल हैं। सभी बुद्धिमान् लोगोंसे यह बार-बार कहा गया है कि किसी व्यक्तिकी दिव्यताका सबूत यह है कि वह मृत व्यक्तिको उठा दे, रोगोंका निवारण कर दे और उसी प्रकारके अन्य बहुत-से कार्य (मूर्खको ज्ञानी बनानेके अलावा[1]) कर सके। हां, मैं विश्वास दिलाती हूं कि यह कोई सबूत नहीं है; यह केवल एक ही चीज सिद्ध करता है कि ये "गुरु" प्राण-जगत्की शक्तियोंके संपर्कमें रहते हैं और उन सत्ताओंकी सहायतासे वे ये सब चमत्कार कर सकते हैं, बस, इतना ही। यदि कोई व्यक्ति किसी मनुष्यकी श्रेष्ठताको स्वीकार करनेके लिये इसपर निर्भर करे तो वह भयंकर भूल करेगा। स्वभावतः ही कुछ अन्य ऐसे धर्म हैं जो दैवी संदेशोंपर स्थापित हैं और वे संदेश उनके संस्थापकोंको प्राप्त हुए थे। ये संदेश संस्थापकोंद्वारा प्राप्त ज्ञानके कम या अधिक उपयुक्त मानसिक अनुकरण होते हैं। यह अवश्य ही एक उच्चतर स्थिति है, पर यह भी अभी कोई प्रमाण नहीं है। और मैं अंतमें यह कहूंगी कि प्रमाणोंकी मांग करना

---

[1]मैं समझती हूं कि यह एक मुसलमानी कहानी है। जब यह बात प्रचलित हुई कि ईसाने मरेको जिला दिया, बीमारको नीरोग कर दिया, मूकको वाचाल बना दिया, अंधोंको आंखें दे दीं तो एक दिन एक मूर्खको बुद्धिमान् बनानेके लिये उनके पास लाया गया, परंतु ईसा वहांसे भाग निकले! लोगोंने पूछा, "आप भाग क्यों गये?" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं सब कुछ कर सकता हूं, पर मूर्खको बुद्धिमान् नहीं बना सकता।"

मनुष्यके विकासके लिये बिलकुल ही उपयोगी नहीं होता। क्योंकि सच्ची भागवत शक्तिने एक विशेष योजनाके अनुसार विश्वकी व्यवस्था की है और इस योजनामें वस्तुओंके अयौक्तिक रूपसे घटित होनेका कोई प्रश्न नहीं है; अन्यथा बिलकुल आरंभसे ही यह जगत् अयौक्तिक ढंगका हुआ होता, पर यह वैसा नहीं है। अधिकतर मनुष्य दो बातोंमेंसे एककी कल्पना करते हैं, या तो यह सोचते हैं कि यहां एक स्थूल जगत् है जिसमें वे रहते हैं, सब कुछ वहींसे आता है, सब कुछ वहीं लौट जाता है और सब वहीं समाप्त हो जाता है — ये लोग हैं अविश्वासी — अथवा, जो विश्वासी हैं, वैसे अत्यधिक लोग यह सोचते हैं कि कोई एक वस्तु है जिसे वे "ईश्वर" कहते हैं और फिर यह भौतिक जगत् है, और यह भौतिक जगत् ईश्वरकी सृष्टि है जो जानता है कि वह क्या करता है अथवा वह जो कुछ चाहता है वह करता है; और उलझन पैदा होती है यह कहनेसे कि सब कुछ एक प्रकारकी स्वाभाविक या अतिस्वाभाविक स्वेच्छाचारिताके द्वारा घटित होता है। बहुत थोड़े-से लोग ऐसे होते हैं जो जानते हैं कि विश्वमें अनंत स्तर हैं और इन स्तरोंमेंसे प्रत्येक स्तरका अपना निजी सत्य है, अपना निजी जीवन, अपना निजी विधान, अपनी निजी नियति है, और सृष्टि "उस ढंग"से, किसी मनमौजी इच्छासे, किसी मनमौजी ढंगसे उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि वह चेतनाका विस्तारण है और प्रत्येक वस्तु अपने पहलेकी एक वस्तुके युक्तिसंगत परिणामके रूपमें विकसित हुई है। मैं यह सब यथासंभव सरल रूपमें बता रही हूं, समझे न, यह बहुत अपूर्ण कथन है, पर मैं यदि तुम्हें इसकी कहानी ठीक-ठीक बतलाना चाहूं तो उसे समझना तुम्हारे लिये थोड़ा कठिन होगा। केवल मैं अपना निष्कर्ष ही तुम्हें बतलाना चाहूंगी (मैंने पहले कई बार यह बात कम या अधिक ब्योरेके साथ तुम्हें बतायी है), वह यह है: इन असंख्य क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येककी अपनी निजी बहुत युक्तिसंगत नियति है — प्रत्येक चीज कारणसे कार्यकी ओर जाती है; परंतु ये जगत्, यद्यपि ये विभिन्न तो हैं फिर भी एक-दूसरेसे पृथक् नहीं हैं और, बहुत-सी प्रक्रियाओंके द्वारा, जिनका हम अध्ययन कर सकते हैं, आंतरिक या उच्चतर जगत् निम्नतर या बाह्य जगतोंके साथ निरंतर संपर्क बनाये रखते हैं और उनपर क्रिया करते हैं, जिससे कि एककी नियति दूसरेकी नियतिको बदल देती है। यदि तुम विशुद्धतः स्थूल राज्यको ही, उदाहरणार्थ, ले लो और यदि तुम देखो कि जड़ जगत्के विधान, नितांत स्थूल विधान अचानक किसी चीजके द्वारा बदल दिये गये हैं तो तुम्हें कहना चाहिये कि यह एक "चमत्कार" है, क्योंकि एक स्तरकी नियतिमें दूसरे स्तरके हस्तक्षेपके द्वारा छिद्र हो गया है, परंतु सामान्यतया हम

इसे चमत्कार नहीं कहते ; उदाहरणके लिये, जब मानव-इच्छा हस्तक्षेप करती और कोई चीज बदल देती है तो वह तुम्हें बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है, क्योंकि तुम अपने बचपनसे ही उसके अभ्यस्त हो गये हो; तुम्हें याद है, है न, वह उदाहरण जो मैंने एक दिन तुम्हें सुनाया था : एक पत्थर अपनी निजी नियतिके अनुसार गिरता है, परंतु तुम उसे गिरनेसे रोकना चाहते हो और अपना हाथ फैलाकर उसे पकड़ लेते हो; तो तुम्हें इसे एक "चमत्कार" कहना चाहिये, पर तुम नहीं कहते क्योंकि तुम इसके अभ्यस्त हो (परंतु चूहा या कुत्ता शायद इसे चमत्कार कहेंगे यदि वे बोल सकें)। और ध्यान रखो, यह बात वही चीज है जिसे लोग "चमत्कार" कहते हैं ; वे "चमत्कार" की चर्चा करते हैं क्योंकि वे एकदम अज्ञानी हैं, जो संकल्प अभिव्यक्त होना चाहता है और जिस स्तरपर वह अभिव्यक्त होता है उन दोनोंके बीच जो क्रमपरंपरा है उसके विषयमें वे अनजान हैं। जब उनमें मानसिक या प्राणिक संकल्प होता है तो बात उन्हें बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होती है, पर जब किसी उच्चतर जगत्के — देवताओंके अथवा किन्हीं उच्चतर सत्ताओंके जगत्के — संकल्पका प्रश्न होता है, जो एकाएक तुम्हारी समस्त तुच्छ व्यवस्थाको उलट-पलट देता है, तो वह तुम्हें चमत्कार प्रतीत होता है। परंतु यह महज इस कारण चमत्कार है कि तुम उस क्रमपरंपराको समझनेमें असमर्थ हो जिसके द्वारा वह घटना घटित हुई थी। अतएव, जो 'परात्पर संकल्प' उच्चतम क्षेत्रसे आता है, तुम उसके युक्तसंगत कार्यको देखते, यदि निरंतर उसके विषयमें सज्ञान रहते, तो वह तुम्हें पूरी तरह स्वाभाविक प्रतीत होता। तुम इस बातको दो तरहसे व्यक्त कर सकते हो, या तो यह कह सकते हो, "यह बिलकुल स्वाभाविक है, बस, उसी तरह घटनाओंको घटित होना चाहिये, यह केवल भागवत 'संकल्प'की अभिव्यक्ति है।" अथवा, प्रत्येक समय तुम एक दूसरे लोकसे होनेवाला हस्तक्षेप स्थूल जगत्में देखोगे और तुम्हें कहना होगा, "यह बड़ा चमत्कारिक है!" इसलिये मैं पूरी निश्चयताके साथ कह सकती हूं कि जो लोग चमत्कार देखना चाहते हैं वे ऐसे लोग हैं जो अपने अज्ञानका पोषण करते हैं! तुम मेरे तर्कको समझते हो, हो न? ये लोग अपने अज्ञानसे प्यार करते हैं, वे चमत्कार देखनेका और आश्चर्यान्वित होनेका आग्रह करते हैं! और यही कारण है कि जिन लोगोंने गंभीरतापूर्वक योग किया है वे इस प्रवृत्तिको प्रोत्साहित करना पूर्ण रूपसे घातक समझते हैं और इसीलिये इसकी मनाही की जाती है।

कोई चीज "चमत्कार" इस कारण प्रतीत होती है कि तुम लोगोंको

वह प्रक्रिया समझनेका समय नहीं देते जिससे तुम उस चीजको संपन्न करते हो, तुम उन्हें क्रमिक अवस्थाएं नहीं दिखाते। इस तरह तुम देखोगे कि कुछ लोग उच्चतर मानसिक लोकोंमें पहुंचे होते हैं और विचारके सभी स्तरोंका एक-एक पग अनुसरण करनेकी उन्हें आवश्यकता नहीं होती ; वे मध्यकी कड़ियोंके बिना एक भावनासे एक सुदूर स्थित निर्णयपर छलांग मार सकते हैं ; उसे साधारण तौरपर अंतर्ज्ञान कहा जाता है (यह एकदम ही कोई "अंतर्ज्ञान" नहीं होता ; होता यह है कि जो भावना प्रारंभ होती है वह बहुत ऊंचाईपर होती है और वहांसे ये लोग नीचे उतरती हुई वस्तुके संपूर्ण स्वरूपको और उसके परिणामोंको सभी स्तरोंमेंसे गुजरे बिना देख सकते हैं ; जैसा करनेके लिये साधारण मनुष्यका विचार बाधित होता है)। यह एक अनुभव है जो मुझे हो चुका है। जब मैं श्रीअरविंदके साथ बातचीत किया करती थी तो हमें कभी मध्यवर्ती भावनाओंमेंसे गुजरनेकी आवश्यकता नहीं होती थी ; वह एक बात कहते थे और मैं बहुत दूर उसका परिणाम देखती थी ; हम इसी प्रकार सर्वदा बातचीत करते थे ; अगर कोई व्यक्ति हमारी बातचीतके समय उपस्थित होता तो वह कहता, "ये लोग क्या बातें करते हैं!" पर हम लोगोंके लिये, समझे न, वह उतना ही स्पष्ट था जितना कि कोई अविच्छिन्न वाक्य होता है। तुम उसे मानसिक चमत्कार कह सकते थे — यह चमत्कार नहीं था। बस, बात यह थी कि श्रीअरविंदको मानसिक व्यापारके संपूर्ण स्वरूपका दर्शन प्राप्त था और इसलिये हमें सभी स्तरोंमेंसे गुजरनेमें बहुत सारा समय नष्ट करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती थी। किसी भी व्यक्तिके लिये, जो उस धाराका अनुसरण कर पाता, वह बात बिलकुल स्वाभाविक और संगत प्रतीत होती ; अज्ञ लोगोंके लिये ही यह एक चमत्कार था।

> **"उन शक्तियोंका व्यवहार उसी तरह करना होगा जिस तरह वे आती हैं। वे भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त होनेपर आती हैं। बस, भागवत संकल्पकी सेवामें ही उन्हें लगाना होगा, न कि अधिक या कम प्रच्छन्न मिथ्याभिमानकी सेवामें।"**

यदि तुम यह दिखानेके लिये शक्तिका प्रयोग करते हो कि वह तुम्हें प्राप्त है तो यह मिथ्यात्व और असत्यसे इतनी भर जाती है कि अंतमें वह विलीन हो जाती है। परंतु ऐसा हमेशा नहीं होता, क्योंकि जैसा कि मैं आरंभमें कह चुकी हूं जब इसका संबंध रोगनिवारणकी शक्ति

या एकदम बाह्य वस्तुको परिवर्तित कर देनेकी शक्ति जैसी किसी शक्तिके साथ होता है — प्रतिकूल परिस्थितिको अनुकूल बनानेकी, खोयी वस्तु खोज निकालनेकी शक्ति आदिके साथ होता है, इन सब अनगिनत छोटे-मोटे "चमत्कारों" के साथ होता है जो सभी धर्मोंमें पाये जाते हैं — तो इन सब "चमत्कारों" को प्राण-जगत्की सत्ताओंकी सहायतासे करना बहुत अधिक आसान और यहांतक कि अधिक फलप्रद भी होता है, परंतु ऐसा सर्वदा करना समर्थनीय नहीं होता, बल्कि समर्थनीय होनेसे बहुत दूर होता है; और तब ये सत्ताएं तुम्हारा मजाक उड़ाती हैं। यह आरंभ तो बहुत अच्छी तरह, बहुत चमक-दमकके साथ होता है, और साधारणतया यह बहुत बुरी तरह समाप्त होता है।

मैं एक व्यक्तिकी कहानी जानती हूं जिसे कुछ छोटी-छोटी शक्तियां प्राप्त थीं और जो सभी प्रकारके तथाकथित "आध्यात्मिक" प्रयोग करनेमें लिप्त रहता था। बार-बार अभ्यास करनेसे उसे एक ऐसी चीजके सचेतन संपर्कमें आनेमें सफलता प्राप्त हुई थी जिसे वह "एक आत्मा" कहता था। वह आदमी व्यापार करता था; वह एक पूंजीपति था और सट्टा भी किया करता था। उसकी "आत्मा" के साथ उसके संबंध बड़े व्यावहारिक प्रकारके थे; यह आत्मा उससे कहा करती कि कब स्टॉक और शेयरके दाम ऊपर उठेंगे और कब गिर जायेंगे। वह उससे कहती, "इसे बेच दो," "उसे खरीद लो" — वह उसे बहुत ही सही आर्थिक विवरण दिया करती थी। वर्षोंसे वह अपनी "आत्मा" की बात सुनता आ रहा था, उसका अनुसरण करता था और आर्थिक दृष्टिसे खूब सफल था। वह अत्यंत धनी हो गया और स्वभावतः ही अपनी "आत्मा"के विषयमें जो उसे "मार्ग दिखाती थी" बहुत अधिक डींगें हांकता था। वह हर व्यक्तिसे कहा करता था, "आप देखते हैं, इन आत्माओंके संपर्कमें आनेका तरीका सीखना वास्तवमें बड़ा लाभदायी है।" परंतु एक दिन एक आदमीसे उसकी मुलाकात हुई जो थोड़ा अधिक समझदार था और जिसने उससे कहा, "सावधान रहो।" उसकी बात उसने नहीं सुनी, वह अपनी शक्ति और महत्त्वाकांक्षासे फूलकर कुप्पा हो गया था। और फिर उसके बाद ही उसकी "आत्मा" ने उसे अंतिम सलाह दी, "अब तुम संसारके सबसे बड़े धनी बन सकते हो। तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा पूर्ण हो जायगी। तुम्हें बस मेरे निर्देशका पालन करना होगा। ऐसा करो कि जो कुछ तुम्हारे पास है वह सब इस व्यापारमें लगा दो और तुम संसारमें सबसे बड़े धनाढ्य बन जाओगे।" वह जड़-मति मूर्ख उस जालको समझ भी नहीं सका जो उसके लिये डाला गया था।

उसने वर्षोंसे अपने "पथप्रदर्शक" का अनुसरण किया था और सफल रहा था, अतएव, उसने इस अंतिम आदेशका पालन किया और सब कुछ, अंतिम पाईतक खो दी।

अतएव तुम देखते हो, ये वे छोटी-छोटी सत्ताएं होती हैं जो तुम्हारे साथ हंसी-मजाक किया करती हैं, और तुम्हें निश्चित करनेके लिये, वे इन छोटे-छोटे चमत्कारोंको करतीं और तुम्हें प्रोत्साहित करती हैं, और जब वे अनुभव करती हैं कि तुम पूरी तरह जालमें फंस गये तो वे तुम्हारे साथ एक बढ़िया-सी चाल चलती हैं और तुम्हारा सब कुछ समाप्त हो जाता है।

हमने कहा है कि इससे बचनेका केवल एक ही उपाय है, भागवत संकल्पके साथ जबतक सामंजस्य न हो जाय तबतक कभी कार्य नहीं करना चाहिये। तब यहां एक प्रश्न उठता है: कैसे यह जाना जाय कि भागवत संकल्प ही हमसे कार्य करा रहा है? जिस व्यक्तिने मुझसे यह प्रश्न किया था उसको मैंने उत्तर दिया था (यद्यपि वह आदमी मुझसे सहमत नहीं हुआ) कि भगवान्‌की वाणीको पहचानना कठिन नहीं है: उसे पहचाननेमें कोई भूल नहीं कर सकता। उसे पहचाननेके लिये तुम्हें योगमार्गपर बहुत दूरतक जानेकी आवश्यकता नहीं; तुम्हें बस उस स्थिर, हलकी, शांत वाणीको सुनना चाहिये जो तुम्हारे हृदयकी नीरवतामें बोलती है।

मैं एक बात भूल गयी: इसे सुननेके लिये तुम्हें पूर्णतः सच्चा होना चाहिये, क्योंकि तुम यदि सच्चे नहीं हो तो तुम अपने-आपको धोखा देनेसे आरंभ करोगे और तुम बिलकुल कुछ भी नहीं सुनोगे, सुनोगे केवल अपने अहंकी वाणी और फिर तुम आत्मविश्वासके साथ (यह सोचते हुए कि यही सच्ची धीमी वाणी है) अत्यंत भयानक मूर्खताएं करोगे। परंतु तुम यदि सच्चे हो तो तुम्हारा रास्ता पक्का है। वह एक वाणी भी नहीं है, कोई इंद्रियबोध भी नहीं है, वह अत्यंत सूक्ष्म कोई चीज है — एक क्षीण सूचना है। जब सारी बातें ठीक-ठीक चलती हैं, अर्थात् जब तुम भागवत संकल्पके विपरीत कुछ नहीं करते, तब संभवतः तुम्हें कोई सुनिश्चित विचार नहीं आयेगा, सब कुछ तुम्हें स्वाभाविक प्रतीत होगा। निस्संदेह, तुम यह जाननेके लिये उत्सुक होगे कि तुम 'भागवत संकल्प'के अनुसार कार्य कर रहे हो या नहीं, यही है पहली बात, स्वभावतः ही, उसके बिना तुम एकदम कुछ नहीं जान सकते। परंतु एक बार जब तुम उत्सुक हो गये हो और ध्यान देने लगे हो, सब कुछ तुम्हें सामान्य, स्वाभाविक प्रतीत हो रहा है; तब अचानक ही तुम अपने मस्तक, अपने हृदय या यहांतक कि अपने पेटमें कहींपर थोड़ी बेचैनी अनुभव करते हो — सामान्यतया लोग

उस ओर ध्यान नहीं देते; तुम उसे दिनमें कई बार अनुभव कर सकते हो पर तुम उसकी ओर कोई ध्यान दिये बिना उसे अस्वीकार कर देते हो; परंतु अब वह ठीक वही चीज नहीं रह जाती; फिर, उस समय, तुम्हें अवश्य ठहर जाना चाहिये, तुम कुछ भी करते होओ इसका कोई महत्त्व नहीं, और देखना चाहिये, और यदि तुम सच्चे हो तो तुम एक छोटा-सा काला दाग (एक नन्हीं दुष्ट भावना, एक नन्हीं मिथ्या क्रिया, एक तुच्छ मन-माना निर्णय) देखोगे और वही होता है उस बेचैनीका मूल कारण। फिर तुम देखोगे कि वह छोटा-सा काला दाग अहंकारसे आता है जो अभिरुचियों-से भरा होता है; साधारण तौरपर वह जो कुछ पसंद करता है वही करता है; जिन चीजोंको वह पसंद करता है वे अच्छी कही जाती हैं और जिन्हें वह पसंद नहीं करता वे बुरी कही जाती हैं — यह चीज तुम्हारे निर्णय-को आच्छादित कर देती है। इन अवस्थाओंमें निर्णय करना कठिन है। यदि तुम वास्तवमें जानना चाहो तो तुम्हें एक पग पीछे हट आना होगा और देखना होगा, और तब तुम्हें मालूम होगा कि वास्तवमें अहंकी यही तुच्छ क्रिया तुम्हारी बेचैनीका कारण है। तुम देखोगे कि यह एक नन्हीं-सी चीज है जो कुंडलित होकर बैठी है; तुम्हें ऐसा बोध होगा कि तुम किसी सख्त चीजके सामने उपस्थित हो जो बाधा दे रही है या काली है। तब धैर्यके साथ, अपनी चेतनाकी ऊंचाईसे तुम्हें इस चीजको इसकी भूल समझानी चाहिये, और अंतमें वह विलीन हो जायगी। मैं यह नहीं कहती कि तुम तुरत-फुरत एकदम पहले दिन ही सफल हो जाओगे, पर तुम यदि सच्चाईके साथ प्रयत्न करो तो तुम सदा ही अंतमें सफल हो जाओगे। और यदि तुम निरंतर प्रयास करते रहो तो तुम देखोगे कि तुम सहसा नीचता, कुत्सितता और अंधताके एक पुंजसे रिहाई पा गये हो जो तुम्हें प्रकाशमें पुष्पित होनेसे रोक रहा था। ये ही वे चीजें हैं जो तुम्हें आकुंचित करती हैं, तुम्हें अपने-आपको विस्तारित करनेसे, प्रकाशके अंदर प्रस्फुटित होनेसे रोकती हैं, जहां तुम्हें बहुत सुखपूर्वक रहनेका भान होता है। यदि तुम यह प्रयास करो, तुम अंतमें देखोगे कि तुम उस बिंदुसे बहुत दूर हो जहांसे तुमने आरंभ किया था; जो चीजें तुम अनुभव नहीं करते थे, समझ नहीं पाते थे, अब सुस्पष्ट हो गयी हैं। यदि तुम संकल्प करो तो तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी।

यही है अपने-आपको एकीभूत करनेका, सचेतन सत्ता बननेका प्रथम पग, जिसमें एक केंद्रीय संकल्प है और जो केवल इसी संकल्पके अनुसार कार्य करता है और यह संकल्प भागवत 'संकल्प'की सतत अभिव्यक्ति होता है। इसका प्रयास करना लाभदायी है।

और अपने व्यक्तिगत अनुभवके आधारपर मैं तुमसे कह सकती हूं कि संसारमें इससे बढ़कर मजेदार कोई दूसरी बात नहीं है। यदि तुम यह प्रयत्न करना शुरू करो तो तुम देखोगे कि तुम्हारा जीवन रोचक बातोंसे भर गया है — तुम जानते ही हो, लोगोंके साधारण जीवनका एक तिहाई भाग एक प्रकारकी नीरस ऊब होता है (मैं एक तिहाई कहती हूं, पर कुछ लोगोंके लिये दिनका दो-तिहाई भाग एक प्रकारकी नीरस उकताहट होता है), और वह सब (तुम्हारे लिये) काफूर हो जाता है! प्रत्येक वस्तु इतनी मजेदार हो जाती है, अत्यंत छोटी-सी चीज, अत्यंत आकस्मिक मिलन, अत्यल्प बातचीत, स्थानच्युत अत्यल्प वस्तु — प्रत्येक वस्तु जीवन और दिलचस्पीसे पूर्ण हो जाती है।

१० फरवरी, १९५१

"यदि तुम भगवान्‌के आदेशका अनुसरण करनेके लिये तैयार हो तो तुम्हें जो भी कार्य दिया जाय उसे, यहांतक कि किसी बहुत बड़े कामको भी ग्रहण करनेमें सक्षम होना चाहिये और दूसरे दिन उसी शांतिके साथ, जिसके साथ तुमने उसे ग्रहण किया था, उसे छोड़ देना चाहिये और यह नहीं अनुभव करना चाहिये कि जिम्मेदारी तुम्हारी है। तुम्हारे अंदर किसी वस्तु या जीवनकी किसी विधिके प्रति कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिये। तुम्हें पूर्णतः मुक्त होना चाहिये।"

—वार्तालाप (१९२९)

मैं चाहती हूं कि कोई व्यक्ति मुझे यह बताये कि वह "पूर्णतः मुक्त होने" का क्या अर्थ समझता है, क्योंकि यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। मैं तुम्हें इसका कारण बताऊंगी।

अधिकांश लोग मुक्तिको स्वेच्छाचारिताके साथ मिला-जुला देते हैं। साधारण मनके लिये मुक्त होनेका अर्थ है किसी व्यक्तिके हस्तक्षेपके बिना अपनी पसंदकी प्रत्येक मूर्खता करनेका सुअवसर प्राप्त करना। मैं कहती हूं कि मनुष्यको "पूर्णतः मुक्त" होना चाहिये, पर यह एक बहुत खतरनाक सलाह है यदि कोई इन शब्दोंका अर्थ न समझे तो। मुक्त किस चीजसे?

— स्पष्ट ही, आसक्तियोंसे। यही ठीक-ठीक उसका अर्थ है। यही है बुद्धका वह आख्यान[1] जिसमें वह सभी कलाओंमें निष्णात नवयुवकको उत्तर देते हैं, "मैं आत्मसंयमकी कलाका एक विशेषज्ञ हूं। यदि मनुष्य मेरा अभिनंदन या मेरी प्रशंसा करते हैं तो मैं स्थिर और उदासीन बना रहता हूं। यदि वे मेरी निन्दा करते हैं तो उस समय भी उसी तरह स्थिर और उदासीन बना रहता हूं।"

तब यह देखनेके लिये अपने-आपसे प्रश्न करनेकी कोशिश करो कि तुम किस हदतक समस्त निंदा और प्रशंसासे ऊपर हो। यह नहीं कि तुम्हें अपनेको दूसरोंसे इतना श्रेष्ठ अनुभव करना चाहिये कि वे जो कुछ कहें वह तुम्हारे लिये किसी महत्त्वका न प्रतीत हो, ऐसी बात नहीं है। बात यह है कि अब तुम अज्ञानकी सामान्य अवस्थासे, अपने अज्ञानसे भी, अवगत हो गये हो और जब दूसरे यह विश्वास करते हैं कि कोई वस्तु अच्छी है तो तुम जानते हो कि "वह उतनी अच्छी नहीं है", और जब वे विश्वास करते हैं कि वह बुरी है तो तुम कह सकते हो कि "वह उतनी बुरी नहीं है।" प्रत्येक चीज पूर्ण रूपसे मिली-जुली है और अंतमें कोई व्यक्ति किसी व्यक्तिका विचार नहीं कर सकता। अतएव तुम सब प्रकारकी प्रशंसा और निंदाके प्रति पूर्णतः उदासीन हो जाते हो। और अंतिम निष्कर्ष होगा: जबतक मेरे अंदर या जिस व्यक्तिको मैंने अपना गुरु चुना है उसमें विद्यमान दिव्य चेतना मुझसे यह नहीं कहती कि "इसे करना चाहिये," "इसे नहीं करना चाहिये," तबतक दूसरे जो कुछ मुझसे कहें उससे मैं उदासीन रहूंगा। क्योंकि मैं समझता हूं कि जिस व्यक्तिपर मैंने विश्वास किया है उसमें विद्यमान दिव्य उपस्थिति यह समझनेमें समर्थ है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा, क्या करने योग्य है और क्या करने योग्य नहीं है।

और यही है मुक्त होनेका सर्वोत्तम पथ। भगवान्‌के प्रति अपने समर्पणको संपूर्ण बनाओ और तुम पूर्ण रूपसे मुक्त हो जाओगे।

यथार्थमें मुक्त होनेका एकमात्र मार्ग है भगवान्‌के प्रति अपने समर्पणको, बिना कुछ बचाये, पूर्ण बनाना, क्योंकि तब जो कुछ तुम्हें बांधता है, तुम्हें नीचे बांध रखता है, तुम्हें कैद रखता है, वह सब स्वाभाविक रूपमें तुमसे झड़ जाता है और अब उसका कोई महत्त्व नहीं होता। यदि कोई तुम्हारे पास आता और तुम्हारी निंदा करता है तो तुम कह सकते हो, "किस अधिकारसे वह मुझे दोष देता है, क्या वह परात्पर संकल्पको जानता है?" और वही बात उस समय भी कहते हो जब कोई तुम्हारा अभिनंदन

---

[1] श्रीमाताजीकी पुस्तक "सुन्दर कहानियां"।

करता है। यह बात तुम्हें यह सलाह देनेके लिये नहीं है कि दूसरोंसे जो कुछ तुम्हारे पास आता है उससे तुम लाभ न उठाओ — मैंने अपने सारे जीवन यह सीखा है कि एक छोटा बच्चा भी तुम्हें पाठ सिखा सकता है। यह बात नहीं कि वह तुमसे कम अज्ञानी है बल्कि वह एक आईनेके समान है जो, तुम जो कुछ हो उसकी प्रतिमूर्ति प्रतिबिंबित करता है। वह तुमसे कोई ऐसी बात कह सकता है जो सही नहीं है पर वह तुम्हें कोई ऐसी चीज भी दिखा सकता है जिसे तुम नहीं जानते थे। अतएव तुम उससे बहुत अधिक लाभ उठा सकते हो यदि तुम बिना किसी अवांछित प्रतिक्रियाके पाठको ग्रहण करो।

अपने जीवनके प्रत्येक क्षण मैंने यह सीखा है कि मनुष्य कुछ-न-कुछ सीख सकता है परंतु मैंने कभी अपनेको दूसरोंके मतसे आबद्ध नहीं अनुभव किया; क्योंकि मैं समझती हूं कि संसारमें मात्र एक ही सत्य है जो कोई चीज समझ सकता है, और वह है 'परात्पर सत्य'। तब हम बिल्कुल मुक्त हो जाते हैं। और यही है वह मुक्तावस्था जिसकी मैं तुमसे आशा करती हूं — समस्त आसक्ति, समस्त अज्ञान, समस्त प्रतिक्रियासे मुक्ति; भगवान्‌के प्रति संपूर्ण समपर्णके अतिरिक्त बाकी सभी चीजोंसे मुक्ति। बस, यही तरीका है जिससे संसारके प्रति समस्त उत्तरदायित्वसे छुटकारा मिल सकता है। एकमात्र भगवान् ही उत्तरदायी हैं।

एकदम आरंभसे ही आत्मसमर्पणका पूर्ण होना संभव नहीं है न?

साधारण रूपमें नहीं। इसमें थोड़ा-बहुत समय लगता है। परंतु कभी-कभी एकाएक परिवर्तन हो जाता है। इन सब चीजोंको ब्योरेवार समझानेमें बहुत अधिक समय लगेगा। तुम शायद जानते हो कि साधनाकी सभी परंपराओंमें यह कहा जाता था कि मनुष्यका स्वभाव बदलनेके लिये ३५ वर्षोंकी आवश्यकता होती है! अतएव एक क्षणमें ही इसके हो जानेकी आशा तुम्हें नहीं करनी चाहिये।

यदि मनुष्यको प्रत्येक वस्तुके प्रति उदासीन होना है तो बच्चोंको पारितोषिक क्यों दिये जाते हैं?

तुम पाठशालाके एक बच्चेसे योगी होनेकी आशा नहीं करते, करते हो? मैंने अभी कहा है कि उसे प्राप्त करने तथा अपना स्वभाव बदलनेमें ३५ वर्षोंकी आवश्यकता होती है।

तुम जानते ही हो कि, मानवका व्यक्तिगत अधिकार — परिवारके पिताके, अध्यापकके, राज्यके अध्यक्षके अधिकारकी तरह — एक प्रतीकात्मक वस्तु है। उन लोगोंको कोई सच्चा अधिकार प्राप्त नहीं है बल्कि अधिकार उन लोगोंको दिया गया है ताकि वे लोग सामाजिक जीवनमें अपने पार्टको अदा करनेकी योग्यता प्राप्त कर सकें — ऐसे सामाजिक जीवनमें जैसा कि वह आजकल है, अर्थात् एक ऐसा सामाजिक जीवन जो मिथ्यात्वपर आधारित है, सत्यपर बिलकुल ही नहीं, क्योंकि सत्यका मतलब है एकत्व, और समाज स्थापित है विभाजनपर। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने पार्टको, अपने कार्यको, अपने प्रतीकको कम या अधिक अच्छे रूपमें, पूरा करते हैं — कोई व्यक्ति निर्दोष नहीं होता, इस संसारमें सब कुछ मिला-जुला है। परंतु जो लोग अपने पार्टको गंभीरतापूर्वक लेते हैं, यथासंभव ईमानदारीके साथ उसे पूरा करनेका प्रयास करते हैं, ऐसी अंतःप्रेरणाएं प्राप्त कर सकते हैं जो उन्हें साधारण व्यक्तिकी अपेक्षा थोड़े अधिक सच्चे रूपमें अपना पार्ट अदा करनेके योग्य बना देती हैं। यदि अंक देनेवाला अध्यापक अपने मनमें यह बात याद रखे कि वह दिव्य सत्यका प्रतिनिधि है, यदि वह दिव्य 'संकल्प'के साथ समस्वर रहनेके लिये निरंतर पर्याप्त कष्ट उठाये तो वह बहुत सहायक हो सकता है; क्योंकि साधारण अध्यापक अपनी व्यक्तिगत अभिरुचियोंके अनुसार — वह क्या पसंद नहीं करता, वह क्या पसंद करता है आदि-आदिके अनुसार कार्य करता है और यह सब सामान्य मिथ्यात्वसे संबंधित होता है, परंतु नंबर देनेके समय यदि वह अपनी तुच्छ संकीर्ण चेतनाकी अपेक्षा अधिक गभीर सत्यके साथ अपने-आपको समस्वर बनानेका सच्चाईके साथ प्रयत्न करे तो वह इस सत्यके एक मध्यस्थके रूपमें कार्य कर सकता है और, ऐसा करनेके कारण, अपने विद्यार्थियोंको उनके अंदर विद्यमान इस सत्यके विषयमें सचेतन होनेमें सहायता कर सकता है।

ठीक यही वह बात है जो मैं तुम लोगोंसे कहना चाहती थी। शिक्षण एक प्रकारकी पुरोहिताई है, शिक्षा देना एक प्रकारकी पुरोहिताई है, और किसी राज्यका अधिकारी होना एक प्रकारकी पुरोहिताई है। अतएव अपने पार्टको अदा करनेवाला व्यक्ति यदि उसे सर्वोत्तम और सत्यतम रूपमें अदा करनेकी अभीप्सा करे तो संसारकी साधारण अवस्था बहुत सुन्दर हो सकती है। दुर्भाग्यवश अधिकांश लोग इस विषयमें कभी, तनिक भी विचार नहीं करते, वे अपनी भूमिकाको किसी प्रकार निभा देते हैं — उन असंख्य लोगोंकी तो यहां कोई चर्चा ही नहीं जो केवल धन

कमानेके लिये कार्य करते हैं, पर इस विषयमें उनका कार्य स्वभावतः ही एकदम सड़ा-सा होता है। आश्रमकी स्थापना करनेमें मेरा एकदम पहला आधार यही था : कि यहां किया गया कार्य भगवान्‌की एक पूजा हो।

अपनी प्रकृतिकी, अपनी मनोवृत्तिकी धारामें अपने-आपको बहने देनेके स्थानमें मनुष्यको निरंतर अपने मनमें इस प्रकारकी भावना बनाये रखनी चाहिये कि हम 'परात्पर ज्ञान' के, 'परात्पर सत्य' के, 'परात्पर विधान' के प्रतिनिधि हैं और इस भावको हमें यथासंभव अत्यंत शुद्ध, अत्यंत सच्चे रूपमें अपने जीवनमें उतारना चाहिये; तब हम स्वयं बहुत अधिक प्रगति करते हैं और दूसरोंसे भी करवा सकते हैं। और इसके अतिरिक्त, हमें आदर प्राप्त होगा, श्रेणीके अंदर फिर कभी अनुशासनहीनता नहीं रहेगी, क्योंकि प्रत्येक मानव-प्राणीके अंदर कोई ऐसी चीज है जो सच्ची महानताको पहचानती और उसके सामने माथा टेकती है; यहांतक कि बुरे-से-बुरे अपराधी भी उच्च और निष्काम कर्मका समादर करनेमें समर्थ होते हैं। इसलिये जब बच्चे किसी अध्यापकमें, पाठशालाके एक शिक्षकमें, सत्यके अनुसार कार्य करनेकी गहरी अभीप्साको अनुभव करते हैं तो वे उसकी बात इतना अनुगत होकर सुनते हैं जितना अनुगत होकर वे उस समय नहीं सुनेंगे जब अध्यापक एक दिन तो अच्छे भावमें हो और दूसरे दिन न हो, जो कि सबके लिये अनर्थकारी है।

यदि मनुष्यका स्वभाव बदलनेके लिये ३५ वर्षकी आवश्यकता होती है तो भला कोई अभीसे भगवान्‌के प्रति पूर्ण समर्पण कैसे कर सकता है?

यह कार्य तेजीसे भी हो सकता है; सब कुछ उस पथपर निर्भर करता है जिसका अनुसरण साधक करता है।

तुम्हें याद होगा, हमने एक बार तुम लोगोंसे बिल्लीके बच्चे और बन्दरके बच्चेके मनोभावकी बात कही थी।[1] यदि तुम बिल्लीके एक आज्ञाकारी बच्चे-

---

[1]श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि शिष्य दो मनोभावोंमेंसे एकको चुन सकता है : बिल्लीके बच्चेका निष्क्रिय विश्वास जो अपनेको उठा ले जानेके लिये मांके ऊपर छोड़ देता है (यह समर्पणका पथ है, अत्यंत सुनिश्चित और बंदरके बच्चेका सक्रिय मनोभाव जो अपनी मांके साथ चिपक जाता है (यह व्यक्तिगत प्रयासका पथ है)।

की तरह (बिल्लीके ऐसे बच्चे भी होते हैं जो बहुत असंयत होते हैं, मैंने उन्हें देखा है) होना स्वीकार करो, एक छोटे-से विनीत बच्चेकी तरह बन जाना मंजूर करो तो यह कार्य बड़ी तेजीसे आगे बढ़ सकता है। ध्यान रखो, यह कहना बड़ा आसान है कि "बिल्लीके बच्चेका मनोभाव ग्रहण करो", पर इसे करना उतना आसान नहीं है। तुम्हें यह विश्वास नहीं करना चाहिये कि बिल्लीके बच्चेका मनोभाव ग्रहण करनेका तात्पर्य है समस्त व्यक्तिगत प्रयासका परिहार कर देना। क्योंकि तुम बिल्लीके बच्चे नहीं हो, मनुष्य बिल्लीके बच्चे नहीं हैं! तुम्हारे अंदर ऐसे अनगिनत तत्त्व हैं जो अपने-आपपर ही विश्वास करनेके अभ्यासी हैं, जो अपना निजी काम आप करना चाहते हैं, और इन सब तत्त्वोंको संयमित करना, सब प्रकारकी परिस्थितियोंके हाथमें अपनेको छोड़ देनेसे बहुत अधिक कठिन है। यह बहुत ही कठिन है। सबसे पहले, मन-बुद्धिका वह अद्‌भुत कार्य सर्वदा बना रहता है जो देखना, आलोचना करना, विश्लेषण करना, संदेह करना, समस्या सुलझानेकी चेष्टा करना बहुत अधिक पसंद करता है, कहता है, "आखिर यह बात ऐसी है", "क्या इस तरह यह कुछ और अच्छी नहीं हो सकती?" आदि-आदि। अतः यह चीज चलती रहती है, चलती रहती है और तब कहां होता है वह बिल्लीका बच्चा? . . . क्योंकि बिल्लीका बच्चा तो सोचता ही नहीं! वह इस सबसे मुक्त है और इसी कारण उसके लिये ऐसा करना बहुत आसान है!

चाहे तुम जिस किसी पथका क्यों न अनुसरण करो, व्यक्तिगत प्रयास तब-तक बराबर आवश्यक होता है जबतक कि तादात्म्यका क्षण नहीं आ जाता। उस समय सभी प्रयास फटे-पुराने लबादेकी तरह तुमसे झड़ जाते हैं, तुम दूसरे व्यक्ति बन जाते हो: तुम्हारे लिये जो कुछ पहले असंभव था वह अब केवल संभव ही नहीं हो जाता बल्कि अनिवार्य बन जाता है, तुम अन्यथा कर ही नहीं सकते।

तुम्हें सचेत, नीरव होना चाहिये, तुम्हें आंतरिक प्रेरणाकी प्रतीक्षा करनी चाहिये, बाहरी प्रतिक्रियाओंके वश कुछ नहीं करना चाहिये, तुम्हें निरंतर निमित्त रूपसे बस उसी ज्योतिसे परिचालित होना चाहिये जो ऊपरसे आती है, तुम्हें बस उसी ज्योतिकी प्रेरणाके अधीन कार्य करना चाहिये, अन्य किसी चीजके अधीन नहीं। कभी यह नहीं सोचना चाहिये, यह प्रश्न नहीं उठाना चाहिये, यह नहीं पूछना चाहिये, "मुझे यह करना चाहिये या वह", बल्कि — जानना, देखना, सुनना चाहिये। एक ऐसी आंतरिक निश्चयता-के साथ कार्य करना चाहिये जो प्रश्न नहीं करती, संदेह नहीं करती, क्योंकि निर्णय तुम्हारे पाससे नहीं आता, वह ऊपरसे आता है। हां, यह बहुत

शीघ्र भी आ सकता है अथवा तुम्हें इसके लिये शायद दीर्घकालतक प्रतीक्षा भी करनी पड़ सकती है,—यह निर्भर करता है मनुष्यकी पहलेकी तैयारीके ऊपर, अन्य बहुत-सी चीजोंपर। तबतक तुम्हें उसकी इच्छा करनी चाहिये, आग्रहपूर्वक बार-बार इच्छा करनी चाहिये और सर्वोपरि बात यह है कि कभी धैर्य अथवा साहस नहीं खोना चाहिये। अगर आवश्यक हो तो एक ही चीजको हजार बार दुहराओ, यह समझते हुए कि शायद हजारवीं बार तुम परिणाम अवश्य उपलब्ध कर लोगे।

तुम एक टुकड़ेके ही नहीं बने हुए हो। तुम्हारा वर्तमान शरीर बहुधा एक आकस्मिक रचना होता है। यदि तुम्हारे अंदर सचेतन अंतरात्मा है जो तुम्हारे शरीरकी रचनाको प्रभावित करती है तो फिर तुम किसी ऐसे व्यक्तिसे, ऐसी अंतरात्मासे अनंत रूपमें अधिक अच्छे ढंगसे तैयार किये हुए व्यक्ति होते हो जो यह बिना जाने कि वह कहां जा रहा है सीधे सिरके बल शरीरमें आ गिरता है: उस ढंगसे आये हुए लोगोंको अंधकारमें इस प्रकार आ गिरी हुई अपनी चेतनाको ऊपर उठानेके लिये बहुत कठिन परिश्रम करना होता है। आंतरिक तैयारीकी स्थिति पूर्व जीवनोंसे प्राप्त हो सकती है या वर्तमान जीवनसे प्राप्त हो सकती है; अथवा अपने सर्वांगीण विकासमें तुम एक मोड़पर पहुंच चुके हो और ऐसी परिस्थितियोंसे तुम्हारा ठीक-ठीक संबंध हो गया है जो अंतिम पग उठानेके लिये आवश्यक हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि तुम इस मोड़पर पहुंचनेसे पहले हजार बार पृथ्वीपर जीवन यापन नहीं कर चुके हो।

१२ फरवरी, १९५१

"तुम पूछते हो: 'अभीतक भगवान् क्यों नहीं आये हैं?' क्योंकि तुम तैयार नहीं हो। यदि जरा-सी एक बूंदके आ टपकनेपर तुम गाते और नाचते और चीखते-चिल्लाते हो तो यदि समूची चीज नीचे आ जाय तो क्या होगा? अतएव जिन लोगोंके शरीर, प्राण और मनमें पर्याप्त सुदृढ़ और विस्तृत आधार नहीं है, उनसे हम कहते हैं: 'खींचो मत', मतलब, 'भगवान्‌की शक्तियोंको जबर्दस्ती अपनी ओर खींचनेकी कोशिश मत करो बल्कि स्थिरता और शांतिके साथ प्रतीक्षा करो।' क्योंकि वे अब

तरणको सहन नहीं कर सकते। परंतु जिनके अंदर आवश्यक आधार विद्यमान है, उनसे हम इससे उलटा कहते हैं, 'अभीप्सा करो और खींचो।' क्योंकि वे ग्रहण करनेमें समर्थ होंगे और फिर भी भगवान्‌से आनेवाली शक्तियोंके द्वारा बदहवास नहीं होंगे।"

— वार्तालाप (१९२९)

भागवत शक्ति लोगोंको बदहवास क्यों करती है?

क्योंकि वह उनके लिये अत्यंत प्रबल होती है। यह बात ऐसी है मानों तुम एक बड़े तूफानके बीचमें होओ। कभी-कभी ऐसा होता है कि वायु इतनी तेज होती है कि तुम खड़े नहीं रह पाते — तुम्हें लेट जाना होता है और तबतक प्रतीक्षा करनी होती है जबतक कि वह शांत नहीं हो जाती। अब, भागवत शक्तियां तूफानकी वायुकी अपेक्षा हजारगुना अधिक शक्तिशाली होती हैं। यदि तुम्हारे अंदर बहुत विशाल ग्रहणशीलता, स्थिरता, आत्माकी समता और आंतरिक शांतिका अत्यंत ठोस आधार न हो तो वे आतीं और तुम्हें एक झंझाकी तरह उड़ा ले जाती हैं और तुम उनके सामने टिक नहीं सकते। प्रकाशके लिये भी यही बात होती है; कुछ लोग जब सूर्यकी ओर ताकते हैं तो उनकी आंखोंमें दर्द होने लगता है और उन्हें काला चश्मा लगानेके लिये विवश होना पड़ता है, क्योंकि सूर्यकी रोशनी उनके लिये बहुत प्रखर होती है। परंतु यह तो महज सूर्यकी रोशनी है। जब तुम अतिमानसिक ज्योतिकी ओर ताकने योग्य होते हो तब वह तुम्हें इतनी प्रोज्ज्वल प्रतीत होती है कि उसके मुकाबले सूर्यकी ज्योति एक काले दागकी तरह दिखायी देती है। उसे सहन करनेके लिये मनुष्यके पास आंखें और ठोस मस्तिष्क होना चाहिये। उसे पूरी तरह तैयार होना चाहिये, किसी अत्यंत स्थिर और विशाल वस्तुमें उसे स्थापित होना चाहिये — यह अवस्था ठीक ऐसी है मानों मनुष्यको प्रशांतिका इतना सशक्त आधार मिल गया है कि जब तूफान गुजरता है, जब ज्योति बड़ी तीव्रताके साथ आती है तो वह अचल-अटल बने रहनेमें समर्थ होता है और बिना पछाड़ खाये जो कुछ वह ग्रहण कर सकता है उसे ग्रहण करता है। परंतु लाखों-करोड़ोंमें कोई एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं होता जो इसे कर सके। जो लोग आंतरिक अनुभवका पूर्वास्वाद पा चुके हैं केवल वे ही समझ सकते हैं कि इसका क्या अर्थ है। परंतु तुम यदि ज्ञानपूर्वक अपनी चैत्य-सत्तामें भी प्रवेश कर जाओ तो उसकी ज्योति तुम्हें चौंधिया देगी; और यह तुम्हारी पहुंचके भीतर है क्योंकि यह तुम्हारी अपनी चैत्य

सत्ता है, और फिर भी तुम्हारी बाह्य चेतनासे यह इतनी भिन्न है कि प्रथम बार जब तुम इसमें ज्ञानपूर्वक प्रवेश करते हो तो वह वास्तवमें तुम्हें चौंधिया देनेवाली प्रतीत होती है, अत्यंत प्रखर सूर्यालोककी अपेक्षा अनंत-गुना अधिक प्रोज्ज्वल वस्तु प्रतीत होती है।

चैत्य सत्ता वह वस्तु है जिसे हम "मनुष्यकी पहुंचके भीतर विद्यमान भगवान्" कह सकते हैं।

क्या ऐसे चिह्न हैं जो यह सूचित करते हों कि मनुष्य इस पथके लिये तैयार हो गया है, विशेषकर जब कि मनुष्यको कोई आध्यात्मिक गुरु न प्राप्त हो?

हां, अत्यंत महत्त्वपूर्ण लक्षण है सभी परिस्थितियोंमें आत्माकी पूर्ण समता-का होना। यह पूर्णतः अनिवार्य आधार है; यह बहुत स्थिर, अचंचल, शांतिपूर्ण वस्तु है, महान् शक्तिका बोध है। वह स्थिरता नहीं जो तामसिकतासे आती है बल्कि एक एकाग्रीभूत शक्ति-सामर्थ्यका बोध जो तुम्हें सर्वदा अटल बनाये रखता है, चाहे जो कुछ भी क्यों न घटित हो, यहांतक कि ऐसी परिस्थितियोंके अंदर भी जो तुम्हें अपने जीवनमें अत्यंत भयानक प्रतीत होती हैं। बस, यही है पहला चिह्न।

दूसरा चिह्न है: तुम अपनी साधारण स्वाभाविक चेतनामें पूर्णतः कारा-रुद्ध अनुभव करते हो, जैसे कि किसी अत्यंत कठोर वस्तुमें, दम घोंटनेवाली और असह्य वस्तुओंमें तुम अवरुद्ध होओ, ऐसा लगता है मानों तुम्हें किसी लौह दीवालमें छिद्र बनाना पड़ रहा हो। और यंत्रणा लगभग असह्य हो उठती है, गला घोंटने जैसा महसूस होता है; तोड़कर निकल जानेका एक आंतरिक प्रयास होता है और तुम तोड़कर निकलनेका प्रबंध नहीं कर पाते। यह भी एक प्रकारसे पहला ही चिह्न है। इसका तात्पर्य है कि तुम्हारी आंतरिक चेतना एक ऐसे बिंदुपर पहुंच गयी है जहां उसका बाहरी ढांचा उसके लिये अत्यधिक तंग हो गया है — साधारण जीवनका, साधारण क्रिया-कलापोंका, साधारण संबंधोंका ढांचा, वह सब इतना छोटा, इतना तुच्छ हो गया है कि तुम अपने अंदर उस सबको तोड़ देनेकी एक शक्तिका अनुभव करते हो।

एक और दूसरा चिह्न भी है: जब तुम एकाग्र होते हो और एक अभीप्सा तुम्हारे अंदर होती है तो तुम अपने अंदर किसी चीजको नीचे उतरते हुए अनुभव करते हो, तुम एक उत्तर पाते हो; तुम एक प्रकारकी ज्योति, शांति, शक्तिको नीचे आते हुए अनुभव करते हो; और लगभग तुरत,

—तुम्हें प्रतीक्षा करनेकी या बहुत लंबा समय बितानेकी जरूरत नहीं होती— बस, केवल एक आंतरिक अभीप्सा, एक पुकार उठती है, और प्रत्युत्तर आ जाता है। इसका भी मतलब है कि संबंध अच्छी तरह स्थापित हो गया है।

शक्तिके अवतरित होनेपर यदि उथल-पुथल होती है तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राण तैयार नहीं है और क्या तैयार होनेके लिये उसपर दबाव नहीं डालना चाहिये?

तुम उसे कैसे बाध्य कर सकते हो? वह मानों तुम्हारी अंगुलियोंके बीचसे निकल भागता है। तुम्हारी इच्छाशक्ति समझती है कि उसने उसे पकड़ लिया है, पर वह तुम्हें चकमा दे जाता है। उसे वशमें करना कठिन है। और फिर उसे किसलिये बाध्य करना चाहिये? तैयार होनेके लिये? ....तुम उससे जो कुछ पा सकोगे वह बस यही होगा कि वह जड़ बन जायगा, अर्थात् वह एक कोनेमें छिप जायगा, अब हिलेगा-डुलेगा नहीं, और तूफानको निकल जाने देगा! क्योंकि उसके लिये भागवत शक्तियोंके साथ-का सम्पर्क तूफानके जैसा ही होता है। फिर जब वह देखेगा कि संकट दूर हो गया है तो वह प्रतिक्रिया करेगा: "अच्छा, यह रहे! अब, मेरी बारी है!"

यदि तुम अस्तव्यस्त हो जाओ तो इसका अर्थ है कि तुम्हें अभी भी अपने प्राणके ऊपर बहुत अधिक काम करना है, उसके बाद ही वह तैयार होगा; इसका अर्थ होगा कि कहीं कोई कमजोरी है। कुछ लोगोंमें, कमजोरी मनमें होती है। फ्रांसमें मैं एक लड़केको जानती थी जो बहुत अच्छा संगीतज्ञ था, वह वायलिन अपूर्व ढंगसे बजाता था। परंतु उसका मस्तिष्क बहुत बड़ा नहीं था, बस, ठीक इतना ही बड़ा था कि उसके संगीत-में सहायता कर सके, उससे अधिक नहीं। वह हमारी आध्यात्मिक सभाओंमें आया करता था और अकस्मात् उसे सांतके अंदर अनंतका अनु-भव हो गया; वह पूर्ण रूपसे सच्चा अनुभव था; सीमित व्यक्तित्वके अंदर अनंतका अनुभव हो गया। इस चीजने उस लड़केको इतना अस्तव्यस्त कर दिया कि वह इस बातको बिलकुल समझ नहीं पाया! वह अब अपना संगीत भी नहीं सुना पाया। उस अनुभवको बंद कर देना पड़ा, क्योंकि वह उसके लिये अत्यंत शक्तिशाली था। यह एक ऐसा उदाहरण है जिसमें मन बहुत दुर्बल था।

उसे अनुभव प्राप्त हुआ, सचमुचमें, वह कोई भावना नहीं थी (भाव-

नाएं साधारणतया सभी मनुष्योंके लिये विजातीय वस्तुएं होती हैं)। मनुष्यको भावनासे पहले अनुभव अवश्य प्राप्त होना चाहिये; क्योंकि अधिक-
लोग शब्दोंमें विचार करते हैं — यदि तुम दो परस्पर-विरोधी भाव-
क साथ रखो तो वे उसे बिलकुल नहीं समझते, जब कि अनु-
बिलकुल संभव होता है। अतएव मनुष्यका मन थोड़ा विशाल,
य और अचंचल होना चाहिये; तुम्हें तुरत यह नहीं अनुभव
हिये कि जो कुछ तुम सोच-समझ रहे थे वह सब अब तुमसे
जा रहा है, बल्कि उसके बदले बहुत शांतिके साथ प्रतीक्षा करनी
ये जिसमें तुम्हारे मस्तककी कोई चीज अनुभवके विषयको समझना
रंभ कर दे।

ऐसे व्यक्ति भी होते हैं — बहुत सारे — जो अपनी प्राण-सत्तामें दुर्बल होते हैं। जब उन्हें उनकी अपनी तुच्छ व्यक्ति-सत्तामें, उनकी बहुत मामूली क्षमताके अंदर अनंतताका, शाश्वतताका यह बोध होता है तो वह उन्हें निरंतर होनेवाली धारणाओंसे इतना भिन्न होता है कि वे कुछ भी नहीं समझते। तब वे बीमार हो जाते हैं या प्रलाप करने लग जाते हैं अथवा चिल्लाना और नाचना आरंभ कर देते हैं।

परंतु तुम यदि पूर्ण रूपसे सच्चे हो और अपनेको स्पष्ट दृष्टिसे देखते हो तो तुम्हारे साथ ऐसा नहीं घटित होता, क्योंकि जो अनुभव इस प्रकार असामयिक रूपसे आता है वह सर्वदा किसी गर्व या महत्त्वाकांक्षाका या आंतरिक असंतुलनका परिणाम होता है, सत्ताके एक भागके लाभके लिये दूसरे भागकी उपेक्षा करनेके कारण होता है।

जो लोग यह समझते हैं कि अपने शरीरको पूर्ण रूपसे जड़, अपने प्राण-को निद्रित और अपने मनको एक प्रकारकी मूर्च्छाकी स्थितिमें छोड़कर (क्योंकि बहुधा, जिसे लोग "निश्चल-नीरवता" कहते हैं वह ठीक मूर्च्छाकी अवस्था होती है), योगमें प्रगति कर सकते हैं, वे अनुभवके आनेपर, तुम विश्वास करो, पूर्ण रूपसे अस्तव्यस्त हो उठते हैं। उनका दिमाग खराब हो जाता है, वे ऊटपटांग कार्य करते हैं या फिर कोई बहुत दुर्भाग्यपूर्ण घटना उनके साथ घटित हो जाती है।.... तुम्हारे पास ठोस सुसंतुलित शरीर, सुसंयमित प्राण और सुसंगठित, नमनीय, युक्तिपूर्ण मन होना चाहिये; तब, यदि तुम अभीप्साकी स्थितिमें होओ और उसका उत्तर प्राप्त करो तो तुम्हारी पूरी सत्ता उस कारण अपनेको समृद्ध, विस्तारित, परमोज्ज्वल अनुभव करेगी, और तुम पूर्ण प्रसन्न रहोगे और तुम अपने प्यालेको छलकने नहीं दोगे क्योंकि वह अत्यधिक भर गया है, जैसे कि कोई अनाड़ी मनुष्य करता है जो यह नहीं जानता कि भरे गिलासको कैसे

पकड़ना चाहिये। यह ऐसी ही बात है, है न! यह ऐसी बात है मानों तुम्हारे पास एक छोटा-सा पात्र है, बिलकुल छोटा, जिसे तुम बड़ा बनानेकी परवाह न करो तो छोटा ही बना रहेगा, और फिर यदि अकस्मात् वह किसी ऐसी वस्तुसे पूर्ण हो जाय जो अत्यंत प्रबल हो तो सब कुछ बह जायगा!

जब चेतना अपने अत्यंत संकीर्ण बाह्य आकारमें "आबद्ध" अनुभव करती है तब क्या करना चाहिये?

विशेषकर तुम्हें उग्र नहीं होना चाहिये, क्योंकि तुम यदि उग्र हो जाओ तो तुम उससे क्लांत, अशक्त हो जाओगे और परिणाम कुछ नहीं निकलेगा। तुम्हें अभीप्साकी सभी शक्तियोंको एकाग्र करना चाहिये। यदि तुम आंतर लौके विषयमें सचेतन होओ तो तुम्हें उन सब चीजोंको, जिन्हें तुम अपने अंदर अत्यंत प्रबल अनुभव करते हो, अभीप्साके द्वारा, पुकारके द्वारा उस ज्वालामें डाल देना चाहिये और अपने-आपको जहांतक संभव हो शांत-स्थिर बनाये रखना चाहिये, और इस गभीर विश्वासके साथ पुकारना चाहिये कि उत्तर अवश्य आयेगा; और जब तुम इस अवस्थामें होओ तब अपनी अभीप्सा और संकेंद्रित शक्तिके द्वारा, अपनी आंतरिक लौके द्वारा इस प्रकारकी ऊपरी परतपर धीरे-धीरे दबाव डालो, बिना जोर-जबर्दस्तीके, पर आग्रहपूर्वक, जबतक संभव हो तबतक, विक्षुब्ध, क्रोधित या उत्तेजित हुए बिना। तुम्हें पूर्ण रूपसे स्थिर-अचंचल बने रहना चाहिये, लेकिन पुकारना और धक्का देना चाहिये।

प्रथम बारमें ही इससे सफलता नहीं मिलेगी। तुम्हें फिरसे जितनी अधिक बार आवश्यक हो उतनी अधिक बार आरंभ करना चाहिये, पर एका-एक, एक दिन... तुम दूसरी ओर पहुंच जाते हो! तब तुम ज्योतिके एक समुद्रमें निकल आते हो।

यदि तुम संघर्ष करो, यदि तुम अशांत हो जाओ, यदि तुम प्रबल प्रयत्न करो तो तुम बिलकुल कुछ नहीं पाओगे; और यदि तुम क्रुद्ध हो जाओ तो तुम केवल सिरदर्द पाओगे, बस और कुछ नहीं।

हां, बस, बात यही है। अभीप्साकी अपनी समस्त शक्तिको एक साथ एकत्र कर लो, पूर्ण प्रशांतिके अंदर उसे तीव्र रूपसे एक संकेंद्रित वस्तु बना लो, अपनी आंतर ज्वालाके विषयमें सज्ञान होओ और जो कुछ तुम्हारे लिये संभव हो सब उसमें झोंक दो जिसमें वह सतत उच्चसे उच्चतर लौके साथ जलती रहे, और फिर संपूर्ण चेतनाके साथ पुकारो

और धीरे-धीरे धक्का दो। तुम्हें निश्चित रूपसे एक दिन सफलता मिलेगी।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं): "**...भगवान्‌की ओर मुड़नेवाले कुछ लोगोंके प्रसंगमें ऐसा घटित होता है कि प्रत्येक भौतिक अवलंब या उनकी प्यारी प्रत्येक वस्तुको उनके जीवनसे दूर कर दिया जाता है। और, यदि वे किसी व्यक्तिको प्रेम करते हैं तो उसे भी उठा लिया जाता है।**"

यहां हम एक बहुत बड़ी समस्यामें प्रवेश करते हैं...। किसी व्यक्तिके लिये क्या अच्छा है और क्या नहीं, इस विषयका जो ज्ञान दिव्य चेतनाको होता है ठीक वही उसकी विकसित चेतनाको नहीं होता। जो कुछ तुम्हें अच्छा, अनुकूल प्रतीत होता है वह बराबर वही वस्तु नहीं होता जो आध्यात्मिक दृष्टिसे तुम्हारे लिये उत्तम हो। यही बात प्रारंभसे तुम्हें सीखनी चाहिये कि तुम्हें कौन-सी चीज लक्ष्यकी ओर सबसे तेज गतिसे ले जायगी, इस बातका भागवत बोध तुम्हारे बोधसे एकदम भिन्न होता है और तुम उसे समझ नहीं सकते। यही कारण है कि प्रारंभसे तुम्हें अपने-आपसे यह कहना चाहिये कि, "यह बिलकुल ठीक है। मैं सब कुछ स्वीकार करूंगा और बादमें ही उसे समझूंगा।"

अतएव बहुधा तुम ऐसे लोगोंसे मिलते हो जो योग आरंभ करनेसे पहले अपेक्षाकृत सुखी जीवन बिताते थे और जैसे ही वे योग करने आते हैं, वे सभी परिस्थितियां जिनसे वे विशेष रूपसे आसक्त थे, कम या अधिक कठोरतापूर्वक उनसे पृथक् हो जाती हैं। तब वे परेशान हो उठते हैं; संभवतः वे इतने सरल-निश्छल नहीं होते कि वे उसे स्वीकार कर लें, वे अन्य विचारों या अन्य शब्दोंका आश्रय लेते हैं, पर उसका तात्पर्य यही होता है: "यह कैसी बात है? मैं भला हूं और मेरे साथ भद्रतापूर्वक व्यवहार नहीं किया जाता!" यहां न्यायसंबंधी समूची मानवीय भावना विद्यमान है। "तुम अच्छा बननेकी चेष्टा करते हो और कितनी घोर विपत्ति आ टूटती है तुम्हारे ऊपर! जिन सब चीजोंको तुम प्यार करते थे वे सब तुमसे छीन ली जाती हैं, जितने भी सुख-आनंद तुम्हें प्राप्त थे उनसे तुम वंचित कर दिये जाते हो, जितने लोगोंसे तुम प्रेम करते थे सबने तुम्हें छोड़ दिया; निस्संदेह, अच्छा बनने और प्रयास करनेका कष्ट उठाना किसी कामका नहीं।" और तुम यदि अपने तर्कको काफी दूरतक ले जाओ तो एकाएक तुम धुनको पकड़ लेते हो — अच्छा, तुम स्वार्थके

लिये योग करना चाहते थे, तुम स्वार्थवश अच्छा होना चाहते थे, तुमने सोचा था कि तुम्हारी स्थिति पहलेसे अच्छी हो जायगी और तुम्हारी चतुराईके लिये तुम्हें लड्डू मिलेंगे! और वैसा नहीं हो रहा है!....हां, यह अस्वीकृति ही वह उत्तम शिक्षा है जो तुम्हें कभी भी दी जा सकती थी। कारण, जबतक तुम्हारी अभीप्सामें कोई कामना छिपी हुई है और जबतक तुम्हारे हृदयमें भगवान्‌के साथ मोल-तोल करनेका भाव विद्यमान है, ऐसी चीजें आयेंगी और तबतक तुम्हें आघात पहुंचाती रहेंगी जबतक तुम अपने अंदर स्थित सत्य-चैतन्यके प्रति जागृत नहीं हो जाते जो कोई शर्त नहीं रखता, कोई मोल-तोल नहीं करता। बस।

जिस समयसे मैं योग करने लगा हूं, मैं देखता हूं कि मेरे सारे कार्य पहलेसे अधिक अच्छे होते जा रहे हैं। अतएव मैं समझता हूं...।

संभवतः तुम्हारी अभीप्सा सचमुचमें सच्ची और निःस्वार्थ थी। ऐसी हालतमें बातें ऐसी ही घटित होनी चाहियें।

यदि कोई व्यक्ति बुरा और दुष्ट रहा हो और वह एकाएक परिवर्तित होनेका निर्णय करे तो क्या वह तुरत उस छोटी-सी आंतरिक वाणीको सुनता है जो कोई बुरा कार्य करनेपर प्रत्येक बार चेतावनी देती है?

प्रत्येक बात निर्भर करती है परिवर्तनके प्रकारपर, उस रूपपर जिसे आंतरिक रूपांतरने ग्रहण किया है। यदि परिवर्तन एकाएक हुआ हो तो हां, साधक तुरंत क्षीण वाणीके विषयमें सचेतन हो सकता है, पर यदि वह क्रमशः हुआ हो तो सर्वोत्तम परिणाम भी क्रमशः ही प्रकट होगा। यह बात पूर्णतः प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर करती है, इसे बताया नहीं जा सकता। यदि एक प्रकारसे पर्दा फट जाय और एक ज्योति उद्‌भासित हो तब तो हां, साधकको तुरत आंतरिक संकेत मिलता है। यह संकेत अनुदर्शी भी हो सकता है। अर्थात्, किन्हीं भूतकालकी क्रियाओंका चिंतन करते समय किसीको इस बातका स्पष्ट दर्शन मिल सकता है कि आज वह जो कुछ है उसके मुकाबले पहले वह क्या था। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक बार जब कि सत्तामें कोई सच्चा परिवर्तन होता है, प्रत्येक बार जब मनुष्य किसी दोषको अतिक्रम करता है, मनुष्यको उन वस्तुओंकी समूची राशि-

समवायका सुस्पष्ट दर्शन होता है जो बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होती थीं और जो अब काले दागकी तरह पर्देपर से गुजरती हैं; तुम उनके मूलस्रोत, उनके कारणों और परिणामोंको देखते हो। यदि तुम्हें एकदम निश्चित, ठीक-ठीक स्मृति-शक्ति प्राप्त हो और तुमने एक लंबे समयतक, मान लो दस वर्षोंतक, अपने-आपको रूपांतरित करनेका, अधिकाधिक एकाग्र होनेका सच्चा प्रयास किया हो, और यदि तुम यह याद कर सको कि पहले तुम क्या थे तो तुम कहोगे, "यह संभव नहीं है, मैं ऐसा नहीं था!" फिर भी तुम निस्संदेह वैसे ही थे। मनुष्य जो कुछ पहले था, पहले जो कुछ उसे एकदम स्वाभाविक प्रतीत होता था उसमें और जो कुछ अब उसे स्वाभाविक प्रतीत होता है उसमें इतना अधिक अंतर होता है कि उसे यह विश्वास ही नहीं हो पाता कि वह वही व्यक्ति था। यह सबसे सुनिश्चित लक्षण है कि तुमने वास्तवमें प्रगति की है।

हम कब यह कह सकते हैं कि हम वास्तवमें आध्यात्मिक पथमें प्रविष्ट हो चुके हैं?

इसका पहला लक्षण (प्रत्येक आदमीके लिये एक ही बात नहीं कही जा सकती), मैं समझती हूं, समय क्रमानुसार, यह है कि अन्य प्रत्येक चीज तुम्हें एकदम महत्त्वहीन प्रतीत होती है। तुम्हारा समूचा जीवन, तुम्हारे सभी क्रिया-कलाप, तुम्हारी समस्त गतिविधियां जारी रहती हैं यदि परिस्थितियां वैसी रहती हैं, परंतु वे सब तुम्हें अब एकदम महत्त्वहीन प्रतीत होती हैं; अब यही सब तुम्हारे जीवनका सच्चा तात्पर्य नहीं रह जाता। मैं समझती हूं, यही पहला लक्षण है।

फिर दूसरा लक्षण भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, तुम्हें यह भान हो सकता है कि प्रत्येक चीज बदली हुई है, तुम अब भिन्न रूपमें जीवन बिता रहे हो, तुम्हारे मनमें एक ज्योति है जो पहले नहीं थी, तुम्हारे हृदयमें एक शांति है जो वहां पहले नहीं थी। इससे कुछ परिवर्तन आता तो है पर सामान्यतया सुनिश्चित परिवर्तन कुछ दिन बाद आता है, बहुत विरल प्रसंगोंमें आरंभमें आता है; आरंभमें जब मनुष्य आध्यात्मिक जीवन ग्रहण करनेका निर्णय करता है तो चेतनामें एक प्रकारका परिवर्तन आनेके समय बस एक झलक मिलती है। कभी-कभी इसका आरंभ इस तरह होता है: तुम्हारे अंदर एक बड़ी-सी जगमगाहट, एक महान् हर्ष प्रवेश कर जाता है; परंतु साधारणतया उसके बाद वह पीछेकी ओर चला जाता है; क्योंकि बहुत सारी अपूर्णताएं अभी तुम्हारे अंदर विद्यमान होती हैं...।

वह कोई ऊब नहीं होती, तिरस्कारका भाव नहीं होता, पर प्रत्येक चीज तुम्हें इतनी कम दिलचस्प मालूम होती है कि उसमें संलग्न रहनेका कष्ट उठाना वास्तवमें उचित नहीं प्रतीत होता। उदाहरणार्थ, जब तुम किन्हीं भौतिक परिस्थितियोंके बीच होते हो चाहे वे सुखदायी हों या दुःखदायी (दोनों छोर मिलते हैं), तो तुम अपने-आपसे कहते हो, "ओह, यह सब मेरे लिये कितना महत्त्वपूर्ण था! पर अब इसका बिलकुल ही कोई मूल्य नहीं!" तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम सचमुच मुड़कर दूसरे छोरपर चले गये हो।

कुछ लोगोंका ख्याल है कि आध्यात्मिक जीवनका चिह्न है एक कोनेमें चुपचाप बैठ जाना और ध्यान करना! यह बहुत, बहुत अधिक प्रचलित धारणा है। मैं कठोर होना नहीं चाहती, परंतु जो लोग ध्यान करनेकी अपनी क्षमताके विषयमें गर्व करते हैं, उनमेंसे, मैं नहीं समझती कि, अधिकांश व्यक्ति एक घंटेमें एक मिनट भी ध्यान करते हैं। जो लोग सचमुच ध्यान करते हैं वे उसके विषयमें कभी गर्व नहीं करते; उनके लिये यह एक बिलकुल स्वाभाविक चीज होती है। जब यह एक स्वाभाविक चीज बन जाती है और उसमें गौरव अनुभव करनेका कुछ नहीं रहता, तुम अपने-आपसे कह सकते हो कि तुम प्रगति कर रहे हो। जो लोग इस विषयमें बहुत बातें करते हैं और समझते हैं कि यह चीज उन्हें बाकी मनुष्योंके मुकाबले एक प्रकारका बड़प्पन प्रदान करती है, उनके विषयमें तुम निश्चित रूपसे यह मान सकते हो कि वे अपना अधिकांश समय पूर्ण जड़ताकी स्थितिमें बिताते हैं।

ध्यान करना बड़ा कठिन है। ध्यान कई प्रकारके हैं.....। तुम एक विचारको ले सकते हो और एक विशेष परिणामपर पहुंचनेके लिये उसका अनुसरण कर सकते हो — यह एक प्रकारका सक्रिय ध्यान है; जो लोग कोई समस्या सुलझानेका प्रयास करते हैं या जो लोग लिखना चाहते हैं वे यह जाने बिना कि वे ध्यान कर रहे हैं, इस प्रकार ध्यान करते हैं। दूसरे, बैठ जाते और किसी चीजपर एकाग्र होनेका प्रयत्न करते हैं, वे किसी विचारका अनुगमन नहीं करते; वे बस एक बिंदुपर एकाग्र होनेका प्रयास करते हैं जिसमें कि उनकी एकाग्रताकी शक्ति घनीभूत हो उठे। और तब वही घटित होता है जो साधारणतया एक बिंदुपर एकाग्र होनेपर घटित होता है: यदि तुम एक बिंदुपर — वह चाहे मानसिक, प्राणिक या भौतिक हो — अपनी एकाग्रताकी क्षमताको पर्याप्त रूपमें एकत्र करनेमें सफलता पा लेते हो तो एक विशेष मुहूर्त्तमें तुम आगे बढ़ जाते और एक दूसरी चेतनामें प्रवेश कर जाते हो। फिर दूसरे लोग अपने मस्तक-

मेंसे सारी क्रियाओं, विचारों, प्रक्षेपों, प्रतिक्रियाओंको निकाल बाहर करनेकी चेष्टा करते हैं और एक प्रकारकी यथार्थ रूपमें निश्चल-नीरव प्रशांतिको प्राप्त करते हैं। यह अत्यंत कठिन कार्य है। कुछ लोगोंने २५ वर्षोंतक इसका प्रयास किया पर वे सफल नहीं हुए। क्योंकि यह काम कुछ-कुछ वैसा ही है जैसा कि किसी सांडको सींगोंसे पकड़ना।

एक दूसरे प्रकारका ध्यान है जिसमें मनुष्य जहांतक संभव होता है, शांत-स्थिर होता है, परंतु सभी विचारोंको बंद कर देनेका प्रयास नहीं करता, क्योंकि कुछ विचार ऐसे होते हैं जो शुद्ध रूपमें यंत्रवत् होते हैं और यदि तुम उन्हें बंद करनेकी कोशिश करो तो उसमें तुम्हें वर्षों लग जायेंगे और फिर भी इस व्यापारमें तुम फलके विषयमें निस्संदिग्ध नहीं हो सकते। उसके स्थानमें तुम अपनी समूची चेतनाको एक साथ एकत्र कर लेते हो और जितना संभव होता है उतना स्थिर और शांत बने रहते हो; तुम बाहरी चीजोंसे इस तरह अपनेको पृथक् कर लेते हो मानों उनमें तुम्हें बिलकुल रस नहीं मिलता, और एकाएक तुम अभीप्साकी उस लौको उद्दीप्त कर लेते हो और जो कुछ तुम्हारे पास आता है उसको उसमें झोंक देते हो ताकि वह लौ अधिक और अधिक, अधिक और अधिक ऊपर उठे; तुम उसके साथ एकात्म हो जाते हो और अपनी चेतना और अभीप्सा-के चरम शिखरतक ऊपर चले जाते हो,— उस समय अन्य किसी चीजका विचार नहीं करते — महज एक अभीप्सा होती है जो ऊपर उठती है, ऊपर ही ऊपर उठती चली जाती है, परिणामका एक क्षण भी विचार नहीं आता, क्या होगा और विशेष रूपसे, क्या नहीं होगा, इसका जरा भी विचार नहीं रहता और सबसे ऊपर, तुम्हारे लिये कोई चीज घटित हो इसकी इच्छा रखनेका विचार भी नहीं होता — बस होता है उस अभीप्साका आनंद जो ऊपर उठती है, ऊपर ही ऊपर उठती जाती है, अधिकाधिक तीव्र होती हुई एक सतत एकाग्रतामें बदल जाती है। और तब, मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि, सबसे उत्तम बात जो घटित हो सकती है वही घटित होती है। कहनेका तात्पर्य, उस समय, जब तुम इसे करते हो तब, तुम्हारे अंदरकी अधिक-से-अधिक संभावनाएं ही चरितार्थ होती हैं। ये संभावनाएं व्यक्ति-व्यक्तिके अनुसार बहुत भिन्न प्रकारकी हो सकती हैं। परंतु उस समय निश्चल-नीरव होने, बाह्य रूपोंके पीछे जाने, उत्तर देनेवाली शक्तिको पुकारने, अपने प्रश्नोंके उत्तरकी प्रतीक्षा करने आदिकी चेष्टा करनेकी सारी चिंता मिथ्या कुहासेकी तरह विलीन हो जाती है। और यदि इस लौके अंदर, ऊपर उठनेवाली अभीप्साके इस स्तंभके अंदर सचेतन रूपसे रहनेमें तुम सफल होओ तो देखोगे कि यद्यपि तुम्हें तुरत

कोई परिणाम नहीं प्राप्त होता, तो भी कुछ समय बाद कुछ-न-कुछ तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा।

जो ध्यान हम लोग यहां[1] एक साथ करते हैं उसमें हमें किस वस्तुपर एकाग्र होना चाहिये?

क्या कोई आदमी मुझे बता सकता है कि यह एकाग्रता क्या चीज है और हम क्यों इसे करते हैं? यह बड़ा ही मजेदार प्रश्न है, इसका संबंध प्रत्येक व्यक्तिसे है। क्या कोई व्यक्ति मुझे बतला सकता है कि इस एकाग्रता और तथाकथित "साधारण" ध्यानमें क्या भेद है? हम क्यों इसका अभ्यास करते हैं और इससे क्या होता है?

हम अपने सभी दैनिक कार्योंको पूजाके रूपमें अर्पित करते हैं।

हां, यह व्यक्तिगत पक्ष है। और समष्टिगत रूपसे यह एकाग्रता किसलिये की जाती है? (वह रास्तेपर है, ध्यान दो, उसने पहला पग आधा ले लिया है।)

हम अपने दुर्बल बिंदुओंपर एकाग्र होते हैं और उनके विलीन हो जानेके लिये अभीप्सा करते हैं।

यह भी एक व्यक्तिगत पक्ष है।

जो ध्यान हम लोग पहले वहां (आश्रममें) किया करते थे, जो कि सबेरे होता था या शामको, उसमें मेरा काम था सबकी चेतनाको एकत्र कर देना और उसे भगवान्‌की ओर यथासंभव अधिक-से-अधिक ऊंचाईतक उठा देना। जो लोग इस क्रियाको अनुभव करनेमें समर्थ थे वे उसका अनुसरण करते थे। यह साधारण ध्यान होता था जिसमें एक अभीप्सा होती थी तथा भगवान्‌की ओर आरोहण होता था। यहां, खेलके मैदानमें, मेरा काम है उन सब लोगोंको जो यहां हैं, युक्त कर देना, उन्हें उद्‌घाटित कर देना

---

[1]बहुत दिनोंतक ध्यान आश्रमके मुख्य भवनमें हुआ करता था। फिर, जैसे-जैसे शिष्योंकी संख्या बढ़ती गयी और खेल-कूदोंका महत्त्व बढ़ता गया, ध्यानका स्थान बदल गया और आश्रमके खेलके मैदानमें सामूहिक "एकाग्रता" का अभ्यास होने लगा।

तथा उनके अंदर दिव्य शक्तिको उतार लाना। यह उल्टी क्रिया है और यही कारण है कि यह एकाग्रता उस ध्यानका स्थान नहीं ले सकती, ठीक वैसे ही जैसे कि वह ध्यान इस एकाग्रताका स्थान नहीं ले सकता। यहां जो कुछ घटित होता है वह असामान्य बात है — दूसरे ध्यानमें (जो आश्रम-में होता था), वहां जो लोग होते थे मैं उन सबकी चेतनाको एक साथ एकत्र कर लेती थी और अभीप्साकी शक्तिके द्वारा उसे भगवान्‌की ओर ऊपर उठा देती थी, अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिको थोड़ी प्रगति करा देती थी। दूसरी ओर यहां, तुम जैसे हो उसी रूपमें मैं तुम्हें लेती हूं; तुममेंसे प्रत्येक व्यक्ति यह कहते हुए आता है, "हम यहां अपने समूचे दिनके क्रिया-कलापों-के साथ उपस्थित हैं; हम अपने शरीरके साथ व्यस्त रहे हैं, यह रहा वह शरीर, हम अपनी सभी गतिविधियोंको, जैसी कि ये हैं, अपने-आपको जैसे कि हम हैं, आपको अर्पित कर रहे हैं।" और मेरा काम है उस सबको एकत्र कर देना, उसे एक सजातीय स्तूपमें बदल देना और इस आत्मार्पणके उत्तरमें (जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी ढंगसे कर सकता है) प्रत्येक चेतनाको खोल देना, ग्रहणशक्तिको बढ़ा देना, इस ग्रहणशीलताकी एक इकाई बना देना और 'शक्ति'को उतार लाना। अतएव उस समय तुममेंसे प्रत्येक व्यक्ति, यदि वह बहुत अचंचल और एकाग्र हो तो, अवश्य कोई-न-कोई वस्तु ग्रहण करेगा। तुम सर्वदा इस विषयमें सज्ञान नहीं रहोगे, फिर भी तुम कोई-न-कोई चीज ग्रहण करोगे।

मार्च १९६४ में श्रीमाताजीसे निम्नलिखित
प्रश्न पूछा गया था।

और अब, जब कि भौतिक रूपमें आप खेलके मैदानमें की जाने-वाली एकाग्रतामें उपस्थित नहीं रहतीं, क्या घटित होता है?

मैं आशा करती हूं कि लोगोंने कुछ प्रगति कर ली है और 'साहाय्य' और 'शक्ति' को अनुभव करनेके लिये उन्हें भौतिक उपस्थितिकी आवश्यकता नहीं है।

१५ फरवरी, १९५१

श्रीमाताजी २१ अप्रैल, १९२९ के वार्त्तालापका "स्वप्नों और सूक्ष्म-दर्शनों" संबंधी प्रारंभिक अंश पढ़ती हैं !

बहुधा मैं रेलगाड़ियोंके विषयमें स्वप्न देखता हूं । अधिकांश समय मेरी गाड़ी छूट जाती है....।

यह बिलकुल प्रतीकात्मक है।

....क्योंकि मेरे पास सामान बहुत अधिक होता है। उसके लिये दौड़-धूपमें लगा रहता हूं, फिर भी कभी-कभी उसके साथ गाड़ीको पकड़ने और अंतिम डब्बेमें कूद पड़नेमें सफल होता हूं।

रेलगाड़ी, जहाज और मैं समझती हूं कि वायुयान भी योग करनेवालोंके लिये मार्गके तथा उन्हें ले चलनेवाली 'दिव्य-शक्ति'के प्रतीक हैं — यदि तुम समय खो दो या तुम्हारे पास बहुत अधिक सामान हो अथवा यदि तुम बहुत देरसे इसकी बात सोचो तो तुम निश्चय ही रास्ता खो देते हो और उसे पकड़नेके लिये तुम्हें बहुत जोरसे दौड़ना होगा।

ऐसे बहुत सारे स्वप्न हैं जो उस स्थितिका जिसमें तुम होते हो, बड़ा ही सटीक संकेत प्रदान करते हैं।

जब मैं कलकत्तेमें था तब मैंने स्वप्न देखा कि सफेद कपड़े पहने हुए कोई व्यक्ति मेरे बिछौनेके पास आया, उसके हाथमें वही फूल था जिसे आपने "नवीन सृष्टि" (गुलशबी नामक फूल) नाम दिया है। उस समय मुझे उस फूलका अर्थ मालूम नहीं था। यहां आनेके बाद ही मुझे यह अर्थ मालूम हुआ। जो रूप मैंने देखा वह आपसे मिलता-जुलता था।

स्वप्न बड़े मजेदार होते हैं, विशेषकर यदि कोई उनका उपयोग करना जाने।

स्वप्नरहित नींदका क्या स्वरूप होता है ?

यदि कोई मन और प्राणको नीरव बनानेमें, और शरीरको अच्छी तरह नींदमें बनाये रखनेमें सफल हो तो वह बहुत शांत और स्थिर नींद प्राप्त कर सकता है, और फिर, यदि वह इन आकारोंसे बाहर निकल जानेकी व्यवस्था कर सके और उच्चतर लोकोंमें प्रवेश कर सके तो वह सच्चिदानंदमें पहुंचकर सच्ची विश्रांति पा सकता है।

यह कैसी बात है कि मनुष्य स्वप्नोंमें ऐसे व्यक्तियोंसे मिलता और परिचित होता है जिनसे वह बादमें साधारण जीवनमें मिलता और परिचित होता है?

इस संबंधमें बहुत-सी संभावनाएं हैं। परंतु अधिकांश समय यह होता है कि चाहे मानसिक लोकमें या प्राणिक लोकमें अथवा यहांतक कि सूक्ष्म-भौतिक लोकमें एक संपर्क स्थापित हो गया होता है और यही संपर्क बादमें मिलन कराता है — तुम्हारा स्वप्न महज कोई पूर्वसूचना नहीं होता बल्कि एक अवस्थाका सूचक भी होता है; पहलेसे ही एक आंतरिक संबंध इतना घनिष्ठ हो चुका है कि वह तुम्हें नींदमें संपर्क बनानेमें सहायता देता है, और परिस्थितियां इस तरह व्यवस्थित हो जाती हैं कि पीछे तुम भौतिक रूपमें भी मिलते हो। कभी-कभी स्वप्न केवल पूर्व-सूचना होता है, पर तब स्वप्न एक विशेष प्रकारका होता है — तुम देखते हो कि कोई आ रहा है और वह थोड़े दिनों बाद भौतिक रूपमें अवश्य आता है।

साधारण तौरपर यह पहलेसे ही स्थापित एक संबंध होता है; वह कोई ऐसा व्यक्ति होता है जिससे तुम मिलते हो, जिससे बार-बार मिलते हो, जिससे बातचीत करते हो, जिसके साथ रातके कुछ घंटे बिताते हो। फिर बादमें जब तुम दोनों मिलते हो तो तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम एक-दूसरेको अच्छी तरह जानते हो। यह सच बात है, तुम एक-दूसरेको पहलेसे, भौतिक रूपमें मिलनेसे पहलेसे जानते हो।

क्या झूठे सूक्ष्म-दर्शन नहीं होते?

यदि तुम ऐसी बात बताओ जिसे तुमने नहीं देखा है तो स्पष्ट ही वह एक मिथ्या दर्शन कहलायेगा! फिर, अपने दर्शनकी बात कहते समय यदि तुम उसमें कल्पनाद्वारा कुछ जोड़ दो, उसे पुनर्व्यवस्थित करो, उसे बदल दो तो वह भी मिथ्या दर्शन बन जायगा। परंतु तुम यदि पूर्ण सरलताके साथ अपनी देखी हुई चीज सुनाओ तो फिर उसमें मिथ्या होनेका क्या हो सकता

है? तुम्हारी व्याख्या मिथ्या हो सकती है — तुम कह सकते हो, "उसका अर्थ है यह" और तुम इस तरह एक बड़ी भूल कर बैठते हो, पर जो कुछ तुमने देखा है वह तुमने देखा है, और जो कुछ तुमने नहीं देखा वह तुमने नहीं देखा! यह ऐसी चीज है जो सदा ही मुझे चकित करती है! ... क्या तुमने इसे देखा है? यदि हां, तो तुमने देखा है! जो कुछ तुमने देखा है उसकी व्याख्या दूसरी बात है, पर तुमने यदि कोई चीज देखी है तो तुमने उसे देखा है!

यह प्रश्न सामान्य तौरपर उन लोगोंसे आता है जो अपनी देखी हुई चीजको थोड़ा संवारने-सुधारनेके आदी होते हैं। वे एक नन्हीं-सी चीज देखते हैं, संभवतः, एक चमकके रूपमें, और फिर इच्छासे या अनिच्छासे, जानमें या अनजानमें, चीजोंको व्यवस्थित करते हैं, थोड़ा-सा कुछ जोड़ देते हैं, उसके साथ दूसरी बात जोड़ देते हैं, वे थोड़ी-सी व्याख्या दे देते हैं, सारी चीजको सुसमंजस बना देते हैं, और जब वह एक ऐसी चीज बन जाती है जो अपने पैरोंपर खड़ी हो सके तो वे कहते हैं, "मुझे यह सूक्ष्म-दर्शन हुआ", परंतु वह बिलकुल वह दर्शन नहीं होता जिसे उन्होंने देखा था...। यह एक प्रकारकी मानसिक असच्चाई है। यह सहज-स्वाभाविक होता है — जब मन एक चीज यहां, दूसरी चीज वहां, फिर कोई तीसरी चीज कहीं और देखता है तो यह बात उसके लिये बड़ी अप्रिय होती है। वह व्यवधानोंको भर देता है, वह कहता है, "यह उस चीजतक ले जाती है," "वह इस चीजका कारण है," आदि-आदि, और मन बहुत प्रसन्न होता है क्योंकि यह न्यायसंगत है। मन सूक्ष्म-दर्शनोंके बीचके स्थानोंमें जो कुछ जोड़ता है वह संयोगवश सत्य हो सकता है, पर वह मिथ्या भी हो सकता है।

बल्कि अपने-आपसे पूछो: क्या तुम्हारा मन ऐसा है जो स्थिर-अचंचल बना रहता है, जो संपूर्णतः सच्चा और निरपेक्ष है, जो ठीक-ठीक वही चीज कहता है जिसे उसने देखा है अथवा तुम्हारा मन सक्रियतासे निरंतर उफनता हुआ मन है जो, जैसे ही कोई चीज देखता है, उसमें सहज-स्वाभाविक ढंगसे नमक-मसाला जोड़कर एक बड़ी कहानी बना लेता है; और इससे तुम्हें पूरा विश्वास हो जाता है कि तुमने वह सब देखा है, पर वास्तवमें तुमने उसे बिलकुल नहीं देखा है। ऐसी ही चीजोंके विषयमें यह कहा जा सकता है कि सूक्ष्म-दर्शन सच्चे नहीं होते। परंतु वह दर्शनका कोई दोष नहीं है! जो कुछ तुमने देखा है वह तो तुमने देखा ही है; दोष तो है उसकी व्याख्यामें अथवा महज उसके विवरणमें जिसे बढ़ा दिया गया था। मैं अद्भुत उदाहरण देख चुकी हूं! — ऐसे लोगोंके जिन्होंने वास्तवमें सत्यको प्रकाशित करनेवाली चीजें देखी थीं, परंतु जिन्होंने उनके विषयमें कुछ भी नहीं

समझा था। ठीक उसी क्षण उन्होंने जो कुछ देखा था उसका वर्णन स्वाभाविक ढंगसे सुनाया था — आधे घंटे बाद कहानी थोड़ी भिन्न बन गयी, सभी "छिद्र" भर दिये गये थे और अंतमें तो वह कहानी मजेमें अपने पैरोंपर खड़ी हो गयी! वह कहानी मूर्खतापूर्ण थी, उसका कोई अर्थ नहीं था, जब कि उनकी देखी हुई कुछ बातें अद्‌भुत प्रकारके ईश्वरीय ज्ञान थीं।

(मौन)

सूक्ष्म-दर्शनोंकी क्षमता, जब वह सच्ची और स्वाभाविक होती है, तुम्हें ऐसी घटनाओंके संपर्कमें ला देती है जिन्हें तुम अपनी बाहरी चेतनामें नहीं जान सकते....। एक बहुत ही दिलचस्प बात है, वह यह कि पार्थिव मनमें कहींपर, पार्थिव प्राणमें कहींपर सूक्ष्म-भौतिकमें कहींपर घटनेवाली प्रत्येक चीजका यथार्थ, पूर्ण, स्वाभाविक अभिलेख हमें प्राप्त होता है। यह कल्पनामें आ सकनेवाली अधिक-से-अधिक प्रबल स्मरण-शक्ति है जो कुछ भी नहीं छोड़ती, कुछ भी नहीं भूलती, सब कुछ अभिलिखित करती है। और, यदि तुम उसमें प्रवेश कर सको, तुम पीछे जा सको, आगे जा सको, और सभी दिशाओंमें जा सको, तो तुम्हें सभी चीजोंकी "स्मृति" हो सकती है — अतीतकी चीजोंकी ही नहीं, बल्कि आनेवाली चीजोंकी भी। क्योंकि प्रत्येक चीज वहां अभिलिखित है।

उदाहरणार्थ, मानसिक जगत्‌में भौतिक मनका एक ऐसा क्षेत्र है जिसका संबंध भौतिक वस्तुओंसे है और पृथ्वीपर घटित भौतिक घटनाओंकी स्मृति सुरक्षित रखता है। यह ऐसा है मानों तुम एकके बाद एक अनंत रूपसे व्यवस्थित असंख्य कमरोंके भीतर प्रवेश कर रहे हो और ये कमरे एकके ऊपर एक, एकके ऊपर एक छोटे-छोटे कबूतरखानोंसे भरे हैं और उनमें छोटे-छोटे दरवाजे हैं। अब यदि तुम कुछ जानना चाहते हो और यदि तुम सचेतन हो, तो तुम दृष्टिपात करते हो, और तुम एक नन्हें-से बिंदु — एक चमकदार बिंदुकी जैसी कोई चीज देखते हो; तुम समझते हो कि इसीको तुम जानना चाहते हो और बस तुम्हारे एकाग्र होते ही वह खुल जाता है; और जब वह खुलता है, एक प्रकारकी गोलकी हुई कोई चीज खुलती है जो अत्यंत सूक्ष्म हस्तलिपिकी जैसी होती है, परंतु तुम्हारी एकाग्रता यदि पर्याप्त बलशाली होती है तो तुम उसे पढ़ना आरंभ करते हो मानों तुम किसी किताबमेंसे पढ़ रहे हो। वहां तुम्हें अपने सारे ब्योरेके साथ समूची कहानी मिल जाती है। वहां ये छोटे-छोटे छिद्र हजारोंकी संख्यामें हैं, समझे; जब तुम वहां टहलनेके लिये जाते हो तब ऐसा लगता है मानों तुम अनंतताके अंदर टहल रहे हो। इस तरह तुम जो कुछ जानना चाहते

हो उसके विषयमें ठीक-ठीक बातें जान सकते हो। परंतु मुझे यह अवश्य तुम्हें बतला देना चाहिये कि जो कुछ तुम जानते हो वह कभी वह चीज नहीं होती जो इतिहासमें लिखी हुई होती है — इतिहास सदा ही आयोजित होते हैं; मैंने कभी कोई एक भी "ऐतिहासिक" सत्य ऐसा नहीं पाया है जो इतिहासके जैसा हो। यह बात मैं तुम्हें इतिहास पढ़नेसे हतोत्साह करनेके लिये नहीं कह रही हूं, पर वास्तविक बात ऐसी ही है। घटनाओंका जिस रूपमें विवरण मिलता है उससे भिन्न रूपमें ही वे घटित हुई होती हैं, और इसका कारण बिलकुल मामूली है। मनुष्यके मस्तिष्कमें यथार्थताके साथ घटनाओंको अभिलिखित करनेकी सामर्थ्य नहीं है; इतिहास स्मृतियोंके ऊपर गढ़े जाते हैं और स्मृतियां सदैव धुंधली होती हैं। जैसे, तुम यदि लिखित स्मृतियोंको लो तो उनका लेखक उन्हीं घटनाओंको चुनता है जिनमें उसे रुचि होती है, जो कुछ उसने देखा है, समझा है या जाना है, और वह सर्वदा समूची घटनाका केवल बहुत क्षुद्र अंश ही होता है। जब इतिहासकार वर्णन करता है तब ठीक वही चीज घटित होती है जो स्वप्नके साथ घटती है जिसमें तुम एक बातको लेते हो, फिर दूसरीको, फिर तीसरीको, और अंतमें जो कुछ घटित हुआ होता है उसका लगभग सही दर्शन तुम्हें मिल जाता है और थोड़ी-सी कल्पनाके द्वारा तुम व्यवधानोंको भर देते हो; परंतु इतिहासकार एक अविच्छिन्न कहानी कहता है; घटनाओं अथवा मुहूर्त्तोंके बीच अंतराय होते हैं जिन्हें वे यथाशक्ति उत्तम रूपमें अथवा यों कहें कि जैसे वे चाहते हैं, अपनी मानसिक, प्राणिक या अन्य अभिरुचियोंके अनुसार भर देते हैं। और उसीसे बनता है इतिहास जिसे तुम्हें पढ़ना पड़ता है! एक ही कहानी जब एक भाषामें और फिर दूसरी भाषामें, एक देशमें या दूसरे देशमें कही जाती है तो तुम कल्पना नहीं कर सकते कि वह कितनी हास्यजनक हो जाती है! यह बात विशेष रूपसे सत्य होती है यदि उनमेंसे एक देश अपने मिथ्याभिमान, अपनी प्रतिष्ठाके कारण उससे दिलचस्पी रखता हो। और अंतमें तुम्हारे सामने उपस्थित दोनों चित्र इतने भिन्न होते हैं कि तुम विश्वास करने लगते हो कि दो भिन्न बातोंकी चर्चा की जा रही है। यह बात अविश्वसनीय है। परंतु मैंने लक्ष्य किया है कि एकदम बाह्य, ठोस तथ्योंके विषयमें भी, जहां अवमूल्यनका कोई प्रश्न नहीं है फिर भी वही बात पायी जाती है। कोई मानवीय मस्तिष्क किसी चीजको पूरे रूपमें समझनेमें समर्थ नहीं होता; अत्यंत विद्वान्, अत्यंत बहुज्ञ, यहांतक कि अत्यंत सत्यनिष्ठ व्यक्ति भी किसी विषयको — और विशेषकर बहुत-से विषयोंको — संपूर्ण रूपमें नहीं देखता। वह वही कहेगा जो वह जानता है, जो वह समझता है, और जो कुछ

वह नहीं जानता वह सब, जो कुछ वह नहीं समझता वह सब वहां नहीं होता, और यह चीज संपूर्णतः प्रत्येक चीजको बदल देती है।

परंतु यदि तुम पार्थिव स्मृतिमें प्रवेश करनेकी यह क्षमता प्राप्त कर सको तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि यह चीज कष्ट उठाने योग्य है। यह योगसे एकदम भिन्न है; इसके लिये आध्यात्मिक जीवन यापन करना आवश्यक नहीं है, बस, तुममें एक विशिष्ट योग्यता अवश्य होनी चाहिये।

प्रत्येक वस्तुके लिये — मैं इसे चिरदिन तुम्हारे सामने दुहराऊंगी यदि मुझे समय हो — प्रत्येक वस्तुके लिये, मनुष्यमें पूर्ण सच्चाई अवश्य होनी चाहिये। यदि तुम सच्चे नहीं हो, तुम अपने-आपको धोखा देते हुए प्रारंभ करोगे और तुम्हारी सभी अनुभूतियां बिलकुल किसी काम-की नहीं होंगी। परंतु यदि तुम सच्चे हो और अभ्यासके द्वारा (क्योंकि यह आसान नहीं है) तुम संसारकी इस मानसिक स्मृतिमें प्रवेश करने-में सफल होओ तो तुम ऐसे आविष्कार करोगे जो वास्तवमें कष्ट उठाने-योग्य हैं।

१७ फरवरी, १९५१

श्रीमाताजी "वार्तालाप" (१९२९) के "मिथ्या सूक्ष्म-दर्शन" संबंधी परिच्छेदसे आरंभ करती हैं।

यदि सूक्ष्म-दर्शनमें प्रकट होनेवाली सत्ता वह होनेका झूठा दावा करे जो वह नहीं है तो क्या उसे मिथ्या सूक्ष्म-दर्शन कहा जायगा?

मैं नहीं समझती कि जब लोग "मिथ्या सूक्ष्म-दर्शन" की बात कहते हैं तब उनका यह मतलब होता है। वे जब कोई ऐसी चीज देखते हैं जिसके विषयमें वे विश्वास करते हैं कि उसका अस्तित्व नहीं है तब वे उसे "मिथ्या सूक्ष्म-दर्शन" कहते हैं; और उन्हें जो उत्तर मैं बरा-बर देती हूं वह यह है, "जो कुछ तुमने देखा था क्या वह उसके विषयमें है

तुमने पहले ही विचार किया था? क्या उसे देखनेका तुमने कोई प्रयास किया था? क्या वह चीज तुम्हारी कल्पनामें थी या क्या तुमने उसकी इच्छा की थी? यदि ऐसा है तो निश्चय ही वह मिथ्या है।" पर अभी जो कुछ तुम पूछ रहे हो वह अन्य चीज है। जो प्रेतात्मा वह व्यक्ति होनेका छल करते हैं जो वे वास्तवमें नहीं हैं, उनपर यदि तुम विश्वास करते हो तो इसका मतलब यह नहीं है कि तुम्हारा सूक्ष्म-दर्शन मिथ्या है, बल्कि यह है कि तुम्हारे सूक्ष्म-दर्शनकी व्याख्या झूठी है, तुममें वह आवश्यक विवेक नहीं है कि तुम उस धोखेको समझ सको। दीर्घकालतक मेरे साथ कुछ ऐसे लोग थे जो कहा करते थे कि उन्होंने मुझे देखा था (बिलकुल अनुपयुक्त परिणामोंके साथ मुझे देखा था; सभी प्रकारकी विपज्जनक बातें उनके साथ घटित हुईं); वास्तवमें कुछ ऐसी शक्तियां थीं जिन्होंने उन्हें यह विश्वास दिलानेकी कोशिश की कि वह मैं ही हूं। इस मजाकको समाप्त कर देनेके लिये मैंने उन्हें एक बहुत सरल उपाय बता दिया।

इसके अलावा कुछ और बात भी है: मुझे पुकारा जाता है और मैं उत्तर देती हूं; परंतु लोग बादमें जो कुछ देखते हैं, वह लगभग सर्वदा ही उनकी अपनी मानसिक रचनाका फल होता है। वे मुझसे कोई खास काम कराना चाहते हैं और वही चीज घटित होती है। मैं इसकी जांच करती हूं, जब वे आते हैं और मुझसे कहते हैं, "आज रातको आप आयी थीं"; सच पूछो तो उन्होंने मुझे पुकारा था और मैं वहां गयी थी, पर जो कुछ वास्तवमें हुआ था उसको उससे मिलाती हूं जो कुछ उन्होंने देखा था, तो अक्सर दोनोंमें बहुत बड़ा अंतर होता है, जो ठीक-ठीक उस कामनासे आता है जिसे उन्होंने अपनी देखी वस्तुके साथ मिला दिया था। तब मैं उनसे कहती हूं, "तुम्हारा सूक्ष्म-दर्शन अंशतः झूठा है; यह बात सही है कि मैं आयी थी, पर तुमने जो मुझसे कराया, उसे वास्तवमें तुमने मुझसे कराया!"

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं): "... **आवश्यक बात यह है कि तुम निष्क्रिय समर्पण न करो जिसमें तुम पत्थरकी तरह बन जाते हो, बल्कि अपनी संकल्पशक्तिको 'भागवत संकल्प-शक्ति' के हाथोंमें सौंप दो।**"

अपनी संकल्प-शक्तिको मनुष्य कैसे अर्पित कर सकता है? ... कुछ लोग, जब वे अपनी संकल्प-शक्ति अर्पित करते हैं, संकल्प करना ही छोड़ देते

हैं! यह अधिक सुविधाजनक है, पर स्पष्ट ही यह यथार्थ पद्धति नहीं है।

भला कोई मनुष्य अपनी संकल्प-शक्ति 'भगवान्'को कैसे अर्पित कर सकता है जब वह जानता ही नहीं कि भागवत 'संकल्प' क्या है? यह एक बहुत मजेदार समस्या है।

कुछ लोग यह समझते हैं कि जो कुछ बाहरसे उनके पास आता है वह दिव्य 'संकल्प' है, और वे उसे उसी रूपमें स्वीकार कर लेते हैं।

हां, दुर्भाग्यवश! परंतु वे जो कुछ करते हैं वह है समष्टिगत संकल्पको स्वीकार करना अथवा सबसे शक्तिमान्का संकल्प स्वीकार करना।

क्या मनुष्यको अपने सभी इच्छित कर्मोंको भगवान्के प्रति समर्पित नहीं कर देना चाहिये? अर्थात्, सबसे पहले इच्छित कर्म करना चाहिये और फिर उन्हें अर्पित कर देना चाहिये।

संभवतः पहले तुम्हें अपनी इच्छाको नीरव बना देना चाहिये और कर्म करनेसे पहले आंतरिक वाणीकी प्रतीक्षा करनी चाहिये! यह अधिक बुद्धिमानीकी बात होगी।

अच्छा तो, हमने अपनी इच्छाको भगवान्के प्रति अर्पित करनेके कई तरीके पा लिये हैं: पहला, अब कोई इच्छा ही न करना! दूसरा, वही कार्य करना जिसे तुम्हारे सिवा सब लोग चाहते हैं! तीसरे, चाहे तुम कुछ भी चाहो और चाहे तुम कुछ भी क्यों न करो, फिर बादमें जो कुछ तुमने किया है उसे भगवान्को अर्पित कर देना!

परंतु मनुष्य अपने-आपमें अपनी इच्छाको एक रूप दे सकता और उसे अपने उच्चतर आदर्शके पर्देके सामने रखनेका प्रयास भी कर सकता है, और यह देख सकता है कि इस आदर्शके सम्मुख वह कैसी दिखायी पड़ती है, आया वह वहां सुन्दर दिखती है या नहीं। यदि वह हिलती-डुलती हो तो तुम्हें निश्चित रूपसे जानना चाहिये कि वहां कोई चीज जांच करने लायक है। दूसरी ओर, यदि वह चुपचाप किसी विरोधके बिना निकल जाय तो तुमने जो कुछ चाहा था उसे करनेका खतरा उठा सकते हो और परिणाम देख सकते हो। परंतु यहां भी हम एक बहुत कठिन समस्याके सामने उपस्थित हैं...। जो लोग एक प्रकारकी आंतरिक शांतिमें बने रहना चाहते हैं, वे कहते हैं कि जो कुछ घटित

होता है वह सब ईश्वरकी इच्छा है — यह शांत-स्थिर बने रहनेके लिये बहुत सुविधाजनक है, यह सबसे उत्तम तरीका है, इससे अधिक अच्छा कोई तरीका नहीं है; यदि कोई अधिक अच्छा तरीका है भी तो वह बहुत कठिन है। अतएव, यदि तुम्हारी इच्छाका खण्डन होता है तो तुम कहते हो कि यह ईश्वरकी इच्छा है और तुम अचंचल बने रहते हो, जो कुछ तुम कर सकते थे कर चुके फिर भी परिणाम तुम्हारी आशासे भिन्न हुआ है, पर तुम शांतिसे पूर्ण रहते हो। (ध्यान रखो कि यह चीज बहुत आसान नहीं है; वैसे इस हदतक यह है बहुत ही अच्छी, पर यही सब कुछ नहीं है)। परंतु यह भी बहुत संभव है कि तुम्हारी इच्छाका खंडन परिस्थितियोंके द्वारा हुआ हो और फिर भी वह सही हो। इस स्थितिमें समाधान बहुत अधिक कठिन होता है। पहले, यह कैसे जाना जाय कि वह सही था? ... यदि तुम बिलकुल तटस्थ, स्थिर, शांतिपूर्ण और यथासंभव कम-से-कम अहंकारपूर्ण रहते हो, और घटित घटनापर सीधे दृष्टिपात करनेपर तुम वहां एक प्रकारका अंतर्विरोध पाते हो और तुम्हारे अंदर यह भावना उठती है कि एक ज्योति चली गयी है और तुम मिथ्यात्वके सम्मुख उपस्थित हो, तो यद्यपि तुम बिलकुल शांत बने रहते हो पर यह देख और समझ लेते हो कि किसी अज्ञात कारणसे तुम्हारी इच्छा खंडित हो गयी है, यद्यपि अपने-आपमें वह मिथ्या नहीं थी, और भी कम थी — और, फलस्वरूप, यदि यह सत्य उस क्षण संसिद्ध हो गया होता तो उसने एक विशेष समूह और बहुत-सी चीजोंको स्थानच्युत कर दिया होता जो सब चीजें भागवत 'कर्म'का अंग होती हैं (क्योंकि वास्तवमें देखा जाय तो प्रत्येक चीज दिव्य 'कर्म'का, संपूर्ण सृष्टिका, संपूर्ण विश्वका एक अंग होती है): संपूर्णका एक भाग पीछे छूट गया होता।

लोग बराबर पूछते हैं, "परंतु भगवान् यदि सर्वशक्तिमान् हैं, तो इसका क्या कारण है कि परिस्थितियां अभीतक परिवर्तित नहीं हुई हैं?" बस, यही कारण है।

और इस बातपर ध्यान दो कि तुम्हारी यह भावना कि क्या होना चाहिये जो होगा उससे इतना अनंततः भिन्न है कि, इसी तथ्यके कारण, यदि तुम अत्यंत संभवनीय पूर्ण ढंगसे भी देखनेकी कोशिश करो तो भी तुम विश्वका इतना विशाल अंश पीछे छोड़ दोगे कि तुम्हारी उपलब्धि लगभग सीधी रेखा जैसी उपलब्धि होगी, और हर हालतमें, इतनी छोटी, इतनी संकीर्ण होगी कि विश्वका महत्तर भाग अपरिवर्तित रह जायगा। और यदि तुम्हें संपूर्णको देखनेकी बहुत विशाल दृष्टि भी हो, यदि तुम किसी

अधिक पूर्ण वस्तुकी भी कल्पना कर सको और जो पथ तैयार है उसपर — क्योंकि जैसे सत्ताओंका साथ होता है वैसे ही पथोंके विषयमें भी होता है, कुछ तैयार होते हैं — आगे बढ़ सको और तुम्हें दूसरोंके लिये प्रतीक्षा करनेका धैर्य न हो, अर्थात्, यदि तुम ऐसी चीज संसिद्ध करना चाहो जो संसारकी वर्तमान स्थितिके मुकाबले यथार्थ 'सत्य'के बहुत निकट हो तो क्या घटित होगा? एक सुनिश्चित एकतामें अव्यवस्था पैदा हो जायगी, और न केवल सामंजस्य बल्कि संतुलन भी भंग हो जायगा, क्योंकि सृष्टिका एक समूचा भाग ही ऐसा रह जायगा जो अनुसरण नहीं कर सकेगा। और भगवान्‌की पूर्ण उपलब्धिके स्थानमें तुम्हें एक क्षुद्र, स्थानिक, अत्यल्प उपलब्धि होगी, और अंतमें जो कुछ संपन्न होना चाहिये उसका कुछ भी अंश संपन्न नहीं होगा।

परिणामतः, जो सत्य तुमने देखा है वह यदि तुरंत संसिद्ध न हो तो तुम्हें अधीर नहीं होना चाहिये, निराश, अवसन्न, निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। स्वभावतः ही, यदि तुमसे कोई भूल हो जाय तो हृदयके टूट जाने या दुःखी होने या निराश होनेका कोई प्रश्न नहीं है, क्योंकि प्रत्येक भूल सुधारी जा सकती है; जिस क्षण तुमने यह जान लिया कि यह भूल है, उसी क्षणसे अपने अंदर कार्य करनेका, प्रगति करने और बहुत प्रसन्न होनेका सुअवसर प्राप्त है! परंतु वह स्थिति अत्यधिक गभीर और जीतनेमें अत्यधिक कठिन होती है जब कि तुम कोई सच्ची, पूर्णतः, मूलतः सच्ची वस्तु देख लेते हो, और विश्वकी अवस्था ऐसी होती है कि वह सत्य अभी अपनी संसिद्धिके लिये परिपक्व नहीं होता। मैं यह नहीं कहती कि ऐसा बहुत लोगोंके साथ घटित होता है, पर शायद यह तुम्हारे साथ घटित हो, और उस समय तुम्हें महान् धैर्य रखना होगा, बड़ी समझदारीसे काम लेना होगा और अपने-आपसे कहना होगा, "यह सत्य तो था, पर यह पूर्ण रूपसे सत्य नहीं था," अर्थात्, यह अन्य सभी सत्योंके साथ सुसमंजस सत्य नहीं था और सबसे बढ़कर, इसका वर्तमान संभावनाओंके साथ मेल नहीं था; सो, हमने इसे बहुत शीघ्र संसिद्ध करनेकी कोशिश की थी, और चूंकि हमने अत्यंत शीघ्र कोशिश की, इसीलिये यह सिद्ध नहीं हो सका। परंतु यह मत कहो कि वह मिथ्या था, क्योंकि वह सिद्ध नहीं हुआ; बस, यह कहो कि उसका अभी समय नहीं आया था, तुम बस यही कह सकते हो — तुमने जो देखा था वह ठीक था, लेकिन उसका समय नहीं हुआ था। और फिर, बहुत धैर्य और लगनके साथ, तुम्हें अपने छोटे-से सत्यको उस समयतक सुरक्षित रखना चाहिये जब उसे संसिद्ध करना संभव होगा।

अंतिम विजय उसे ही मिलती है जो अत्यंत धैर्यवान् होता है।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं) : "....तुम कहते हो, 'मैं अपना संकल्प भगवान्‌को देता हूं....। 'भागवत संकल्प' उसे मेरे लिये क्रियान्वित करे।' तुम्हारे संकल्पको भी अनवरत कार्य जारी रखना होगा, किसी विशेष कर्मका चुनाव करते हुए अथवा किसी विशेष वस्तुकी मांग करते हुए नहीं, बल्कि एक ऐसी तीव्र अभीप्साके रूपमें जो प्राप्तव्य लक्ष्यपर केंद्रित हो।"

और बस यहीं हमें समस्याका समाधान मिलता है। तुम प्रत्येक मुहूर्त्त अपने संकल्पको एक अभीप्साके रूपमें अर्पित करते हो जो बहुत सरल ढंगसे, ठीक यह नहीं कि "हे प्रभु! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो," बल्कि यह रूप लेती है कि "ऐसी कृपा कर कि मैं यथासंभव अच्छे-से-अच्छे रूपमें उस चीजको संपन्न करूं जो सर्वोत्तम हो।"

हो सकता है कि तुम्हें प्रत्येक क्षण यह मालूम न हो कि सर्वोत्तम वस्तु क्या है और उसे कैसे करना चाहिये, पर तुम अपनी इच्छाको भगवान्‌के हाथोंमें सौंप सकते हो जिसमें कि सर्वोत्तम संभवनीय, सर्वोत्तम संभाव्य वस्तु संपन्न हो सके। तुम देखोगे कि इसके अद्‌भुत परिणाम होंगे। तुम चेतनता, सच्चाई और लगनके साथ इसे करो, और तुम अपनेको विराट् पगोंसे आगे बढ़ते हुए पाओगे। यह ऐसी ही बात है, है न? मनुष्यको अपनी आत्माके समस्त आवेगके साथ, अपने संकल्पके समस्त बल-सामर्थ्यके साथ कार्य करना चाहिये; प्रत्येक मुहूर्त्त अधिक-से-अधिक संभव, अधिक-से-अधिक संभव कार्य करो। दूसरे लोग जो कुछ करते हैं उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं — यह ऐसी चीज है जिसे मैं चाहे जितनी बार दुहराऊं कम ही रहेगी।

कभी मत कहो कि "फलां आदमी यह नहीं करता," "फलां आदमी तो कुछ और ही चीज करता है," "लोग तो वही करते हैं जो हमें नहीं करना चाहिये" — इन सब बातोंसे तुम्हारा कोई मतलब नहीं। तुम इस पृथ्वीपर, एक भौतिक शरीरमें, एक सुनिश्चित उद्देश्यसे लाये गये हो और वह उद्देश्य है इस शरीरको जितना संभव हो उतना सचेतन बनाना, इसे भगवान्‌का अत्यंत पूर्ण और अत्यंत सचेतन यंत्र बनाना। भगवान्‌ने तुम्हें चेतनाके सभी क्षेत्रोंमें — मानसिक, प्राणिक और भौतिक क्षेत्रमें — वह तुमसे जो कुछ आशा करते हैं उसके अनुपातमें योग्यता और साधनकी एक विशेष मात्रा प्रदान की है, और वह जो कुछ तुमसे आशा रखते हैं उसीके अनुपात-

मैं तुम्हारे चारों ओरकी समस्त परिस्थितियां भी व्यवस्थित हैं, और जो लोग तुमसे यह कहते हैं, "मेरा जीवन भयावह है, मैं संसारमें अत्यंत दयनीय जीवन यापन करता हूं," वे मूढ़मति हैं! प्रत्येक व्यक्तिका जीवन ऐसा है जो उसके सर्वांगपूर्ण विकासके उपयुक्त है, प्रत्येक व्यक्तिको ऐसे अनुभव प्राप्त हैं जो उसे उसके सर्वांगपूर्ण विकासमें सहायता देते हैं, और प्रत्येक व्यक्तिके सम्मुख जो कठिनाइयां हैं वे भी ऐसी हैं जो उसे उसकी पूर्ण उपलब्धिमें सहायता देती हैं।

यदि तुम अपनी ओर सावधानीके साथ दृष्टिपात करो तो देखोगे कि तुम सर्वदा ही अपने अंदर उस क्षमताके विपरीत वस्तुको वहन करते हो जो तुम्हें उपलब्ध करनी है (यहां मैं "क्षमता" शब्दका व्यवहार उसके विशालतम और उच्चतम अर्थमें कर रही हूं)। तुम्हारा एक विशेष लक्ष्य है, एक विशेष मिशन है, एक विशेष उपलब्धि है जो तुम्हारी एकदम अपनी है, प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत रूपसे ऐसा ही है, और तुम अपने अंदर अपनी उपलब्धिको पूर्ण बनानेके लिये आवश्यक सभी कठिनाइयोंको वहन करते हो। सर्वदा ही तुम यह देखोगे कि तुम्हारे अंदर अंधकार और प्रकाश समान-समान हैं: तुममें एक योग्यता है, तुममें उस योग्यताका अभाव भी है। परंतु तुम यदि अपने अंदर एक बहुत काला छिद्र, बहुत घना अंधकार देखो तो यह निश्चित रूपसे जानो कि तुम्हारे अंदर कहींपर एक महान् प्रकाश भी है। अब यह तुम्हारा काम है कि तुम यह जानो कि एकका उपयोग दूसरेकी संसिद्धिके लिये किस प्रकार किया जाय।

यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी चर्चा कम ही होती है, पर जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। और तुम यदि सावधानीपूर्वक निरीक्षण करो तो तुम देखोगे कि प्रत्येक व्यक्तिके साथ सर्वदा यही बात होती है। यह चीज हमें उन वक्तव्योंकी ओर ले जाती है जो विरोधाभासपूर्ण होते हैं पर होते हैं एकदम सत्य; उदाहरणार्थ, बड़े-से-बड़ा चोर बड़े-से-बड़ा ईमानदार आदमी हो सकता है (यह बात, निस्संदेह, तुम्हें चोरी करनेका प्रोत्साहन देनेके लिये नहीं कही जा रही है!) और बड़े-से-बड़ा झूठा अत्यंत सत्यवादी व्यक्ति बन सकता है। अतएव, तुम यदि अपने अंदर बहुत बड़ी दुर्बलता देखो तो भी हताश मत होओ, क्योंकि संभवतः वह महत्तम दिव्य शक्तिका ही चिह्न हो। यह न कहो कि "मैं ऐसा हूं, अन्य प्रकारका नहीं बन सकता।" यह सच नहीं है। तुम ऐसे इसलिये हो क्योंकि, निश्चित रूपमें, तुम्हें उसके विपरीत बनना होगा। और तुम्हारी सभी कठिनाइयां ठीक इसलिये हैं कि तुम उन्हें वे जिन सत्योंको छिपाये हुए हैं, उनमें रूपांतरित कर सको।

एक बार जब तुम यह बात समझ जाते हो तो तुम्हारी बहुत सारी दुश्चिंताएं समाप्त हो जाती हैं और तुम बहुत सुखी, बहुत ही सुखी हो जाते हो। जब मनुष्य देखता है कि उसमें कोई बहुत काला छिद्र है तो वह कहता है, "यह सूचित करता है कि मैं बहुत ऊंचा उठ सकता हूं," यदि गर्त्त बहुत गहरा है तो "मैं बड़ी ऊंचाईतक ऊपर चढ़ सकता हूं।" यही बात विश्वव्यापी दृष्टिसे भी सही है; यदि तुम लोगोंके लिये इतनी सुपरिचित हिंदू परिभाषाका प्रयोग किया जाय तो कहा जा सकता है कि सबसे बड़े असुर ही सबसे बड़े देवता ('ज्योति'की सबसे बड़ी सत्ताएं) हैं। और जिस दिन ये असुर रूपांतरित हो जायेंगे, वे सृष्टिकी सर्वोच्च सत्ताएं बन जायेंगे। यह बात तुम्हें "आसुरिक" बननेका प्रोत्साहन देनेके लिये नहीं कही जा रही है, समझे न, बल्कि बात ऐसी ही है — यह चीज तुम्हारे मनोंको थोड़ा विस्तारित करेगी और तुम्हें भले और बुरेकी उन विरोधी भावनाओंसे मुक्त होनेमें सहायता करेगी, क्योंकि यदि तुम उसी श्रेणीमें निवास करो तो तुम्हारे लिये कोई आशा नहीं है।

यदि संसार अपने मूल रूपमें उससे विपरीत न होता जैसा कि वह बन गया है तो फिर कोई आशा न रह जाती। क्योंकि छिद्र इतना काला और इतना गहरा है, और अचेतनता इतनी पूर्ण है कि यदि यह संपूर्ण चैतन्यका चिह्न न होता तो फिर और कुछ करनेको न रह जाता, बस हमें अपनी गठरी बांधकर यहांसे रवाना ही हो जाना होता। शंकर सदृश लोगोंने, जिन्होंने अपनी नाककी नोकसे बहुत अधिक दूरतक नहीं देखा, उन्होंने यह कहा कि संसारमें रहनेका कष्ट उठाना किसी कामका नहीं है, क्योंकि यह एकदम असंभव है, यह कहीं अधिक अच्छा है कि एक माया समझकर इसके साथ व्यवहार किया जाय और यहांसे निकल जाया जाय, इसके साथ कुछ भी नहीं किया जा सकता। परंतु, इसके विपरीत, मैं तुमसे कहती हूं कि चूंकि यह जगत् बहुत बुरा, बहुत अंधकारपूर्ण, बहुत कुत्सित, बहुत अचेतन, दुःख-कष्ट और विपदाओंसे भरा है इसी कारण यह सर्वोच्च 'सौंदर्य', परम 'ज्योति', परात्पर 'चैतन्य' और 'परमानंद' बन सकता है।

> **"....यदि तुम जाग्रत् रहो, यदि तुम्हारा ध्यान सजग हो, तो तुम निश्चय ही इस बातका अंतर्ज्ञान प्राप्त करोगे कि क्या करना चाहिये, और तुम्हें तुरत करना प्रारंभ कर देना चाहिये।"**

ठीक कुछ क्षण पहले मैंने जब तुमसे कहा था कि तुम्हें सर्वोत्तम संभव-

नीय करनेके, प्रत्येक मुहूर्त्त यथासंभव सर्वोत्तम वस्तु करनेके पूरे उत्साहके साथ अभीप्सा करनी चाहिये तो तुम मुझसे पूछ सकते थे, "यह सब तो बहुत ठीक है। परंतु इसे कैसे जाना जाय?" हां, इसे जानना आवश्यक नहीं है! यदि तुम सच्चाईके साथ यह मनोभाव ग्रहण करो तो तुम्हें हर मुहूर्त्त यह मालूम होगा कि तुम्हें क्या करना चाहिये, और यही चीज है जो अत्यंत अद्‌भुत है! तुम्हारी सच्चाईके अनुपातमें, तुम्हारा अंतर्ज्ञान अधिकाधिक यथार्थ और अधिकाधिक सही होता जाता है।

> **"केवल तुम्हें याद रखना होगा कि समर्पण करनेका अर्थ है तुम्हारे कर्मका जो कुछ भी परिणाम हो उसे स्वीकार करना, यद्यपि परिणाम तुम्हारी आशासे बिलकुल भिन्न ही हुआ हो। दूसरी ओर, यदि तुम्हारा समर्पण निष्क्रिय हो तो तुम कुछ भी नहीं करोगे और कोई प्रयत्न नहीं करोगे; तुम महज सो जाओगे और किसी चमत्कारकी प्रतीक्षा करोगे।**
>
> **"यह जाननेके लिये कि तुम्हारा संकल्प या हमारी इच्छा 'भागवत संकल्प' के साथ मेल खाती है या नहीं, हमें ध्यानपूर्वक देखना चाहिये कि हमें कोई उत्तर मिलता है या नहीं मिलता, हम अपना समर्थन अनुभव करते हैं या विरोध, और वह अपने मन या प्राण या शरीरसे नहीं, बल्कि उस वस्तुसे जो सर्वदा हमारी आंतर सत्तामें, हमारे हृदयकी गहराईमें विद्यमान होती है।"**

यह सदा एक ही वस्तु होती है, यह हमारा वह पर्दा है जिसके सामनेसे हमें यह जाननेके लिये प्रत्येक चीजको गुजारना होगा कि हमसे उसे स्वीकार करने या अस्वीकार करनेके लिये कहा जा रहा है।

> **"आध्यात्मिक प्रगतिका यह कोई प्रमाण नहीं है कि तुमने ध्यानमें कितने घंटे बिताये। वास्तवमें तुम्हारी प्रगतिका प्रमाण यह है कि अब तुम्हें ध्यान करनेका कोई प्रयास ही नहीं करना पड़ता।"**

इसका मतलब यह है कि अपनी आंतरिक मशीनको निश्चल-नीरव बनानेके लिये, जिस चीजको तुम चाहते हो उसपर अपने विचारको केंद्रित करनेमें समर्थ होनेके लिये तनावपूर्ण प्रबल प्रयास करनेके स्थानपर तुम इसे एकदम सामान्य ढंगसे, स्वाभाविक भावसे, बिना किसी प्रयत्नके सहज ढंगसे

करते हो और जिस किसी कारणसे तुम ध्यान करनेका निश्चय करते हो तब उसमें जो कुछ तुम देखना या जानना या पहचानना चाहते हो वह तो तुम्हारी चेतनामें बना रहता है, बाकी सब कुछ मानों जादूकी तरह विलीन हो जाता है, तुम्हारे अंदर सब कुछ स्थिर हो जाता है, तुम्हारी सारी सत्ता नीरव बन जाती है, तुम्हारी स्नायुएं पूर्णतः शांत हो जाती हैं, तुम्हारी चेतना पूरी तरह एकाग्र हो जाती है — स्वाभाविक रूपसे, स्वयं अपने-आप — और तुम तीव्र आनंदके साथ एक और भी अधिक प्रगाढ़ ध्यानावस्थामें प्रवेश कर जाते हो।

यही इस बातका चिह्न है कि तुम सफल हुए हो, अन्यथा वह ध्यान नहीं है।

"....एक समय ऐसा आता है जब तुम्हें ध्यान बंद करनेका प्रयास करना पड़ता है; उस समय तुम्हारे लिये ध्यान बंद करना कठिन हो जाता है, भगवान्‌का चिंतन बंद करना कठिन हो जाता है, साधारण चेतनाके स्तरपर नीचे उतर आना कठिन हो जाता है।"

मैं कितना चाहती हूं कि यह बात सबके लिये सच्ची हो जाती!

तुम अत्यंत श्रमसाध्य काममें लग सकते हो, उदाहरणार्थ, 'बास्केट बॉल' खेल सकते हो, जिसमें बहुत अधिक दौड़-धूप करनेकी आवश्यकता होती है, और फिर भी तुम भगवान्‌के ऊपर अपने आंतरिक ध्यान और एकाग्रताका भाव नहीं खोओगे। और जब तुम इस स्थितिमें पहुंच जाओगे तो तुम देखोगे कि जो कुछ भी तुम करते हो वह अब एक दूसरे प्रकारका होता है, तुम केवल पहलेसे अच्छा ही नहीं करते बल्कि उसे एकदम अप्रत्याशित शक्तिके साथ करते हो, और उसके साथ ही तुम अपनी चेतनाको इतनी ऊंची और इतनी पवित्र बनाये रखते हो कि अब उसे कोई चीज छू भी न सके। और यह याद रखो कि यह अवस्था इतनी दूरतक जा सकती है कि यदि कोई दुर्घटना भी तुम्हारे साथ हो जाय तो उससे तुम्हें कोई क्षति नहीं पहुंचेगी। अवश्य ही यह परमोच्च अवस्था है, पर यह एक ऐसी परमोच्च अवस्था है जिसकी हम अभीप्सा कर सकते हैं।

तुम सर्वसामान्य लोगोंकी तरह यह विश्वास करनेकी भूल मत करो कि तुम्हें एक ऐसे एकांत नीरव कोनेमें बैठ जाना चाहिये जिधर कोई नहीं आता-जाता, जहां तुम अत्यंत उच्च स्थितिमें और एकदम अचल-अटल रहते हो जिसमें कि तुम ध्यान कर सको — यह बात सत्य नहीं है।

आवश्यक यह है कि तुम सभी परिस्थितियोंमें ध्यान करनेमें समर्थ होओ, और मैं कहती हूं कि "ध्यान करने" में समर्थ होओ, अपने मस्तकको खाली करनेमें ही नहीं, बल्कि भगवान्‌के ध्यानमें अपनेको एकाग्र कर लो; और, तुम यदि अपने अंदर इस ध्यानकी स्थितिको बनाये रखो तो जो कुछ तुम करोगे उसकी जाति ही बदल जायगी — उसका बाहरी रूप नहीं बदलेगा, क्योंकि ऊपरसे देखनेमें तो वह वही चीज रहेगी, पर उसका विशिष्ट गुण बदल जायगा। जीवनका स्वरूप बदल जायगा और तुम, तुम अनुभव करोगे कि जो कुछ तुम थे उससे कुछ भिन्न व्यक्ति हो गये हो, तुम अपने साथ एक प्रकारकी शांति, निश्चयता, आंतरिक स्थिरता, अपरिवर्तनीय शक्ति, एक ऐसी चीज अनुभव करोगे जो कभी हार नहीं मानती।

ऐसी स्थितिमें तुम्हें हानि पहुंचाना कठिन होगा — शक्तियां बराबर चेष्टा करती हैं, यह संसार ऐसी विरोधी शक्तियोंसे भरा हुआ है जो प्रत्येक चीजको उलट-पलट देनेका प्रयास करती हैं... परंतु उन्हें बहुत थोड़ी मात्रामें ही सफलता मिलती है, केवल उतनी ही मात्रामें जो नये रूपमें उन्नति करनेके लिये तुम्हारे लिये आवश्यक होता है।

जीवनमें जब-जब तुम्हें कोई आघात मिले तब-तब तुम तुरत अपने-आपसे कहो: "आह! मुझे प्रगति करनी है;" तब आघात आशीर्वाद बन जायगा। तुम अपने सिरको कंधोंके बीच झुकानेके बदले हर्षके साथ उसे ऊपर उठा लो और कहो: "वह कौन-सी चीज है जिसे मुझे अभी सीखना है? मैं यह जानना चाहता हूं। कौन-सी चीज है जिसे मुझे परिवर्तित करना है? मैं उसे जानना चाहता हूं।" बस, यही तुम्हें करना चाहिये।

यहां हम लोग जिस एकाग्रताका अभ्यास करते हैं और पहले हम लोग जो ध्यान किया करते थे, वे दोनों क्या एक ही चीज हैं?[1]

नहीं, यह बात उस दिन मैंने तुम्हें बतायी थी, अभी हम जिस एकाग्रताका अभ्यास करते हैं वह ध्यानसे उल्टी चीज है। हम लोग जो सम्मिलित ध्यान किया करते थे उसमें मैं वहां उपस्थित सभी व्यक्तियोंकी चेतनाको एकीभूत करने और उच्चतर लोकोंकी ओर उठनेवाली एक अभीप्साके साथ ऊपर उठानेका प्रयत्न करती थी; वह आरोहणकी, अभीप्साकी एक क्रिया

---

[1] पहले आश्रममें "ध्यान" हुआ करता था, पर उसके बाद उसके स्थान-पर खेलके मैदानमें "एकाग्रता" का अभ्यास होने लगा।

थी — जब कि हम एकाग्रताके अभ्यासमें जो चीज करते हैं वह अवरोहण-की एक क्रिया है। ऊपर उठती अभीप्साके बदले, यहां आवश्यकता है एक ग्रहणशीलताकी जो इसलिये खुलती है कि 'शक्ति' तुम्हारे अंदर प्रविष्ट हो सके। इसे करनेके कई तरीके हैं; प्रत्येक व्यक्तिको अपनी विशिष्ट प्रकृतिके अनुसार सर्वोत्तम विधि ढूंढ़ निकालनी चाहिये। यहां जिस चीज-की तुमसे मांग की जाती है वह है ग्रहणशील आत्मार्पण, शरीरका या मन-का या प्राणका, तुम्हारी सत्ताके एक अंशका नहीं, बल्कि तुम्हारी संपूर्ण सत्ताका अर्पण। कोई दूसरी चीज तुमसे नहीं मांगी जाती, सिवाय इसके कि तुम अपने-आपको **उद्घाटित करो**; बाकी कार्य मैं अपने हाथमें लेती हूं।

वहांके[1] ध्यानमें, मैं यह चाहती थी कि हरएक व्यक्ति अपने अंदर अभीप्साकी एक ज्योति जलाये और जितना संभव हो उतना ऊंचा उठे। स्वभावतः दोनों चीजें ही आवश्यक हैं। परंतु सुबहके ध्यानमें सद्भावना-वाले सभी लोग भाग ले सकते थे चाहे वे अपने विकासकी किसी भी अवस्थामें हों, जब कि यहां नियम यह है कि जो लोग वास्तवमें अपने भौतिक शरीरकी परिपूर्णता चाहते हैं केवल वे ही आ सकते हैं, वे लोग नहीं आ सकते जो जीवनसे भागना, स्वयं अपने-आपसे भागना, अपने शरीर-से भागना चाहते हैं जिसमें कि वे उत्तुंगताओंमें प्रवेश कर सकें। यही कारण है कि प्रारंभमें चुनाव बहुत कड़ा था — वह थोड़ा-थोड़ा प्रशस्त हो रहा है, लाभके साथ, मैं आशा करती हूं। हम केवल उन्हीं लोगोंको चाहते थे जिन्होंने अपने मस्तकमें इस बातको वास्तवमें ग्रहण कर लिया था कि वे अपने भौतिक शरीरको पूर्ण बनाना चाहते हैं, जिन्होंने यह समझ लिया था कि उनके शरीरका भी अपना निजी मूल्य है और जो उसे पूर्ण बनाना चाहते थे, जो लोग चाहते थे कि उसे एक उच्चतर सत्यका आधार बनानेका प्रयत्न किया जाय, उसे एक पुराना चीथड़ा न रहने दिया जाय जिसे लोग यह कहकर अलग फेंक देते हैं कि "मुझे परेशान मत करो!" बल्कि इसके विपरीत, इसे स्वीकार किया जाय और इसे यथासंभव सर्वोत्तम यंत्र बनाया जाय, इसे विकसित किया जाय, इसे उतना अधिक पूर्ण बनाया जाय जितना अधिक यह अपनेको पूर्ण बनाने दे।

आप जिस अभीप्साकी, जिस ध्यान-चिंतनकी बात कर रही हैं वह क्या बाह्य क्रिया-कलापोंसे असंगत नहीं है?

---

[1] पहले आश्रममें "ध्यान" हुआ करता था, पर उसके बाद उसके स्थान-पर खेलके मैदानमें "एकाग्रता" का अभ्यास होने लगा।

नहीं, यदि विरोध है तो इसका अर्थ है कि एकाग्रता समुचित ढंगसे नहीं की जाती। निस्संदेह, जगत् मिथ्यात्वकी इसी स्थितिमें है जिसमें मनुष्य अपनी बाह्य सत्ताके संपर्कको खोये बिना अपने अंदर दिव्य 'उपस्थिति'के ऊपर एकाग्र नहीं हो सकता। मैं यह नहीं कहती कि यह बहुत आसान है, मैंने इसे कुछ-कुछ सुदूरस्थित आदर्शके रूपमें ही तुम्हें दिया है, पर यह बिलकुल संभव है और इसे किया जा चुका है, इस बातका मैं तुम्हें विश्वास दिला सकती हूं, और इससे सुरक्षित रूपसे आगे बढ़नेकी क्षमतामें कोई कमी नहीं आती।

१९ फरवरी, १९५१[1]

"पार्थिव स्मृति" के अंदर सचेतन भावसे प्रवेश करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये साधना करनेकी आवश्यकता है। वह साधना क्या है?

वह साधना योगकी साधनासे बहुत अधिक कठिन है! वह एक प्रकारकी गुह्य साधना है।

सबसे पहले, मनुष्यको सचेतन रूपमें अपने शरीरसे बाहर निकलना और दूसरे अधिक सूक्ष्म शरीरमें प्रवेश करना सीखना होगा; जहां कहीं जानेकी इच्छा हो वहां जानेके लिये अपने संकल्पका व्यवहार करना, कभी भय न करना और कभी-कभी अप्रत्याशित तथा यहांतक कि भयानक चीजोंका सामना करना सीखना होगा; शांत-स्थिर बने रहना, मनकी दर्शनेंद्रियको विकसित करना, अपने मनको पूर्णतः शांत और स्थिर बने रहनेका आदी बनाना होगा....। तुम देखते ही हो, सूची कितनी लंबी है और मैं इसी तरह घंटों बताती रह सकती हूं!

तुम लोगोंमेंसे किस व्यक्तिको शरीरसे बाहर जानेका अनुभव हो चुका है — बाहर जाने और उसे जाननेका? मैं इसे इच्छापूर्वक भी करनेकी बात नहीं कह रही हूं, क्योंकि वह दूसरी अवस्था है।

---

[1] १५ फरवरी, १९५१ का प्रश्नोत्तर देखिये।

एक बार मैं अपने शरीरसे बाहर चला गया पर तुरत उसके अंदर वापस आ गया।

तुमने थोड़ा टहलने जानेका मौका नहीं लिया, लिया था? तो तुममें जाननेका कुतूहल नहीं है।

भला मनुष्य यह कैसे जान सकता है कि वह शरीरसे बाहर चला गया है?

तुम अपने बिछौनेपर उसे निश्चल देखते हो। इसे जाननेके दूसरे तरीके भी हैं।

क्लोरोफार्मके प्रभावके कारण मैं अपने शरीरसे बाहर चला गया। मैंने अपने शरीरको मेजपर देखा और चीरफाड़की क्रियाका निरीक्षण किया।

ऐसा भी होता है; मैं एक बिलकुल विलक्षण परोक्षदर्शी महिलाको जानती थी। एक दिन उसका आपरेशन होनेवाला था और उसे क्लोरोफार्म दिया गया; वह अपने शरीरसे बाहर चली गयी। एकाएक उसने यह देखना शुरू किया कि वहां उपस्थित लोगोंके मनोंमें क्या चल रहा है। उसे नींद में भी बातचीत करनेका अभ्यास था; वह एकदम जोरसे बोलने लगी। वह बोली कि अमुक-अमुक व्यक्तियोंको दुश्चिंताएं हैं, अमुक व्यक्तिको एक समस्याका समाधान करना है, और उसका समाधान यह है।

यह एक असाधारण उदाहरण था — ऐसा केवल विशेष क्षमताशाली लोगोंके साथ ही घटित होता है और ऐसे लोग बहुत नहीं होते। परंतु क्लोरोफार्म देनेके बाद चेतन रहनेवाले लोगोंकी संख्या जितनी लोग समझते हैं उससे बहुत अधिक होती है। परंतु, सामान्यतया, जब मनुष्य क्लोरोफार्मके बाद जागता है तो वह काफी बेचैनी अनुभव करता है और केवल अस्पष्ट रूपमें ही शरीरसे बाहरके अनुभवोंको याद रखता है। क्या यहां कोई ऐसा व्यक्ति है जो एकाएक, मानों किसी दुर्घटनावश, बेहोश हो गया हो? उस समय तुम अपना शरीर देखते हो, देखते हो न? और तुम अपने-आपसे पूछते हो, "परंतु यह यहां इस विचित्र स्थितिमें क्या कर रहा है?" और तुम दौड़कर उसमें वापस घुस जाते हो! यह चीज एक बार

पेरिसमें मेरे साथ घटित हुई थी। मैंने शामको खूब अच्छी तरह खाना खाया, और उसके बाद, संभवतः, मैं एक सभामें गयी। वहां बहुत भीड़ थी, बहुत गर्मी पड़ रही थी, मैं वहां मरे पेट खड़ी थी, और अचानक मुझे बेचैनी महसूस हुई। जो व्यक्ति मेरे साथ था उससे मैंने कहा, "मुझे तुरत बाहर जाना चाहिये।" ज्यों ही मैं बाहर निकली (संभवतः वह स्थान त्रोकादेरो स्क्वेयर था) मैं पूर्ण रूपसे बेहोश हो गयी। मैंने अपने शरीरको वहां देखा, लंबा पड़ा हुआ, और वह मुझे इतना अजीब मालूम हुआ कि मैं तेजीसे उसमें घुस गयी और यह कहते हुए उसे बड़ी फटकार दी कि "तुम्हें मेरे साथ इस तरह खिलवाड़ नहीं करना चाहिये!"

बहुत-से लोग इस प्रकार बेहोश हो जाते हैं और अपनेको देखते हैं। इसके लिये एक ही शर्त है: सूक्ष्म-भौतिक शरीरमें अथवा स्थूल शरीरसे संबंधित प्राणमें दर्शनेन्द्रिय अवश्य विकसित होनी चाहिये।

मैं यह भी तुम्हें बता दूं कि इस प्रकारकी क्षमता अपने-आप, बिना प्रयासके भी आ सकती है — मनुष्य जन्मसे ही परोक्षदर्शी (clairvoyant) हो सकता है। ऐसे लोग आवश्यक रूपसे बहुत मेधावी व्यक्ति नहीं होते, उनकी प्राणिक चेतना भी सामान्य-सी हो सकती है, पर वे जन्मतः परोक्षदर्शी होते हैं। यह गुण किसी महान् विकासका चिह्न नहीं है — यह किसी अन्य वस्तुसे, माता-पिताकी किसी क्षमतासे, पूर्व जीवनों आदिसे आता है। परंतु तुम यदि जन्मसे ही परोक्षदर्शी नहीं हो, और यदि तुम्हें दूसरी चरमावस्था, तात्पर्य जिस अवस्थामें तुम्हारा पुरुष पूर्णतः सचेतन और संपूर्ण विकसित होता है और शरीरमें अपना निजी स्वतंत्र जीवन यापन करता है, नहीं प्राप्त है, और तुम देखना और सूक्ष्म-दर्शन पाना सीखना चाहते हो तो यह एक बहुत लंबी, बहुत धीमी साधना होती है और बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जिनमें इस प्रशिक्षणके अंततक जानेके लिये आवश्यक धैर्य और सहिष्णुता होती है।

यह मजेदार चीज है पर आवश्यक नहीं है; मनुष्य इसके बिना भी काम चला सकता है। यही बात स्वप्नोंके विषयमें भी है। परंतु तुम यदि इस क्षमताको विकसित कर सको तो इससे तुम्हारा जीवन अधिक समृद्ध हो जायगा, इससे तुम्हारी चेतना अधिक तेजीसे प्रगति कर सकती है।

आप कहती हैं कि दो प्रकारके लोग होते हैं: एक तो वे लोग जिनसे ध्यान करनेको कहा जाता है और दूसरे वे लोग जिनसे

नहीं कहा जाता। यह कैसे जाना जाता है कि हम किस श्रेणीके हैं?[1]

तुम्हें बता दिया जाता है।

तो क्या हम आपसे पूछ सकते हैं?

अवश्य, मैं इसीके लिये तो यहां हूं!

कभी-कभी जब कोई शरीरसे बाहर जाता है तो शरीर बाहर जानेवाले अंशका पीछा करता है।

तुम स्वप्नाचारीकी बात करते हो? पर वह तो बिलकुल दूसरी ही बात है। इसका मतलब है कि जो भाग बाहर जाता है (चाहे वह मनका कोई भाग हो या प्राणका), वह शरीरके साथ इतने प्रबल रूपमें आसक्त होता है, अथवा यों कहें कि शरीर उस भागके साथ इतना आसक्त होता है कि जब वह भाग कुछ करना चाहता है तो शरीर सहजभावसे उसका अनुसरण करता है। तुम अपनी आंतर सत्तामें कोई चीज करनेका निश्चय करते हो और तुम्हारा शरीर इतने घनिष्ठ रूपमें तुम्हारी आंतर सत्ताके साथ आबद्ध होता है कि कुछ सोचे बिना वैसा करनेकी इच्छाके बिना, कोई प्रयास किये बिना, वह अनुसरण करता और वही चीज करता है। इस बातपर ध्यान दो कि इस अवस्थामें भौतिक शरीरमें वे क्षमताएं होती हैं जो सामान्य जाग्रत् अवस्थामें उसमें नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, यह बात सभी लोग जानते हैं कि उस समय

---

[1] "... स्वयं साधनाके लिये ही हम साधना करना नहीं चाहते। हम तो यह चाहते हैं कि हम जो कुछ करें उस सबमें, सब समय, अपने सभी कर्मोंमें और प्रत्येक मुहूर्तमें भगवान्‌पर एकाग्र रहें। यहां कुछ लोग ऐसे हैं जिनसे ध्यान करनेको कहा गया है, पर दूसरे ऐसे लोग हैं जिनसे किसी प्रकारका ध्यान करनेके लिये कभी नहीं कहा गया। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे प्रगति नहीं कर रहे हैं। वे भी एक प्रकारकी साधना करते हैं, पर वह दूसरे प्रकारकी है। भक्ति और आंतरिक समर्पणके साथ कार्य करना, कर्म करना भी एक प्रकारकी आध्यात्मिक साधना है।" (वार्तालाप १९२९)

मनुष्य ऐसे विपत्तिजनक स्थानोंमें घूम-फिर सकता है जहां वह जाग्रत् अवस्थामें घूमना-फिरना वास्तवमें कठिन अनुभव करेगा। शरीर आंतर सत्ताकी चेतनाका अनुसरण करता है और उसकी अपनी चेतना सोयी होती है — वास्तवमें शरीरकी भी एक चेतना है। सत्ताके सभी भागोंकी, अत्यंत स्थूल भागतककी, एक अपनी स्वतंत्र चेतना होती है। अतएव जब तुम नितांत थककर सोने जाते हो, जब तुम्हारे भौतिक शरीरको पूर्णतः विश्रामकी आवश्यकता होती है, तब तुम्हारी भौतिक चेतना तो निद्रित हो जाती है, जब कि तुम्हारी सूक्ष्म-भौतिक देहकी चेतना या तुम्हारे प्राण या तुम्हारे मनकी चेतना नहीं सोती और अपनी क्रियावली जारी रखती है; परंतु तुम्हारी भौतिक चेतना शरीरसे पृथक् होती है, यह अचेतनाकी स्थितिमें निद्रित होती है, और तब वह भाग जो सोता नहीं, जो सक्रिय होता है, भौतिक चेतनाकी मध्यस्थताके बिना शरीरका उपयोग करता है और उससे सीधे कार्य कराता है। बस, इसी भांति मनुष्य स्वप्नाचारी बन जाता है। मेरे अनुभवके अनुसार, जाग्रत् चेतना तो निद्रामें चली जाती है, किसी एक या दूसरे कारणवश (सामान्यतः थकावटके कारण), पर आंतर सत्ता जाग्रत् होती है, और देह उससे इतनी बंधी होती है कि वह उस (आंतर सत्ता) का अनुसरण यंत्रवत् करने लगती है। यही कारण है कि मनुष्य अद्भुत कार्य करता है, क्योंकि वह उन्हें भौतिक रूपमें नहीं देखता, वह उन्हें किसी भिन्न तरीकेसे देखता है।

कहा जाता है कि स्वप्नाचरणका कारण गंभीर विचार-मग्नता और दुश्चिंताएं हैं। क्या यह सच है? टारटिनी (Tartini) ने इसी अवस्थामें एक 'सोनाटा' (प्यानोके एक राग) की रचना की और सुबह जगनेपर उसने सारी चीज नोट कर ली।

स्वप्नाचरणका कारण सर्वदा गंभीर विचार-निमग्नता और दुश्चिंताएं नहीं होतीं! हां, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो स्वप्नाचरणकी अवस्थामें अद्भुत चीजें लिख लेते हैं। परंतु टारटिनी स्वप्नाचारी नहीं था — वास्तवमें वह स्वप्नावस्थामें 'सोनाटा' लिखा करता था।

यह एक ऐसी स्थिति है जो सर्वदा ही थोड़ी खतरनाक होती है, सर्वदा ही। अनपेक्षित चीजें घटित हो सकती हैं, उदाहरणार्थ, प्राण-सत्ताके साथ कोई दुर्घटना घटित हो सकती है।

स्वप्नाचरणके रोगसे मनुष्य कैसे मुक्त हो सकता है?

बिलकुल सरल ढंगसे, निद्रामें जानेसे पहले शरीरपर संकल्प-शक्तिका प्रयोग करके। मनुष्यके स्वप्नाचारी होनेका कारण यह है कि उसका मन आंतरिक बंधनको काटनेके लिये पर्याप्त विकसित नहीं होता। क्योंकि मन ही सर्वदा गभीरतर चेतनासे बाह्य सत्ताको पृथक् करता है। छोटे बच्चे बिलकुल बंधे होते हैं। मैंने ऐसे बच्चे देखे हैं जो बिलकुल सरल-सच्चे थे पर वे यह विभेद नहीं कर सकते थे कि आया चीज उनकी कल्पनामें चल रही है या वास्तवमें। उनके लिये आंतरिक जीवन उतना ही सच्चा था जितना कि बाह्य जीवन। वे कहानियां नहीं कहते थे, वे झूठे नहीं थे; महज उनका आंतरिक जीवन उतना ही सच्चा था जितना कि बाह्य जीवन। कुछ बच्चे ऐसे होते हैं जो रातपर रात लगातार उसी स्थानपर जाते हैं जिसमें वे पहले शुरू किये हुए स्वप्नको जारी रख सकें — वे अपने शरीरसे बाहर जानेकी कलामें बड़े माहिर होते हैं।

क्या नींदकी अवस्थामें शरीरसे बाहर जाना और इधर-उधर घूमते-फिरते रहना अच्छा है? क्या मनुष्य जब चाहे तब शरीरमें वापस आ सकता है?

अगर तुम ऐसे लोगोंके बीच सोये हुए होओ जो यह समझकर कि तुम्हें कुछ हो गया है, आ जायं और हिलाकर जगा दें तो यह खतरनाक है। परंतु तुम यदि अकेले होओ और शांतिसे सोये होओ तो फिर कोई खतरा नहीं है। मनुष्य किसी भी समय शरीरमें वापस आ सकता है और सामान्यतया शरीरमें वापस आनेकी अपेक्षा बाहर बने रहना बहुत अधिक कठिन होता है — जैसे ही जरा-सा कुछ घटित होता है, मनुष्य तेजीसे शरीरके अंदर घुस आता है।

यदि कोई शरीरको बिछौनेपर छोड़कर उससे बाहर चला जाय तो क्या कोई दूसरा व्यक्ति उसमें घुस सकता है?

ऐसा हो सकता है पर यह बात अत्यंत विरल है, लाखों प्रसंगोंमें कभी एक बार घटित हो सकता है।

"कोई व्यक्ति" नहीं घुस सकता — कोई मनुष्य दूसरेके शरीरमें तब-

तक नहीं घुस सकता जबतक कि उसे बिलकुल असाधारण और अपूर्व गुह्य ज्ञान न प्राप्त हो और ऐसी अवस्थामें वह ऐसा नहीं करेगा।

परंतु कोई मनुष्य यदि न भी प्रवेश करे तो कभी-कभी प्राण-जगत्की कुछ सत्ताएं ऐसी होती हैं जिनके शरीर नहीं होता और कौतुकवश अनुभव पानेके लिये शरीर पाना चाहती हैं। और जब वे यह देखती हैं कि कोई शरीरसे बाहर चला गया है (पर उसे बहुत स्थूल रूपमें बाहर निकल जाना चाहिये) और पर्याप्त रूपमें संरक्षित नहीं है तो वे उसका स्थान लेनेके लिये शरीरमें तेजीसे घुस सकती हैं। पर यह इतनी विरल घटना है कि तुमने यदि प्रश्न न पूछा होता तो मैं इस विषयमें कुछ भी न बोली होती। फिर भी ऐसा होना असंभव नहीं है।

जिन लोगोंको इस प्रकारके दुःस्वप्न सताते रहते हैं उन्हें शरीरसे बाहर जानेके पहले अपने-आपको सर्वदा गुह्य ढंगसे संरक्षित कर लेना चाहिये — ऐसा कई तरीकोंसे किया जा सकता है। सबसे सरल तरीका, वह तरीका जिसके लिये किसी विशिष्ट ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती, यह है कि गुरुको पुकारा जाय, अथवा यदि कोई ऐसे व्यक्तिको जानता हो जिसे ज्ञान हो तो उसे विचार या भावमें पुकारना; अथवा अपने चारों ओर एक प्रकारकी संरक्षणकी दीवाल बनाकर अपनेको सुरक्षित बना लेना (मनुष्य बहुत-सी चीजें कर सकता है, कर सकता है न ?); यह चीज ऐसी सत्ताओंको अंदर घुसनेसे रोक सकती है।

यदि तुममें शरीरसे बाहर जानेकी प्रवृत्ति है और यदि तुम योग करते हो तो तुमसे सदा ही अपनी नींदको सुरक्षित रखनेको कहा जाता है: किसी प्रकारके ध्यानके द्वारा, किसी मानसिक क्रियाके द्वारा, किसी भी क्रियाके द्वारा — अपने-आपको सुरक्षित बनानेके अनेकों तरीके हैं। परंतु मैं समझती हूं तुम लोगोंके लिये कोई ऐसा खतरा नहीं है; संभवतः प्रत्येकके लिये नहीं, पर फिर भी ऐसी चीज घटित होनेके लिये मनुष्यमें भयानक रूपसे महत्त्वाकांक्षा, भयानक रूपसे असरलता होनी चाहिये; मनुष्यका संबंध सच्चे रूपमें दुष्ट सत्ताओंके साथ होना चाहिये, क्योंकि, जो सत्ता सुव्यवस्था और सत्यके अंदर निवास करती है वह कभी दूसरेके शरीरमें नहीं घुस आ सकती, यह व्यवस्थाहीनताका कार्य है और ऐसा कार्य नहीं किया जाता।

क्या चैत्य पुरुष शरीरसे बाहर जाता है अथवा सत्ताका कोई दूसरा भाग ?

अगर चैत्य पुरुष बाहर जाय तो तुम्हें उसका पता नहीं चलेगा, अधिकतर इसलिये कि अधिकांश समय वह तुम्हारे अंदर नहीं होता! बहुत कम लोगोंका चैत्य पुरुष उनके अंदर होता है, क्योंकि मंदिर तैयार नहीं होता। जो कुछ बाहर जाता है वह कभी-कभी सूक्ष्म-भौतिक होता है, तब मनुष्य अपने शरीरको सोया देखता है; भौतिक दर्शन प्राप्त करनेके योग्य सज्ञान बने रहनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्यकी एकदम स्थूल सत्ता बाहर जाय; इसके लिये मनुष्यको बहुत स्थूल रूपमें अपने सूक्ष्म-भौतिक शरीरमें अथवा अत्यंत स्थूल प्राण-शरीरमें बाहर निकलना चाहिये। परंतु साधारण तौरपर प्राण-पुरुष ही बाहर जाता है और उससे भी अधिक बार मनोमय पुरुष; पर जब मनोमय पुरुष जाता है तब तुम्हें उस विषयमें बिलकुल ही कोई ज्ञान नहीं होता, क्योंकि मनोमय पुरुष भी चैत्यकी तरह है, यह बहुत कम तुम्हारे अंदर विद्यमान होता है। यदि तुम किसी चीज या व्यक्तिके विषयमें सोचते हो तो तुम्हारे मनका एक भाग तुरत वहां जा उपस्थित होता है — मन घुमक्कड़ है, चारों ओर घूमा करता है, वह जाता है और आता है, वह अंदर घुसता और बाहर निकल जाता है। ऐसे थोड़े-से लोग ही होते हैं जो अपने मनको इतनी काफी मात्रामें सुसंगठित कर चुके हैं कि वह उनके अंदर बना रहे, घनिष्ट-भावसे बंधा रहे और आवारागर्दी न करे।

कभी-कभी मुझे लगता है कि मैं अपने शरीरसे बाहर चला जाता हूं और उसे मृत देखता हूं।

परंतु वह तो महज एक स्वप्न है; संभवतः तुम अपने शरीरसे बाहर बिलकुल नहीं जाते। कुछ लोग ऐसा स्वप्न देखते हैं कि वे मर गये हैं। परंतु उसका कोई महत्त्व नहीं।

जब कोई शरीरसे बाहर जाता है तो उसे आपकी ओर दौड़ पड़नेकी कोशिश करनी चाहिये — मैं समझता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति ऐसा करता है, नहीं करता?

सौमें एक भी नहीं!

यदि तुम ऐसा करो तो बहुत मजेदार बातें तुम्हारे साथ घटित होंगी। मैं फ्रांसमें एक व्यक्तिसे परिचित थी जो रोज शामको मेरे पास इसलिये आया करता था कि मैं उसे कुछ अज्ञात क्षेत्रोंको दिखा सकूं और

प्राणमय या मनोमय जगत्में भ्रमण करनेके लिये उसे ले जाऊं, और यथार्थमें मैं उसे वहां ले जाती थी। कभी-कभी दूसरे लोग भी होते, कभी-कभी वह व्यक्ति अकेला होता। मैंने उसे बतलाया कि किस तरह शरीरसे बाहर निकला जाता है, कैसे फिर उसमें वापस आया जाता है, चेतनाको कैसे बनाये रखा जाता है आदि-आदि; मैंने उसे बहुत-से स्थान दिखलाये और उसे बताती गयी कि "वहां तुम्हें यह सावधानी बरतनी चाहिये, यहां तुम्हें ऐसी-ऐसी चीजें करनी चाहियें।" और यह चीज बहुत दीर्घकालतक चलती रही।

मेरा मतलब यह नहीं है कि तुममेंसे कोई भी व्यक्ति रातमें मेरे पास नहीं आता, पर ऐसे बहुत थोड़े-से लोग हैं जो इसे सचेतन रूपमें करते हैं। सामान्य तौरपर (यदि मैं गलत होऊं तो तुम मुझे बतलाना, पर यही मेरी धारणा है), जब तुम सोने जाते हो और सोनेसे पहले मुझे याद करनेका निर्णय करते हो तो यह मेरे पास "दौड़ पड़ने" की इच्छाके बजाय, जैसा कि तुम कहते हो, कहीं अधिक एक पुकार होती है। तुम वहां अपने बिस्तरपर होते हो, तुम विश्राम करना, अच्छी नींद लेना, अच्छी चेतना बनाये रखना चाहते हो; और उसके लिये तुम मुझे पुकारते हो, शरीरसे निकल जाने और मुझसे मुलाकात करनेकी भावना तुम्हारी नहीं होती।

२२ फरवरी, १९५१

"योगका अर्थ है भगवान्‌के साथ एकत्व और एकत्व साधित होता है आत्मार्पणके द्वारा — यह भगवान्‌के प्रति तुम्हारे आत्म-निवेदनपर स्थापित होता है।"

—वार्तालाप (१९२९)

समर्पण और आत्मनिवेदनमें क्या भेद है?

ये दोनों शब्द लगभग पर्यायवाची हैं: "मैं अपने-आपको निवेदित करती हूं और अपने-आपको समर्पित करती हूं," परंतु निवेदनकी चेष्टामें समर्पण-

की चेष्टाकी अपेक्षा कोई अधिक सक्रिय वस्तु है। दुर्भाग्यवश, फ्रेंच भाषाका "सूमिस्सियों" (Soumission) शब्द सही शब्द नहीं है, अंग्रेजीमें "सरेण्डर" (Surrender) शब्दका प्रयोग करते हैं; "सरेण्डर" (समर्पण) और "ऑफरिंग" (निवेदन) शब्दोंके बीच मुश्किलसे कोई भेद है, परंतु फ्रेंच शब्द "सूमिस्सियों" से किसी अधिक निष्क्रिय वस्तुकी छाप पड़ती है: तुम स्वीकार करते हो, जब कि निवेदन है दान — स्वेच्छाकृत दान।

"कान्सीक्रेशन" (Consecration — आत्मोत्सर्ग) शब्दका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

"कान्सीक्रेशन" में साधारणतया एक अधिक गुह्य अर्थ है पर यह निरपेक्ष नहीं है। पूर्ण "कान्सीक्रेशन" (आत्मोत्सर्ग) का तात्पर्य है अपने-आपको सर्वांग रूपसे दान कर देना; अतएव यह "सरेण्डर" शब्दका समानार्थक है, "सूमिस्सियों" शब्दका नहीं जो सर्वदा यह धारणा प्रदान करता है कि मनुष्य निष्क्रिय भावसे "स्वीकार करता है"। मनुष्य "कान्सीक्रेशन" (आत्मोत्सर्ग) शब्दमें एक लौका अनुभव करता है, एक ऐसी लौका जो "'ऑफरिंग" (निवेदन) की लौकी अपेक्षा भी अधिक महान् होती है। आत्मोत्सर्ग करनेका तात्पर्य है "किसी कार्यके लिये अपने-आपको अर्पित कर देना।" अतएव, यौगिक अर्थमें इसका मतलब है किसी भागवत कर्मको संपन्न करनेकी भावनाके साथ उस भागवत कर्मके लिये अपने-आपको अर्पित कर देना।

"जब तुमने संकल्प कर लिया, जब तुमने यह निर्णय कर लिया कि तुम्हारा संपूर्ण जीवन भगवान्‌को दे दिया जायगा, उसके बाद भी तुम्हें प्रत्येक क्षण इसे याद रखना होगा और अपने जीवनके प्रत्येक ब्योरेमें इसे कार्यान्वित करना होगा। पग-पगपर तुम्हें अनुभव करना होगा कि तुम भगवान्‌के हो; तुम्हें सतत यह अनुभव होना चाहिये कि जो कुछ तुम सोचते या करते हो, उस सबमें वास्तवमें 'भागवत चेतना' ही सर्वदा तुम्हारे द्वारा कार्य कर रही है। अब तुम्हारे पास ऐसी कोई चीज नहीं जिसे तुम अपनी कह सको; तुम अनुभव करते हो कि प्रत्येक वस्तु भगवान्‌से आ रही है, और तुम्हें उसके मूलस्रोतको फिरसे उसे अर्पित कर देना होगा। जब तुम इसे उपलब्ध

कर लोगे तो छोटी-से-छोटी वस्तु भी, जिसकी ओर तुम साधारणतया बहुत अधिक ध्यान नहीं देते या जिसकी परवाह नहीं करते, तुच्छ या निरर्थक नहीं रह जाती; वह अर्थसे पूर्ण हो जाती है और वह हमारे देखने और अध्ययन करनेके लिये एक विशाल क्षितिज खोल देती है।"

—वार्तालाप (१९२९), चौथा अध्याय

कारण, जब तुम जीवन और कर्मके छोटे-से-छोटे ब्योरेकी ओर, चिंतनकी प्रत्येक क्रिया, यहांतक कि संवेदन, हृद्गत बोधकी प्रत्येक क्रियाकी ओर ताकते हो और अपने-आपसे पूछते हो कि "क्या मैंने इसे भगवान्‌की पूजाके रूपमें सोचा था, क्या मैंने इसे भगवान्‌की पूजाके रूपमें अनुभव किया था...?", जब तुम अपने जीवनके प्रत्येक मुहूर्तमें इस बातका स्मरण करते हो तो तुम्हारा मनोभाव जो पहले था उससे एकदम भिन्न हो जाता है। वह बहुत विशाल बन जाता है; वह असंख्य छोटी-छोटी चीजोंकी एक शृंखला बन जाता है और उसमें प्रत्येक चीजका अपना स्थान होता है, जब कि उससे पहले तुम उन सबसे सचेतन हुए बिना उन्हें चले जाने देते थे। इससे चेतनाका क्षेत्र विस्तारित हो जाता है। यदि तुम अपने जीवनके आधे घंटेको लो और उसपर विचार करो और अपने-आपसे प्रश्न पूछो, "क्या यह भगवान्‌के प्रति उत्सर्ग है?" तो तुम देखोगे कि छोटी-छोटी चीजें एक बड़ी चीज बन गयी हैं और तुम्हें यह लगेगा कि जीवन समृद्ध और प्रकाशपूर्ण बन गया है।

तादात्म्य प्राप्त करना योगका लक्ष्य है। क्या हम कह सकते हैं कि समर्पण प्रथम पग है और निवेदन दूसरा?

नहीं, कुछ लोग निवेदनसे आरंभ करते हैं और समर्पणसे समाप्त। यह प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावपर निर्भर करता है। तुम संभवतः हीनताकी भावनाके साथ आरंभ कर सकते हो— तुम भगवान्‌की महानताके नीचे थोड़ा दबे होते हो, और फिर, तुम थोड़ा मुक्त अनुभव करते हो और जो कुछ हो उसे हर्षके साथ दे देते हो। ऐसा सर्वदा नहीं होता। बहुत-से लोग आत्मदानसे आरंभ करते हैं; उनके लिये सबसे आसान काम होता है अपने-आपको दे देना। प्रारंभमें यह देनेका भाव थोड़ा अनिश्चित होता है, फिर, मनुष्यको कभी-कभी ब्योरेवार समर्पण करनेका प्रयास करना पड़ता है, तुम अपनेको बहुत अधिक उत्साहके साथ दे सकते

हो, परंतु जब प्रत्येक पगपर तुम्हें उच्चतर 'संकल्प' के प्रति झुकना पड़ता है तो बात अधिक कठिन हो जाती है।

क्या निवेदन करनेका अर्थ समर्पण नहीं है?

बिलकुल नहीं। तुम देनेके आनंदके लिये दे सकते हो, समर्पणकी किसी भावनाके बिना। उत्साहके उद्रेकमें, जब तुम्हें अपने-आपसे अनंततः महत्तर किसी वस्तुकी झांकी मिल जाती है तो तुम स्फूर्तिके साथ अपने-आपको दे सकते हो, परंतु जब प्रत्येक क्षण उसे जीवनमें उतारनेका, प्रत्येक मुहूर्त्त अपने-आपको उच्चतर 'संकल्प-शक्ति' के प्रति समर्पण करनेका प्रश्न होता है और जब प्रत्येक क्षण इस समर्पणकी आवश्यकता होती है तो यह अधिक कठिन होता है। परंतु "निवेदन" शब्दसे तुम्हारा मतलब यदि तुम्हारी सभी गतिविधियों, तुम्हारे सभी कार्योंके सर्वांगपूर्ण निवेदनसे ही तो इसे निश्चित रूपसे समाविष्ट किये बिना कहा जा सकता है कि यह समर्पणका पर्याय है। परंतु तब यह उत्साहसे किया गया कोई कार्य नहीं रह जाता, यह एक ऐसी चीज हो जाता है जिसे पूरे ब्योरेमें संपन्न करना होता है। हम कह सकते हैं कि तीव्रावेग और उत्साहके साथ किया गया कोई कार्य अपेक्षाकृत सहज होता है (वह तुम्हारे अंदरकी कार्य करनेकी तीव्रतापर निर्भर करता है), परंतु जब अपने जीवनके प्रत्येक क्षणमें और उसके समस्त ब्योरेमें अपनी अभीप्साको संसिद्ध करनेका प्रश्न होता है तो उत्साह थोड़ा पीछे हट जाता है और मनुष्य कठिनाई अनुभव करता है।

क्या ऐसा कोई अनुभव है जो यह सिद्ध करता है कि हम भगवान्‌की उपस्थितिमें निवास कर रहे हैं?

एक बार जब तुम भगवान्‌की उपस्थितिमें निवास करना आरंभ कर देते हो तो फिर तुम कोई प्रश्न नहीं करते। यह अपनी निश्चयताको स्वयं अपने अंदर वहन करता है — तुम अनुभव करते हो, तुम जानते हो और इस विषयमें संदेह करना असंभव हो जाता है। तुम भगवान्‌की उपस्थितिमें निवास करते हो और यह तुम्हारे लिये एक ध्रुव सत्य होता है। उससे पहलेतक तुम पूछते हो, क्योंकि तुम उसका अनुभव नहीं करते, परंतु तुम्हें जब अनुभव हो जाता है तो उसकी एक ऐसी प्रामाणिकता होती है जो निर्विवाद होती है। जो व्यक्ति यह कहता है,

"मैं समझता हूं कि मैं भगवान्‌की उपस्थितिमें निवास करता हूं, पर मैं निस्संदिग्ध नहीं हूं," उसे सच्चा अनुभव नहीं प्राप्त हुआ है, क्योंकि ज्योंही मनुष्यको इस अनुभवका आंतरिक धक्का प्राप्त होता है, फिर कोई प्रश्न करना संभव नहीं होता। यह प्रश्न उन लोगोंके प्रश्न-जैसा है जो पूछते हैं, "भगवान्‌की 'इच्छा' क्या है?" जबतक तुम्हें इस 'इच्छा' [illegible] झलक नहीं प्राप्त होती तबतक तुम इसे नहीं जान सकते। मनुष्य निगमन, अनुमान आदिके द्वारा इसकी धारणा बना सकता है, पर तुम जब भागवत 'इच्छा' के साथ यथार्थ संपर्क अनुभव कर लेते हो तब फिर उसके विषयमें भी तर्क नहीं किया जा सकता — तब तुम जानते हो।

कोई गलतफहमी न रहे इसलिये मैं यहां यह जोड़ रही हूं: सभी अनुभवोंका मूल्य केवल उसी अनुपातमें होता है जिस अनुपातमें अनुभव करनेवालेमें सच्चाई होती है। कुछ लोग सच्चे नहीं होते और आश्चर्यजनक अनुभवोंकी रचना कर लेते हैं: और उन्हें ऐसा लगता है कि उन्हें ऐसा अनुभव हुआ है। मैं ऐसी सभी बातोंको एक किनारे रख देती हूं। इसकी चर्चा करनेमें कोई रस नहीं है। परंतु सच्चे लोगोंका जहांतक प्रश्न है, जिन्हें सच्चा अनुभव हुआ है, एक बार जिन्हें भागवत 'उपस्थिति' का अनुभव हो चुका है, उनसे सारा संसार यह कह सकता है कि यह सत्य नहीं है, पर वे जरा भी टस-से-मस नहीं होंगे।

यदि तुम सच्चे नहीं हो तो तुम्हें विलक्षण अनुभव हो सकते हैं पर उनका, न तो तुम्हारे लिये न दूसरोंके लिये, कोई मूल्य है। तुम्हें अपने विचारोंका बहुत हदतक अविश्वास ही करना चाहिये, क्योंकि मन एक विचित्र निर्माता है और यह केवल अपनी रचनाओंके द्वारा तुम्हें विस्मयजनक अनुभूतियां प्रदान कर सकता है। परंतु ऐसी अनुभूतियोंका कोई मूल्य नहीं होता। अतएव पहलेसे यह न जानना कहीं अधिक अच्छा है कि क्या होने जा रहा है। जिन लोगोंमें सच्चा होनेका महान् संकल्प होता है उनमें भी मन इतना अधिक और इतने अच्छे ढंगसे सृजन करता है कि वह आश्चर्यजनक चित्र तुम्हारे सामने खड़ा कर सकता है अथवा, तुम्हारे बिना समझे, महज अपनी रचना-शक्तिकी सहायतासे तुम्हारे लिये एक बड़ा सुन्दर नाटक भी खेल सकता है, और इसका पता पा लेना बहुत कठिन है। इसलिये सच्ची अनुभूति पानेकी एक आवश्यक शर्त है: इस मशीनको निश्चलताकी स्थितिमें छोड़ दो; यह जितना कम चले उतना ही अच्छा है और तुम्हारे लिये यह जो कुछ कल्पना करे उस सबसे सावधान रहो।

अभीप्सा और मांगमें क्या भेद है?

जब तुम्हें उन दोनोंका अनुभव प्राप्त हो जायगा तो तुम आसानीसे उनमें भेद कर सकोगे। अभीप्सामें एक ऐसी चीज होती है जिसे मैं निःस्वार्थ ज्योति कह सकती हूं जो कामनाके अंदर नहीं होती। तुम्हारी अभीप्सा — तुम्हारा अपनी ओर लौटना नहीं है — कामनामें मनुष्य हमेशा ही अपनी ओर लौटता है। विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे, अभीप्सा है आत्मदान, सर्वदा ही, जब कि कामना सदा एक ऐसी चीज होती है जिसे मनुष्य अपनी ओर खींचता है; अभीप्सा एक ऐसी चीज है जो अपने-आपको दे देती है, आवश्यक रूपसे विचारके रूपमें नहीं बल्कि क्रियामें, स्पंदनमें, प्राणिक आवेगमें।

सच्ची अभीप्सा मस्तकसे नहीं आती; जब यह विचारके द्वारा भी निर्मित होती है तो यह एक लौकी तरह हृदयसे फूट पड़ती है। मैं नहीं जानती कि आया तुम लोगोंने वेदोंपर लिखे गये श्रीअरविंदके लेखोंको पढ़ा है या नहीं। उन्होंने कहींपर यह बतलाया है कि ये मंत्र मनके द्वारा लिखे नहीं गये थे, वे, जैसा कि लोग समझते थे, प्रार्थनाएं नहीं थे, बल्कि अभीप्साकी अभिव्यक्ति थे जो हृदयसे आनेवाली लौकी तरह एक आवेग थी (यद्यपि यह 'हृदय' ठीक भौतिक हृदय नहीं है, बल्कि, यथार्थ शब्दका व्यवहार किया जाय तो, यह सत्ताका आंतरिक केन्द्र है)। वे मंत्र "सोच-विचारकर" नहीं तैयार किये गये थे, अनुभूतियोंको व्यक्त करनेके लिये शब्द नहीं जमाये गये थे, अनुभव ठीक-ठीक, यथार्थ, अनिवार्य शब्दोंमें पूर्णतः रचित होकर आया — उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सका। यही अभीप्साका यथार्थ स्वरूप है: तुम उसको आकार देनेका प्रयास नहीं करते, वह तैयार लौकी तरह तुम्हारे अंदरसे भभक उठती है। यदि शब्द होते भी हैं (कभी-कभी कोई भी शब्द नहीं होते), तो उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता: तुम एक शब्दके स्थानमें दूसरा शब्द नहीं रख सकते, प्रत्येक शब्द ठीक वही होता है जो उपयुक्त होता है। जब अभीप्साको आकार दिया जाता है तो वह रूप सीधे, निरपेक्ष रूपसे, परिवर्तनकी किसी संभावनाके बिना दिया जाता है। और यह बराबर ही कोई ऐसी चीज होती है, जो एकाएक उमड़ पड़ती और अपने-आपको दे देती है, जब कि मांगका यथार्थ स्वरूप होता है अपनी ओर चीजोंको खींचना।

अभीप्सा-रूपी प्रेम और कामना-रूपी प्रेमके मध्य मूल विभेद यह है कि अभीप्सा-रूपी प्रेम अपने-आपको पूर्णतः दे डालता है और बदलेमें कुछ नहीं

चाहता — वह किसी चीजकी मांग नहीं करता; जब कि कामना-रूपी प्रेम यथासंभव कम-से-कम अपनेको देता है और यथासंभव अधिक-से-अधिक मांगता है, वह वस्तुओंको अपनी ओर खींचता है और सर्वदा दावा करता रहता है।

अभीप्सा सर्वदा हर्ष प्रदान करती है, करती है न?

बल्कि परिपूर्णताका बल प्रदान करती है — "हर्ष" भ्रमोत्पादक शब्द है; परिपूर्णताका, शक्तिका, आंतर ज्योतिका बोध प्रदान करती है जो तुम्हें भर देती है। अभीप्सा तुम्हें हर्ष प्रदान कर सकती है, पर वह एक बहुत विशिष्ट हर्ष होता है, जिसमें किसी प्रकारकी उत्तेजना नहीं होती।

क्या "आत्मा" (soul) और चैत्य-पुरुष एक और अभिन्न हैं?

यह उस परिभाषापर निर्भर करता है जो तुम इन शब्दोंको देते हो। बहुत-से धर्मोंमें, और शायद अधिकांश दर्शनोंमें भी "आत्मा" (soul) प्राण-पुरुषको कहते हैं, क्योंकि लोग कहते हैं कि "आत्मा शरीर छोड़ देती है", पर वास्तवमें शरीर प्राण-पुरुष छोड़ता है। फिर लोग "आत्माओंकी रक्षा करना", "बुरी आत्माएं", "आत्माओंका उद्धार" आदिकी बातें करते हैं... यह सब प्राण-पुरुषपर लागू होता है, क्योंकि चैत्य-पुरुषको बचानेकी कोई जरूरत नहीं होती! यह बाह्य व्यक्तिके दोषोंमें भाग नहीं बंटाता, यह सभी प्रतिक्रियाओंसे मुक्त होता है।

जब कोई काम करता है और भरसक अच्छे-से-अच्छा करना चाहता है तो उसे समयकी आवश्यकता होती है। परंतु साधारण तौरपर हमारे पास बहुत अधिक समय नहीं होता, हमें बराबर उतावली रहती है। जब हम उतावलीमें हों तो हम भरसक अच्छे-से-अच्छा कैसे कर सकते हैं?

यह बहुत ही रोचक विषय है और मैं इसके बारेमें पूरे ब्योरेके साथ एक दिन तुम लोगोंसे कहना चाहती थी। सामान्य तौरपर जब मनुष्य जल्दबाजीमें होते हैं तो जो काम उन्हें करना होता है उसे वे पूरे रूपमें

नहीं करते अथवा जो कुछ वे करते हैं उसे बुरे रूपमें करते हैं। परंतु एक तीसरा तरीका भी है, वह है अपनी एकाग्रताको प्रगाढ़ बना देना। यदि तुम ऐसा करो तो तुम आधा समय, यहांतक कि बहुत थोड़े समयमेंसे भी, बचा लोगे। एक बहुत सामान्य उदाहरण ही ले लो: स्नान करके कपड़ा पहन लेना; इसमें जो समय लगता है वह हर मनुष्यके लिये अलग होता है, होता है न? परंतु हम मान लें कि समय खोये बिना और जल्दबाजी किये बिना सब कुछ कर लेनेके लिये आध घंटेकी आवश्यकता है। अब, यदि तुम उतावलीमें हो तो दो बातोंमेंसे एक बात होती है: तुम उतनी अच्छी तरह स्नान नहीं करते अथवा ठीक तरहसे कपड़ा नहीं पहनते! परंतु एक दूसरा तरीका है — अपने ध्यानको और अपनी शक्तिको एकाग्र कर लेना, जो कुछ कर रहे हो बस उसीकी बात सोचो, अन्य किसी चीजकी नहीं, बहुत अधिक गति मत करो, अत्यंत समुचित ढंगसे बिलकुल ठीक गति करो, और (यह एक जीवनमें उतारा हुआ अनुभव है, मैं निश्चितिके साथ इसकी चर्चा कर सकती हूं) तुम महज एकाग्रताकी घनताके द्वारा, जिसे पहले आध घंटेमें करते थे, पंद्रह मिनटमें कर लोगे, और उतनी ही अच्छी तरह, कभी-कभी उससे भी अधिक अच्छी तरह कर लोगे, न तो कोई चीज भूलोगे और न कोई चीज छोड़ोगे ही।

और यह उन लोगोंके लिये सबसे अच्छा उत्तर है जो कहते हैं, "ओह! यदि कोई अच्छी तरह कार्य करना चाहता है तो उसे समय अवश्य मिलना चाहिये।" यह सच नहीं है। क्योंकि तुम चाहे जो कुछ करो — पढ़ना, खेलना, कार्य — बस, केवल एक ही समाधान है: एकाग्र होनेकी अपनी शक्तिको बढ़ाना। और जब तुम इस एकाग्रताको हासिल कर लेते हो तो वह अब थकानेवाली नहीं होती। स्वभावतः ही, प्रारंभमें, इसमें एक प्रकारका तनाव पैदा होता है, पर तुम जब इसके अभ्यस्त हो जाते हो तो तनाव कम हो जाता है, और एक समय ऐसा आता है जब तुम्हें इस प्रकार एकाग्र न होनेके कारण, अपने-आपको छितरा देनेके कारण, सभी प्रकारकी चीजोंका अपनेको शिकार बन जाने देनेके कारण तथा जो कुछ करना है उसपर एकाग्र न होनेके कारण थकावट आती है। मनुष्य एकाग्रताकी शक्तिके द्वारा और अधिक अच्छी तरह तथा अधिक शीघ्रतासे कार्य पूरा करनेमें सफल हो सकता है। इस प्रकार तुम कर्मका उपयोग विकासके साधनके रूपमें कर सकते हो; अन्यथा तुम्हें यह अस्पष्ट धारणा बनी रहेगी कि कर्म "निष्कामभाव" से संपन्न करना चाहिये, परंतु इसमें एक महान्

खतरा है, क्योंकि मनुष्य बड़ी तेजीसे उदासीनताको ही निष्कामभाव माननेकी भूल कर बैठता है।

२४ फरवरी, १९५१

एक दिन मैंने तुमसे कहा था कि अधिकांश समय मनुष्योंका चैत्य पुरुष उनके अंदर नहीं रहता। इसे थोड़ा और विस्तारसे मैं समझाना चाहती हूं...। तुम्हें याद रखना चाहिये कि आंतरिक सत्ताएं तृतीय आयाममें नहीं होतीं। अगर तुम अपना शरीर चीरकर देखो तो तुम अपने शरीरकी केवल नाड़ियों और अंतड़ियोंको ही पाओगे जो तृतीय आयाममें हैं। आंतरिक सत्ताएं अन्य आयाममें हैं, और जब मैं यह कहती हूं कि कुछ लोगोंका चैत्य पुरुष उनके अंदर नहीं है तो मेरे कहनेका तात्पर्य यह नहीं होता कि उनका चैत्य पुरुष उनकी सत्ताके केन्द्रमें नहीं है, बल्कि उनकी बाह्य चेतना इतनी क्षुद्र, इतनी सीमित, इतनी अंधकारमय होती है कि वह अपने अंदर हर प्रकारसे अपने परेतक फैले हुए चैत्य पुरुषके साथ केवल सचेतन ही नहीं बल्कि घनिष्ठ संबंध बनाये रखनेमें असमर्थ होती है; चैत्य पुरुष अन्य बाह्य चेतनासे इस हदतक ऊपर और गहराईमें होता है कि उनके बीच गुण या स्वभाव किसी बातमें कोई संबंध नहीं होता। धर्मोंका कहना है कि तुम्हारे अंदर एक दिव्य स्फुलिंग है — उन्होंने अच्छा ही किया जो उसे 'स्फुलिंग'का नाम दिया, क्योंकि वह वास्तवमें इतना छोटा है कि उसे शरीरमें कहीं भी बिना किसी कठिनाईके रखा जा सकता है। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह शरीरमें है; वह चेतनाके अंदर एक दूसरे ही आयाममें है और ऐसे लोग होते हैं जिनका उसके साथ संपर्क होता है और दूसरे ऐसे लोग होते हैं जिनका उसके साथ कोई संबंध नहीं होता। परंतु तुम यदि परमाणुके अंदर भगवान्‌की उपस्थितिकी धारणा करो तो इस भावनाको समझना अधिक आसान होगा, क्योंकि तब तुम इतने अधिक सूक्ष्म क्षेत्रको स्पर्श करोगे जो उस सीमापर होगा जहां तुम दो या तीन या चार या पांच आयामोंमें भेद नहीं कर सकोगे। अगर तुम आधुनिक भौतिक विज्ञानका अध्ययन करो तो जो मैं कह रही हूं उसे समझ जाओगे। अणु जिन क्रियाओंसे गठित होता है वे, आकारकी दृष्टिसे,

इतनी सूक्ष्म, अगोचर होती हैं कि तृतीय आयामकी जो हमारी समझ है उसके द्वारा नहीं समझी जा सकतीं, यहांतक कि वे जिन नियमोंका अनुसरण करती हैं वे तृतीय आयामकी हमारी धारणासे एकदम बाहरके होते हैं। अतएव यदि तुम वहां शरण लो तो तुम कह सकते हो कि भागवत स्फुलिंग प्रत्येक अणुके केन्द्रमें है और तुम सत्यसे बहुत दूर नहीं होगे। परंतु मैं भागवत स्फुलिंगकी बात नहीं कह रही थी, मैं तो पुरुषकी, चैत्य चेतनाकी बात कह रही थी जो एकदम दूसरी बात है। चैत्य पुरुष एक सत्ता है जिसका एक आकार है; यह एक केन्द्रीय चेतनाके इर्द-गिर्द सुगठित है और इसका एक आकार होनेके कारण इसका एक अपना आयाम है, पर बाह्य चेतनाके तृतीय आयामसे भिन्न दूसरे प्रकारका आयाम है।

बहुधा यह कहा जाता है कि बच्चे जब सात वर्षके हो जाते हैं तब अपने चैत्य पुरुषद्वारा अधिकृत होते हैं। इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

यह बात ठीक नहीं है। ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनका चैत्य पुरुष जन्मके पहलेसे, यहांतक कि अपनी मांके गर्भमें आनेके पूर्वसे ही शरीर-निर्माणका निरीक्षण करता है। कुछ बच्चे ऐसे होते हैं जिनका चैत्य पुरुष जिस क्षण उनका प्रथम क्रंदन उनके मुंहसे निकलता है ठीक उसी क्षण उनके साथ संबंध स्थापित कर लेता है। ऐसे लोग भी होते हैं जिनका चैत्य पुरुष उनके जन्मके कई घंटे बाद अथवा कुछ दिन, या कुछ सप्ताह, कुछ माह, कुछ वर्ष बाद आता है अथवा ... कभी नहीं आता!

आपने एक बार कहा था कि किसी बच्चेसे सात वर्षकी अवस्थासे पहले कोई मानसिक प्रयास करनेके लिये नहीं कहना चाहिये।

यह बिलकुल भिन्न बात है। यहां केवल भौतिक मस्तिष्कके गठित होनेका प्रश्न है जो धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा विकसित होता है। यदि कोई मस्तिष्क अभी बननेकी स्थितिमें हो और तुम उसकी क्षमताके बाहर कोई प्रयास करनेको कहो तो वह थक जायगा, उसे अत्यधिक परिश्रम होगा अथवा वह बीमार पड़ जायगा।

आप कहती हैं कि चैत्य पुरुष भी वही चीज है जो दिव्य स्फुलिंग है....।

नहीं, मैंने कभी ऐसा नहीं कहा — ऐसा कहना तो मूर्खता होगी! चैत्य पुरुष भागवत स्फुलिंगके "इर्द-गिर्द" सुगठित होता है। भागवत स्फुलिंग अनन्य, सार्वभौम, सर्वत्र और सब वस्तुओंमें एक, एकमेव और अनंत, सबमें एक ही जैसा होता है। तुम यह नहीं कह सकते कि वह एक पुरुष है — यदि तुम चाहो तो कह सकते हो कि वह "एकमात्र सत्ता" है, पर वह कोई 'एक' पुरुष नहीं है। स्वभावतः ही तुम यदि मूल स्रोततक पीछे चले जाओ तो तुम कह सकते हो कि केवल एक ही आत्मा (soul) है, क्योंकि सभी आत्माओंका मूल स्रोत एक ही है, जैसे कि समग्र विश्वका मूल स्रोत एक ही है, जैसे कि समूची सृष्टिका मूल स्रोत एक ही है। इसके विपरीत, चैत्य पुरुष एक व्यक्ति, व्यक्तिगत सत्ता है और वह अपने ढंगसे अनुभव करता, अपने ढंगसे विकसित होता, अपने ढंगसे वर्द्धित होता तथा अपने ढंगसे संघटित होता है; बस, उसका यह संघटन केंद्रीय दिव्य स्फुलिंगके कार्यका ही परिणाम होता है।

परंतु जिस दिन कोई बाह्य (भौतिक, मानसिक, प्राणिक) सत्ता चैत्य पुरुषके सतत तथा प्रत्यक्ष संपर्कमें आ जाती है, तो हम कह सकते हैं कि उस व्यक्तिकी भौतिक सत्ता केन्द्रीय दिव्य चेतनाके द्वारा संगठित हुई है। जिस क्षण तुम केन्द्रीय दिव्य चेतनाके साथ अपना संबंध स्थापित कर लेते हो, उसकी अधीनतामें आ जाते हो, उसी क्षण तुम उसके द्वारा संघटित हो जाते हो। उस समय यह कहा जा सकता है कि शरीर उसके द्वारा संघटित हुआ है, पर वह एक **शरीर** ही है, अंतरात्मा नहीं। केवल दिव्य स्फुलिंगके द्वारा संघटित हो जानेसे वह अंतरात्मा नहीं बन जाता।

क्या अणुके अंदर चैत्य पुरुष है?

नहीं, वह अभीतक उसमें नहीं है। यह कहा जा सकता है कि जड़तत्त्वमें चैत्य चेतनाकी संभावना है — भागवत 'चेतना'के प्रसारित होनेका बस एक ही उद्देश्य था: भगवान्‌के प्रत्यक्ष प्रभावके अधीन एक संघटनको संभव बनाना। यही कारण है कि अस्तव्यस्तताके जगतोंको वह स्फुलिंग अतिक्रम करता है।[1] अतएव यह कहा जा सकता है कि अंतरात्माका

---

[1]इस वार्तालापके प्रकाशनके समय इसकी स्पष्टताके लिये श्रीमाताजीने

'आदि-स्रोत' अणुमें भी विद्यमान है, अणुका निर्माण करनेवाले सभी तत्त्वोंमें है, पर वह महज 'आदि-स्रोत' है ... मैं यह भी बता दूं कि जब चैत्य पुरुष पूर्णतः निर्मित हो जाता है तो उसका एक सुस्पष्ट आकार होता है जो हमारे भौतिक शरीरसे मिलता-जुलता है। वह एकदम तो वैसा नहीं होता पर उसका एक सुनिश्चित आकार होता है। प्रत्येक चैत्य पुरुष दूसरेसे भिन्न होता है — वे सब-के-सब एक ही ढांचेके अनुसार कटे-छंटे या ढले हुए नहीं हैं। वे एक-दूसरेसे भिन्न हैं, प्रत्येकका अपना पृथक् व्यष्टिभाव है, व्यक्तित्व है।

(श्रीमाताजी पढ़ना आरंभ करतीं हैं: "क्या) बहुत-से लोगोंको यह याद रहता है कि वे (दूसरी ओर) चले गये हैं और फिर वापस आ गये हैं?"

—वार्तालाप (१९२९)

मैं बहुत अधिक बीमार था, दो घंटोंतक अचेत था। मुझे ऐसा लगा कि मैं दूसरे छोरपर आ गया हूं और यह एक भिन्न जगत् है। जब मैं अपने अंदर वापस आया तो मुझे ऐसा लगा कि मैंने एक ऐसे जगत्की लंबी यात्रा की है जो उस जगत्से बिलकुल भिन्न था जिसमें मैं सामान्यतया निवास करता हूं।

यह आंशिक रूपसे शरीरसे बाहर निकलना था; यह पूर्णतः शरीरसे बाहर निकलना नहीं था जिसके कारण अवश्य मृत्यु हो जाती है। यदि कोई पूरी तरह बाहर चला जाता है, अर्थात्, यदि शरीरसे पूर्ण पार्थक्य हो जाता

निम्नलिखित टिप्पणी इसमें जोड़ दी: "प्राण-सत्ताके कुछ अंश अस्त-व्यस्तताके जगत् हैं और प्राण-जगत्की सत्ताओंमें चैत्य पुरुष नहीं होता। चैत्य पुरुष केवल पृथ्वीपर, भौतिक जगत्में ही होता है। इसी कारण मैंने संक्षेपमें कहा था कि जो दिव्य स्फुलिंग चैत्य पुरुषका संगठन करता है वह अस्तव्यस्तताके जगतोंको अतिक्रांत करता है और सीधे भौतिक जगत्में अभिव्यक्त हुआ है जिसमें कि वह अपने इर्द-गिर्द संघटन करनेकी इस संभावनाको उत्पन्न कर सके।"

है और वह वास्तवमें मृत होता है, और फिर वह वापस आता है तो उससे इतनी तीव्र पीड़ा होती है कि वह उसे भूल नहीं सकता। कहा जाता है कि जब बच्चे जगत्‌में आते हैं तो वे रोते हैं क्योंकि हवा-के साथ उनका जो प्रथम संपर्क होता है वह उन्हें रुला देता है, परंतु मैं समझती हूं कि उसका कारण कोई दूसरी चीज है। शरीरमें प्रवेश करते समय एक प्रकारकी रगड़ लगती है, क्योंकि जो कुछ बाहर आता है वह, यदि मृत्युका कारण बनता हो तो कोई बहुत ठोस वस्तु, सूक्ष्म-भौतिकसे भी अधिक ठोस कोई वस्तु होनी चाहिये, और यह घर्षण अत्यंत पीड़ादायक होता है। अन्यथा मनुष्य बाह्य रूपमें अचेतन हो सकता है, पर वह इसी कारण मृत नहीं होता। वास्तवमें जब कोई अत्यंत स्थूल वस्तु शरीरसे बाहर जाती है और सभी बंधन टूट जाते हैं तभी वास्तवमें "मृत्यु" घटित होती है। और यही कारण है कि (मैं समझती हूं कि अब इसकी खोज होने लगी है) लोग अपनी मृत्युके छः या सात दिनके बादतक नहीं मरते। कहनेका मतलब, जबतक शरीर ज्यों-का-त्यों बना रहता है तबतक उनकी "मृत्यु" नहीं होती, बल्कि जब शरीरका कोई भाग सड़ने लगता है केवल तभी मरते हैं, अतएव इस अवधिके बीच कोई व्यक्ति, जिसे आवश्यक ज्ञान, शक्ति और क्षमता हो, ऐसी स्थितिसे मनुष्यको "उठा" सकता है। मैं समझती हूं कि उससे "चमत्कारपूर्ण" पुनरुज्जीवनके अधिकांश प्रसंगोंकी व्याख्या हो जाती है।

एक व्यक्ति मर गया था। डाक्टरोंने उसके हृदयकी मालिश की और कुछ समयके बाद वह व्यक्ति जी गया।

हां, उस क्षेत्रमें उन्होंने "चमत्कार" करना आरंभ कर दिया है!

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं) : **"....जब तुम चेतनाकी एक विशिष्ट स्थितिमें पहुंच जाते हो, तुम्हें उस पार चले जानेके बारेमें याद आता है। कुछ समयके लिये आंशिक रूपमें इस स्थितिको स्पर्श करना उतना कठिन नहीं है; गहरी ध्यानावस्थामें, स्वप्नमें या सूक्ष्म-दर्शनकी स्थितिमें मनुष्यको यह अनुभव या धारणा हो सकती है कि वह यह जीवन पहले जी चुका है, यह उपलब्धि पायी है, इन सत्योंको जाना है। परंतु यह पूर्ण उपलब्धि नहीं है; उसे पानेके लिये हमें अंतरस्थ नित्य 'चेतना'को अवश्य प्राप्त कर लेना होगा जो शाश्वत है**

और भूत, वर्तमान और भविष्य कालके हमारे सभी जीवनोंको एक साथ धारण करती है।"

तुम्हें उन लोगोंपर सदा अविश्वास करना चाहिये जो किसी प्रकारके मानसिक या प्राणिक क्षेत्रोंमें घूमने-फिरने जाते हैं, फिर वे कल्पना करते हैं कि अपने पूर्वजन्मोंकी उन्हें स्मृति है और तुम्हें कहानियां सुनाते हैं। तुम उस प्रसिद्ध महिलाका प्राचीन उदाहरण तो जानते ही हो जो उस समयसे अपने जीवनोंका वर्णन करती थी जब कि वह बंदर थी! मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि यह विशुद्ध कल्पना है, क्योंकि इस प्रकार याद रखना असंभव है।

जो घटित होता है वह यह है। एक दिव्य स्फुलिंगका उदाहरण लें जो आकर्षण, आंतरिक सादृश्य और चुनावके अनुसार अपने चारों ओर चैत्य चेतनाकी प्राथमिक अवस्थाको संघटित करना आरंभ करता है (यह कार्य पशुओंमें खूब स्पष्ट रूपमें दिखायी देता है — ऐसा मत समझो कि तुम लोग असाधारण जीव हो और केवल तुम्हारे अंदर ही चैत्य पुरुष है और बाकी सारी सृष्टि इससे रहित है! इसका प्रारंभ धातुओंमें हो जाता है, यह पौधोंमें थोड़ा अधिक विकसित होता है और पशुओंमें चैत्य उपस्थितिकी प्रथम चमक दिखायी देती है)। फिर एक समय ऐसा आता है जब यह चैत्य पुरुष पर्याप्त मात्रामें विकसित हो जाता है और उसकी एक स्वतंत्र चेतना तथा उसका एक व्यक्तिगत संकल्प होता है। उसके बाद कम या अधिक व्यक्तिभावापन्न अनगिनत जीवनोंको बितानेके बाद वह अपने विषयमें सचेतन होता है, अपनी गतिविधियों तथा उस परिपार्श्वका ज्ञान प्राप्त करता है जिसे उसने अपने विकासके लिये चुना है। ज्ञानकी एक विशेष स्थितिमें आकर वह निर्णय करता है — साधारणतया जिस जीवनको वह अभी पृथ्वीपर बिता चुका है उसके अंतिम क्षणोंमें वह निश्चय करता है — कि वह अब अगले जीवनको किन अवस्थाओंमें बितायेगा। यहां मैं तुम्हें एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात बतला देना चाहती हूं, वह यह कि चैत्य पुरुष केवल भौतिक जीवनमें और पृथ्वीपर ही प्रगति कर सकता और अपना गठन कर सकता है। जैसे ही वह एक शरीर छोड़ता है वह विश्रामावस्थामें चला जाता है जो उसके अपने चुनाव तथा अपने विकासकी मात्राके अनुसार कम या अधिक दीर्घ कालतक बनी रहती है — वह विश्राम होता है आत्मसात् करनेके लिये, मानों निष्क्रिय प्रगतिके लिये, ऐसे निष्क्रिय विकासके लिये जो उस चैत्य पुरुषको नवीन अनुभूतियोंकी ओर जाने तथा अधिक सक्रिय उन्नति करनेका अवकाश प्रदान करता है। एक जीवन समाप्त करनेके बाद (जो

जीवन सामान्यतया तबतक समाप्त नहीं होता जबतक कि वह अपने अभीप्सित कार्यको पूरा नहीं कर लेता), वह उन परिस्थितियोंको चुनता है जिनमें वह फिर जन्म लेगा, लगभग उस स्थानको चुनता है जहां वह पैदा होगा, उन अवस्थाओं तथा जीवनके उस स्वरूपको निश्चित करता है जिसमें वह पैदा होगा और अनुभूतियोंका एकदम ठीक-ठीक क्रम निर्धारित करता है जिसमेंसे वह अपनी इच्छाके अनुसार प्रगति करनेके लिये गुजरना चाहता है।

मैं तुम्हें एक बिलकुल ठोस उदाहरण दे रही हूं। एक ऐसे चैत्य पुरुषको ले लो जिसने, किसी भी कारणवश, एक ऐसे प्राणीके शरीरमें प्रवेश करनेका निर्णय कर लिया है जिसके भाग्यमें राजा होना बदा है, क्योंकि केवल उन्हीं अवस्थाओंमें उसे अनुभूतियोंका एक लंबा-सा क्रम प्राप्त हो सकता है। एक राजाकी इन अनुभूतियोंमेंसे गुजर चुकनेके बाद वह देखता है कि एक पूरा-का-पूरा क्षेत्र ऐसा रह गया है जिसमें वह ठीक जीवनकी उन्हीं परिस्थितियोंके कारण प्रगति नहीं कर सकता जिनमें कि वह रह रहा है। अतएव, जब वह पृथ्वीपर अपना जीवन-काल समाप्त कर लेता है और जब प्रयाण करनेका निश्चय कर लेता है तो वह निर्णय करता है कि अपने अगले जीवनमें वह एक साधारण वातावरण और सामान्य अवस्थामें जन्म लेगा, न तो ऊंची न नीची स्थितिमें बल्कि ठीक ऐसी स्थितिमें जन्म ग्रहण करेगा जहां उसका नया शरीर वह सब करनेको स्वतंत्र होगा जिसे वह करना चाहता है। मैं यहां जब यह कहती हूं कि राजाका जीवन एक दासका जीवन होता है तो मैं तुमसे कोई नयी बात नहीं कहती; क्योंकि राजाको अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिये एक पूरी औपचारिकता और सभी प्रकारकी प्रथाओंके अधीन होनेके लिये विवश होना पड़ता है (यह संभवतः अहंकारी लोगोंके लिये बहुत सुखदायी होता है, पर एक चैत्य पुरुषके लिये सुखकारक नहीं होता; क्योंकि उसके कारण वह बहुत सारी अनुभूतियोंसे वंचित रह जाता है)। अतएव, ऐसा निर्णय लेनेके बाद, वह उन सब स्मृतियोंको अपने अंदर वहन करता है जो राजाके जीवनने उसे दी थीं और वह जितने दिन आवश्यक समझता है उतने दिन विश्राम करता है (यहां मैं यह कह दूं कि मैं एक ऐसे चैत्य पुरुषकी बात कहती हूं जो पूरी तरह स्वयं अपने निजी जीवनमें संलग्न है, वह कोई ऐसा चैत्य पुरुष नहीं है जिसने किसी कार्यविशेषमें अपनेको अर्पित किया है, क्योंकि उस हालतमें वह कर्म ही उसके भावी जीवनों तथा उनकी अवस्थाओंको निर्धारित करता है; मैं यहां ऐसे चैत्य पुरुषकी बात कर रही हूं जो अपना विकास पूरा करनेके कार्यमें व्यस्त है)। फिर वह निश्चय करता है कि एक विशेष

समयमें वह शरीर धारण करेगा। चूंकि उसे अबतक बहुत सारे अनुभव हो चुके हैं इसलिये वह जानता है कि अमुक देशमें चेतनाका अमुक अंश, अमुक देशमें चेतनाका अमुक अंग विकसित हुआ है आदि-आदि। अतएव वह उस स्थानको चुनता है जो उसे विकासकी अनुकूल संभावनाएं प्रदान करता है — देश, जीवनकी अवस्थाएं, माता-पिताका मोटा-मोटी स्वभाव तथा स्वयं शरीरकी अवस्थाएं, उसकी स्थूल रचना और अपने अनुभवके लिये आवश्यक गुणोंका चुनाव करता है। वह विश्राम करता है, फिर आवश्यक मुहूर्तमें, वह जगता और अपनी चेतनाको पृथ्वीपर प्रक्षिप्त करता है। वह उसे चुने हुए क्षेत्र तथा चुनी हुई अवस्थाओंमें केंद्रित करता है — अथवा करीब-करीब केंद्रित करता है, क्योंकि यहां थोड़ा-सा अवकाश होता है, चैत्य चेतनामें जीव स्थूल-भौतिक चेतनासे इतनी अधिक दूर होता है कि वह स्पष्ट रूपमें देखनेमें असमर्थ होता है, यह देखना महज मोटे रूपमें ही देखना होता है। वह देश या परिस्थितिके विषयमें भूल नहीं करता; वह चुने हुए लोगोंके आंतरिक प्रकंपनोंको एकदम साफ-साफ देखता है, पर वहां जरा-सी अनिश्चितता घटित हो सकती है। परंतु, ठीक उसी मुहूर्त्त, यदि पृथ्वीपर कोई दंपति हो, अथवा यों कहें कि कोई स्त्री हो जिसमें चैत्य अभीप्सा हो, और वह, चाहे किसी भी कारणवश, बिना जाने कि यह क्यों और कैसे संभव है, यह चाहे कि उसे कोई असाधारण बच्चा हो और वह कुछ असामान्य अवस्थाओंको पूरा करे, और यदि उस क्षण पृथ्वीपर यह अभीप्सा हो तो वह एक प्रकारका प्रकंपन पैदा करती है, एक चैत्य ज्योति उत्पन्न करती है जिसे चैत्य पुरुष तुरत देखता है और बिना हिचकिचाये उस ओर दौड़ पड़ता है। तब उसी क्षणसे (जो गर्भाधानका क्षण होता है) वह बच्चेके निर्माणका निरीक्षण करने लगता है, जिसमें कि वह निर्माण यथासंभव उसकी योजनाके अनुकूल हो। इस तरह उसका प्रभाव बच्चेके भौतिक जगत्‌में प्रकट होनेके पहलेसे ही उसपर रहता है।

यदि सब कुछ ठीक-ठीक हो, यदि कोई आकस्मिक घटना न हो (आकस्मिक घटनाएं सदा ही घट सकती हैं), जब बच्चा पैदा होनेवाला हो तब यदि सब कुछ ठीक ढंगसे संपन्न हो तो चैत्य शक्ति (संभवतः अपनी पूर्णताके साथ नहीं, बल्कि चैत्य चेतनाका एक अंश) बच्चेमें दौड़ आती है और उसके प्रथम रुदन-कालसे ही उसे उन अनुभवोंको प्राप्त करनेका प्रवेग देती है जिन्हें वह चाहती है कि बच्चा प्राप्त करे। फल यह होता है कि जब माता-पिता भी इस विषयमें सचेतन नहीं होते, जब बच्चा अपनी बाह्य चेतनामें पूर्णतः सचेतन नहीं होता (एक नन्हें बच्चेमें उसके लिये आवश्यक मस्तिष्क नहीं होता, वह धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा करके निर्मित होता है), तो

भी, इसके बावजूद भी, चैत्य प्रभावके लिये यह संभव होगा कि वह बच्चेके जीवनकी सभी घटनाओं, सभी परिस्थितियोंका परिचालन तबतक करता रहे जबतक वह अपने चैत्य पुरुषके साथ सचेतन संबंध स्थापित न कर सके (भौतिक रूपसे, सामान्यतया, चार और सात वर्षकी उम्रके बीच ऐसा होता है, कभी-कभी शीघ्र, कभी-कभी लगभग तुरत भी होता है, पर ऐसी स्थितिमें हम ऐसे बालकोंकी चर्चा करते हैं जो 'बालक' नहीं हैं, जिनमें ऐसे गुण हैं जिन्हें "अतिप्राकृत" कहते हैं — ये अतिप्राकृत नहीं होते, बल्कि महज चैत्य पुरुषकी उपस्थितिकी अभिव्यक्ति होते हैं)। परंतु ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें, शरीरतः किसी ऐसे आदमीसे मिलनेका सुयोग नहीं मिलता अथवा यों कहें कि मिलनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त होता जो उन्हें इस विषयकी शिक्षा दे सके, और फिर भी ऐसे लोगोंको ऐसा अनुभव होता है कि उनके जीवन-का प्रत्येक पग, प्रत्येक परिस्थिति किसी सचेतन सत्ताद्वारा व्यवस्थित की गयी है जिसमें कि वे अधिक-से-अधिक प्रगति कर सकें। जब उन्हें किसी विशेष परिस्थितिकी आवश्यकता होती है तो वह आ जाती है; जब उन्हें कुछ व्यक्तियोंसे मिलनेकी आवश्यकता होती है तो वे आ जाते हैं; जब उन्हें किन्हीं पुस्तकोंको पढ़नेकी आवश्यकता होती है तो वे देखते हैं कि वे पुस्तकें उनकी पहुंचके भीतर हैं। प्रत्येक वस्तु इस ढंगसे व्यवस्थित होती है मानो कोई व्यक्ति उनके ऊपर नजर रखता हो जिसमें कि उनके जीवनमें विकासकी अधिकतम संभावनाएं विद्यमान रहें। ऐसे लोग खूब मजेमें यह कह सकते हैं, "परंतु यह चैत्य पुरुष क्या चीज है?" क्योंकि किसीने उनसे बातें करते समय इन शब्दोंका प्रयोग नहीं किया है, अथवा उन्हें ऐसे किसी व्यक्तिसे मुलाकात नहीं हुई है जो उन्हें यह सब बतला दे। परंतु ऐसे लोगोंके लिये कभी-कभी इतना ही पर्याप्त होता है कि वे किसी व्यक्तिसे मिलें, बस, एक दृष्टि ही डालें और वे जागृत हो जाते हैं; उन्हें यह याद दिलानेके लिये बस एक शब्द ही पर्याप्त होता है: "परंतु मैं तो यह सब जानता था!"

जो चैत्य पुरुष अपने विकासकी अंतिम अवस्थाको पहुंच चुका है उसके विषयमें ठीक यही घटित होता है। उसके बाद, वह पृथ्वीपर आनेकी आवश्यकतासे बंधा नहीं रहता; वह अपना विकास पूरा कर चुका होता है और वह या तो भागवत कार्यमें अपनेको उत्सर्ग कर देनेका अथवा अन्यत्र, तात्पर्य, उच्चतर जगतोंमें चले जानेका चुनाव स्वतंत्रतापूर्वक कर सकता है। परंतु साधारण तौरपर, इस स्थितिमें पहुंच जानेपर वह उन सारी बातोंको याद रखता है जो उसके साथ घट चुकी होती हैं तथा उन लोगोंकी सहायताके लिये आनेकी महान् आवश्यकताको समझता है जो

कभी भी कठिनाइयोंमें छटपटा रहे हैं। ये चैत्य पुरुष भागवत कार्यमें अपनी सत्ताकी आहुति दे देते हैं — यह कोई निरपेक्ष, अनिवार्य बात नहीं है, वे स्वतंत्रतापूर्वक यह चुनाव करते हैं, और सौमें नब्बे चैत्य पुरुष बस यही करते हैं।

परंतु साधारण जीवनोंमें, — और इससे मेरा मतलब है, पर्याप्त रूपमें सुविकसित लोगोंसे श्रेष्ठ लोगोंके जीवनमें, — बाह्य सत्ता और चैत्य पुरुषके मध्यका संपर्क कटा-कटा होता है; वह किन्हीं अनुभवों या किसी आंतरिक आवश्यकताके परिणामस्वरूप घटित होता है। उस समय चैत्य पुरुष "सामने" होता है, जैसा कि श्रीअरविंद कहते हैं, अर्थात् वह चेतनाके ऊपरी भागमें आ जाता है, वह बहुत अल्पकालके लिये किन्हीं भौतिक परिस्थितियों, रूपों, शब्दों और ध्वनियों इत्यादिके सीधे संपर्कमें होता है; अतः वह उन सब चीजोंको फोटो या सिनेमाकी तरह अंकित कर लेता है, परंतु वह समय जीवनकालका बस एक मिनट, कुछ क्षण होता है। ये क्षण बार-बार प्रकट हो सकते हैं पर वे ठहरते नहीं; और बस इसी चीजको चैत्य पुरुष याद रखता है; और जब तुम्हें सच्ची चैत्य स्मृति होती है, शुद्ध सरल, सहज-स्वाभाविक होती है, प्राण या मनके द्वारा गढ़ी हुई नहीं होती, अर्थात् विशुद्ध रूपसे चैत्य, यथार्थ होती है तो तुम्हारी स्मृति विच्छिन्न होती है, लगातार घटनाओंका विवरण वह नहीं देती। और, अधिकांश समय अपने पूर्वजन्मोंका स्थान निर्धारित करना बहुत कठिन होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि "मैं यह था या वह!" जब तुम्हारे जीवनके किसी महत्त्वपूर्ण क्षणपर तुम्हें चैत्य अनुभूति प्राप्त हुई हो और परिस्थितियोंका समूचा क्रम मानो तुम्हें कहानीकी चाभी देता हो (पोशाक, कथित शब्द, रीति-रिवाज या कोई परिस्थिति चाभी देती हों) तो तुम कह सकते हो कि "हां, वह जीवन, उसे मैं जिता चुका हूं।" परंतु कोई व्यक्ति यदि आकर बंदरसे आरंभ कर अपने सभी पूर्वजन्मोंकी कहानी, ब्योरोंके एक ढेरके साथ, सुनाये तो तुम्हें विश्वास कर लेना चाहिये कि यह सब बेकार बातें हैं।

आपने चैत्य पुरुषके अपने शरीरमें आनेके विषयमें "संयोग"की बात कही है।

नहीं, मैंने "आकस्मिक घटना"की बात कही है: आकस्मिक घटना ठीक संयोग नहीं है।

जीवनमें विरोधी शक्तियोंके बीच सदा संघर्ष चला करता है, और

इस संघर्षके परिणामको पहलेसे देख लेनेमें मनुष्य बराबर असमर्थ होता है। हां, जब वह उच्चतम चेतनामें सचेतन होता है केवल तभी वह उसे देख सकता है। जो चेतना मानवीय चेतनासे परे नहीं जाती उससे तुम इस संघर्षके परिणामको नहीं जान सकते और इसलिये तुम उसे "आकस्मिक" कहते हो। यह कोई संयोग नहीं है, यह अकारण होनेवाली आकस्मिक घटना भी नहीं है बल्कि ऐसी आकस्मिक घटना है जो ऐसे कारणसे घटित हुई है जिसे पहलेसे जान लेनेकी स्थितिमें मनुष्य नहीं होता।

स्वप्नमें, मैंने समझा कि मैंने पहलेके किसी संन्यासी-जीवनके दृश्य देखे।

यहां (भारतमें) यह अंतर्विश्वास कि आध्यात्मिक जीवन बितानेके लिये संन्यासीका जीवन ग्रहण करना आवश्यक है, इतना प्रबल है कि संभवतः इसी कारण तुमने वे दृश्य देखे। पर जो हो, यदि वह वास्तवमें तुम्हारा कोई पूर्वजन्म हो तो वह अंतिम जन्म नहीं था। तुमने निश्चय ही इस बीच अन्य जीवन बिताये होंगे, क्योंकि ऐसे विरल ही होता है कि कोई जीव बहुत बार लगातार एक ही देशमें जन्म ग्रहण करता है — इससे बहुत अधिक लाभ नहीं होता। यह यदि, उदाहरणार्थ, प्राथमिक ईसाई कालका संन्यासी-जीवन होता तो तुमने कुछ विशिष्ट ब्योरेकी चीजोंको देखा होता: जैसे, तुम्हारी त्वचाका भिन्न रंग, पोशाक इत्यादि, जब कि तुमने शायद भारतीय जीवनके परिचित दृश्योंको देखा . . .। निस्संदेह, प्रत्येक चीज संभव है। यह विश्व इस ढंगसे निर्मित हुआ है कि सभी संभव वस्तुएं यहां संसिद्ध हो सकती हैं: परंतु जैसा कि मैं कह चुकी हूं कि ऐसा विरल ही होता है कि कोई बहुत बार एक ही देशमें पैदा होता है, जबतक कि उसे किसी विशेष उद्देश्यको दृष्टिमें रखकर कोई विशेष कार्य न संपन्न करना हो; और तब यह बहुत विरल बात है कि मनुष्य उसे न जाने, क्योंकि इसका मतलब है कि चैत्य पुरुष पूर्ण रूपसे निर्मित हो चुका है और उसने स्वयं किसी विशेष कार्यको करनेके लिये या जो कुछ करना उसने पहलेसे आरंभ कर दिया है उसे जारी रखनेके लिये उसी देशमें आनेका चुनाव किया है।

बहुत-से लोग अतीतमें संन्यासी-जीवन बिता चुके हैं, क्योंकि यहां समष्टि-गत अंतर्विश्वास बहुत प्रबल है। यहां किसी व्यक्तिके लिये यह न सोचना बहुत विरल है कि अपने-आपको पूर्ण बनानेके लिये और आध्यात्मिक जीवन बितानेके लिये मनुष्यको संसार छोड़ना ही होगा।

कुछ स्वप्न रूपात्मक और पूर्वसूचक भी होते हैं, पर बहुत कम स्वप्न पूर्वजन्मोंकी सच्ची स्मृतियोंसे बने होते हैं, क्योंकि उसके लिये मनुष्यको अपनी चैत्य चेतनामें स्वप्न देखना चाहिये और बहुत थोड़े लोग ही होते हैं जो ऐसा करनेमें समर्थ होते हैं। साधारणतया मनुष्य मानसिक या प्राणिक चेतनामें स्वप्न देखता है, पर कोई विरला ही चैत्य चेतनामें स्वप्न देखता है। ऐसा हो सकता है, पर होता बहुत कम है।

कभी-कभी ऐसे स्वप्न आते हैं जिन्हें मनुष्य स्मृतियां समझ बैठता है, पर वे केवल प्रतीक होते हैं: जो कुछ मनुष्य देखता है वह मानसिक संरचनासे आता है और आंतरिक पर्देपर विषयीभूत हो जाता और एक नाटकीय दृश्य बन जाता है, मानों, जिसमें तुम एक अभिनेता होते हो।

यहां भारतमें प्रायः ही बच्चे किसी गांवमें पैदा होते हैं और वे, जब बहुत छोटे होते हैं, उस गांव तथा अपने माता-पिता आदिके विषयमें ठीक-ठीक विवरण देते हैं जहां वे पहले रह चुके हैं। क्या यह सही है?

हां, पर साधारण तौरपर ऐसे वे बच्चे होते हैं जो बचपनमें या बहुत कम उम्रमें मर गये होते हैं और जिनका पूर्वजीवन पूरी तरह नहीं बिताया गया था। ऐसा हो सकता है।

किस बातसे चैत्य पुरुषकी प्रगति होती है?

व्यक्तीकरणसे, सब प्रकारकी अनुभूतियां प्राप्त करने तथा उन्हें दिव्य केन्द्रके चारों ओर संघटित करनेकी क्षमता प्राप्त करनेसे।

चैत्य पुरुषका उद्देश्य है एक व्यक्ति-सत्ताका निर्माण करना जो भागवत केन्द्रके चारों ओर व्यक्ति-रूप ग्रहण करे, "मूर्तिमान्" हो। साधारणतया बाहरी जीवनकी सभी अनुभूतियां (जबतक कि कोई योग ही न करने लगे और सचेतन न होने लगे) आंतर सत्ताको संगठित किये बिना ही गुजर जाती हैं, परंतु चैत्य पुरुष इन अनुभूतियोंको एक क्रममें व्यवस्थित करता है। यह भगवान्‌के प्रति एक विशेष प्रकारका मनोभाव आयत्त करना चाहता है। इसलिये यह उन सभी अनुकूल अनुभूतियोंकी प्रतीक्षा करता है जो इसे मानो एकके बाद एक सुअवसरोंकी एक पूरी शृंखला प्रदान करें और उससे इसे भगवान्‌के प्रति उस मनोभावको उपलब्ध करनेमें सुविधा हो। उदाहरणके लिये किसी एक व्यक्तिको ले लो जो आभिजात्यका अनुभव लेना

चाहता है — ऐसे आभिजात्यका जो यह मांग करता हो कि वह सामान्य मनुष्यकी तरह आचरण नहीं कर सकता, जो तुम्हारे अंदर एक ऐसी बहादुरी, साहस भर देता है जो प्रायः दुःसाहसिकताके जैसा प्रतीत होता हो, क्योंकि वह मनोभाव, वह अनुभव यह मांग करता है कि तुम्हें जरा भी भयका भाव दिखाये बिना खतरेका सामना करना चाहिये। मैं अभी तुम लोगोंसे कह रही थी कि मैं तुम्हें समझाऊंगी कि मनुष्य एक राजाके शरीरमें प्रवेश करके क्या उपलब्ध कर सकता है। राजा एक सामान्य मनुष्य होता है, अन्य लोगोंकी तरह ही होता है न? उसमें कोई विशेष चेतना नहीं होती, परंतु अपने जीवनकी आवश्यकताओंके कारण, अपनी प्रजाके लिये एक प्रकारका प्रतीक होनेके कारण, कुछ-कुछ ऐसी चीजें होती हैं जिन्हें करनेके लिये वह बाध्य होता है, जिन्हें वह कभी न कर पाता यदि वह एक साधारण मनुष्य होता। मैं अनुभवसे जानती हूं; परंतु मैंने ऐसे चित्रोंको देखते समय भी यह लक्ष्य किया है जिनमें एक राजाका उसकी वास्तविक परिस्थितियोंमें चित्रण था। कुछ घटित हुआ, शायद उसके जीवनको समाप्त करनेका प्रयास किया गया, पर वह व्यर्थ निकला। उन चित्रोंमें यह दिखाया गया था कि राजा एक सैन्यदलका निरीक्षण करता हुआ जा रहा था, अकस्मात् कोई दौड़ आया शायद किसी बुरी नीयतसे अथवा शायद यों ही, क्योंकि कुछ भी घटित नहीं हुआ; पर जो हो, राजा पूरी तरह निरुद्विग्न, एकदम शांत-स्थिर बना रहा — उसके होठोंपर वही मुस्कान थी, जहां वह था वहांसे जरा भी इधर-उधर नहीं हटा; और वह बिलकुल नजरके सामने था, उस आदमीके लिये उसे निशाना बनाना बड़ा आसान था जो उसपर आक्रमण करना और उसे आहत करना चाहता था। जहांतक मैं जानती हूं, वह कोई बहादुर राजा नहीं था, परंतु इसलिये कि वह एक राजा था वह वहांसे भाग न सका! ऐसा करना उसके आभिजात्यके विपरीत होता। इसलिये वह शांत, अचल बना रहा और जरा भी ऊपरसे भयका भाव नहीं दिखाया। यह एक उदाहरण है जो यह बतलाता है कि मनुष्य एक राजाके जीवनमें क्या सीख सकता है।

रानी एलिज़ाबेथके विषयमें भी एक सच्ची कहानी प्रचलित है। वह अपने जीवनके अंतिम दिनोंको पहुंच चुकी थीं और सख्त बीमार थीं। परंतु उन दिनों देशमें कई तरहकी दिक्कतें चल रही थीं। टैक्सके प्रश्नको लेकर कुछ लोगोंने (शायद व्यापारी लोग थे) जनताके दलके नामसे एक अर्जी पेश करनेके लिये एक शिष्टमंडल बनाया था। रानी अपने कमरेमें सख्त बीमार पड़ी थीं, इतनी बीमार थीं कि वह मुश्किलसे खड़ी

हो सकती थीं। परंतु वह उठ खड़ी हुईं और उनसे मिलनेके लिये उन्होंने पोशाक पहन ली। जो महिला उनकी सेवाके लिये नियुक्त थी, चिल्ला पड़ी, "परंतु यह असंभव है, इस तरह तो मृत्यु हो जायगी!" रानीने शांतिसे उत्तर दिया, "हम बादमें मरेंगी।".... यह उन अनुभवोंमेंसे एक उदाहरण है जिन्हें मनुष्य राजाके जीवनमें प्राप्त कर सकता है, और यही चीज है जो चैत्य पुरुषके चुनावको सही साबित करता है जब वह इस प्रकारका जीवन ग्रहण करता है।

इसी प्रकारकी स्मृतियां अनुभवकी प्रामाणिकताको सिद्ध करती हैं। क्योंकि मनुष्य जब अपने पूर्वजन्मोंकी बात कहते हैं तब साधारणतया जो कुछ होता है वह है: उन जीवनोंमें बराबर ही एक प्रगति होती है, यह स्वाभाविक बात है। फिर वे, कम या अधिक अद्‌भुत परिस्थितियोंमें, कम या अधिक आकर्षक व्यक्ति बन जाते हैं! यह गलत बात है, बातें इस प्रकार कभी घटित नहीं होतीं। चैत्य पुरुष जीवनकी एक विशेष प्रकारकी धाराका अनुसरण करता है जिससे कुछ खास गुण, कुछ विशेष शक्तियां आदि विकसित होती हैं; परंतु चैत्य पुरुष सर्वदा यह देखता है कि उसमें क्या कमियां हैं और वह भावी जीवनमें एक विपरीत धाराको भी, मानों उस अनुभवका खंडन करनेवाली उस धाराको भी चुन सकता है ताकि वह पूरक अनुभवोंको प्राप्त कर सके।

२६ फरवरी, १९५१

"योगकी प्रारंभिक अवस्थाओंमें, क्या साधारण पुस्तकें पढ़ना साधकके लिये अच्छा है?"

—वार्तालाप (१९२९)

यह एक ऐसा प्रश्न है जो मुझसे बहुत बार पूछा गया है। यदि कोई व्यक्ति मुझे ऐसा बता सके कि साधारण पुस्तकें पढ़नेका क्या प्रभाव उसपर पड़ता है तो उससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।

साधारण पुस्तकें मुझे थका देती हैं।

यह एक अच्छा चिह्न है।

वे मनको विश्रांति प्रदान करती हैं और मुझपर उनका कोई असर नहीं होता।

नहीं! अवचेतना प्रत्येक चीज अंकित कर लेती है, और तुम यदि यह समझते हो कि साधारण पुस्तक कोई प्रभाव नहीं डालती तो इसका मतलब है कि तुम्हारे अंदर जो कुछ हो रहा है उसके विषयमें तुम सचेतन नहीं हो। प्रत्येक बार जब तुम कोई पुस्तक पढ़ते हो जिसमें चेतना बड़ी निम्न होती है तो वह तुम्हारी अवचेतना और निश्चेतनाको बलवती बनाती है— वह तुम्हारी चेतनाको ऊपर उठनेसे रोकती है। वह चीज मानों ऐसी है कि तुमने अपनी अवचेतनाको शुद्ध करनेके लिये जो कुछ प्रयास किया था उसपर गंदे पानीकी कई बाल्टियां उंडेल दी हों।

यह अनिवार्य है, पर ऐसे लोग होते हैं जिन्हें यह ज्ञान ही नहीं होता कि उनकी चेतना बहुत नीचे गिर गयी है।

एक ऐसी स्थिति है जिसमें एक मामूली बातचीतसे, जो तुम्हें साधारण जीवनके स्तरपर बने रहनेके लिये बाध्य करती है, तुम्हें सिरदर्द हो जाता है, तुम्हारा पेट खराब हो जाता है और यदि वह जारी रहे तो उससे ज्वर भी हो सकता है। अवश्य ही यहां मैं गप-शप जैसी बातचीतकी चर्चा कर रही हूं। मैं समझती हूं कि थोड़े-से अपवादोंको छोड़कर सभी लोग इस आदतको प्रश्रय देते हैं और ऐसी चीजोंके विषयमें बातचीत करते हैं जिनके विषयमें उन्हें मौन रहना चाहिये अथवा दूसरी चीजोंके विषयमें बातें करनी चाहियें। यह इतना स्वाभाविक हो जाता है कि उससे तुम्हें कोई दिक्कत नहीं होती। परंतु तुम यदि इस तरह करना जारी रखो तो तुम अपनी चेतनाको ऊपर उठनेसे पूरी तरह रोकते हो; तुम अपने-आपको साधारण चेतनाके साथ लोहेकी जंजीरसे बांध देते हो और अवचेतनामें कार्य संपन्न नहीं होता या यहांतक कि आरंभ ही नहीं होता। जो लोग ऊपर उठना चाहते हैं उन्हें पहलेसे ही पर्याप्त कठिनाइयां हैं, उन्हें बाहरसे और बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं।

स्वभावतः ही, चेतनाको उच्चतर स्तरपर बनाये रखनेके प्रयाससे आरंभ-में थकावट होती है, ठीक जैसे कि वे व्यायाम होते हैं जिन्हें तुम अपनी मांसपेशियोंको विकसित करनेके लिये करते हो। परंतु उसके कारण तुम अपने व्यायाम नहीं छोड़ देते! अतएव मानसिक तौरपर भी तुम्हें वही चीज करनी चाहिये। तुम्हें अपने मनको नीचे गिरनेका अवकाश

नहीं प्रदान करना चाहिये: "गपशप करना" तुम्हें नीचे गिराता है और, तुम यदि योग करना चाहते हो तो तुम्हें उससे अवश्य बचना चाहिये, बस, इतना ही।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं) : "**...तुम धार्मिक पुस्तकें पढ़ सकते हो और फिर भी भगवान्‌से बहुत दूर रह सकते हो; और तुम अत्यंत निकम्मी रचनाएं पढ़ सकते हो और भगवान्‌के संपर्कमें रह सकते हो...। भगवान्‌के साथ एकत्वमें रहनेवाली एक प्रकारकी चेतना है जिसमें तुम जो कुछ पढ़ते हो उससे आनंद प्राप्त कर सकते हो, जैसे तुम जो कुछ देखते हो उससे आनंदित हो सकते हो....। क्योंकि संसारमें ऐसी कोई चीज नहीं जिसका अंतिम सत्य और आधार भगवान्‌में न हो....। और तुम यदि बाह्य रूपपर भौतिक या नैतिक या सौंदर्यात्मक रूपपर रुक न जाओ तो तुम उस वस्तुके द्वारा भी सौंदर्य और आनंदतक पहुंच जाओगे जो साधारण बुद्धिको महज कुरूप, तुच्छ, दुःखदायी या असमंजस वस्तु मालूम होती...।**"
(वही)

चेतनाकी जिस स्थितिकी बात मैं यहां कह रही हूं उसे प्राप्त करना बड़ा कठिन है। यह एक ऐसी साधना है जिसमें वर्षों लगे रहनेकी आवश्यकता होती है और यह वह सिद्धि है जो प्रत्येक व्यक्तिकी पहुंचके अंदर नहीं है। परंतु एक मध्यवर्ती स्थिति है जिसके भीतरसे मनुष्यको गुजरना होता है: यह वह अवस्था है जिसमें मनुष्य जो कुछ सुनना या देखना नहीं चाहता उस सबसे अपना संबंध विच्छिन्न कर लेता है।

(श्रीमाताजी दूसरे प्रश्नपर आ जाती हैं) : "**....स्पष्ट ही जो कुछ घटित होना था वह घटित हुआ है; यदि वह अभीप्सित न होता तो वह घटित न हुआ होता। यहांतक कि जो भूलें हमने की हैं और जो आपदाएं हमारे ऊपर आयी हैं उन्हें आना ही था, क्योंकि उनकी भी हमारे जीवनके लिये कुछ आवश्यकता, कुछ उपयोगिता थी। परंतु वास्तवमें इन चीजोंको मनके द्वारा नहीं समझाया जा सकता और समझाना चाहिये भी नहीं। कारण जो कुछ घटित हुआ वह सब किसी मानसिक कारणसे आवश्यक नहीं था बल्कि हमें उस वस्तुकी ओर ले जानेके लिये आवश्यक था जो मनकी कल्पनाओं-**

से अतीत है। परंतु आखिरकार क्या इस सबकी व्याख्या करनेकी कोई जरूरत है? यह समूचा विश्व ही प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तुकी व्याख्या कर रहा है और कोई विशिष्ट वस्तु इसलिये घटित होती है कि संपूर्ण विश्व वही है जो कि वह है।"

(वही)

समूचा विश्व प्रत्येक मुहूर्त प्रत्येक वस्तुकी व्याख्या कर रहा है। यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यदि कोई व्यक्ति कोई भाषा सीखना चाहे तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि वह साधारण पुस्तकें पढ़े, जैसे कि एलेक्जेंडर डूमासकी पुस्तकें?

हां, यदि कोई व्यक्ति भाषा सीखनेके लिये, यह समझनेके लिये पढ़ता है कि कोई लेखक अपनी बात कैसे व्यक्त करता है, तो यह एकदम ठीक है। परंतु इस बातको चाहे जिस किसी पुस्तकको पढ़नेका एक बहाना नहीं बना लेना चाहिये।

क्या काल्पनिक कहानियोंका कोई मूल्य नहीं है?

यह निर्भर करता है कल्पनाके स्वरूपपर। यदि तुम यह कहो कि अपनी कल्पना-शक्तिको विकसित करना एक अच्छी बात है तो यह सच है, केवल तुम्हें इस बातके लिये सावधान रहना होगा कि कहीं तुम असत्यपूर्ण कल्पना न विकसित कर लो।

क्या काल्पनिक कहानियां हमें जीवनके, सत्यके संपर्कमें नहीं ले आतीं?

सर्वदा नहीं! और "सत्यके संपर्क" का तात्पर्य क्या है? — बालूके एक कणमें भी एक सत्य है। उसका कुछ भी अर्थ नहीं है।

क्या तुम नहीं समझते कि इस संसारमें कुत्सित वस्तुएं पर्याप्त हैं और इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि कोई व्यक्ति पुस्तकोंमें उनका चित्रण करे? यह चीज बराबर ही मुझे आश्चर्यमें डालती रही है, यहांतक कि जब मैं बच्ची थी तब भी — कि जीवन इतना गर्हित है, नीच, कष्टकर, यहांतक कि कभी-कभी घृणास्पद वस्तुओंसे इतना भरा होता है, फिर भला

जो चीजें पहलेसे हैं उनसे अधिक बुरी वस्तुओंकी कल्पना करनेसे क्या लाभ? यदि तुम किसी अधिक सुन्दर वस्तुकी, किसी अधिक सुन्दर जीवनकी कल्पना करते तो वह कष्टके उपयुक्त होता। जो लोग गंदी बातें लिखनेमें सुख पाते हैं वे अपनी मन-बुद्धिकी दरिद्रता ही सूचित करते हैं — यह सर्वदा ही मन-बुद्धिकी दरिद्रताका लक्षण होता है। सच पूछो तो किसी उत्तेजनात्मक घटना या घोर विपत्तिके साथ समाप्त होनेवाली कोई कहानी लिखनेकी अपेक्षा आदिसे अंततक कोई सुन्दर कहानी कहना अनंतगुना अधिक कठिन है। बहुत-से लेखकोंको यदि सुखपूर्वक, सुन्दरताके साथ समाप्त होनेवाली कहानी लिखनी हो तो वे उसे लिखनेमें समर्थ नहीं होंगे — उसके लिये उनके पास पर्याप्त कल्पना नहीं होती। बहुत कम कहानियोंका अंत (मानव-चेतनाको) ऊपर उठानेवाला होता है, लगभग सभी कहानियोंका अंत असफलतामें होता है — इसका बड़ा सीधा-सा कारण है, ऊपर उठनेकी अपेक्षा नीचे गिरना बहुत अधिक आसान है। सच पूछो तो अपनी कहानीको महानता और गौरवके स्वरके साथ समाप्त करना, अपने नायकको आत्मातिक्रमणकी चेष्टा करनेवाला एक प्रतिभासंपन्न व्यक्ति बनाना बहुत अधिक कठिन है, क्योंकि उसके लिये स्वयं लेखकको भी एक प्रतिभाशाली व्यक्ति बनना होगा, और यह चीज प्रत्येक व्यक्तिको नहीं प्राप्त होती।

जब कोई व्यक्ति साधारण पुस्तकें पढ़ता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह लेखकके मनमें प्रवेश कर रहा है और वह सर्वदा सुखदायी नहीं होता। मैंने यह भी लक्ष्य किया है कि जब हम किसी बाहरके व्यक्तिसे किसी व्यापार या कामके विषयमें बातचीत करते हैं तो वार्तालाप अच्छा और दिलचस्प हो सकता है, पर ज्यों ही उसी व्यक्तिके साथ उसके व्यक्तिगत जीवनके विषयमें बातचीत करते हैं, वार्तालाप तुरत कष्टदायी बन जाता है।

हां, क्योंकि कर्म, विशेषतः यदि वह तकनीकी हो, मनुष्यके अंदरकी सर्वोत्तम वस्तुकी अभिव्यक्ति होता है, जब कि अपने व्यक्तिगत जीवनमें वह निम्नतर स्तरपर उतर आता है और इसके बहुत ही कम अपवाद होते हैं। कितने ही प्रसिद्ध विद्वान्, लेखक, कलाकार जो अद्‌भुत चीजें निर्मित करते हैं, ज्यों ही एक बार अपने घरमें घुसते हैं, गर्हित पति, बुरे पिता, अपने चारों ओरके व्यक्तियोंके लिये असहनीय व्यक्ति बन जाते हैं।

और मैं यहां एक उत्कृष्ट श्रेणीकी बात कह रही हूं, उन लोगोंकी जो विशेष अध्ययन, आविष्कार आदि करते हैं, बड़ी-बड़ी संस्थाएं चलाते हैं: बाहर वे असामान्य लोग, महान् योग्यताओंवाले लोग होते हैं; घर वापस आनेपर वे सामान्य जन और बहुधा असह्य बन जाते हैं — उन्हें एक अच्छा मौका मिलता है, वे विश्राम करते हैं, अपनेको शिथिल करते हैं। और जब वे अपना मनोरंजन करने लगते हैं तब तो मानों सबके अंतिम छोरपर पहुंच जाते हैं! मैं अत्यंत बुद्धिशाली, श्रेष्ठ कलाकार लोगोंसे परिचित थी जो, जैसे ही वे "शिथिल होना" आरंभ करते, एकदम मूढ़ बन जाते! वे अत्यंत अश्लील कार्य करते, कुशिक्षित बच्चोंकी तरह व्यवहार करते — वे अपनेको शिथिल करते। प्रत्येक चीज शिथिल होनेकी इस "आवश्यकता" के कारणसे आती है; और अधिकांश लोगोंके लिये इसका मतलब क्या होता है? इसका मतलब होता है, सर्वदा, एक निम्न स्तरपर उतर आना। वे यह नहीं जानते कि सच्चे शिथिलीकरणके लिये हमें एक डिग्री ऊपर उठना चाहिये, अपने-आपको अतिक्रांत करना चाहिये। यदि मनुष्य नीचे जाता है तो इससे उसकी थकावट बढ़ जाती है और जड़ता आती है। इसके अतिरिक्त, जितनी बार मनुष्य नीचे आता है, अवचेतनाके बोझको बढ़ाता है — उस विशाल बोझको जिसे हमें बार-बार साफ करना चाहिये, साफ करते रहना चाहिये यदि हम ऊपर चढ़ना चाहें, यह चीज हमारे पैरोंकी बेड़ियोंकी तरह है। परंतु इस बातको सिखाना कठिन है, क्योंकि इसे दूसरोंको सिखानेसे पहले मनुष्यको स्वयं अपने-आप जानना चाहिये।

यह कमी बालकोंको नहीं सिखाया जाता, उन्हें संसारकी सभी मूर्खताएं करने दिया जाता है और यह बहाना दिया जाता है कि उन्हें शिथिलीकरणकी आवश्यकता है।

स्वयं अपनेसे नीचे डूबकर हम थकावट नहीं दूर कर सकते। हमें सीढ़ीके ऊपर चढ़ना होगा और वहां हमें सच्चा विश्राम प्राप्त होगा, क्योंकि वहां आंतरिक शांति, ज्योति, वैश्व शक्ति विद्यमान हैं। और इस तरह धीरे-धीरे मनुष्य उस सत्यके संपर्कमें आता है जो उसके जीवनका सच्चा कारण है।

यदि तुम उसके साथ निश्चित रूपमें संपर्क प्राप्त कर लो तो वह सारी थकावटको पूर्ण रूपसे दूर कर देता है।

जब कोई अपनी भूलें जान लेता है तो वह उन्हें फिर नहीं कर सकता, नहीं न?

यदि मनुष्य सच्चा हो तो, नहीं। यदि तुम उन्हीं मूलोंको कई बार दुहराते रहो तो तुम बिना संदेह यह मान सकते हो कि अपने अंदर कहींपर तुम सच्चे नहीं हो। जब कोई अपनी भूल जान जाता है और फिर भी उसे दुहराता है तो इसका अर्थ है कि उसकी चेतनाके किसी बाहरी भागने ही उसे जाना है और बाकी भाग उससे पूर्णतः संतुष्ट है और साधारण तौरपर उसका समर्थन करता है। तुम कोई भूल करनेका खतरा उठाये बिना अपने-आपसे कह सकते हो: "यदि मैं एक ही भूलको दुहराता हूं तो मैं सच्चा नहीं हूं।" अतएव सच्चा बननेका प्रयास करो।

जब कोई व्यक्ति दूसरोंसे बातचीत करता है तो वह बहुत कम किसी समझौतेपर पहुंचता है, क्योंकि लोग एक ही ढंगसे चीजोंको नहीं देखते। अथवा मैं यदि दूसरेके दृष्टिकोणको समझता हूं तो उसे स्वीकार नहीं कर पाता।

इसका अर्थ है कि तुम नमनीय नहीं हो। तुम्हें निश्चित रूपसे जानना चाहिये कि यदि तुम किसी व्यक्तिसे ऊब उठते हो तो वह भी तुमसे ऊब उठेगा। यदि तुम दूसरेके स्थानपर अपने-आपको रखनेके मनोभावको न ग्रहण करो तो तुम कभी किसी निष्कर्षपर नहीं पहुंच सकते, यह अपरिहार्य है। जब कोई व्यक्ति तुमसे कुछ कहता है और उसे तुम नहीं समझते तो तुम्हें यह नहीं कहना चाहिये कि "यह कुछ नहीं जानता," बल्कि तुम्हें उसकी बात समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। यदि तुम बिलकुल सच्चा बनना चाहते हो तो जब कोई बच्चा तुम्हारे पास आकर तुमसे कुछ कहे और तुम उसे न समझो तो तुम्हें यह नहीं कहना चाहिये कि "यह बच्चा नादान है," बल्कि यह कहना चाहिये कि "सचमुचमें नादान मैं हूं, क्योंकि मैं उसकी बात नहीं समझता!"

किसी समस्यापर दृष्टिपात करनेके सैकड़ों तरीके हैं। यदि तुम समाधान पाना चाहते हो तो तुम्हें एकके बाद एक सभी मूल वस्तुओंको लेना चाहिये, उनसे ऊपर उठ जाना चाहिये और यह देखना चाहिये कि ये सुसमंजस किस प्रकार होते हैं।

चेतनाकी एक ऐसी अवस्था है जिसे हम "विज्ञानमय" नाम दे सकते हैं, जिसमें तुम 'एक ही साथ' सभी सिद्धांतों, सभी विश्वासों, सभी भावनाओंको देखनेमें समर्थ हो जाते हो जिन्हें मनुष्योंने अपनी उच्चतम चेतनाद्वारा व्यक्त किया है। तुम अत्यंत विपरीत धारणाओंको, जैसे बौद्धों, वैदांतिकों, ईसाइयोंके सिद्धांतोंको, सभी दार्शनिक सिद्धांतोंको, मनुष्यके मनने जब कभी

सत्यके किसी छोटे-से कोनेको पकड़नेका यत्न किया और जो कुछ व्यक्त किया उस सबको एक साथ देख सकते हो। और उस अवस्थामें, तुम प्रत्येक वस्तुको न केवल उसके स्थानमें रखते हो बल्कि प्रत्येक वस्तु तुम्हें अद्‌भुत रूपमें सत्य और किसी वस्तुके विषयमें कुछ भी समझनेमें समर्थ होनेके लिये बिलकुल अपरिहार्य प्रतीत होती है। चेतनाकी एक ऐसी अवस्था है.... ओह, मैं तुम्हें ऐसी बातें कहने जा रही थी जिसे तुम अभी नहीं समझ सकते। मैं तुम्हें एक अधिक सरल उदाहरण दूंगी। अनातोल फ्रांस (Anatole France) ने अपनी एक पुस्तकमें कहा है: "जबतक मनुष्यने यह प्रयास नहीं किया कि जगत् उन्नति करे तबतक सब कुछ अच्छे रूपमें चलता रहा और प्रत्येक व्यक्ति संतुष्ट था — अपने-आपको पूर्ण बनाने अथवा जगत्‌को पूर्ण बनानेकी कोई चिंता नहीं थी, फलस्वरूप सब कुछ ठीक-ठीक चलता रहा। अतएव सबसे बुरी बात है दूसरोंसे प्रगति करानेकी इच्छा करना; वे जो कुछ चाहें उन्हें करने दो और किसी बातकी चिंता न करो, यह अधिक विज्ञताकी बात होगी।" इसके विपरीत, दूसरे लोग तुमसे कहते हैं: "एक 'सत्य' है जिसे पाना होगा; जगत् अज्ञानकी स्थितिमें है और हमें, किसी भी मूल्यपर, रास्तेकी कठिनाईके बावजूद, मनुष्यकी चेतनाको प्रदीप्त करना होगा और उसको उसके अज्ञानसे बाहर खींच लाना होगा।" परंतु मैं तुमसे कहती हूं कि चेतनाकी एक ऐसी अवस्था है जिसमें देखनेके ये दोनों तरीके पूर्ण रूपसे और एक समान सत्य हैं। स्वभावतः ही, यदि तुम केवल दो ही पक्षोंको लो तो सुस्पष्ट देखनेमें कठिनाई होगी; तुम्हें मानव-बुद्धिद्वारा दृष्ट सत्यके सभी पक्षोंको देखनेमें समर्थ होना होगा और.... उससे भी अधिक कोई चीज। और तब, उस स्थितिमें, कोई भी चीज पूर्णतः मिथ्या, कोई भी चीज पूर्णतः बुरी नहीं है। उस स्थितिमें मनुष्य सभी समस्याओं, सभी कठिनाइयों, सभी संघर्षोंसे मुक्त होता है और प्रत्येक वस्तु तुम्हें आश्चर्यजनक रूपमें सुसमंजस प्रतीत होती है।

परंतु तुम यदि मनके द्वारा इस स्थितिकी नकल करनेका प्रयास करो— समझते हो न? उसका मानसिक अनुकरण करना चाहो — तो तुम्हें निश्चित रूपसे जानना चाहिये कि तुम मूर्खतापूर्ण बातें करोगे; तुम उन लोगोंमेंसे एक व्यक्ति होगे जिनके मस्तकमें अस्तव्यस्तता भरी होती है और जो अत्यंत विरोधी बातें कह सकते हैं और इस विषयमें जरा भी सज्ञान नहीं होंगे।

उस अवस्थामें कोई भी विपरीतता नहीं होती — वह एक सर्वांगपूर्ण स्थिति है और ऐसी सर्वांगपूर्ण जिसमें अभिव्यक्त समस्त सत्योंका (जो

संपूर्ण 'सत्य'को अभिव्यक्त करनेमें समर्थ नहीं होते) मनुष्यको पूरा ज्ञान हो जाता है, जिसमें मनुष्य यह जान जाता है कि सभी वस्तुओंका अपना-अपना स्थान क्या है, विश्व क्यों और किन वस्तुओंसे निर्मित हुआ है। केवल — मैं यह बात तुम्हें जल्द ही बता देती हूं — बात यह है कि यह स्थिति मनुष्य व्यक्तिगत प्रयाससे नहीं प्राप्त कर सकता; यह बात नहीं कि चूंकि मनुष्य इसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है इसलिये इसे प्राप्त करता है। तुम सहज-स्वाभाविक रूपमें वही बन जाते हो। यदि तुम कहना चाहो तो कह सकते हो कि यह पूर्ण मानसिक सच्चाईका शीर्षबिन्दु है, जब कि तुममें अब कोई पक्षपात, कोई अभिरुचि, किसी भावनाके प्रति कोई आसक्ति नहीं रह जाती, जब तुम सत्यको जाननेका अब कोई प्रयास-तक नहीं करते।

तुम महज 'ज्योति'के भीतर खुले रहते हो, बस।

मैं तुम लोगोंसे आज शामको यह इसलिये कह रही हूं कि किसी एक व्यक्तिके द्वारा जो कुछ संपन्न हो चुका है, जो कुछ संसिद्ध हो चुका है वह दूसरेके द्वारा भी संसिद्ध हो सकता है। यह काफी है कि एक व्यक्ति, एक मानव-शरीर उसे उपलब्ध करनेमें समर्थ हो चुका है और उससे यह आश्वासन मिलता है कि वह किया जा सकता है। तुम इसे अभी भी बहुत दूरकी बात मान सकते हो, पर तुम कह सकते हो, "हां, विज्ञानमय जीवन निश्चित है, क्योंकि इसका संसिद्ध होना आरंभ हो गया है।"

१ मार्च, १९५१

"....भागवत चेतनाका एक स्तर है जिसमें सब कुछ पूर्णतः ज्ञात होता है, और विश्वकी संपूर्ण योजना पूर्वदृष्ट और पूर्व-निर्णीत होती है। देखनेका यह ढंग 'अतिमानस'के उच्चतम क्षेत्रोंमें होता है; यह परात्परकी अपनी दृष्टि है। पर जब उस चेतनापर हमारा अधिकार नहीं है तब उन शब्दोंमें उसकी चर्चा करना व्यर्थ है जो केवल उसी क्षेत्रमें लागू होते हैं और वस्तुओंको देखनेका हमारा वर्तमान शक्तिशाली ढंग नहीं है। क्योंकि चेतनाके निम्नतर स्तरपर कुछ भी संसिद्ध नहीं रहता या पहलेसे निश्चित नहीं होता; सब कुछ बननेकी प्रक्रियामें

होता है। यहांपर कोई नियत तथ्य नहीं होता, होता है केवल संभावनाओंका खेल; संभावनाओंके संघर्षमेंसे वह चीज संसिद्ध होती है जिसे घटित होना होता है। इस स्तरपर हम पसंद और चुनाव कर सकते हैं; हम एक संभावनाको अस्वीकार और दूसरीको स्वीकार कर सकते हैं; हम एक पथका अनुसरण कर सकते और दूसरेसे मुंह मोड़ सकते हैं। और ऐसा हम उस समय भी कर सकते हैं जब कि वास्तवमें घटित होनेवाली चीज किसी उच्चतर लोकमें पूर्वदृष्ट और पूर्वनिर्धारित हो चुकी हो।"

—वार्तालाप (१९२९)

"पूर्वनिर्धारित" शब्द सत्यके साथ मेल नहीं खाता; वास्तवमें इसके लिये "पूर्वस्थित" शब्द अधिक सही है। क्रमशः फैलना और खुलना चेतनाका एक सत्य है, वह केवल एक प्रतीति और आभास नहीं है।

कल्पना करो कि जगत् 'एक संपूर्ण वस्तु' है, और, एक विशेष अर्थमें, सांत, सीमित पर बीज रूपसे असंख्य संभावनाओंको धारण करनेवाला है और उन संभावनाओंके समवाय इतने अगणित हैं कि वे 'अनंत'के तुल्य हैं (किंतु तुम्हें शब्दोंके विषयमें खूब सावधान रहना होगा। मैं शब्दों-द्वारा बहुत अधिक बंधी हुई हूं, मैं ठीक-ठीक जो चाहती हूं उसे वे नहीं व्यक्त करते)। सो, विश्वको 'भागवत चैतन्य'ने, 'परात्पर प्रभु'ने, किन्हीं विशिष्ट नियत विधानोंके द्वारा जिनकी चर्चा मैं पीछे करूंगी, विषयीभूत किया है। विश्व 'एक संपूर्ण वस्तु' है, इस अर्थमें कि वह भगवान् है — वह भगवान्‌के संपूर्ण स्वरूपको धारण नहीं करता, पर यह मानों ऐसा है कि भगवान्‌ने अपने-आपको इस भांति विस्तारित किया है कि वह स्वयं अपने-आपको वस्तुरूपमें देखें; यही विश्वके अभिव्यक्त होनेका मुख्य प्रयोजन है। यह बात ऐसी है मानों भागवत 'चेतना'ने अपने मनोनीत पथका अनुसरण कर समस्त दिव्य संभावनाओंमें विचरण किया। तो फिर संभाव्योंके एक समुच्चयकी कल्पना करो जिसके अंदरके सभी संभव समवाय अनंतताके तुल्य हैं। भागवत 'चैतन्य' मूलतः मुक्त है — वह उनके अंदर विचरण करता है और अपने-आपको बाह्य वस्तुके रूपमें देखता है। पार किया हुआ पथ अनंत बहुविधताके बीच स्वतंत्र है और यह अनंत बहुविधता एक साथ ही स्वतंत्र भागवत 'संकल्प-शक्ति'की क्रियाके अनुसार पूर्वस्थित और पूर्णतः अनिर्धारित है। यह कल्पना भी की जा सकती है कि यह दिव्य 'संकल्प-शक्ति', स्वतंत्र होनेके कारण, क्रमशः फैलने और खुलने-

की धाराको बदलनेमें, पथको बदल देनेमें समर्थ है और, यद्यपि सब कुछ पूर्वस्थित और फलस्वरूप अपरिहार्य है, फिर भी मार्ग, पथ स्वतंत्र और पूर्ण रूपसे अप्रत्याशित है। अतएव मार्गके ये परिवर्तन, यदि ऐसा कहा जा सके, वस्तुओं और परिस्थितियोंके बीचके सबंधोंको परिवर्तित कर सकते हैं और परिणामस्वरूप नियति भी बदल जाती है। चक्रके इस परिवर्तनको "कृपाका प्रभाव" कहा जाता है। हां 'कृपा'की सहायताके द्वारा, यदि 'कृपा' इसका निर्णय करे वस्तुएं बदल सकती हैं, धारा भिन्न हो सकती है। वस्तुएं अपना स्थान बदल सकती हैं और एक चक्रका अनुसरण करनेके बदले दूसरेका अनुसरण कर सकती हैं। उदाहरणार्थ, जिस परिस्थितिको एक विशेष नियतिके अनुसार एक विशेष स्थानके पहले घटित होना चाहिये, वह उसके बदले पीछे घटित हो सकती है आदि-आदि। फलस्वरूप वस्तुओंके पारस्परिक संबंध बदल जाते हैं।[1]

किस मुहूर्तमें काल आरंभ होता है? क्या प्रसरण आरंभ होते ही चुनाव करनेवाली चेतना कालके अंदर आ जाती है?

नहीं, काल तो एक प्रकारका अनुक्रम है; तुममें यह धारणा करनेकी क्षमता होनी चाहिये कि परात्पर 'चेतना', अपने-आपको विषयीभूत करनेसे पहले, स्वयं अपने अंदर अपने विषयमें सज्ञान होती है। वहां एक गोलाकार, संपूर्ण और युगपत् बोध होता है और वहां, वहां कोई काल नहीं होता। उसी तरह "देश" के विषयमें भी, कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सब कुछ समकालिक होता है। यह कुछ और अधिक होता है; यह चेतनाकी एक ऐसी अवस्थासे मिलता-जुलता-सा होता है जो वस्तुनिष्ठ होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक आत्मनिष्ठ होती है, क्योंकि सृष्टिका लक्ष्य, उसका उद्देश्य है वस्तुरूप देना; परंतु वस्तुरूप देनेकी इस प्रक्रियाका एक पहला कदम है जिसमें एक ऐसी पूर्ण चेतना होती है जो सर्वांगपूर्ण और युगपद्, देश और

---

[1] "पूर्वस्थित" शब्दकी परिभाषा देते हुए श्रीमाताजीने इस वार्तालापके प्रकाशनके समय निम्नांकित टिप्पणी जोड़ दी। सत्, अर्थात् पूर्ण 'अस्तित्व', अभिव्यक्तिके अंदर नहीं है; यह अभिव्यक्त हुए बिना बना रहता है; यह अस्तित्वकी अनभिव्यक्त अवस्था है। तत् है अनस्तित्वकी स्थिति और सत् है अस्तित्वकी स्थिति; और तत् स्वभावतः ही अभिव्यक्त नहीं है: वास्तवमें जब चित्-तपस्, 'चैतन्य-शक्ति', संसिद्ध करनेवाला 'चैतन्य' आता है केवल तभी सत् अभिव्यक्त होता है।

कालसे अतीत, इस विश्वकी वस्तुओंका निर्माण करनेवाले पदार्थका ज्ञान रखनेवाली होती है; और वहां विश्व पहलेसे स्थित होता है, पर अभिव्यक्त नहीं होता, और काल वस्तुरूप लेनेकी प्रक्रियाके साथ आरंभ होता है।

क्या यह कहा जा सकता है कि काल अतिमानसिक स्तरसे आरंभ होता है?

वह उसी प्रकारका काल नहीं होता। वहां तो कालका प्रारंभमात्र होता है और रूपका भी प्रारंभ मात्र। वहां काल एक बिलकुल ही दूसरे प्रकारका होता है। अतिमानसिक स्तरपर पहुंचनेसे पहले एक गोलाकार, स्थाणु चेतना होती है जिसमें सभी वस्तुएं एक साथ दिखायी पड़ती हैं — काल इस बातका परिणाम है कि 'संपूर्ण' के संगठनमें एक प्रकारका अनुक्रम होता है। इसके विपरीत, जिस संपूर्णत्वको तुम संपूर्ण रूपसे एक साथ, अतिमानसिक स्तरपर, देखते हो वह निश्चल 'संपूर्ण' नहीं होता — निश्चल संपूर्णता एक दूसरी संपूर्णताको स्थान दे देती है जो कालकी धारणा उत्पन्न करती है। ये अतिमानसके अंदर आंतरिक संबंध होते हैं, इस अर्थमें संबंध होते हैं कि हम किसी ऐसी वस्तुके विषयमें सज्ञान नहीं होते जो हमसे बाहर घटित होती है; हम केवल अपने ही अंदरकी, अंतःस्थ किसी वस्तुके विषयमें सचेतन होते हैं; पर आंतरिक संबंध परस्पर भिन्न होते हैं, और यह चीज कालकी प्रथम छाप प्रदान करती है।

चेतनाकी इस स्थितिमें वस्तुओंके पैदा होने, गुजर जाने, या अंतर्धान हो जानेकी धारणा हमें नहीं होती, नहीं होती न?

ओह, नहीं! इस तरहकी कोई चीज नहीं होती।

(श्रीमाताजी फिरसे पढ़ना आरंभ करती हैं): "... **'परात्पर चेतना' प्रत्येक चीज पहलेसे जानती है, क्योंकि प्रत्येक चीज उस चेतनाकी शाश्वतताके अंदर संसिद्ध होती है। परंतु अपनी लीलाके हेतु और जो कुछ उसकी परात्पर सत्तामें पूर्व-निर्दिष्ट हो चुका है उसे भौतिक स्तरपर वास्तविक रूपमें क्रियान्वित करनेके हेतु, वह यहां, इस पृथ्वीपर इस भांति कार्य करती है मानों उसे समूची कहानीका पता ही न हो। वह**

इस तरह कार्य करती है मानों वह कोई नया और एकदम कोरा सूत्र हो जिसे वह बुन रही हो.....।"

यदि तुम कोई कार्य आरंभ करो और तुमसे पहले ही कह दिया जाय कि सब कुछ व्यर्थ हो जायगा और जो कुछ तुम करना चाहते हो वह नहीं कर सकोगे, तो क्या तुम उसे करोगे? नहीं, निश्चय ही नहीं! हां, बस इसी ढंगकी कोई चीज वह है जो घटित होती है। सौमें नब्बे बार, जो कुछ तुम करते हो उससे अपेक्षित परिणाम नहीं मिलता। लाखोंमें एक व्यक्ति भी अपना कार्य नहीं करेगा यदि उससे यह कह दिया जाय कि "यह कार्य करो, पर वह परिणाम तुम्हें बिलकुल नहीं मिलेगा जिसे तुम चाहते हो।" परंतु शक्तियोंकी क्रीड़ाके अंदर बहुत-से लोगोंको शक्तियोंकी सामूहिकताके लिये, शक्तियोंकी समष्टिके लिये अवश्य कार्य करना चाहिये, यद्यपि व्यक्तिगत रूपसे इस कार्यके कर्ताके लिये कोई निजी उपयोगिता नहीं होती अतएव, यदि व्यक्तिको यह ज्ञान हो कि जो पार्ट वह अदा करता है वह संपूर्णके अंदर अणु-संदृश है तो वह अपना पार्ट नहीं अदा करेगा। परंतु जिस क्षण तुम उससे ऊपर चले जाते हो, जब तुम कोई निश्चित लक्ष्य अपनी दृष्टिके सामने रखकर कार्य नहीं करते, बल्कि इस कारण करते हो कि तुम अपने अंदर यह जानते हो कि एकमात्र यही चीज है जिसे तुम्हें करना है, परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हो, तो फिर इस प्रकारकी अनासक्तिके द्वारा तुम उच्चतर चेतनामें यह जान जाते और देखने लगते हो कि सभी कार्य एकमात्र इस कारण किये जाते हैं कि उन्हें करना ही है चाहे उनका परिणाम कुछ भी क्यों न हो। और साधारणतया उस समय तुम्हारी दृष्टि ग्रह जाननेके लिये, कम-से-कम अस्पष्ट रूपमें, यह जाननेके लिये पर्याप्त स्वच्छ होती है कि इस कार्यका परिणाम क्या होगा। क्योंकि इसे जान लेनेके कारण इसे करनेके तुम्हारे तरीकेमें जरा भी अंतर नहीं आयेगा।

सच पूछा जाय तो ऐसी व्याख्या खोजनेके बदले, जो नीचेसे ऊपरकी ओर जाती है, ऐसी व्याख्या खोजना कहीं अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होगा जो ऊपरसे नीचे आती है और यह जानना चाहिये कि धीरे-धीरे परम 'चेतना' नीचे आती है और जैसे-जैसे नीचे आती है वैसे-वैसे मलिन होती जाती है और तब मनुष्य यह नहीं समझता कि किस प्रक्रियासे वस्तुएं कार्यान्वित हो रही हैं — यही वह चीज है जिसे अज्ञानकी स्थिति कहते हैं।

".... एक चित्र आंकनेके लिये तुम्हें उसकी रचना और रंगोंकी एक निश्चित योजना बना लेनेकी आवश्यकता होती है;

तुम्हें एक सीमा बांध देनी होती है ताकि सारी चीज एक निर्दिष्ट ढांचेके भीतर आ जाय; परंतु वह सीमा मिथ्या होती है, वह ढांचा महज एक संकेत होता है। वास्तवमें चित्रकी एक सतत निरवच्छिन्नता होती है जो किसी भी विशिष्ट ढांचेके परेतक फैल जाती है, और प्रत्येक निरवच्छिन्नता उन्हीं अवस्थाओंमें अनगिनत ढांचोंके अंदर अंकित की जा सकती है। हम कहते हैं, हमारा लक्ष्य यह है या वह, पर हम जानते हैं कि यह केवल दूसरे लक्ष्यका प्रारंभ है जो इससे परे है, और फिर वह लक्ष्य अपने आगेके दूसरे लक्ष्यकी ओर ले जाता है...

—वार्तालाप (१९२९)

यदि मुझसे कोई कहता कि वस्तुएं एक खास बिंदुपर बंद होने जा रही हैं तो मुझे यह चीज बड़ी नीरस प्रतीत होती, इतनी नीरस कि मैं जरा भी हिलती-डुलती नहीं!

बस, एक ही बातसे मुझे शांति मिलती है और वह यह है कि प्रत्येक वस्तु सर्वदा, अनंत रूपसे चलती रहती है और सर्वदा ही कुछ-न-कुछ नया करनेका अवकाश रहता है।

उपलब्ध लक्ष्य चाहे जो कुछ भी हो, वह सदा ही एक प्रारंभ होता है।

"आध्यात्मिक" और "चैत्य" में क्या अंतर है?

दोनों एक ही चीज नहीं हैं। चैत्य वह पुरुष है जो दिव्य उपस्थितिके द्वारा सुसंगठित हो रहा है और इसका संबंध पृथ्वीसे है — मैं यहां विश्वकी बात नहीं, केवल पृथ्वीकी बात कह रही हूं। एकमात्र पृथ्वीपर ही चैत्य पुरुष पाया जा सकता है। विश्वका शेष भाग एकदम एक दूसरे ही तरीकेसे निर्मित हुआ है।

विश्वमें भौतिक स्तरसे उच्चतर सभी स्तर मौजूद हैं। एक तो गोलाकार भौतिक स्तर है जिसमें मानसिक, प्राणिक आदि स्तर सम्मिलित हैं; और फिर मनसे ऊपरके सभी क्षेत्र आध्यात्मिक कोटिके, राज्यके क्षेत्र हैं जो कि, हमारे लिये, आत्माके क्षेत्र हैं, और यही "आत्मा" है जो थोड़ा-थोड़ा, क्रमशः, अपने-आपको स्थूल रूप देता और अंतमें, जिसे हम जड़-तत्त्व कहते हैं, उस रूपमें पहुंच जाता है। अधिमानसकी सत्ताओंमें, उदाहरणार्थ, तथा उच्चतर क्षेत्रोंकी सभी सत्ताओंमें कोई चैत्य-पुरुष नहीं होता — "देवदूतों" में चैत्य पुरुष नहीं होता। वास्तवमें देखा जाय तो एकमात्र पृथ्वीपर चैत्य जीवन

प्रारंभ होता है, और बस ठीक यही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा भगवान्‌ने मौलिक जीवनको अपने दिव्य मूलस्रोतसे पुनः मिलनेकी आवश्यकताके प्रति जाग्रत् किया है। चैत्यके बिना, जड़तत्त्व कभी अपनी निश्चेतनासे जाग्रत् न हुआ होता, उसने कभी अपने मूलस्रोतके जीवन या अपने आध्यात्मिक जीवनके लिये अभीप्सा न की होती। अतएव मानव सत्ताके अंदर विद्यमान चैत्य पुरुष आध्यात्मिक अभीप्साकी ही एक अभिव्यक्ति है; परंतु एक आध्यात्मिक जीवन भी है जो चैत्य पुरुषसे स्वतंत्र है।

क्या चैत्य जगत् और पृथ्वीके बीच कोई संपर्क है?

परंतु मैं तुमसे पहले ही कह चुकी हूं कि एकमात्र पृथ्वीपर ही चैत्य पुरुष अपने-आपको व्यक्तिभावापन्न बनानेके लिये अपनी अनुभूतियां प्राप्त करता है। अतएव चैत्य जगत् और पृथ्वीके बीच एक प्रकारका लगभग पूर्ण अन्योन्याश्रय संबंध है।

चैत्य पुरुषको जगानेका सबसे अधिक फलदायक साधन क्या है?

परंतु वह तो संपूर्ण रूपसे जाग्रत् है! और वह केवल जाग्रत् ही नहीं है, बल्कि कार्य भी करता है, बस, तुम उसके विषयमें सज्ञान नहीं हो। वह तुम्हें निद्रित प्रतीत होता है, क्योंकि तुम उसे अनुभव नहीं करते!

मुख्यतया, चैत्य पुरुषके इस प्रकारके आंतरिक संकल्पके बिना, मैं समझती हूं कि मानव-प्राणी उल्लासरहित और मतिमन्द बना रहेगा, उसका जीवन एकदम पशु-जैसा होगा। अभीप्साकी प्रत्येक झलक सर्वदा ही चैत्य प्रभावकी अभिव्यक्ति होती है। चैत्यकी उपस्थितिके बिना, चैत्य प्रभावके बिना, मनुष्यमें कभी प्रगतिका कोई बोध या प्रगतिके लिये कोई संकल्प नहीं होगा।

क्या सौंदर्यका बोध होगा?

हां। संभवतः सौंदर्यका उच्चतम बोध नहीं होगा; परंतु प्राणमें हमें सौंदर्य और सामंजस्यका पूर्ण बोध प्राप्त होता है। जो सौंदर्य मौलिक, गभीर, सार्वभौम तथा नित्य है वह केवल चैत्य पुरुषसे संबंधित है, किंतु

आकारके, रूपके, रंगके सौंदर्यका बोध प्रशिक्षित, सुसंस्कृत प्राणको पूर्णतः प्राप्त होता है।

और प्रेम नहीं?

वह निर्भर करता है इस बातपर कि तुम 'प्रेम' का क्या अर्थ समझते हो! वहां स्वभावतः ही दिव्य प्रेम नहीं होगा,* परंतु सब प्रकारके आवेग, आकर्षण, कामनाएं प्राणमें विद्यमान रहती हैं। केवल, इन क्रियाओंका गुण जड़-तत्त्वमें भागवत 'चेतनाके' अवतरण तथा मिश्रणके कारण पूर्ण रूपसे परिवर्तित हो गया है। इसके कारण सच्चे प्रेमकी संभावनाका उद्भव हो गया है। अन्यथा, वे समस्त चीजें जिन्हें प्रेम समझा जाता है, समस्त आवेग, आकर्षण और कामनाएं — निगल जानेकी आवश्यकता — वह सब प्राणमें पूरी तरह विद्यमान रहता है। जड़तत्त्वमें प्रेमका प्रथम रूप है निगल जानेकी आवश्यकता: व्यक्ति अधिकृत कर लेना, आत्मसात् कर लेना चाहता है; और ऐसा करनेका सबसे अच्छा तरीका है निगल जाना और हजम कर लेना! ऐसा कहा जा सकता है कि बिल्ली जब अपने बच्चोंको खा जाती है तब वह उनके प्रति प्रेमसे भरी रहती है और बाघ जिस मेमनेको खा जाता है उसके प्रति प्रेमसे भरपूर होता है!

क्या फूलोंमें सौंदर्यका बोध है?

सीधे तौरपर वहां एक चेतन जीवन है; प्राण-तत्त्व वहां विद्यमान है, और यह प्राण-तत्त्व ही वह चीज है जो फूलोंको सौंदर्यका बोध प्रदान करता है। परंतु यह शायद उस अर्थमें व्यक्तिभावापन्न नहीं है जिस अर्थमें हम इसे समझते हैं, बल्कि यह जातिका बोध है और जाति सर्वदा उसे अनुभव करनेकी चेष्टा करती है। मैंने चैत्य उपस्थिति और प्रकंपनके प्रथम मूल-रूपको उद्भिद् जीवनमें देखा है, और वास्तवमें जिस प्रस्फुटनको हम फूल कहते हैं वह चैत्य उपस्थितिका प्रथम प्राकट्य होता है। चैत्य केवल मनुष्यमें व्यक्तिभावापन्न होता है, पर वह मनुष्यसे पहले भी विद्यमान था; परंतु यह उसी प्रकारकी व्यक्तिभावापन्न अवस्था नहीं है जैसी कि मनुष्यमें होती है, यह कहीं अधिक तरल होती है। यह एक शक्तिके, चेतनाके रूपमें प्रकट होती है, न कि किसी व्यक्तित्वके रूपमें। उदाहरणके लिये, गुलाबको ले लो; इसके आकार, रंग, सुगंधकी महान् पूर्णता एक प्रकारकी अभीप्सा तथा चैत्य आत्मदानको प्रकट करती है। सूर्यका प्रथम स्पर्श

आनेपर सुबहके समय गुलाबको खिलते हुए देखो, वह अभीप्सा-रूपमें अपूर्व आत्मदानकी प्रतिमूर्ति होता है।

प्रत्येक पुष्पका अपना विशिष्ट अर्थ होता है, होता है न?

ठीक वैसा नहीं जैसा कि हम इसे मनसे समझते हैं। जब कोई किसी पुष्पको कोई सुनिश्चित अर्थ प्रदान करता है तब उसके मनसे एक भावना निर्गत होती है। पुष्प इस भावनाको उत्तर दे सकता, इस भावनाके स्पर्शसे प्रकंपित हो सकता तथा अर्थको स्वीकार कर सकता है, परंतु पुष्पमें मानसिक चेतनासे मिलती-जुलती कोई चीज नहीं होती। उद्भिद् जगत्में चैत्यका प्रारंभ हो जाता है, पर वहां मानसिक चेतनाका प्रारंभ नहीं होता। पशुओंमें बात दूसरी होती है; वहां मानसिक जीवन रूप लेना आरंभ करता है और उनके लिये वस्तुओंका एक अर्थ होता है। परंतु पुष्पोंमें छोटे-छोटे बच्चोंकी गतिविधि जैसी कोई चीज होती है — यह न तो संवेदन और न अनुभूति होती है, बल्कि दोनोंकी कुछ चीजें होती हैं; यह सहजात गति होती है, बहुत विशिष्ट प्रकंपन होती है। अतएव, कोई यदि उसके संपर्कमें हो, यदि कोई उसका अनुभव करे तो उसपर एक ऐसी छाप पड़ती है जिसे एक विचारके द्वारा रूपांतरित किया जा सकता है। बस, इसी तरह मैंने फूलों और पेड़-पौधोंको अर्थ प्रदान किया है — प्रकंपनके साथ एक प्रकारका तादात्म्य होता है, जिस गुणका वह प्रतिनिधित्व करता है उसका बोध प्राप्त होता है और, धीरे-धीरे, एक प्रकारके सामीप्यके द्वारा (कभी-कभी यह अचानक आता है, कभी-कभी इसमें देर लगती है), ये प्रकंपन (जो प्राणिक-भावात्मक श्रेणीके होते हैं) पास-पास आ जाते हैं और मानसिक विचारका प्रकंपन भी आ जाता है, और, यदि उस समय पर्याप्त समस्वरता हो तो मनुष्य प्रत्यक्ष रूपमें यह देख लेता है कि पौधेका क्या अर्थ है।

कुछ देशोंमें (विशेषकर यहां) कुछ विशेष पौधे पूजन-अर्चन और भक्तिके माध्यमके रूपमें व्यवहृत होते हैं। कुछ पौधे विशिष्ट अवसरोंपर प्रदान किये जाते हैं। और मैंने यह बहुधा देखा है कि यह तादात्म्य पौधेके स्वभावसे बिलकुल सामंजस्य रखता था, कारण स्वाभाविक रूपमें, बिना कुछ जाने, मैंने वही अर्थ प्रदान कर दिया जो धार्मिक उत्सवोंमें दिया गया था। वास्तवमें स्वयं फूलमें ही प्रकंपन विद्यमान था...। क्या उसका जो व्यवहार किया गया था उस व्यवहारके कारण वह प्रकंपन आया था अथवा वह बहुत दूरसे, किसी अति गहराईसे, चैत्य जीवनकी प्रारंभिक अवस्थासे आया था? यह कहना कठिन है।

क्या ऐसा हो सकता है कि चैत्य पुरुष ठीक उस स्थानपर न नीचे आये जहां वह जन्म लेना चाहता था?

यदि कोई चैत्य पुरुष अपने चैत्य जगत्से पृथ्वीपर कोई ज्योति देखे तो वह यह बिना जाने कि वह ज्योति ठीक-ठीक कहांपर है, उस ओर नीचे दौड़ आ सकता है। सब कुछ संभव है। परंतु चैत्य पुरुष यदि बहुत सचेतन, पर्याप्त रूपसे सचेतन हो तो वह अभीप्साकी ज्योतिकी ठीक-ठीक स्थानमें खोजता है, संस्कार और शिक्षणके कारण वह उसे वहां पा भी लेता है। ऐसी बात उससे कहीं अधिक बार घटती है जितना कि हम मानते हैं, विशेषतः कुछ शिक्षित समाजोंमें। जो बुद्धिमती स्त्री कुछ कलात्मक या दार्शनिक संस्कारसे युक्त है तथा जिसमें सचेतन व्यक्तित्वका गठन आरंभ हो गया है वह यह अभीप्सा कर सकती है कि जो बच्चा उसे होने जा रहा है वह उसकी भावनाके अनुसार या जो कुछ उसने पढ़ा है उसके अनुसार यथासंभव सर्वोत्तम बच्चा हो। अतएव स्थानका पता लगाना इतना अधिक जटिल नहीं है। जन्म लेनेवाले चैत्य पुरुषोंकी संख्या सदा ही काफी होती है, सो यदि प्रत्येक बार असामान्य अवस्थाएं प्राप्त करनी हों तो यह बात कठिन हो जायगी। अवश्य ही, ऐसे उदाहरण होते हैं जिनमें चैत्य पुरुष मानो सिरके बल गिरा हुआ और मूर्छित हुआ प्रतीत होता है, पर यह दुर्भाग्य है; ऐसी अवस्थामें चैत्य पुरुषके जगनेमें बहुत लंबा समय लग जाता है। यह इस अर्थमें दुर्भाग्य है कि चैत्य पुरुषमें विवेककी एक विशेष शक्तिका संभवतः अभाव था, या शायद उसे किसी विशेष शक्तिका सामना करना पड़ा जिसने उसके निर्णयको निष्फल कर दिया था और उसपर आंशिक विजय प्राप्त कर ली। इस विषयमें हजारों संभावनाएं हैं, समझे न? कोई यह नहीं कह सकता कि सब कुछ एक ही जैसा योजनाके अनुसार होता है — प्रत्येक चैत्य पुरुष भिन्न प्रकारका होता है।

३ मार्च, १९५१

"....विरोधी शक्तियोंके होनेकी भी एक आवश्यकता है। ये तुम्हारे निश्चयको अधिक प्रबल और तुम्हारी अभीप्साको अधिक स्पष्ट बनाती हैं। फिर भी, यह सच है कि इनका

अस्तित्व इसलिये है कि तुमने इनके अस्तित्वके लिये कारण दे रखा है। जबतक तुममें कोई चीज ऐसी है जो इनको उत्तर देती है तबतक इनका हस्तक्षेप करना सर्वथा उचित है। यदि तुम्हारा कोई भी भाग इनका प्रत्युत्तर न दे, यदि तुम्हारी प्रकृतिके किसी भी भागपर इनका अधिकार न हो तो ये लौट जायेंगी और तुम्हें छोड़ देंगी।"

—वार्तालाप (१९२९)

विरोधी शक्तियोंका सामना करनेका सर्वोत्तम पथ है सदा अभीप्सा करना, सर्वदा भगवान्‌को स्मरण करते रहना; और कभी भय न करना।

"वार्तालाप" पढ़ना जारी है जिसमें अगला प्रश्न निम्नलिखित है: "क्या विरोधी शक्तियां बाहरसे आती हैं या भीतरसे?" एक शिष्य उत्तर देता है:

वे चेतना या सत्ताके बाहरसे आती हैं।

सत्ता भला कहां रुक जाती है?... बाहर और भीतरके बीच क्या विभेद है, यदि चेतना सर्वत्र विद्यमान है!

साधकोंसे बराबर कहा जाता है: "यदि तुम किसी चीजसे छुटकारा पाना चाहते हो तो कहो कि वह बाहर है।" यह केवल एक प्रकारकी धारणा है, परंतु तुम्हें यदि यह धारणा हो कि कोई कठिनाई तुम्हारे बाहर है तो उससे छुटकारा पाना कहीं अधिक आसान होता है। परंतु मैंने अभी तुमसे इसके विपरीत बात कही है कि यदि "तुम्हारे अंदर" की कोई चीज विरोधी शक्तियोंको प्रत्युत्तर न दे तो वे तुमपर कभी आक्रमण नहीं करेंगी। अतएव, जो कुछ अंदर है वह बाहर भी है और जो कुछ बाहर है वह अंदर भी है! बस, रहस्य यह है कि उसे ठीक उस स्थानपर रखना जाना जाय जहां तात्कालिक क्रियाके लिये वह अत्यंत सुविधाजनक हो।

यदि तुम्हारे स्वभावमें कोई भारी कठिनाई हो, उदाहरणार्थ, तुम्हें झट क्रोधित हो जानेकी आदत हो, और तुम निश्चय करो: "अब मैं कभी क्रोधित नहीं हूंगा," तो क्रोध न करना बहुत कठिन है; परंतु, दूसरी ओर, यदि तुम अपने-आपसे कहो: "क्रोध एक ऐसी चीज है जो सारे जगत्‌में चक्कर लगाती रहती है, यह मेरे अंदर नहीं है, यह तो प्रत्येक

क्रोधकी चीज है; यह यहां-वहां घूमा करती है और मैं अगर अपना दरवाजा बंद कर दूं तो यह नहीं आयेगी," तो क्रोध न करना बहुत आसान है। यदि तुम सोचो: "यह मेरा स्वभाव ही है, मैं जन्मसे ही ऐसा हूं," तो फिर उससे मुक्त होना लगभग असंभव हो जाता है। यह सच है कि तुम्हारे स्वभावमें कोई ऐसी चीज है जो क्रोधकी इस शक्तिको प्रत्युत्तर देती है। सभी गतियां, सभी प्रकंपन सामान्य होते हैं — वे अंदर घुसते हैं, बाहर निकल जाते हैं, वे चारों ओर घूमते रहते हैं, परंतु वे केवल उसी हदतक तुम्हारे ऊपर टूट पड़ते हैं और तुम्हारे अंदर घुस जाते हैं जितनी हदतक तुम अपने अंदर दरवाजा खोल रखते हो। और, इसके अतिरिक्त, यदि इन शक्तियोंके साथ तुम्हारे अंदर कोई सादृश्य हो तो तुम कारण जाने बिना भी क्रोधित हो सकते हो। सब कुछ सर्वत्र है और सीमाएं बांधना मनमानी करना है।

मैंने कहींपर, किसी पक्के जड़वादीद्वारा लिखित एक पुस्तकमें, पढ़ा था कि मानव-प्राणी मानों एक चमड़ेके बैगमें बंद हों और दूसरे प्राणियोंके साथ उनका कोई संपर्क न हो। यह स्पष्ट ही एक प्रकारकी मूर्खता है, पर कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें इससे सहायता मिलती है; यह भावना कि वे एक घोंघेमें बंद रहते हैं और दूसरोंके साथ उनका कोई संपर्क नहीं है और अगर है तो महज इस घोंघेके द्वारा है, उन्हें सुरक्षित रखती है और बाहरसे आनेवाली किसी भी चीजको ग्रहण करनेसे उन्हें रोकती है। सचमुच, यह एक मूर्खता है, पर कुछ मूर्खताएं कभी-कभी लाभदायी होती हैं! हमने एक दिन कहा था कि मन ज्ञानका कोई साधन नहीं है और भावनाओंके राज्यमें सब कुछ सापेक्षिक है, सब कुछ देखनेका एक तरीका है, सब कुछ जीवन जीनेका एक ढंग है। प्रत्येक विज्ञानकी अपनी भाषा है, प्रत्येक धर्मकी अपनी भाषा है, प्रत्येक दर्शनकी अपनी भाषा है, प्रत्येक क्रियाकी अपनी भाषा है, और जितना ही अधिक तुम इन भाषाओंको सीखते हो उतना ही अधिक तुम्हें यह धारणा होती है कि तुम बहुत-सी चीजें जानते हो। बस, आवश्यक बात है सभी भाषाओंको जानना। तुम्हें अब उस बिंदुपर आ जाना चाहिये जहां मनकी ये सभी क्रियाएं तुम्हारे लिये एकदम सापेक्षिक क्रीड़ा बन जाती हैं — तुम अच्छी तरह या बुरी तरह खेल सकते हो, पर यह सब है एक खेल मात्र ही। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो इसका उपयोग करना जानते हैं, ये ही लोग हैं जिन्हें तथाकथित "बुद्धिमान्" लोग कहते हैं और फिर ऐसे लोग भी हैं जो इसका उपयोग करना नहीं जानते और ये ही हैं तथाकथित "मूर्ख लोग"।

वस्तुएं उसी हदतक हमारे "अंदर" हैं जिस हदतक हम उनके साथ अपना तादात्म्य कर लेते हैं — यदि हम अपने तादात्म्य-को पीछे धकेल दें तो क्या वे बाहर हो जाती हैं?

यह कहनेका एकदम व्यक्तिपरक तरीका है। कार्य करनेके लिये कुछ श्रेणी-विभाजन करना पड़ता है और ठीक इसी कार्यके लिये मन उपयोगी होता है: वह व्यवस्था करता है, वह प्रत्येक चीजको उसके अपने स्थानमें रखता है, वह खेल खेलता है; और बस यही क्रियावली है जो खेलके नियमोंका निर्माण करती है और इन नियमोंका पालन करनेसे वह खेल जीत सकता है। परंतु सच्चा ज्ञान किसी दूसरे स्थानसे आता है।

(श्रीमाताजी दूसरे प्रश्नपर चली जाती हैं): "**... मानसिक श्रद्धा पर्याप्त नहीं है; इस श्रद्धाको प्राणकी श्रद्धाद्वारा, यहांतक कि भौतिक श्रद्धा अर्थात् शरीरकी श्रद्धाद्वारा भी पूर्ण और शक्तिशाली बनाना होगा। यदि तुम अपने अंदर, अपनी समस्त सत्तामें इस प्रकारकी एक सर्वांगपूर्ण शक्तिकी सृष्टि कर सको तो फिर कोई भी चीज इस शक्तिका प्रतिरोध नहीं कर सकेगी। .....परंतु तुम्हें अपने शरीरके एक-एक कोषतकमें इस श्रद्धाको स्थापित कर देना होगा। उदाहरणार्थ, आजकल जड़-वैज्ञानिकोंमें भी यह ज्ञान आना आरंभ हो गया है कि मृत्युका आना आवश्यक नहीं है। परंतु सारी मानवजाति मृत्युपर दृढ़तापूर्वक विश्वास करती है . . .। यदि इस विश्वासको पहले तो सचेतन मनसे, फिर प्राण-प्रकृतिसे और अव-चेतन भौतिक स्तरोंसे निकाल बाहर कर दिया जाय तो फिर मृत्यु अनिवार्य नहीं रह जायगी।**"

(वही)

यह समस्याकी ओर देखनेका निषेधात्मक तरीका है। यदि कोई विश्वास करे कि अमरत्व संभव है तो वह देखनेका कहीं अधिक सक्रिय तरीका होगा; और यदि विश्वास करे कि वह केवल संभव ही नहीं बल्कि आगे चलकर संसिद्ध भी होगा, तो वह प्रतिरोध करनेके लिये पर्याप्त बलशाली हो जायगा।

"**...संगठित व्यष्टिगत चेतनाको स्थायी सहारा देनेके लिये**

एक सुदृढ़ आकारकी आवश्यकता हुई। और फिर आकारकी यह दृढ़ता ही वह चीज है जिसने मृत्युको अनिवार्य बना दिया।"
(वही)

कौन मुझे बतायेगा कि व्यक्तिका निर्माण कौन-सी चीज करती है? कौन-सी वह चीज है जो तुम्हें यह संस्कार देती है कि तुम एक ऐसे व्यक्ति हो जो अपने-आपमें विद्यमान है?

हम 'देकार्त' (Descartes) के शब्दोंमें कह सकते हैं कि "मैं सोचता हूं इसलिये मैं हूं।"

आह! नहीं, यह नहीं सिद्ध करता कि तुम व्यक्तिभावापन्न हो गये हो। कौन-सी वह चीज है जो तुम्हें यह धारणा देती है कि तुम एक व्यक्ति हो? ....जब तुम दस वर्षके थे, तब तुम अपने जन्मके समयसे बहुत भिन्न थे, और अब तुम उससे बहुत भिन्न हो जो कि तुम दस वर्षकी आयुमें थे, हो न? आकार विशेष सीमाओंके अंदर बढ़ रहा है और उसमें एक प्रकारकी समानता है, परंतु फिर भी, वह तुम्हारे जन्मके समय जो था उससे बिलकुल भिन्न प्रकारका है; तुम प्रायः इस प्रकार कह सकते हो, "वह मैं नहीं था।" इतनी बात तो हुई शरीरकी। अब, अपनी आंतरिक चेतनाको लो जब तुम पांच वर्षके थे और आज हो। कोई व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि वह वही व्यक्ति है। और तुम्हारे विचार, पांच वर्षमें और आज? सभी दूसरे प्रकारके हैं। परंतु सभी चीजोंके बावजूद वह क्या वस्तु है जो तुम्हें यह संस्कार देती है कि यह 'वही व्यक्ति' है जो सोच-विचार रहा है?

आओ, हम एक नदीका उदाहरण लें जो अपने मार्गसे प्रवाहित हो रही है; कभी भी पानी वही नहीं होता जो बहता है। नदी क्या चीज है? वहां एक भी बूंद जल नहीं है जो सदा वही बना रहता हो। वहां कोई स्थायित्व नहीं है। तब नदी कहां है? (कुछ लोग यह उदाहरण यह सिद्ध करनेके लिये लेते हैं कि व्यक्तित्व नामकी कोई चीज नहीं है — वे यह सिद्ध करनेके लिये बहुत बेचैन होते हैं कि व्यक्तित्व नामकी कोई चीज नहीं है।) मनुष्योंके विषयमें भी यही बात है; चेतना बदल जाती है, विचार बदल जाते हैं, इंद्रियानुभव बदल जाते हैं, तब मनुष्य-सत्ता क्या चीज है? कुछ लोग कहते हैं कि व्यक्तित्व स्मृतिपर, स्मरणपर आधारित है: तुम याद रखते हो इसलिये तुम एक व्यष्टि-सत्ता हो। यह पूर्णतः

गलत है, क्योंकि तुम्हें यदि कोई भी स्मृति न होती तो भी तुम एक व्यक्तिगत सत्ता बने रहते।

नदीका तल नदीका निर्माण करता है।

तल नदीको स्थानबद्ध करता है, पर तल भी बहुत परिवर्तित होता है, जिसका अर्थ है कि सब कुछ अस्थिर है, सब कुछ क्षणस्थायी है, और यह सच है। परंतु यह सत्यका केवल एक भाग है, यह संपूर्ण सत्य नहीं है। तुम बहुत स्पष्ट रूपमें यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे अंदर कोई चीज "स्थायी" है, करते हो न? परंतु स्थायित्वका यह बोध कहांसे आता है?

यदि मुझे भौतिक रूपमें उसका स्थान निश्चित करना हो तो मैं कहूंगा कि वह कहींपर छातीमें है। जब मैं कहता हूं, "मैं कोई कार्य करने जा रहा हूं," तो यह सच्चा "मैं" नहीं होता जो बोलता है। जब मैं कहता हूं, "मैं सोचता हूं," तो यह सच्चा "मैं" नहीं होता जो सोचता है — सच्चा "मैं" चिंतन-क्रियाको देखता है, यह विचारोंको आता हुआ देखता है। स्वभावतः ही यह बोलनेका एक तरीका है।

बहुसंख्यक लोग जब "मैं" कहते हैं तो वह उनका एक अंश होता है, उनकी भावना, उनके शरीर, उनके विचारका एक प्रकारका एक भाग होता है जो बोलता है; यह एक ऐसी चीज होता है जो सर्वदा बदलती रहती है। अतएव उनका "मैं" असंख्य होता है, या उनका "मैं" सदा विभिन्न रूप लेता रहता है। उसमें कौन-सी चीज निरंतर बनी रहती है?... स्पष्ट ही, चैत्य पुरुष। क्योंकि, सतत बने रहनेके लिये किसी वस्तुको सर्वप्रथम अमर होना चाहिये। अन्यथा वह स्थायी नहीं हो सकती। फिर, उसे उन अनुभवोंसे स्वतंत्र भी होना चाहिये जिनमेंसे वह गुजरती है: स्वयं अनुभूतियां ही वह वस्तु नहीं हो सकतीं। अतएव, निश्चय ही नदीका तल वह वस्तु नहीं है जो नदीका निर्माण करती है; तल तो केवल एक परिस्थिति है। यदि तुलनाको थोड़ी अधिक दूरतक ले जाया जाय (वैसे तो, तुलनाएं बेकार हैं, लोग उनमें वे जो कुछ चाहें पा लेते हैं), तो यह कहा जा सकता है कि नदी जीवनका एक अच्छा प्रतीक है; नदीमें जो कुछ स्थायी है वह है उपादान-तत्त्व "जल"। सर्वदा वही जल-बिंदु वहां नहीं रहता, पर जल सर्वदा रहता है — जलके बिना कोई नदी नहीं

हो सकती। और मनुष्यके अंदर जो कुछ टिका रहता है वह है मूल उपादान "चैतन्य"। चूंकि मानव-सत्ताके अंदर एक चेतना है इसलिये वह टिकी रहती है। वास्तवमें आकार नहीं बने रहते, चेतना बनी रहती है, इन सभी आकारोंको एक साथ बांध रखनेकी शक्ति, इन सभी चीजोंमेंसे गुजरनेकी शक्ति बनी रहती है, और वह उनकी महज एक स्मृति (स्मृति तो कोई बहुत बाहरी वस्तु है) नहीं बनाये रखती, बल्कि चेतनाके उसी प्रकंपनको बनाये रखती है।

और यही है सृष्टिका महान् रहस्य, क्योंकि यह वही चेतना है, 'चेतना' एक है। परंतु जिस क्षण यह 'चेतना' अभिव्यक्त होती है, अपनेको बाह्य रूप प्रदान करती है, अपनेको प्रसारित करती है, प्रसारित करनेकी आवश्यकताके लिये अपने-आपको असंख्य टुकड़ोंमें बांट देती है और इनमेंसे प्रत्येक विखंडीकरण व्यक्तिगत सत्ताका प्रारंभ, मूलस्रोत था। प्रत्येक व्यक्तिगत आकारका मूल इस आकारका विधान या इस आकारका सत्य है। यदि प्रत्येक आकारका कोई विधान, कोई सत्य न होता तो व्यक्तीकरणकी कोई संभावना न होती। उस समय कोई ऐसी वस्तु होती जो अनंत रूपसे फैला देती; उस समय संभवतः एकाग्रताके, एकत्रीकरणके बिंदु तो होते, पर कोई व्यक्ति चेतना न होती। अतएव 'एकमेव'के बहुमें बदलनेमें प्रत्येक आकार उसके एक तत्त्वका प्रतिनिधित्व करता है। इस बहुत्वका तात्पर्य होता है उन विधानोंकी, चेतनाके तत्त्वोंकी, सत्योंकी अनगिनत संख्या, जो विश्वमें फैल जाते हैं और अंतमें पृथक् व्यक्तित्व बन जाते हैं। अतएव व्यक्तिगत सत्ता व्यष्टीकरणकी बस आवश्यकताके कारण ही निरंतर अपने मूलसे अधिकाधिक दूर जाती हुई प्रतीत होती है। परंतु एक बार जब यह व्यष्टीकरण, अर्थात् आंतर सत्यकी यह अभिज्ञता पूर्ण हो जाती है, एक आंतरिक तादात्म्यके द्वारा, बहुत्वके अंदर मूल एकत्वको पुनः स्थापित करना संभव हो जाता है; यही है विश्वका मुख्य प्रयोजन जैसा कि हम इसे समझते हैं। विश्वका निर्माण इसीलिये किया गया है कि ऐसा घटित हो सके। परात्पर भगवान्ने अपने-आपको अपने सम्मुख अभिव्यक्त किया है जिसमें कि वह अपने विषयमें सचेतन हो सकें।

जो हो, बस यही है इस सृष्टिका मूल कारण। आओ, हम अपने विश्वसे संतुष्ट रहें, पृथ्वीपर अपने जीवनका यथासंभव सर्वोत्तम उपयोग करें और बाकी चीजें अपने निजी समयपर आ जायेंगी।

याद रखो, बिलकुल जान-बूझकर ही मैंने यहां व्यक्तित्वके बोधके एक कारणके रूपमें अहंकी चर्चा नहीं की है। क्योंकि अहंके एक मिथ्या वस्तु और एक भ्रम होनेके कारण स्वयं व्यक्तित्वका बोध भी मिथ्या और भ्रम-

पूर्ण हो जायगा (जैसा कि बुद्ध और शंकर प्रस्थापित करते हैं), जब कि व्यक्तीकरणका मूल स्वयं परात्पर प्रभुके अंदर होनेके कारण, अहं केवल एक अस्थायी विकृति है, वर्तमान क्षणके लिये आवश्यक है, परंतु जब इसकी उपयोगिता समाप्त हो जायगी, जब 'सत्य-चैतन्य' स्थापित हो जायगा, तब यह विलीन हो जायगा।

५ मार्च, १९५१

श्रीमाताजी 'वार्त्तालाप' में से प्राकृतिक आपदाओंके विषयमें एक अंश पढ़ती हैं और फिर पूछती हैं:

ये आपदाएं क्यों घटित होती हैं?

क्योंकि एक उच्चतर चेतना जगत्में अभिव्यक्त होना चाहती है और मनुष्य तथा प्रकृति उसका विरोध करते हैं।

यह अंशतः सत्य है। परंतु मैं नहीं समझती कि प्रकृतिमें यह बोध है। उदाहरणार्थ, जब कोई भूकंप होता है अथवा जब कोई ज्वालामुखी पर्वत भभक उठता है और यदि उसके आसपास मनुष्य निवास करते होते हैं और इन घटनाओंके कारण उनकी मृत्यु हो जाती है तो स्पष्ट ही इन मनुष्योंके लिये यह एक महान् विपत्ति है, पर हम अच्छी तरह यह कल्पना कर सकते हैं कि प्रकृतिके लिये यह एक अच्छा खिलवाड़ है! हम कहते हैं, "कितनी भयंकर आंधी है!" स्वभावतः ही, मनुष्योंके लिये यह "भयंकर" है, पर प्रकृतिके लिये नहीं है। यह तो बस अनुपातका प्रश्न है, है न? मैं नहीं समझती कि इस प्रसंगमें किसी उच्चतर शक्तिको ले आना आवश्यक है जो अभिव्यक्त होना चाहती हो और प्रकृति उसका विरोध करती हो। यह संभव है, पर अपरिहार्य नहीं है। यह बहुत आसानीसे समझा जा सकता है कि यह प्रचंड शक्तियोंके साथ प्रकृतिकी एक क्रीड़ा है और उसके लिये यह महज एक मनोरंजन है; किसी भी हालतमें कोई विपत्ति नहीं है। प्रकृतिकी चेतनाके लिये या जड़-भौतिक चेतनाके लिये पृथ्वीके भौतिक रूप और मानवता चींटियोंके जैसी हैं। तुम स्वयं, जब तुम चलते हो, तुम

यह आवश्यक नहीं समझते कि चींटियोंको पैरों तले कुचल जानेसे बचानेके लिये अपने रास्तेसे जरा हट जाओ, जबतक कि तुम कट्टर "अहिंसावादी" ही न होओ! तुम चलते हो, और तुम यदि सैकड़ों चींटियोंको कुचल देते हो तो इसे बचाया नहीं जा सकता! हां, तो यही बात प्रकृतिके साथ भी है। वह आगे बढ़ती है, और यदि वह अपने चलनेके पथमें हजारों मनुष्योंका नाश कर दे, तो उसके लिये यह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, वह फिर लाखोंकी सृष्टि कर सकती है! यह कठिन नहीं है।

यहां मुझे एक घटना याद आ रही है जो पेरिसमें घटी थी। उस समय मैं सत्रह या अठारह वर्षकी थी। एक "धर्मार्थ बाजार" लगा हुआ था। यह धर्मार्थ बाजार ऐसा स्थान था जहां सारे संसारके लोग सभी प्रकारकी चीजें बेचने और खरीदनेके लिये आते और बिक्रीसे आया हुआ धन दानके कार्योंमें चला जाता था (यह बाजार भलाई करनेसे कहीं अधिक मनोरंजनके लिये अभिप्रेत था, पर फिर भी, धर्मार्थ कार्योंको इससे लाभ पहुंचा)। उच्च समाजका समस्त सौंदर्य, समस्त शिष्टता वहां एकत्र थी। अब, बाजार था तो बहुत सुन्दर पर मजबूतीके साथ नहीं बना था, क्योंकि उसे केवल तीन या चार दिन ही रहना था। उसकी छत रंगे हुए तिरपालसे बनी थी; तिरपाल टांग दिया गया था। सर्वत्र बिजलीकी रोशनी जल रही थी। सारा कार्य लगभग सुन्दर ढंगसे किया गया था, परंतु स्वभावतः इस भावनाके साथ किया गया था कि यह केवल थोड़े दिनोंके लिये है। कहींपर बिजलीका तार जल गया और सब कुछ जलना आरंभ हो गया। छतमें आग लग गयी और वह एकाएक जनसमूहके ऊपर नीचे आ गिरी। जैसा कि मैं कह चुकी हूं, समाजके सभी श्रेष्ठ व्यक्ति वहां मौजूद थे — उनके लिये, मानवीय दृष्टिकोणसे, यह एक भयावह विपत्ति थी। कुछ लोग दरवाजेके पास थे जो बचनेकी चेष्टा कर रहे थे; दूसरे, संपूर्ण जलते हुए लोग भी दरवाजेतक पहुंचने और भाग निकलनेका प्रयास कर रहे थे। उस समय सचमुचमें धक्कम-धक्का चल रहा था! ये सभी श्रेष्ठ और सुसंस्कृत लोग, जो सामान्यतया इतने सभ्य थे, सड़कके गुंडोंकी तरह लड़ने लगे। वहां किसी-न-किसी चीजका एक "काउण्ट" (सामंत) भी मौजूद था। वह बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति, कवि, पूर्ण शिष्ट व्यक्ति था। उसके हाथमें चांदीसे मढ़ी हुई एक छड़ी थी। उसने अचानक अपनी छड़ीसे औरतोंके सिरपर मारना शुरू कर दिया और धक्का देकर आगे बढ़नेकी कोशिश करने लगा! निस्संदेह, यह एक सुन्दर दृश्य था, अत्यंत मनोहर! बादमें, समाजमें रोना-धोना, बड़ी-बड़ी शवयात्राएं, और बहुत-सी कहानियां....। अब, एक "डोमिनिकन" (ईसाई पादरी)

को, जो प्रसिद्ध वक्ता था, आगमें जलकर मरे हुए अभागे लोगोंकी कब्रोंपर भाषण करनेके लिये कहा गया। उसने कुछ-कुछ इस आशयकी बात कही: "यह ठीक ही हुआ। तुमने ईश्वरके विधानके अनुसार जीवन नहीं बिताया और उसने जलाकर उसका दंड तुम्हें दिया है।"

और जब-जब कहीं कोई विनाश होता था, यह कहानी दुहरायी जाती थी। स्वभावतः ही बहुत-से लोगोंने विरोध किया और कहा, "यह एक ऐसा ईश्वर है जिसे हम नहीं चाहते!" परंतु ये भावनाएं सामान्य मानवताके बिलकुल अनुरूप हैं।

"पापी" मानवता संपूर्णतः ईसाई भावना है, जो कि भगवान्‌संबंधी हमारी भावनाको मिथ्या बना देती है — जो भगवान् गरीब लोगोंको इसलिये दंड देते हैं कि उन्हें "पापी"-रूपमें जन्म लेनेका दुर्भाग्य प्राप्त है, वह बहुत उदार नहीं हो सकते! जो हो...।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं): **"...दर्शनशास्त्र जगत्‌के रहस्य-का उद्‌घाटन करनेमें सदा ही असफल हुआ है। कारण, उसने इस विश्वको मानव-मनके छोटे-से ढांचेके अंदर बैठा देनेकी चेष्टा की है।"**

— वार्तालाप (१९२९)

"मानव-मनके छोटे-से ढांचेमें विश्वको बैठा देना," बस, ठीक यही चीज है जिसे प्रत्येक व्यक्ति करता है। और वे केवल विश्वके विषयमें ही निर्णय नहीं करते, बल्कि उन दिव्य तत्त्वोंके विषयमें भी निर्णय करते हैं जिन्होंने इसे बनाया है और वे समझते हैं कि वे कुछ जानने-समझनेमें समर्थ हैं।

क्या "स्वतंत्रता"का अर्थ है समस्त आसक्तिसे मुक्ति?

यह केवल समस्त आसक्तिसे मुक्ति ही नहीं है, बल्कि कार्य-कारण-विधानके समस्त बंधनसे मुक्ति है। स्थूल-भौतिक क्षेत्रमें एक प्रकारकी नियति है जो कार्य-कारण-विधानसे आती है; अतएव आंतरिक स्वतंत्रता तुम्हें केवल समस्त आसक्तिसे मुक्त नहीं करती बल्कि समस्त परिणामोंसे भी मुक्त करती है। जैसा कि मैंने तुमसे कई बार कहा है, आंतरिक स्वतंत्रता प्राप्त हो जानेपर तुम्हारी चेतना उस स्तरसे बहुत ऊपरके एक स्तरपर उठ जाती है जो स्थूल जगत्‌पर शासन करता है, और इस उच्च स्तरसे दिव्य शक्ति अवतरित हो सकती और समस्त स्थूल परिणामोंको रद्द कर सकती है।

यदि कोई व्यक्ति उच्चतर चेतनामें कोई विशेष सत्य उपलब्ध करे पर मन उसका विरोध करे तो क्या मनको इस नये सत्य-को स्वीकार करनेके लिये बाध्य करना चाहिये?

यदि तुम उसे बाध्य करनेमें सफल होओ तो बहुत अच्छा। परंतु यह इतना आसान नहीं है। ऐसा घटित होनेके लिये उसे बाध्य करनेका निश्चय करना ही पर्याप्त नहीं है! वह विद्रोह करता है। और विद्रोह करनेवाली वह केवल एक ही चीज नहीं है। तब भला विद्रोह करनेवाले इस मनके साथ तुम क्या करोगे? वह जो कुछ चाहे उसे करने दोगे? वह सब निःशेष कर दोगे? यह कोई बहुत सुन्दर प्रक्रिया नहीं है!

प्रत्येक व्यक्तिमें एक ही क्रिया नहीं होती। ऐसे लोग होते हैं जिनके मनमें महान् ज्योति होती है (अथवा वे समझते हैं कि उन्हें ज्योति प्राप्त है!), वे सभी बातें जानते हैं, वे जानते हैं कि संसारको और दूसरों-को कैसे आचरण करना चाहिये, और फिर, वे इस विषयमें निस्संदिग्ध हैं कि वे रास्तेपर बहुत आगे हैं, पर जब वे कार्य करना आरंभ करते हैं तो सड़कपर दौड़-भाग करनेवाले सामान्य बच्चोंसे भी अधिक मूर्खता करते हैं। क्यों? जिसने कार्य करनेका निश्चय किया वह मन नहीं था और यदि उसीने निश्चय किया है तो जिसने कार्य किया वह मन नहीं था। जिसने कार्य किया है वह मनके अधिकारको बिलकुल नहीं मानता, बल्कि उससे कहता है: "मुझे अकेले छोड़ दो, मुझे परेशान मत करो! मैं अपनी निजी अंतःप्रेरणाके अनुसार कार्य करता हूं।" तब तुम भला क्या करोगे? अपने मनको कोई पाठ पढ़ानेकी चेष्टा करोगे? तुम सर्वदा चेष्टा कर सकते हो, पर इसका कोई निश्चय नहीं कि तुम सफल होगे। यह कोई आसान समस्या नहीं है....। मानव-प्रकृति बड़ी ही अस्थिर है। एक ढंगसे सोचनेके बाद, वह दूसरे ढंगसे सोचती है; एक तरीकेसे अनुभव करनेके बाद, वह दूसरे तरीकेसे अनुभव करती है और उसी तरह क्रम चलता रहता है। कुछ भी स्थायी नहीं होता: भली बात बुरी बातसे अधिक देरतक नहीं टिकती; बुरी बात भली बातसे थोड़ी अधिक देरतक टिकती है! पर जो हो, ऐसा अनिश्चित कालतक नहीं बना रहता। अतएव, यदि तुममें प्रतीक्षा करनेका धैर्य हो तो अवश्य ही यह परिवर्तित होगी!

पर सब कुछ पुनः वापस आता है!

हां, अवश्य ही, क्योंकि इस ढंगसे कुछ भी परिवर्तित नहीं होगा, इस तरह

केवल गतिमें ही परिवर्तन आयेगा। यह ठीक उन रंग-चक्रियोंकी तरह है: कभी तो हम एक रंग देखते हैं और कभी दूसरा, और अगर हम काफी देरतक प्रतीक्षा करें तो हम लाल, नीला, सफेद, लाल, नीला, सफेद ....अनिश्चित कालतक देखते रहते हैं। ऐसे लोग होते हैं जो इस तरहका एक छोटा-सा सुन्दर सिद्धांत बना लेते हैं, जिसे मैंने बार-बार सुना है; वे कहते हैं कि अपने प्राणको कभी दबाना नहीं चाहिये, वह जो कुछ चाहे उसे करने देना चाहिये, वह थक जायगा और सुधर जायगा! यह मूर्खताकी हद है! क्योंकि, पहले तो प्राण अपने स्वभाववश ही कभी संतुष्ट नहीं होता, और यदि कोई विशेष प्रकारकी क्रिया नीरस बन जाय तो वह मात्रा दूनी कर देगा: यदि उसकी मूर्खताएं उसे उबा दें तो वह अपनी मूर्खताएं बढ़ा देगा और अति कर देगा, और यदि उससे वह थक जाय तो जैसे ही वह आराम कर लेगा वैसे ही वह फिर उसे आरंभ कर देगा, क्योंकि वह परिवर्तित नहीं होगा। दूसरे लोग कहते हैं कि यदि तुम अपने प्राणके ऊपर बैठ जाओ तो वह दमित हो जायगा और, एक दिन, वह वाष्प-धाराकी तरह ऊपर फूट निकलेगा....और यह सच है। इसलिये, प्राणका दमन करना कोई समाधान नहीं है। वह जो कुछ चाहे उसे करने देना भी समाधान नहीं है, और साधारणतया यह काफी गंभीर विशृंखलाएं उत्पन्न करता है। कोई तीसरा समाधान अवश्य होना चाहिये।

यह अभीप्सा करना कि ऊपरसे ज्योति आये और इसे शुद्ध करे?

स्पष्ट ही, पर समस्या बनी रहती है। तुम एक परिवर्तनके लिये, संभवतः सुनिश्चित परिवर्तनके लिये अभीप्सा करते हो; परंतु तुम्हारी अभीप्साका उत्तर तुरंत नहीं आयेगा और इस बीच तुम्हारी प्रकृति विरोध करेगी। वस्तुएं इसी तरह घटित होती हैं: एक विशेष क्षणमें प्रकृति हारी हुई प्रतीत होती है और तुम समझते हो कि तुम्हें काम्य परिणाम प्राप्त हो गया है। तुम्हारी अभीप्साकी तीव्रता कम हो जाती है, क्योंकि तुम समझते हो कि तुम्हें अभीप्सित फल मिल गया है। परंतु दूसरी चीज बहुत धूर्त है और अपने कोनेमें चुपचाप प्रतीक्षा करती रहती है, और जब तुम असावधान होते हो तो स्प्रिंगदार खिलौनेकी तरह ऊपर उछल पड़ती है, और तब तुम्हें सब कुछ फिरसे आरंभ करना पड़ता है।

परंतु कोई यदि उसकी जड़को ही पूर्ण रूपसे काट डाले?

आह! हमें उस विषयमें इतना विश्वस्त नहीं होना चाहिये। मैं ऐसे लोगोंसे परिचित थी जो जगत्‌को इतना अधिक घटाकर उसकी रक्षा करना चाहते थे कि जगत् नामकी कोई चीज रह ही न गयी थी! यह संन्यास-का तरीका है — तुम समस्याकी संभावनाको ही नष्ट करके समस्यासे छुटकारा पाना चाहते हो। परंतु इससे कोई भी चीज परिवर्तित नहीं होगी।

ना, एक पद्धति है — सुनिश्चित पद्धति है —, परंतु तुम्हारी पद्धति बहुत स्पष्टदर्शी होनी चाहिये और तुम्हें अपने व्यक्तित्वके संबंधमें खूब जाग्रत् चेतना रखनी होगी और इस विषयमें सज्ञान रहना होगा कि वहां (व्यक्तित्वके अंदर) क्या चल रहा है और किस तरह चीजें घटित हो रही हैं। आओ, एक ऐसे व्यक्तिका उदाहरण लें जो क्रोध और हिंसाके आवेश-के अधीन रहता है। एक पद्धतिके अनुसार उससे कहा जायगा: "तुम जितना चाहो उतना क्रोधित हो जाओ, तुम्हें अपने क्रोधके परिणामोंको भोगना होगा और यह चीज तुम्हें स्वस्थ बना देगी।" इसपर बहस की जा सकती है। दूसरी पद्धतिके अनुसार उससे कहा जायगा: "अपने क्रोधके ऊपर बैठ जाओ और वह विलीन हो जायगा।" इसपर भी तर्क-वितर्क किया जा सकता है। पर जो हो, तुम्हें उसपर सर्वदा बैठे रहना होगा, क्योंकि यदि कभी तुम एक क्षणके लिये भी खड़े हो जाओ तो तुम तुरत देखोगे कि क्या घटित होता है! तब, क्या करना चाहिये?

तुम्हें अधिकाधिक सचेतन होना चाहिये। तुम्हें यह ध्यानपूर्वक देखना चाहिये कि कैसे चीजें घटित होती हैं, किस पथसे विपत्ति आती है, तुम्हें उनके रास्तेमें खड़ा हो जाना चाहिये। यदि तुम किसी दोषसे या किसी कठिनाईसे अपनेको मुक्त करना चाहते हो तो बस एक ही पद्धति है: पूर्ण रूपसे जाग्रत् रहना, बहुत सतर्क और सावधान चेतना प्राप्त करना। सबसे पहले तुम्हें खूब साफ-साफ यह देखना चाहिये कि तुम क्या करना चाहते हो। तुम्हें हिचकिचाना नहीं चाहिये, संदेहसे पूर्ण होकर यह नहीं कहना चहिये, "ऐसा करना अच्छा है या नहीं, क्या यह समन्वयके अंदर आता है या यह समन्वयके अंदर नहीं आता?" तुम देखोगे कि यदि तुम अपने मनपर विश्वास करते हो तो वह सर्वदा ढरकीकी तरह आगे और पीछे दौड़ेगा: वह सब समय हिलता-डोलता है। अगर तुम कोई निर्णय लेते हो तो वह तुम्हारे सामने सब प्रकारके तर्क तुम्हें यह दिखानेके लिये उप-स्थित करेगा कि तुम्हारा निर्णय अच्छा नहीं है, और तुम "हां" और "ना" के बीच, सादे और कालेके बीच लुढ़कते रहोगे और किसी निर्णयपर नहीं पहुंचोगे। अतएव, सबसे पहले, तुम्हें ठीक-ठीक यह जानना चाहिये कि

तुम क्या चाहते हो — जानना चाहिये, मनसे नहीं, बल्कि एकाग्रताके द्वारा, अभीप्साके द्वारा और बहुत सचेतन संकल्प-शक्तिके द्वारा। यही महत्त्वपूर्ण बात है। पीछे, धीरे-धीरे, निरीक्षणके द्वारा, सतत सावधानताके द्वारा, तुम्हें एक प्रकारकी पद्धति प्राप्त करनी चाहिये जो तुम्हारे लिये व्यक्तिगत होगी — अपनी ही पद्धतिको स्वीकार करनेके लिये दूसरोंको राजी करना निरर्थक है, क्योंकि वह सफल नहीं होगी। प्रत्येक व्यक्तिको अपनी निजी पद्धति खोज निकालनी होगी, प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी निजी पद्धति होनी चाहिये, और जिस हदतक तुम अपनी पद्धतिका अभ्यास करोगे, उस हदतक वह स्पष्टसे स्पष्टतर, अधिकाधिक यथार्थ होती जायगी। तुम किसी विशेष बातको सुधार सकते हो, दूसरीको स्पष्ट बना सकते हो आदि-आदि। सो, तुम काम करना आरंभ कर देते हो....। कुछ समय सब कुछ अच्छी तरह चलता रहेगा। फिर, एक दिन, तुम देखोगे कि तुम्हारे सामने एक अलंघ्य कठिनाई मौजूद है और अपने-आपसे कहोगे, "मैंने वह सब किया है और यहां प्रत्येक चीज पहलेकी जैसी ही बुरी है!" तब, ऐसी हालतमें, तुम्हें, और भी अधिक अविरत घन एकाग्रताके द्वारा, अपने अंदर एक आंतर द्वार खोल देना चाहिये और इस क्रियाके अंदर एक ऐसी शक्तिको ले आना चाहिये जो वहां पहले नहीं थी, चेतनाकी एक ऐसी स्थिति ले आनी चाहिये जो वहां पहले नहीं थी। और वहां, वहां एक ऐसी सामर्थ्य होगी, जब कि तुम्हारी अपनी व्यक्तिगत शक्ति समाप्त हो गयी होगी और अब प्रभावशाली नहीं होगी। जब व्यक्तिगत शक्ति समाप्त हो जाती है तो साधारण जन कहते हैं, "बहुत अच्छा, अब मैं कुछ भी नहीं कर सकता, यह समाप्त हो गया।" परंतु मैं तुमसे कहती हूं कि जब तुम इस दीवालके सम्मुख अपने-आपको पाओ तो समझो कि यह किसी नयी वस्तुका प्रारंभ है। तुम्हें कठोर एकाग्रताके द्वारा दीवालके पार दूसरी ओर चला जाना चाहिये और वहां तुम एक नया ज्ञान, एक नयी शक्ति, एक नयी सामर्थ्य, एक नयी सहायता पाओगे, और तुम एक नयी प्रणाली, एक नयी पद्धतिको कार्यान्वित कर सकोगे जो अवश्य ही तुम्हें बहुत दूरतक ले जायगी।

यह मैं तुम्हें हतोत्साह करनेके लिये नहीं कह रही हूं; बस, बातें इसी तरह घटित होती हैं। और सबसे बुरी बात है ऐसा घटित होनेपर निरुत्साहित हो जाना। तुम्हें अपने-आपसे कहना चाहिये, "मेरे हाथमें परिवहनके जो साधन थे उसकी सहायतासे मैं एक विशेष स्थानतक पहुंच गया हूं, पर ये साधन अब मुझे और आगे नहीं जाने देते। मुझे क्या करना चाहिये?... यहीं बैठ जाऊं और जरा भी न हिलूं-डुलूं? नहीं, बिलकुल

नहीं। मैं परिवहनके अन्य साधन अवश्य ढूंढ निकालूंगा।" ऐसा बहुत बार घटित होगा, पर कुछ समय बाद तुम इसके आदी हो जाओगे। तुम्हें कुछ क्षण बैठ जाना चाहिये, ध्यान करना चाहिये, और तब, दूसरे साधन खोज निकालने चाहियें। तुम्हें अपनी एकाग्रता, अपनी अभीप्सा और अपने विश्वासको बढ़ा देना चाहिये और जो नयी सहायता तुम्हें प्राप्त हो उससे एक नवीन कार्यक्रम बना लेना चाहिये, जिन साधनोंको तुमने पीछे छोड़ दिया है, उनके स्थानपर अन्य साधनोंको क्रियान्वित करना चाहिये। बस, इसी तरह मनुष्य स्तर-पर-स्तर प्रगति करता जाता है।

परंतु जो कुछ तुमने पाया या सीखा है उसे यथासंभव पूर्णताके साथ प्रत्येक अवस्थामें व्यवहृत करनेकी बहुत सावधानी बरतनी चाहिये। अगर तुम चेतनाकी *अंतर्मुखी अवस्थामें रहोगे और आंतरिक प्रगतिका व्यवहार भौतिक रूपमें नहीं करोगे तो एक समय अवश्य आयेगा* जब तुम बिलकुल ही हिल नहीं सकोगे, क्योंकि तुम्हारी बाहरी सत्ता, अपरिवर्तित होनेके कारण, एक बेड़ीकी तरह तुम्हें पीछे खींचेगी और तुम्हें आगे बढ़नेमें बाधा देगी। अतएव, अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है (जिसे सब लोग कहते तो हैं पर केवल थोड़े-से लोग ही करते हैं): जो कुछ तुम जानते हो उसको अमलमें लाना। ऐसा करनेपर सफलता पानेका अच्छा अवसर प्राप्त होता है, और लगातार प्रयास करते रहनेपर तुम अवश्य ही वहां पहुंच जाओगे।

जब तुम्हें अपने सामने दीवाल दिखायी दे तो कभी हतोत्साह नहीं होना चाहिये, कभी यह नहीं कहना चाहिये, "ओह! मैं क्या करूं? यह अभी भी मौजूद है। इस तरह कठिनाई फिर भी और फिर भी और फिर भी बनी रहेगी, एकदम अंततक बनी रहेगी। जब तुम लक्ष्यतक पहुंच जाओगे केवल तभी सब कुछ सहसा भूमिसात् हो जायगा।

८ मार्च, १९५१

"...पूर्वजन्मोंकी सच्ची स्मृति सर्वांगपूर्ण ज्ञानका एक अंश अवश्य हो सकती है, किंतु इस ज्ञानकी प्राप्ति इस प्रकारकी सुन्दर-सुन्दर कल्पना-तरंगोंसे संभव नहीं। यह ज्ञान यदि एक ओरसे विषयाश्रित है तो दूसरी ओरसे यह बहुत कुछ व्यक्तिगत

और विषयीभूत अनुभूतिपर निर्भर करता है और यहींपर कल्पना-जल्पना, विकृति और मिथ्या रचनाओंकी बहुत अधिक संभावना रहती है। पूर्वजन्मोंके सत्यतक पहुंचनेके लिये तुम्हारी अनुभव करनेवाली चेतनाको शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिये, किसी भी मानसिक या प्राणिक हस्तक्षेपसे रहित और अपनी व्यक्तिगत धारणाओं और अनुभवों तथा अपने मनके अपने निजी ढंगसे अर्थ करने या व्याख्या करनेके अभ्याससे विमुक्त होना चाहिये।"

— वार्तालाप (१९२९)

मानसिक हस्तक्षेपसे मुक्ति पानेके लिये क्या करना चाहिये?

मनको नीरव रहना सीखना होगा — उसे रहना होगा स्थिर, सचेत और नीरव। यदि तुम मनको सीधे ही मौन करनेकी चेष्टा करो तो यह बड़ा कठिन होता है, प्रायः असंभव होता है; क्योंकि मनका जो अत्यंत स्थूल अंश है वह कभी अपनी क्रिया बंद नहीं करता, वह बिना रुके रेकार्ड करनेवाली मशीनकी तरह निरंतर चलता ही रहता है। जो कुछ वह अंकित करता है उसे दोहराता रहता है, जबतक उसे बंद करनेका बटन नहीं होता तकतक वह चलता ही रहता है, और अनिश्चित कालतक चलता ही रहता है। दूसरी ओर, यदि तुम अपनी चेतनाको किसी उच्चतर लोकमें, सामान्य मनसे ऊपर, ले जाओ तो इस तरह ज्योतिकी ओर उद्घाटित होनेसे मन स्थिर हो जाता है, अब वह हिलता-डुलता नहीं, और इस प्रकार जो मनकी नीरवता प्राप्त होती है वह स्थायी बन सकती है। उस लोकमें एक बार प्रवेश कर जानेके बाद, तुम कभी उससे एकदम बाहर नहीं आ सकते — बाह्य मन सदा ही स्थिर बना रहता है।

बस, सच्चा समाधान है उच्चतर प्रकाशके लिये अभीप्सा करना।

अपनी प्रकृतिके दुराग्रही अंगोंको समर्पणके लिये कैसे राजी किया जाय?

यदि कोई बच्चा समझता नहीं है तो उसे जिस भांति समझाते हो ठीक उसी भांति उन्हें भी सब प्रकारके साधनोंके द्वारा, चित्रों, व्याख्याओं, प्रतीकोंके द्वारा समझानेका प्रयत्न करो। उन्हें सत्ताके अन्य अंगोंके साथ ऐक्य तथा सामंजस्य रखनेकी आवश्यकता समझाओ; उनके साथ तर्क-वितर्क

करो, उन्हें अपने कर्म और उनके फलोंके बारेमें सचेतन करनेका प्रयत्न करो। सबसे बड़ी बात है, बहुत धैर्य बनाये रखो, वे ही चीजें दुहराते रहनेसे थक मत जाओ।

इस कर्ममें क्या मन कोई सहायता दे सकता है?

हां, यदि मनका कोई भाग पूर्णतः आलोकित हो, यदि वह चैत्य ज्योतिके प्रति समर्पित हो और उसे सत्यका कुछ बोध हो तो मन बहुत अधिक सहायक हो सकता है, वह ठीक ढंगसे सभी बातोंको समझा सकता है।

पूर्वजीवनोंके विषयमें क्या कोई सामान्य नियम, मोटी रूपरेखा है या सब कुछ संभव है?

सब कुछ निर्भर करता है उस श्रेणीपर जिससे मनुष्य संबंध रखता है, और फिर चैत्य पुरुषके विकासकी मात्रापर। यदि चैत्य पुरुष किसी उन्नत अवस्थामें हो, लगभग प्रौढ़ावस्थामें हो, तो मृत्युसे पूर्वका चुनाव, जिसके विषयमें मैंने उस दिन तुम लोगोंसे कहा था, बिलकुल सच्चा होता है और इस चुनावका अर्थ है कि सब कुछ संभव है; परंतु दूसरे प्रसंगों-में, पूर्नजन्म लगभग अपने-आप घटित होता है। चैत्य पुरुषका संकल्प विकसित नहीं हुआ होता और वह चुनाव नहीं करता। अतएव, उस विषयमें कोई नियम नहीं है। यह बहुत कुछ परिस्थितियोंपर निर्भर करता और विशेषतया रूपनिर्माणकी उस धारापर निर्भर करता है जिसका अनुसरण चैत्य पुरुष करेगा, और वह निर्भर करता है उसके मूल उद्गमपर। इस विषयमें कुछ कहना कठिन है। लिंगभेदका जहांतक प्रश्न है, वह बहुत दीर्घ कालतक बदलता रह सकता है। जब चेतना वर्द्धित होती है और कर्मकी, चेतनाकी कोई एकता प्राप्त करती है तो वह एक धाराको एकदम छोड़कर दूसरीका अनुसरण करनेका चुनाव कर सकती है; परंतु इस चुनावसे पूर्व, असंख्य जन्मोंमें तुम निस्संदेह विभिन्न योनियों (कभी पुरुष, कभी नारी योनि) में रहे हो। संभवतः यही कारण है कि कुछ स्त्रियोंमें पुरुष-स्वभाव और कुछ पुरुषोंमें नारी-स्वभाव, अथवा अपने वर्गके विपरीत प्रवृत्तियाँ होती हैं। परंतु "चुनाव"के समय कोई सृजनात्मक 'चेतना' अथवा निश्चल 'साक्षिचेतना'से संबंधित रहनेका निर्णय कर सकता है। यह निर्भर करता है मूल उद्गमपर।

क्या सभी चैत्य पुरुषोंका एक ही उद्गम होता है?

बस, चीजें इसी तरह घटा करती हैं। जड़तत्त्वमें चैत्य जीवनका, दिव्य 'उपस्थिति'का मूल एक ही है, यह बात जानी हुई है, परंतु उच्चतर जगत्-में ऐसी सत्ताएं हैं जिन्होंने पृथ्वीपर कभी शरीर ग्रहण नहीं किया है और जो वहां कार्य करना चाहती हैं, एक पार्थिव कर्म करना चाहती हैं। अतएव वे तबतक प्रतीक्षा करती हैं जबतक कि कुछ चैत्य पुरुष अपनी पूर्ण विकासावस्थाको नहीं प्राप्त कर लेते और उनके स्वभावके अनुसार कोई कार्य करनेके लिये उनके साथ युक्त नहीं हो जाते। उनकी चेतना पृथ्वीपर चैत्य चेतनाके साथ जुड़ जाती है। ये ऐसी सत्ताएं हैं जिन्होंने यहां कभी जन्म ग्रहण नहीं किया है, ऐसी सत्ताएं हैं जिन्होंने सृष्टिकी प्रगतिके साथ-साथ अपने-आपको अधिकाधिक मूर्त्त रूप दिया था। ये शायद प्रथम अंशविभूति हैं, विशिष्ट कारणोंसे विश्वमें भेजी गयी सत्ताएं हैं — मनुष्य जिन्हें "देव" या "अर्ध-देव" कहते हैं। अतएव, इनमेंसे किसी सत्ताने, किसी विशेष कारणसे, किसी आकार लेते हुए चैत्य पुरुषको चुन लिया होगा — वह उसे सहायता करती है, उसके विकासका निरी-क्षण करती है, जब वह चैत्य पुरुष पर्याप्त रूपमें तैयार हो जाता है और तादात्म्यको धारण करनेके योग्य पर्याप्त शक्तिशाली हो जाता है तो वह उसके साथ युक्त हो जाती है, पृथ्वीपर कुछ काम करनेके लिये उसके साथ एकात्म हो जाती है। ऐसा बहुत अधिक नहीं होता, पर ऐसा हुआ है और अब भी होता है। तुम्हें पृथ्वीपर देवताओंके अवतार लेनेकी कहानियां प्राचीन परंपराओंमें मिलती हैं; कुछ पुराण इस बातकी चर्चा करते हैं। वह चीज किसी सत्य वस्तुसे मिलती-जुलती है। परंतु सभी चैत्य पुरुष निश्चित रूपसे उच्चतर लोकोंकी सत्ताओंके साथ युक्त नहीं होते।

उसके बाद श्रीमाताजी एक दूसरे प्रश्नपर आ जाती हैं, वह है: प्राण-जगत्की सत्ताओंके द्वारा "अभिभूत" होना या उनका पृथ्वीपर शरीर ग्रहण करना।

क्या इन प्राणिक सत्ताओंमें चैत्य पुरुष होता है?

नहीं, मैंने कहा था कि शरीरमें आनेके लिये उन्हें सबसे पहले जो कार्य

करना होता है वह यह है कि वे जिस व्यक्तिको अधिकृत करते हैं उसके चैत्य पुरुषको बाहर खदेड़ देते हैं। ऐसा एकदम जन्मकालसे भी हो सकता है। ऐसे बच्चे होते हैं जो लगभग मृतजात होते हैं; उन्हें मरा हुआ समझा जाता है और अचानक वे पुनः जी उठते हैं— इसका अर्थ है कि कोई प्राणिक सत्ता उनमें अवतरित हुई है। मैंने ऐसी घटनाएं देखी हैं: यह बात किसी बीमारीकी अवस्थामें भी घटित हो सकती है: कोई व्यक्ति बहुत बीमार हो जाता है और धीरे-धीरे वह अपने चैत्य पुरुषके साथ संपर्क खो देता है, फिर, मूर्च्छाकी अवस्थामें या वैसी ही किसी स्थितिमें वह संपर्कको पूर्णतः काट देता है और प्राणिक सत्ता उसके शरीरमें घुस आती है। मैंने इस प्रकारकी घटनाएं भी देखी हैं। अथवा, यह एक धीमी प्रक्रिया हो सकती है: प्राणिक सत्ता व्यक्तिके वातावरणमें प्रवेश करती है, धीरे-धीरे उसपर प्रभाव डालती रहती है और अंतमें बीमारी ले आती है, आक्रमण करती है, विशेषकर मानसिक बीमारी ले आती है; तब एक ऐसा समय आता है जब चैत्य पुरुषके साथका संपर्क एकदम कट जाता है और प्राणिक सत्ता शरीरपर कब्जा जमा लेती है। ऐसे उदाहरण होते हैं जब लोग बहुत बीमार पड़ जाते हैं और पहले जो कुछ थे उससे भिन्न व्यक्ति बनकर बीमारीसे बाहर आते हैं। बहुत बार यही चीज घटित होती है।

आपने कहा है कि ये प्राणिक सत्ताएं आध्यात्मिक जीवनकी ओर आकर्षित होती हैं। क्यों?

वे आकर्षित होती हैं, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने सच्चे दिलसे आध्यात्मिक जीवन यापन करनेका निश्चय किया है। इन सत्ताओंकी प्रमुख विशेषता है मिथ्यात्व: उनकी प्रकृति छल-कपटसे बनी होती है। उनमें प्रतारणा करनेकी शक्ति होती है; वे दिव्य सत्ताओं या उच्चतर सत्ताओंका रूप ग्रहण कर सकती हैं, वे चौंधिया देनेवाली ज्योतिमें प्रकट हो सकती हैं, परंतु वास्तवमें सच्चे व्यक्ति उनसे प्रतारित नहीं होते, वे तुरत कुछ ऐसी चीज अनुभव करते हैं जो उन्हें सावधान कर देती है। परंतु जो व्यक्ति अद्भुत, अप्रत्याशित चीजें चाहता है, जो विलक्षण चीजोंको प्यार करता है, जो रोमांचक जीवन यापन करना चाहता है, उसके आसानीसे धोखा खानेकी संभावना होती है।

पिछले दिनों एक ऐतिहासिक उदाहरण सामने आया था, वह था हिटलरका। वह एक ऐसी सत्ताके संपर्कमें था जिसे वह परात्पर सत्ता मानता

था। वह सत्ता उसके पास आती और उसे सलाह देती थी, उसे वह सब बातें बताती थी जिन्हें उसे करना चाहिये था। हिटलर एकांतमें चला जाया करता था और अपने "पथप्रदर्शक"से संपर्क स्थापित करनेके लिये जितनी देर रहनेकी आवश्यकता होती थी उतनी देरतक वहां रहता था, उससे प्रेरणाएं प्राप्त करता था तथा बादमें उनको बहुत सच्चाईके साथ कार्य रूपमें परिणत करता था। यह सत्ता, जिसे हिटलर परात्पर प्रभु समझता था, बिलकुल स्पष्ट रूपमें एक असुर थी, वह सत्ता थी जिसे गुह्यविद्यामें "मिथ्यात्वका प्रभु" कहते हैं, परंतु जिसने स्वयं अपनेको "राष्ट्रोंका प्रभु" घोषित किया था। उसका रूप बड़ा चमकीला था, वह असुर किसी भी व्यक्तिको भुलावा दे सकता था, केवल वही व्यक्ति बच सकता था जिसे वास्तवमें गुह्य ज्ञान प्राप्त होता और जो देख सकता कि उसके रूपके पीछे क्या चीज है। किसी भी व्यक्तिको वह धोखा दे सकता था, वह वास्तवमें बड़ा तेजस्वी था। साधारणतया वह एक रुपहला कवच और टोप पहनकर हिटलरके सम्मुख प्रकट हुआ करता था। उसके मस्तकसे एक प्रकारकी ज्वाला निकलती थी और उसके चारों ओर चौंधिया देनेवाली ज्योतिका वातावरण होता था, ज्योति इतनी चकाचौंध करनेवाली होती थी कि हिटलर उसकी ओर मुश्किलसे ताक सकता था। वह हिटलरको वह सब कुछ बतलाया करता था जो उसे करना चाहिये था — वह उसी तरह उसके साथ खेलता था जैसे कोई बंदर या चूहेके साथ खेलता है। उसने स्पष्ट रूपमें यह निर्णय किया था कि वह हिटलरसे उस दिनतक सभी प्रकारके संभव अमिताचार करायेगा जब कि वह उसकी गर्दन मरोड़ देगा, जो वास्तवमें घटित हुआ। परंतु इस तरहकी घटनाएं अक्सर घटा करती हैं, यद्यपि घटा करती हैं, निस्संदेह, एक अधिक छोटे पैमानेमें।

हिटलर एक बहुत अच्छा माध्यम था, उसमें माध्यम बननेकी बहुत बड़ी क्षमताएं थीं, पर उसमें बुद्धि और विवेकका अभाव था। यह असुर उससे जो भी कहता वह सब उसके गलेसे उतर जाता था। वास्तवमें इस असुरने ही हिटलरको धीरे-धीरे आगे बढ़ाया और उसने यह अपने मनोरंजनके लिये किया, उसने जीवनको गंभीरतापूर्वक नहीं लिया। ऐसी सत्ताओंके लिये मनुष्य बहुत नन्हीं वस्तुएं होते हैं जिनके साथ वे खेलती हैं, जैसे कि बिल्ली चूहेके साथ खेलती है, और खेलती-खेलती अंतमें उसे निगल जाती है।

क्या मानसिक रूपसे विक्षिप्त लोग (विरोधी शक्तियोंद्वारा) अधिकृत होते हैं?

हों, यदि उनमें कोई शारीरिक विकार न हो, उनकी गठनमें ही कोई दोष न हो या कोई आकस्मिक दुर्घटना न हो गयी हो, रक्तावरोध न हो। सभी अन्य प्रसंगोंमें सर्वदा ये (विरोधी शक्तियोंद्वारा) अधिकृत होते हैं। इसका सबूत यह है कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे पास लाया जाय जो एकदम मनसे विक्षिप्त है, और यदि उसमें कोई शारीरिक विकार है तो उसे स्वस्थ नहीं बनाया जा सकता, जब कि उसमें यदि कोई शारीरिक विकार न हो और यदि वह अधिकृत हो तो उसे मुक्त किया जा सकता है। दुर्भाग्यवश ये चीजें केवल उन्हीं लोगोंके साथ घटित होती हैं जो उन्हें चाहते हैं; उनकी सत्ताके अंदर अवश्य ही बहुत महत्त्वाकांक्षा, मिथ्याभिमान होना चाहिये और उस सबके साथ जुड़ी होनी चाहिये बहुत अधिक मूर्खता और भयानक अहंकार — बस, ऐसी ही चीजोंके साथ वे सत्ताएं खेलती हैं। मैंने ऐसे उदाहरण देखे हैं, ऐसे लोगोंको देखा है जो अंशतः अभिभूत थे और मैंने उन्हें उन सत्ताओंसे मुक्त कर दिया जिन्होंने उन्हें अधिकृत कर रखा था। स्वभावतः ही उन्हें थोड़ी राहत मिली, कुछ दिन एक प्रकारका आराम मिला, परंतु वह अधिक दिन नहीं टिका; लगभग तुरंत ही वह क्षीण हो गया और उन्होंने सोचा, "अब मैं बिलकुल साधारण जीव बन गया हूं, जब कि इससे पहले मैं एक असाधारण व्यक्ति था!" वे अपने अंदर एक असाधारण शक्तिका अनुभव किया करते थे, भले ही वह कोई बुराई करनेकी ही शक्ति क्यों न हो, और वे उससे संतुष्ट थे। सो, उन्होंने फिर क्या किया? उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगाकर उस शक्तिको वापस बुलाया जिसे वे खो चुके थे! अवश्य ही, जो सत्ता विनष्ट कर दी गयी थी वह तो वापस नहीं आ सकी, परंतु, ये सत्ताएं चूंकि हजारोंकी संख्यामें होती हैं, उसके स्थानमें एक दूसरी आ गयी। मैंने एक व्यक्तिके अंदर लगातार तीन बार ऐसा होता हुआ देखा है, यहांतक कि अंतमें मुझे उस व्यक्तिसे कहना पड़ा: "मैं तो थक गयी हूं, तुम स्वयं इससे छुटकारा पाओ, अब मुझे इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है!"

ऐसे उदाहरणोंमें चैत्य पुरुषका क्या होता है?

साधारणतया, वह बाहर चला जाता है।

मुझे यहां तुम्हें बतला देना चाहिये कि प्राण-जगत्‌की सत्ताएं अमर होती हैं — वह मर नहीं सकतीं। उनका विनाश किया जा सकता है, परंतु एकमात्र विशुद्ध आध्यात्मिक शक्ति ही उनका विनाश कर सकती

है। उदाहरणके लिये, प्राणिक युद्धके अंदर (ऐसे लोग होते हैं जिनमें प्राणिक रूपसे युद्ध करनेकी शक्ति होती है), अनुभव सर्वदा एक जैसा ही होता है कि यदि तुम प्राण-जगत्‌में किसी प्राणिक सत्ताके साथ युद्ध करते हो तो तुम उसे कुचल सकते हो, उसका वध कर सकते हो, पर वह सदा ही फिरसे पैदा हो जायगी — बराबर वे अपनी रचना फिरसे कर लेती हैं। मैं समझती हूं कि बहुत-से सिरोंवाले नागों या दैत्योंकी पौराणिक गाथाओंका मूल इसी बातमें निहित है।

संसारमें केवल एक ही शक्ति है जो उन्हें सुनिश्चित रूपमें, अर्थात् उनके वापस आनेकी कोई संभावना ही न रहे इस प्रकार विनष्ट कर सकती है, और वह एक ऐसी शक्ति है जो परात्पर सृजनात्मिका शक्तिसे संबंध रखती है। वह एक ऐसी शक्ति है जो अतिमानसिक जगत्‌के परेसे आती है — वह शक्ति प्रत्येक व्यक्तिके अधिकारमें नहीं है। वह एक ज्योतिर्मय शक्ति है, उसमें चकाचौंध करनेवाली शुभ्रता है, वह इतनी जाज्वल्यमान् है कि यदि साधारण आंखें उसकी ओर ताकें तो वे अंधी हो जायंगी। प्राण-जगत्‌की सत्ताको बस इस ज्योतिसे ठीक स्पर्शभर कर देना है और वह तुरत जल जायगी — वह तरल हो जायगी, उन कीड़ोंकी तरह जो थोड़ा-सा नमक छिड़क देनेपर गलकर पानी हो जाते हैं।

क्या रासपुतीन कोई प्राणिक सत्ता था?

मैंने उसके बारेमें अत्यंत विपरीत बातें सुनी हैं — कुछ लोग उसे मूर्तिमान देवता मानते थे, दूसरे मूर्तिमान शैतान। मैं कुछ नहीं कह सकती। मेरा उसके साथ कोई संपर्क नहीं हुआ था।

जब हिटलर मरा, क्या मिथ्यात्वका प्रभु स्टालिनमें चला गया?

एकदम इस तरहकी चीजें नहीं घटित होतीं, पर इससे मिलती-जुलती ही कोई बात होती है। उस सत्ताने हिटलरकी मृत्युके लिये प्रतीक्षा नहीं की, बस, यहींपर तुम भूल करते हो। ये सत्ताएं किसी एक भौतिक आकृतिसे बिलकुल बंधी नहीं होतीं। जिस सत्ताकी चर्चा हो रही है वह पूरी तरह हिटलरको अधिकृत कर सकती और उसके साथ-ही-साथ अनेक दूसरोंको भी प्रभावित कर सकती थी। हिटलरको इसलिये दूर किया गया, क्योंकि उसके पीछे एक समूचा राष्ट्र था और एक भौतिक शक्ति थी, और यदि वह सफल हो गया होता तो वह मनुष्य-

शक्तिसे किसी एक घोर अनर्थ होता, परंतु इस विषयमें अपने-आपको धोखा देनेकी कोई बात नहीं थी; जो शक्ति उसके पीछे थी उससे छुटकारा पानेके लिये उससे (हिटलरसे) छुटकारा पाना ही पर्याप्त नहीं था — वह इतना आसान नहीं है। मैं तुम्हें बता दूं कि उन सत्ताओंकी उत्पत्ति देवताओंकी उत्पत्तिसे पहले हुई थी; वे प्रथम अंशविभूतियां हैं, विश्वकी पहली व्यक्तिगत सत्ताएं हैं; अतएव उनसे इतनी आसानीसे, एक युद्ध जीत लेनेसे, छुटकारा नहीं मिल सकता।

जबतक वे वैश्व क्रमविकासके लिये आवश्यक हैं तबतक वे बनी रहेंगी, जिस दिन उनकी उपयोगिता नहीं रहेगी, वे या तो परिवर्तित हो जायंगी या विलीन हो जायंगी।

इसके अतिरिक्त, वे जानती हैं कि वे अपनी अंतिम चढ़ाईके समीप पहुंच रही हैं और यही कारण है कि वे जितनी हानि पहुंचा सकती हैं उतनी पहुंचा रही हैं।

वे कुल चार सत्ताएं थीं। उनमेंसे पहली परिवर्तित हो गयी है, दूसरी अपने मूल उत्समें विलीन हो गयी है। दो अभीतक जीवित हैं और ये दोनों अन्य दोनोंकी अपेक्षा कहीं अधिक क्रूर हैं। एकको यूरोपवाले "मिथ्यात्वका प्रभु" कहा जाता है, यह मैं तुम्हें बता चुकी हूं, दूसरी है "मृत्युका प्रभु"। और जबतक ये दो सत्ताएं बनी हुई हैं, कठिनाइयां बनी ही रहेंगी।

१० मार्च, १९५१

"... अन-शक्ति इस समय प्राणमय जगत्‌की शक्तियों और सत्ताओंके प्रभाव या अधिकारमें है। इसी प्रभावके कारण अनका उपयोग प्रचुर परिमाणमें 'सत्य'की सेवाके लिये होता हुआ हम कभी नहीं देखते। यह शक्ति सदा मार्गसे च्युत हो जाती है, क्योंकि यह विरोधी शक्तियोंके पंजेमें है और उन प्रचुर साधनोंमेंसे एक है जिनके द्वारा वे शक्तियां पृथ्वीपर अपना कब्जा बनाये रखती हैं। अन-शक्तिपर विरोधी शक्तियोंका जो अधिकार है वह मजबूतीके साथ, पूरे तौरपर और अच्छी तरह संगठित है और इस सुदृढ़ संगठनसे कुछ भी निकाल लाना अत्यंत कठिन

कार्य है। प्रत्येक बार जब तुम इस धनका थोड़ा-सा अंश भी इसके वर्तमान संरक्षकोंके हाथोंसे निकाल लानेका प्रयत्न करते हो तो तुम्हें एक भीषण युद्ध करना पड़ता है।"

—वार्तालाप (१९२९)

परियोंकी कहानियोंमें बहुधा यह कहा जाता है कि धनराशिपर सांपोंका पहरा रहता है। क्या यह सच है?

हां, परंतु वह कोई भौतिक सांप नहीं होता, वह प्राणिक सर्प होता है। धन-कोषकी चाभी प्राण-जगत्में रहती है और उसपर एक विशाल काला सांप पहरा देता है — वह एक अत्यंत भीषण सर्प होता है, साधारण सर्पसे दसगुना, पचासगुना बड़ा होता है। वह कोषके दरवाजेकी रक्षा करता है। वह भव्य, श्याम, सर्वदा सीधा खड़ा और जागरूक है। एक बार मैं उसके सामने जा उपस्थित हुई (साधारण तौरपर जब मैं इन सत्ताओंको आज्ञा देती हूं तो वे मेरी आज्ञाका पालन करती हैं), और मैंने उससे कहा, "मुझे चले जाने दो।" उसने उत्तर दिया, "मैं बड़ी खुशीसे आपको चले जाने देता, पर यदि मैं ऐसा करूं, तो वे मुझे मार डालेंगे; इसलिये मैं आपको नहीं जाने दे सकता।" मैंने पूछा, "प्रवेशाधिकार पानेके लिये मुझे तुम्हें क्या देना चाहिये?" उसने कहा, "ओह! केवल एक ही वस्तु मुझे आपको रास्ता देनेके लिये विवश कर सकती है; यदि आप मनुष्योंमें विद्यमान कामावेगकी स्वामिनी बन सकें, यदि आप सारी मानवताके अंदर उसपर विजय प्राप्त कर सकें तो मैं फिर बाधा नहीं दे सकूंगा, मैं आपको चले जाने दूंगा।"

उसने मुझे अभीतक अंदर नहीं घुसने दिया है। मुझे अवश्य स्वीकार करना होगा कि मैंने शर्तको पूरा नहीं किया है, मैं अभीतक उसपर ऐसा अधिकार प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हुई हूं कि सभी मनुष्योंके अंदर उसपर विजय प्राप्त कर सकूं।

यह बहुत कठिन है।

किसी व्यक्तिसे, जो किसी प्राणिक सत्ताके साथ युक्त हो, अपना संबंध काट डालनेसे पहले हमें उनके संबंधके विषयमें अवश्य असंदिग्ध होना चाहिये। हम कैसे असंदिग्ध हो सकते हैं?

स्पष्ट ही यह जानना कठिन है, जबतक कि किसीको प्राण-जगत्के प्रत्यक्ष

पूर्ण-सत्ताकी शक्ति न हो, कहनेका तात्पर्य, जबतक कि किसीमें, सीधे प्राण-जगत्‌को देखनेकी क्षमता न हो। मैंने बहुत, बहुत बार देखा है . . . कि दो चीजें घटित होती हैं, और साधारणतया अवश्य घटित होती हैं। जब किसी-न-किसी कारणसे तुम किसी दूसरेके साथ सहमत नहीं होते — यदि पारस्परिक हितोंका संघर्ष होता है, यदि कोई झगड़ा हो गया होता है — दूसरेके विषयमें यह कहनेकी प्रवृत्ति देखी जाती है कि "वह तो एक प्राणिक सत्ता है। मनुष्यको सबसे पहले अपने-आपपर अविश्वास करना चाहिये और बादमें, दूसरा जो कुछ कहता है उसपर।" एक दूसरे प्रकारका उदाहरण होता है, वह और भी अधिक मजेदार होता है : मैंने कम-से-कम ऐसे दो व्यक्तियोंको देखा है जो केवल किसी प्राणिक सत्ताके प्रभावके अधीन नहीं थे बल्कि प्राण-जगत्‌की सत्ताओंके अवतार थे। हां, वास्तवमें स्वयं ये ही लोग थे जो निरंतर दूसरे लोगोंकी निंदा यह कहकर किया करते थे कि ये तो प्राण-जगत्‌की सत्ताओंद्वारा अभिभूत हैं! अतएव किसी निष्कर्षपर कूद पड़ना अधिक अच्छा नहीं है। ऐसे उदाहरण होते हैं जिनमें अज्ञान अर्ध-ज्ञानसे कहीं अधिक अच्छा होता है, कारण, यदि तुम नहीं जानते कि तुम प्राण-जगत्‌की किसी सत्ताके साथ व्यवहार कर रहे हो तो तुम ठीक उसी तरह व्यवहार कर सकते हो जैसे किसी साधारण मानवके साथ करते हो; कहनेका तात्पर्य, अपने-आपको पर्याप्त रूपमें सुरक्षित रख सकते हो, अपने-आपको उसके हाथोंमें छोड़ नहीं सकते यदि वह शत्रु हो, सावधान रह सकते और बहुत धैर्य बनाये रह सकते हो। और उसके बाद तुम इस बातपर कोई ध्यान नहीं देते कि वह मनुष्य तुम्हारे साथ क्या करता और क्या नहीं करता है। जिन लोगोंमें पूर्णताप्राप्त प्राण-सत्ता है और जो लोग पूर्णतः निःस्वार्थ हैं केवल वे ही लोग कह सकते हैं कि "यह या वह व्यक्ति एक खतरनाक जीव है।"

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं) : "... मनुष्य स्थूल शरीरमें ही सुखपूर्वक और सुरक्षित होता है; शरीर उसका रक्षा-कवच है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने शरीरसे बहुत घृणा करते हैं और समझते हैं कि मृत्युके बाद, शरीरके बिना, उनकी अवस्था बहुत अच्छी हो जायगी और सारी बातें अधिक आसान हो जायेंगी। परंतु वास्तवमें शरीर तुम्हारा किला और तुम्हारा आश्रय-स्थल है। जबतक तुम इसमें रहते हो तबतक विरोधी जगत्‌की शक्तियोंको तुम्हारे ऊपर सीधा अधि-

[illegible] विकार जमानेमें कठिनाई होती है। तुम जानते हो दुःस्वप्न क्या है? वे प्राक्-जगत्पर तुम्हारी उड़ानें हैं। और यहां जब तुम किसी दुःस्वप्नके अंचलमें फंस जाते हो तब तुम सबसे पहले कौन-सी चीज करनेकी चेष्टा करते हो? तुम अपने शरीरमें दौड़ आते हो और अपनी साधारण भौतिक चेतनामें आकर जग जाते हो।" — (वही)

मृत्युके बाद प्राणिक सत्ताका क्या होता है?

वह विलीन हो जाती है। विरल प्रसंगोंमें इससे भिन्न कुछ होता है। परंतु तुममें यदि कोई बहुत प्रबल आवेश हो, अगर तुम प्रबल प्रवृत्तियोंके द्वारा विभक्त होओ तो प्राण-सत्ता छोटे-छोटे टुकड़ोंमें भंग हो जाती है। वह भाप या तरल पदार्थकी तरह अपना करनेके बदले छोटे-छोटे टुकड़ोंमें प्रयाण करती है। प्राणिक उपादानके इन छोटे-छोटे टुकड़ोंमेंसे प्रत्येक टुकड़ा अपनी केन्द्रीय प्रवृत्ति, केन्द्रीय कामना, केन्द्रीय आवेगके इर्द-गिर्द एकत्रित हो जाता है और इस तरह छोटी-छोटी सत्ताओंका निर्माण करता है जिनका मनुष्य-जैसा शरीर नहीं होता पर जो कभी-कभी कोई अस्पष्ट रूप ले लेती हैं; कभी-कभी वे रूप उस शरीरके समान होते हैं जिससे वे टुकड़े संकलित थे, दूसरे समय वे उस कामनाको प्रकट करनेवाले आकार लेते हैं जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। और स्वभावतः ही उनका सारा व्यवहार इस बातसे है कि वे अपनी कामना या आवेशको संतुष्ट करें और वे सर्वत्र अपनी आत्मतुष्टिके साधनोंकी खोज करते रहते हैं। उदाहरणके लिये, अपने धनके लिये एक कंजूसके मनोवेगको लो। वह मरता है। उसकी प्राण-सत्ता विलीन हो जाती है, पर धनके लिये उसका अनुराग जीवित रहता है। वह अपने चारों ओर कुछ तत्त्वोंको एकत्र करता है ताकि प्राण-जगत्में वह एक जीवंत और संवेदन सत्ताको आकारादान करे। यदि इस मनुष्यने अपने जीवन-कालमें कहीं कोई खजाना छिपा रखा हो तो यह सत्ता वहां जाती है और जिस स्थानपर खजाना छिपा होता है ठीक उसके ऊपर मानो उसकी रक्षा करनेके लिये, और उसके पास लोगोंका आना बंद करनेके लिये, अवस्थित हो जाती है परंतु कुछ लोग संवेदनशील होते हैं और वे जब वहां जाते हैं कि कहींपर कोई खजाना गड़ा है, उस उपस्थितिका अनुभव करते हैं और कहते हैं, "खजाना यहांपर है।" यह पहला

होता है। दूसरा प्रभाव यह है कि जब वह सत्ता यह नहीं चाहती कि कोई उस संज्ञानको खोए, तो वह बराबर अपनी संपुष्टिके लिये कोई-न-कोई विपत्ति डालती है। जो लोग उसके पास जाते हैं उन्हें वह बीमार बना देती है अथवा कोई दुर्घटना कर देती है, यहांतक कि हत्या भी करा देती है। प्रत्येक उपाय उसके लिये अच्छा है। अथवा, यदि व्यक्ति बहुत अधिक संवेदनशील होता है तो उसे वह इतना भय-भीत कर देती है कि वह पागल हो जाता है।

फिर बहुत सारी छोटी-छोटी सत्ताएं भी हैं जो बिल्कुल भिन्नजाती और बहुत बड़ी संख्यामें होती हैं और मृणित काम-वासनासे उत्पन्न होती हैं। यदि यह वासना (अपने जैसी सत्ताओंके साथ) मृत्युसे समय विलीन नहीं हो जाती तो ये सत्ताएं बनी रहती हैं और ये संवेदनशील व्यक्तियोंके वातावरणमें आकर उन्हें प्रेरित और उत्तेजित करनेके लिये जमकर बैठ जाती हैं। ये सत्ताएं काम-क्रियाके समय उद्भूत प्राण-शक्तिसे अपना पोषण करती हैं और स्वभावतः ही, उनकी एकमात्र भावना होती है जितना अधिक पोषण प्राप्त करना संभव हो उतना प्राप्त करना। मैंने ऐसे लोगोंको देखा है जिन्हें ऐसी वर्जनों सताया करते थे। यह बहुत ही यथार्थ बात है ...। मैं नहीं जानती कि तुम लोगोंने मोरिस मांग्रे (Maurice Magre) का नाम सुना है या नहीं। वह एक लेखक है जो यहां आई थी। उन्होंने अपनी एक किताबमें यह कहा है कि जिन लोगोंमें बहुत प्रबल काम-प्रवृत्ति होती है वे इन छोटी-छोटी सत्ताओंके एक झुंडसे घिरे होते हैं जो सत्ताएं अपनी संतुष्टिके लिये, प्राण-शक्तिका भोजन पानेके लिये उन्हें पीड़ित करती हैं। उन्हें यह बात भली-भांति ज्ञात थी। उन्होंने इसे लक्ष्य किया था। जो लोग थोड़ा-सा भी संवेदनशील होते हैं वे इसे बहुत अच्छी तरह देख पाते हैं। जो लोग बहुत बार पीड़ित होते हैं वे भी यह अनुभव करते हैं कि प्रवेग बाहरसे आता है — वह उनके अंदर किसी चीजको जगा देता है, फिर वे अनुभव करते हैं कि उत्तेजना बाहरसे आती है। और ये सत्ताएं लाखों-करोड़ों हैं, क्योंकि दुर्भाग्यवश मनुष्य-जातिकी यह एक सबसे बड़ी कठिनाई है, यह एक भयानक वासना है।

प्राणिक दुःस्वप्नोंमें, सत्ताका कौन-सा भाग शरीरसे बाहर जाता है? तुम्हारा प्राण — संपूर्ण प्राण नहीं, क्योंकि तब तो एक मूर्च्छाकी स्थिति उत्पन्न हो जायगी, परंतु प्राणका एक अंश सैर-सपाटेके लिये बाहर जाता

हैं। कुछ लोग बराबर ही अत्यंत गंदी जगहोंमें जाते हैं और उनकी रातें बड़ी बुरी होती हैं — इन रात्रिकालीन भ्रमणोंकी संभावनाएं असत्य हैं। यह बहुत ही नन्हीं-सी चीज है, तुम्हारी सत्ताका ठीक एक नन्हा-सा अंश हो सकता है, पर यह यदि सचेतन हो तो, यह तुम्हें एक छोटा-सा सुन्दर दुःस्वप्न देनेके लिये पर्याप्त होता है!

अच्छा तो, जब तुम सोते हो, आंतरिक सत्ताएं शरीरपर एकाग्र नहीं होतीं, वे बाहर चली जाती हैं और कम या अधिक स्वतंत्र हो जाती हैं — यह सीमित स्वतंत्रता होती है, पर फिर भी वे होती हैं स्वतंत्र — और वे अपने निजी क्षेत्रोंमें निवास करने चली जाती हैं। मन बहुत अधिक ऐसा करता है, क्योंकि वह प्रायः शरीरमें बद्ध नहीं है, वह केवल एकाग्रीभूत है, पर शरीरमें धारित नहीं है। प्राण भी शरीरके परे चला जाता है, पर वह शरीरपर बहुत अधिक एकाग्र होता है। परंतु मन एक ऐसा नमनीय पदार्थ है कि किसी व्यक्तिके पास, कम-से-कम अंशतः, मानसिक रूपसे, होनेके लिए उसके विषयमें सोचना ही पर्याप्त होता है। यदि तुम प्रबल रूपसे किसी स्थानकी बात सोचो तो तुम्हारे मनका एक अंश वहां उपस्थित हो जाता है; व्यवधान मानों होता ही नहीं। निःसंदेह, शरीरके बारेमें मनको केंद्रित करनेके लिये पर्याप्त प्रशिक्षणकी आवश्यकता होती है। कुछ थोड़े-से लोगोंका मन ही ऐसा होता है जिसका कोई सुस्पष्ट आकार होता है। यह बादलोंकी तरह होता है जो उड़ते रहते हैं, आते हैं और चले जाते हैं। तुम्हारे प्राणको भी तुम्हारे भौतिक शरीरके आकारके जैसा आकार, एक अनुरूप आकार, प्राप्त करनेके लिये उसे बहुत अधिक व्यष्टिभावापन्न, बहुत अधिक संकेंद्रित होना होता है। मनको तो और भी अधिक वैसा होना होता है; उसे एक सुनिश्चित आकार प्राप्त करनेके लिये पूर्ण रूपसे व्यष्टिभावापन्न, संकेंद्रित और केंद्र-केन्द्रके इर्द-गिर्द सुसंगठित होना होता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने मनको संगठित करनेमें अपना सारा जीवन लगा देते हैं। मैं कुछ लोगोंको जानती थी जिन्होंने अपने मनको एक प्रकारका किला, एक प्रकारकी विशाल रचना बना दिया था (मैं ऐसे लोगोंकी बात कहती हूं जिनमें असाधारण मानसिक क्षमताएं थीं)। उन्होंने अपने मनको एकदम एक बड़ा-सा भवन बना दिया था जो बड़ा पक्का था और जिसमें इतनी अधिक स्थिरता थी, जिसकी दीवालें इतनी ठोस थीं कि बाहरी मानसिक जगत्के साथ उनका सारा संपर्क छिन्न हो गया था। वे पूरी तरह अपनी रचनामें रहते थे और उनकी चेतनाके सारे तथ्य उनकी अपने रचनाके होते थे, बाह्य मानसिक संसारके साथ

उनका कोई संबंध नहीं होता था। उन्होंने अपने निजी प्राण और शरीरके साथ, एक प्रकारसे, संबंध बनाये रखा था, परंतु उनकी चेतनाके सारे व्यापार उनकी मानसिक रचनाके भीतर ही विद्यमान रहते थे — वे अब उससे बाहर नहीं आ पाते थे, वे स्थूल चेतनाका परित्याग कर अपनी आंतरिक सत्तापर एकाग्रता और उसके साथ तादात्म्य स्थापित करनेकी पद्धतिद्वारा — आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करना चाहते हैं। यदि मैं कुछ लोगोंका नाम तुम्हें बता दूं तो तुम लोग एकदम आश्चर्य-चकित रह जाओगे, वे लोग अपने लिये एक ऐसी परिकल्पनाकी सृष्टि कर लेते हैं जिसमें उन्हें मनके सभी स्तर दिखायी देते हैं; वह रचना इतनी ठोस और सुदृढ़ होती है कि वे उसके अंदर कैद हो जाते हैं और जब वे यह विश्वास करते हैं कि वे परात्पर 'सत्य'पर पहुंच गये हैं तब वे केवल अपनी निजी मानसिक रचनाके केन्द्रमें ही पहुंचे होते हैं। फिर इन लोगोंको वे सभी अनुभव प्राप्त होते हैं जिनका उन्हें पूर्वाभास मिला करता है; जैसे, मुक्तिका अनुभव, शरीरसे बाहर जानेका अनुभव, परात्पर के साथ तादात्म्यका अनुभव आदि सब-के-सब अनुभव प्राप्त होते हैं, पर वे सभी उनकी अपनी सृष्टि होते हैं; उनका वैश्व सत्यके साथ कोई संपर्क नहीं होता। फिर, कोई व्यक्ति यदि उनकी रचनाको छू दे, यदि कोई किसी-न-किसी कारणसे उसे छूनेकी शक्ति रखता हो या उसकी किसी एक दीवालमें दरार भर कर दे तो पहले तो वे पूरी तरह घबड़ा जाते हैं, फिर जिस शक्तिने ऐसा किया, उसे वे भीषण सर्व-नाशकी शक्ति, अत्यंत बुरे प्रकारकी विरोधी शक्ति मानने लगते हैं।

मानसिक दुःस्वप्न क्या चीज है?

जब मस्तिष्कमें कोई अस्तव्यस्तता या स्थानीय ज्वर हो जाता है, मस्तिष्कमें कोई विशेष हलचल, मस्तिष्ककी कोई भ्रांति हो जाती है अथवा जब उसमें संयमका अभाव हो जाता है तो तुम मानसिक रचनाओंसे अधिकृत हो जाते हो, अधिकांश समय यही घटित होता है — उन मान-सिक रचनाओंके हाथोंमें जिन्हें, बल्कि बहुत बार, तुमने स्वयं गढ़ा है। और, चूंकि युक्तिसंगत, जाग्रत् चेतनाका संयम चला जाता है, यह सब मस्तकमें, एक प्रकारके उग्र पागलपनके साथ, राजसी नृत्य करना आरंभ कर देता है; विचार परस्पर उलझ जाते हैं, परस्पर टकराते हैं, संघर्ष करते हैं, यह सचमुच भ्रमोत्पादक होता है। फिर, यदि तुममें अपने मस्तकमें महान् शांति, बहुत अधिक स्थिरता, बहुत प्रबल और विशुद्ध

प्रगति के मार्गमें बाधक न हो तो वह किसी प्राणिक दुःस्वप्नसे कहीं अधिक बुरा होता है। सबसे बुरा प्राणिक दुःस्वप्न प्रायः वह होता है जिसमें तुम एक ऐसे शत्रुसे युद्ध करते हो जो तुम्हें मार डालना चाहता है, और तुम उसपर भयानक आघात करते हो पर तुम्हारे प्रहार उसे कभी चोट नहीं पहुंचाते; तुम अपनी सारी शक्ति लगा देते हो, सारा बल प्रयुक्त करते हो, पर तुम अपने विपक्षीको छूनेमें भी सफल नहीं हो पाते। वह तुम्हारे सामने उपस्थित होता है, वह तुम्हें धमकाता है, वह तुम्हारा गला घोंटना चाहता है और तुम अपना सारा बल-सामर्थ्य एकत्र करते हो, उसपर प्रहार करनेका प्रयत्न करते हो, पर उसे कुछ नहीं होता। जब इस तरहकी लड़ाई, हाथापाई एक ऐसी सतहसे होती है जो अपने-आपको तुम्हारे ऊपर फेंक देती है तो यह विशेष रूपसे दुःखदायी होता है। इसी कारण यह सलाह दी जाती है कि जबतक तुम्हारे अंदर अनिवार्य बल-सामर्थ्य या पवित्रता न हो तबतक शरीरके बाहर नहीं जाना चाहिये। तुम जानते ही हो कि इस प्रकारके दुःस्वप्नमें जिस शक्तिको तुम व्यवहृत करना चाहते हो वह किसी भौतिक शक्तिकी "स्मृति" होती है, परंतु मनुष्यमें महान् भौतिक शक्ति हो सकती है, वह एक प्रथम श्रेणीका मुक्केबाज हो सकता है, और फिर भी वह प्राणिक जगत्‌में पूर्ण रूपसे बेबस हो सकता है, क्योंकि उसके पास आवश्यक प्राणिक शक्ति नहीं होती। मानसिक दुःस्वप्नोंका बहुतायत प्रश्न है; मस्तकमें उस प्रकारका भयावना रजसी नृत्य होनेपर मनुष्यको एकदम ऐसी धारणा होती है कि वह पागल होने जा रहा है।

> मृत्युके समय चैत्य पुरुष आराम करने चला जाता है, है न? परंतु प्राण-सत्ता प्राण-जगत्‌में रुक जाती है; क्या इससे चैत्य पुरुषको विश्रामके लिये जानेमें रुकावट आती है?

परंतु प्राण-सत्ता विश्राम करने नहीं जाती और न मानसिक सत्ता जाती है। साधारण तौरपर वे विलीन हो जाती हैं। यदि कोई सारे जीवन योगका अभ्यास किये होता है, चैत्य पुरुषके चारों ओर प्राणिक और मानसिक सत्ताओंका व्यक्तिभावापन्न बनाने, केंद्रीभूत करनेका बहुत यत्न किये होता है केवल तभी वे बनी रहती हैं — ऐसा करोड़ों लोगोंमेंसे एक व्यक्तिमें घटित होता है, यह बहुत असाधारण बात है। एक दार्शनिक या लेखकका उदाहरण ले लो जिसने अपने मस्तिष्कसे बहुत अधिक काम लिया है, उसे संगठित करनेका प्रयास किया है; तब

रहस्य है, परंतु विचार करनेकी एक क्षमताके रूपमें, अन्य किसी रूपमें नहीं। विचार करनेकी ये ही क्षमताएं मृत्युके बाद बनी रहती हैं और वे स्वभावतः ही अभिव्यक्त होनेके लिये दूसरा भौतिक मस्तिष्क पानेका प्रयत्न करती हैं। बस, इसी रूपमें किसी महान् चिंतकका मन दूसरे मनके साथ एकात्म हो सकता और अपनेको अभिव्यक्त करनेमें समर्थ हो सकता है।

प्राणिक दृष्टिकोणसे, किसी महान् संगीतज्ञका उदाहरण लो जिसने सारे जीवन अपनी बाहरी सत्ताको संगीतका एक सुन्दर यंत्र बनानेके लिये कार्य किया है; उसने अपने शरीरकी इस प्राणिक शक्तिको बाजा बजानेके लिये सुसंगठित किया है; हां फिर, उदाहरणार्थ, उसके हाथ बाजा बजानेकी अपनी क्षमतामें इतने व्यष्टिभावापन्न हो जाते हैं कि वे मृत्युके बाद भी अपने आकारके साथ, पुराने भौतिक आकारके सदृश आकारमें सूक्ष्म रूपमें बने रह सकते हैं। वे प्राणिक जगत्में तैरते रहते हैं और उन लोगों द्वारा आकर्षित होते हैं जिनमें वैसी ही क्षमताएं होती हैं, वे उनके साथ तदूरूप होनेका प्रयत्न करते हैं। जो व्यक्ति पर्याप्त रूपमें संवेदनशील, पर्याप्त रूपमें ग्रहणशील होता है वह उन हाथोंके साथ तदूरूप बन सकता और आश्चर्यजनक चीजें संपन्न कर सकता है; उन हाथोंके जिनसे जीवनमें व्यष्टिभावापन्न होनेका संपूर्ण लाभ उठा सकता है।

> क्या वैज्ञानिकोंके प्रसंगमें भी यही व्यापार घटित होता है जब कि उनके कार्यके परिणाम उनकी मृत्युके कुछ समय बाद प्राप्त होते हैं?

हां, उदाहरणार्थ, पियेर (Pierre) और मारी क्यूरी (Marie Curie) के प्रसंगमें, यह निश्चित बात है कि पियेर क्यूरीके कार्यकी शक्ति उनकी मृत्युके समय उनकी पत्नीके अंदर प्रवेश कर गयी।

> जो लोग मिलकी कब्रोंमें लुदाईका काम करते हैं उनके साथ बहुधा दुर्घटनाएं हो जाती हैं। क्यों?

वे उसीके योग्य होते हैं! जब वे कब्रोंको भंग करते हैं, तब... इस तरहकी अनगिनत कहानियां हैं। परंतु वह एक दूसरा ही व्यापार है।

आओ, थोड़ा उसे समझा दूं। भौतिक आकारके अंदर "आकारकी

आत्मा" रहती है और आकारकी यह आत्मा, जब बाह्य रूपसे व्यक्तिका मृत घोषित कर दिया जाता है तो भी, कुछ समयतक बनी रहती है। और जबतक आकारकी आत्मा बनी रहती है, शरीर नष्ट नहीं होता। प्राचीन मिस्रमें लोगोंको यह ज्ञान प्राप्त था; वे यह जानते थे कि यदि वे शरीरको एक विशेष ढंगसे तैयार कर दें तो आकारकी आत्मा उसे नहीं छोड़ेगी और शरीर विघटित नहीं होगा। कुछ प्रसंगोंमें उन्हें आश्चर्य-जनक सफलता मिली है; और कोई यदि सत्ताओंकी त्रिभ्रांतिको भंग करता है जो उस प्रकार हजारों वर्षोंसे पड़ी हुई है, तो यह बात समझमें आने योग्य है कि उससे ये सत्ताएं बहुत प्रसन्न नहीं हो सकतीं, विशेषत: जब उनकी शांतिको एक अस्वस्थ कौतूहलके वश भंग किया जाता है और "विज्ञानका प्रयोजन" कहकर उसे वैध सिद्ध किया जाता है।

पेरिसमें गीमे (Guimet) के अजायब घरमें दो ममी हैं। एकका तो अब्बुत कुछ भी बाकी नहीं है, परंतु दूसरेमें, अब्बारकी आत्मा बहुत सचेतन है, इस हदतक सचेतन है कि कोई चाहे तो अपनी चेतनाके द्वारा उससे संपर्क स्थापित कर सकता है। स्पष्ट ही, यदि मूर्खोंका एक दल आकर अपनी शून्य आंखोंसे, बड़ी-बड़ी गोल आंखोंसे जो कुछ भी नहीं समझतीं, तुम्हारी ओर आंखें फाड़-फाड़कर देखे और कहे, "ओह, यह ऐसा है, यह वैसा है," तो इससे तुम्हें बहुत प्रसन्नता नहीं होगी।

हां तो, वे लोग अत्याचारके साथ प्रारंभ करते हैं; ये परिरक्षित शव एक बक्समें बंद रहते हैं। यह बक्स जैसा व्यक्ति है उसके अनुसार एक विशिष्ट आकारका होता है और शवोंको सुरक्षित रखनेके लिये आवश्यक सभी सामग्री उसमें होती है। अब, बक्स खोल दिया जाता है, कम या अधिक उग्र रूपमें, यहां-वहांसे आच्छादन उघेड़ दिया जाता है जिसमें अधिक अच्छी तरह दिखायी दे ... । और यह समझते हुए यह सब किया जाता है कि वे कभी साधारण लोग नहीं थे जिनके शव सुरक्षित रखे गये थे, वे ऐसे लोग थे जिन्होंने बहुमूल्य आंतरिक शक्ति प्राप्त की थी अथवा जो राजघरानेके थे, कम या अधिक दीक्षित लोग थे।

एक ममी ऐसी है जो बहुत अधिक अनर्थोंका कारण रही है; वह एक राजकुमारी थी, फराउन (एक मिस्री राजा) की लड़की थी, और गुप्त रूपसे थीब्स (Thebes) में एक दीक्षा-कालेजकी अध्यक्षा थी।

हां, तो मनुष्य ऐसे ही होते हैं

१२ मार्च, १९५१

प्राण-जगत्में, शक्तियां विद्यमान रहती हैं : क्या आनसिक जगत्में मानसिक आकार होते हैं ?

हां, एक यथार्थ मानसिक जगत् है और वहां मानसिक आकार हैं जो प्राणिक शक्तियोंसे नहीं मिलते-जुलते बल्कि उनका अपना विधान है। वहां बहुत-से, असंख्य मानसिक आकार हैं। वे लगभग अविनश्वर हैं; हम केवल इतना कह सकते हैं कि वे आकार और संबंध बदलते हैं, यह कुछ ऐसी चीज है जो बहुत तरल है और सब समय हिलती-डुलती रहती है।

(श्रीमाताजी दूसरे विषयपर चली जाती हैं) : "... तुम केवल वही समझ सकते हो जिसे तुम अपने आंतरिक स्वरूपमें पहलेसे ही जानते हो। किसी पुस्तकमें वही बात तुम्हें प्रभावित करती है जिसे तुम अपने अंदर गहराईमें पहले ही अनुभव कर चुके हो....। जो ज्ञान तुम्हें बाहरसे आता हुआ दिखायी देता है वह तो उस ज्ञानको बाहर ले आनेका केवल एक अवसर है जो कि तुम्हारे अंदर ही है।"

—वार्तालाप (१९२९)

कोई-कोई विषय इतने अधिक कठिन क्यों होते हैं ?

ऐसा बहुत चीजोंके कारण होता है — मस्तिष्ककी बनावटके कारण, पूर्वजोंकी प्रवृत्तिके कारण, शिक्षाके प्राथमिक वर्षोंके कारण, विशेषकर पूर्वजोंकी प्रवृत्तिके कारण। परंतु इसमें एक बहुत ही मजेदार बात है; प्रत्येक नवीन प्रत्यय (Idea) मस्तिष्कमें एक प्रकारकी छोटी-सी कुंडली बना देता है, और उसमें थोड़ा समय लगता है। हां, तो तुमसे कोई बात कही जाती है जिसे तुमने पहले कभी नहीं सुना था; तुम सुनते हो, परंतु वह तुम्हारी समझमें आने योग्य नहीं होती, वह तुम्हारे मस्तकमें नहीं घुसती। परंतु तुम यदि थोड़े दिन बाद उसी बातको दूसरी बार सुनते हो तो उसका कुछ अर्थ समझमें आता है। इसका कारण यह है कि नवीन प्रत्ययके आघातने तुम्हारे मस्तिष्कमें थोड़ा-सा काम किया है

और समझनेके लिये जो कुछ आवश्यक था ठीक उसे तैयार कर लिया है। और वह केवल अपने-आपको गढ़ता ही नहीं, बल्कि अपने-आपको पूर्णत्व भी प्रदान करता है। यही कारण है कि यदि तुम कोई मूल्यवान पुस्तक पढ़ो तो छः मास या एक वर्षके बाद तुम उसे पहली बार पढ़नेके समयकी अपेक्षा अनंतगुना अच्छे रूपमें, और, कभी-कभी बहुत भिन्न रूपमें, समझोगे। यह कार्य तुम्हारी सक्रिय चेतनाके हिस्सा लिये बिना तुम्हारे मस्तिष्कमें होता है। मानव-सत्ता जिस ढांसे निर्मित है, काल-तत्त्वको भी सर्वदा ध्यानमें रखना चाहिये।

जो वस्तु आघात उत्पन्न करती है वह मस्तिष्क है या विचारकी उपस्थिति ?

नहीं, वह चीज चेतना है। अधिकतर लोगोंको इसका पता नहीं होता, पर वह प्रत्येक व्यक्तिके अंदर सब समय काम करती रहती है।

(श्रीमाताजी पढ़ना शुरू करती हैं) : "... हम जो कुछ कहते हैं वह बहुत स्पष्ट होता है, पर जिस रूपमें लोग उसे समझते हैं उसे देखकर स्तंभित रह जाना पड़ता है! प्रत्येक व्यक्ति उसमें कुछ ऐसी ही बात देखता है जो कहनेवालेके अभिप्रायसे भिन्न होती है अथवा यहांतक कि वह उसमें कोई ऐसी चीज मिला देता है जो उसके आशयके सर्वथा विपरीत होती है। यदि तुम किसी बातको यथार्थ रूपमें समझना और इस प्रकार-की भ्रांतिसे बचना चाहो तो तुम्हें उस कथनकी ध्वनि और उसके शब्दोंके स्पंदनके पीछे जाकर उसे निश्चल-नीरवतामें सुनना सीखना चाहिये।"

हम निश्चल-नीरवतामें सुनना कैसे सीख सकते हैं।

यह ध्यानपूर्वक सुननेका विषय है। यदि तुम अपने ध्यानको उस बात-पर एकाग्र करो जो कही जा रही है और उसे ठीक-ठीक समझनेका संकल्प भी बनाये रखो तो निश्चल-नीरवता अपने-आप उत्पन्न हो जाती है — हमारा ध्यान ही निश्चल-नीरवताको पैदा करता है।

क्या "मानसिक किले" से बाहर आना संभव है?[1]

परंतु ऐसे लोग हैं जो किलेसे बाहर अवश्य निकल आते हैं। यहांतक कि मनुष्य एक समूची सेनाको किलेसे बाहर निकाल सकता है!

नहीं, वास्तवमें उस स्थानका प्रधान बाहर नहीं जाता, वह तो अपने किलेसे चिपका रहता है: वह तो सैनिकोंको बाहर जानेका आदेश देता है। वह अपने किलेको महत्त्वपूर्ण समझता है क्योंकि वास्तवमें यही वह चीज है जो उसे अपने अस्तित्वकी भावना और एक व्यक्ति होनेकी धारणा प्रदान करती है।

ओह, परंतु तुम्हें सावधान रहना चाहिये! जबतक तुम किलेके बिना रहनेमें समर्थ न हो जाओ, तबतक उनसे पिंड छुड़ानेकी कोशिश न करो। यह ऐसी बात है जिसे करना अनंतगुना अधिक कठिन है। साधारणतया मनुष्य बहुत प्रयास करके और पर्याप्त मात्रामें कष्ट उठाकर — जिससे उन्हें ऐसा लगता है कि वे बड़े वीर पुरुष हैं — अपने किलेको ध्वस्त कर देते हैं... पर करते हैं केवल तुरत ही एक दूसरे किलेमें प्रवेश करनेके लिये। सत्यकी दृष्टिसे उससे बहुत अधिक अंतर नहीं पड़ता, परंतु इससे उनपर यह छाप पड़ती है कि उन्होंने एक महान् प्रगति कर ली है, क्योंकि पुराना किला नेस्त-नाबूद हो चुका है और उन्होंने दूसरा निर्मित कर लिया है।

किलेके बिना रहना अत्यंत कठिन है — लोगोंको ऐसा लगता कि वे जी ही नहीं रहे हैं, उनके व्यक्तित्वका निर्माण ही नहीं हुआ है, वे बस, इधर-उधर बह रहे हैं। मनुष्यके लिये किसी ऐसी चीजमें रहना अत्यंत कठिन है जो अनंततः विशाल, सचल, सतत परिवर्तनशील, नित्य प्रगतिशील हो, वह किसी ऐसी चीजद्वारा धारित न हो जिससे वह चिपक सके और कह सके, "मैं यह हूं; मेरे विचार करनेका तरीका यह है।" यह बहुत कठिन है, बहुत शीघ्र ऐसा करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये; कुछ लोगोंका मन इसके कारण विक्षिप्त हो जाता है।

वह कौन-सी चीज है जो मानसिक रचना करती है?

वह मानसिक अहंकार है जो रचना करता है और वह तीव्र रूपमें उससे चिपका जाता है।

---

[1] १० मार्चका वार्तालाप देखिये।

क्या "मैं" और अहं एक ही चीज हैं?

सामान्य रूपमें एक ही चीज हैं।

ऐसे लोग होते हैं जो सोचते तो एक बात हैं और कहते दूसरी हैं। यह कैसे घटित होता है?

हाँ, ऐसा बहुधा घटित होता है। वे सोचते एक बात हैं और जब वे बोलना आरंभ करते हैं तो वे ठीक उससे उल्टा बोलते हैं। यदि विचार जीभको संयमित करे तो बहुत-सी मूर्खताओंसे बचा जा सकता है। तुम संयमको खो देते हो और आवेशमें आकर किसी भी प्रकारकी निरर्थक बात बोल जाते हो; उस समय जीभ एक मशीनकी तरह होती है और केवल बोलनेके सुखके लिये बोलना आरंभ करती है। वह सब निरर्थक-सा लगता है, पर वैसा सब समय घटित होता रहता है; बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो इससे बचते हैं। वे सब प्रकारकी बातें कहते हैं और पूछते हैं, "यह सब मैंने क्यों कहा है?" उन्हें इतना भी मालूम नहीं होता कि वे क्यों कहते हैं। मैं कुछ लोगोंको जानती हूं जो सदा वही बात कहते हैं जिसे दूसरा सुनना चाहता है। जिस व्यक्तिके साथ वे बातचीत करते हैं वह अपने-आपसे कहता है, "यह व्यक्ति मुझसे यह या वह बात कहेगा," अथवा वह शंकित होकर कहता है, "मैं आशा करता हूं कि यह मुझसे वह बात नहीं कहेगा," और दूसरा, एक छोटी-सी पुतलीकी तरह, उसे कहना आरंभ करता है, बहुत शांतिके साथ और यह जाने बिना कहता है कि आखिर वह क्यों कह रहा है।

क्या ऐसा संकल्प-शक्तिके अभावके कारण होता है?

नहीं, यह एक प्रकारकी मानसिक विकृति है। उसमें संकल्प-शक्ति अधिक नहीं होती। यदि संकल्प-शक्ति हस्तक्षेप करती तो यह सब शायद कम निरर्थक होता।

नहीं, ये सब मानसिक क्रियाएं हैं, मनकी एक रचना है, एक मानसिक शक्ति है जो सब समय चंचल रहती है, जो आती है और जाती है, पिंजरेमें बंद गिलहरीकी तरह जो बार-बार चारों ओर दौड़ती है और यह नहीं जानती कि क्यों दौड़ रही है।

तो फिर, क्या यह एक विश्वव्यापी खेल है?

नहीं, बहुत विश्वव्यापी नहीं है; यह केवल मानवजातिमें है, यह बहुत मानवीय है। भला कितने मनुष्योंमें अपना कोई निजी विचार होता है? मुझे पूरा विश्वास है कि साधारण मानसिक बनावटवाली सामान्य मनुष्य-जातिमें एक व्यक्ति भी नहीं है। भला कितने मनुष्योंका विचार उनके चिंतनका परिणाम होता है? बहुत कम लोगोंका, और यदि उनका विचार ऐसा होता है तो वे भयानक रूपमें कठोर या अलौकिक बुद्धि-मान् या स्वेच्छाचारी या प्रभुत्वशाली माने जाते हैं — वे सब प्रकारकी प्रशंसाओंसे ढके रहते हैं। और ऐसा केवल इस कारण होता है कि उनके चिंतनकी एक सुनिश्चित शैली होती है।

कोई एक साधारण प्रत्यय ले लो; उदाहरणार्थ, "क्या यह जगत् अनंतकालतक टिका रहेगा?" अथवा "क्या इसका प्रारंभ और अंत है?" कौन व्यक्ति इस विषयमें सुनिश्चित विचार रखता है? अथवा, फिर यह कि "पृथ्वीका प्रारंभ कैसे हुआ और पृथ्वीपर मनुष्यजातिका आविर्भाव कैसे हुआ?" मन इस प्रश्नको सुलझानेमें असमर्थ है। वह अपने सामने अनंत संभावनाओंको उपस्थित देखेगा और वह नहीं समझेगा कि चुनाव कैसे किया जाय। फिर, यह करता क्या है, यह कैसे चुनाव करता है? — व्यक्तिगत अभिरुचिके अनुसार, उस विचारके अनुसार जो उसे कोई रमणीय, सुखकर अनुभव प्रदान करता है; वह कहता है, "हां, यही वह चीज होगी।" परंतु तुम यदि एकदम ईमानदार और विवेकशील व्यक्ति होओ और अपनी अभिरुचिको क्रियाशील न होने दो तो तुम किस प्रकार निर्णय करोगे? यह मनुष्यके लिये काफी गूढ़ विषय है और इसमें वह मुश्किलसे दिलचस्पी ले सकता है, ठीक है न? अंततोगत्वा, पृथ्वी उसका क्षेत्र है। हां, तो तुम यदि एक पुस्तक पढ़ो तो वह तुम्हें एक बात बतायेगी; यदि दूसरी पढ़ो तो वह तुम्हें दूसरी बात बतायेगी। फिर सभी धर्म अपने सिद्धांतोंके साथ आकर इस प्रश्नको अपने हाथमें लेते हैं और, इसके अतिरिक्त, वे तुमसे कहते हैं कि बस अमुक प्रत्यय ही "पूर्ण सत्य" है और तुम्हें अवश्य इसे स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा तुम्हें नरककी प्राप्ति होगी! तुम वैज्ञानिकोंकी पुस्तकें पढ़ो — वे तुम्हें वैज्ञानिक बातें बतायेंगे। तुम दार्शनिकोंके ग्रंथ पढ़ो — वे तुम्हें दार्शनिक बातें बतायेंगे। तुम अध्यात्मवादियोंके लेख पढ़ो, वे तुम्हारे सामने अध्यात्म-की थालियां परोस देंगे और ... तुम ठीक उसी बिंदुपर बने रहोगे जहांसे तुमने आरंभ किया था। परंतु कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने सामने

एक प्रकारकी स्थिरता बनाये रखना पसंद करते हैं (वे ठीक वे ही लोग होते हैं जो "किले" बनाते हैं— वे किलेमें रहना बहुत अधिक पसंद करते हैं, यह चीज उन्हें सुरक्षाका बोध प्रदान करती है)। अतएव वे चुनाव करते हैं, और यदि उनमें यथेष्ट सक्रियताका बल होता है तो वे चुनाव करते हैं विचारोंकी एक बहुत बड़ी संख्यामेंसे; फिर वे उन्हें तुम्हारे लिये काट-छाटकर तैयार करते हैं, अनेक वस्तुओंको, जिसे वे उसका समुचित स्थान समझते हैं वहां रखकर एक सुन्दर दीवाल खड़ी करते हैं (अर्थात् सभी चीजोंको इस प्रकार सजाकर रखते हैं जिसमें कि बहुत-सी अत्यधिक विरोधी वस्तुएं पास-पास न आ जायं नहीं तो वे परस्पर टकरायेंगी! वह सब एक समुचित संगठन होना चाहिये)। और फिर कहते हैं, "अब मैं जानता हूं!" — वे एकदम कुछ नहीं जानते!

यह बड़ी मजेदार बात है, क्योंकि मनुष्यका मन जितना ही अधिक क्रियाशील होता है उतना ही अधिक वह इस छोटे-से खेलमें व्यस्त रहता है। और ऐसे विचार होते हैं जिनसे मनुष्य चिपक जाता है! उनके साथ इस प्रकार अपनेको बांधे रखता है मानों सारा जीवन उन्हींपर निर्भर करता हो! मैंने ऐसे लोगोंको देखा है जिन्होंने अपनी रचनाके अंदर एक केंद्रीय भावनाको दृढ़ताके साथ स्थापित कर दिया था और कहते थे, "बाकी सभी चीजें नष्ट-भ्रष्ट हो जायं, मैं कोई परवाह नहीं करता, पर यह भावना अवश्य बनी रहेगी; बस, यही सत्य है।" और अब वे लोग कहते आते हैं (बड़े मजेदार ढंगसे), बस यही भावना निरंतर, सदा-सर्वदा, अकांत होती है! सभी घटनाएं, सभी परिस्थितियां आती हैं और उसपर चोट करती हैं जबतक कि वह नष्ट-भ्रष्ट होना प्रारंभ नहीं कर देती; और फिर एक ऐसा दिन आता है जब वे निराश होकर कहते हैं, "आह, मेरी भावना समाप्त हो गयी।"

किसीने कुछ-कुछ कवित्वपूर्ण भाषामें कहा है, "मनुष्यको यह अवश्य जानना चाहिये कि सब कुछ पानेके लिये सब कुछ कैसे खोया जाता है।" और यह सच है, विशेषकर मनके लिये, क्योंकि यदि तुम यह नहीं जानते कि सब कुछ कैसे खोया जाता है तो तुम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते।

पूर्णताका प्रारंभ कैसे हुआ?

[illegible] पूछो, वे लोग तुम्हें बता देंगे।

यदि अंतमें, प्रगति इसी बातमें है कि जो कुछ सीखा गया है उसे भुला दिया जाय तो फिर सीखनेसे क्या लाभ?

यह वही बात है जो विशेष व्यायामों (जिम्नास्टिक्स) की है। तुम अपने शरीरको गढ़ने और बलवान् बनानेके लिये नाना प्रकारकी क्रियाएं करते हो, पर इसका अर्थ यह नहीं होता कि तुम अपना सारा जीवन भारोत्तोलन और "पैरेलेल बार" की कसरतोंमें ही बिता दोगे! तुम एक मन-बहलावके रूपमें, एक पेशेके रूपमें, उसे करना जारी रख सकते हो, परंतु निश्चय ही वह तुम्हारा परम लक्ष्य नहीं है। मनके साथ भी यही बात है। प्रगति करनेकी क्षमता रखनेवाला, नवीन जीवनके साथ अपना मेल बैठा लेनेवाला, उच्चतर शक्तियोंकी ओर उद्घाटित होनेवाला मन प्राप्त करनेके लिये उसे सब प्रकारकी कसरतें करानी चाहिये। यही कारण है कि बच्चोंको स्कूल भेजा जाता है, इसलिये नहीं भेजा जाता कि वे जो कुछ सीखेंगे वह सब याद रखेंगे — सीखी हुई बातें किसे याद रहती हैं? जब वे बादमें दूसरोंको पढ़ानेके लिये बाध्य होते हैं, उन्हें उन सब चीजोंको फिरसे सीखना पड़ता है, वे प्रत्येक चीज भूल चुके होते हैं। वे चीजें शीघ्र ही आ जाती हैं, परंतु वे उन्हें भूल चुके होते हैं। परंतु वे यदि पाठशाला कभी न गये होते, यदि उन्होंने कभी न सीखा होता और प्रत्येक चीज उन्हें आरंभ करनी होती... जब तुम पैंतालीस वर्षकी उम्रमें 'पैरेलेल बार' करना आरंभ करते हो तो उससे कष्ट होता है, होता है न? बस, मस्तिष्कके विषयमें भी यही बात है, उसमें नमनीयताकी कमी आ जाती है। क्या तुम जानते हो कि सबसे उत्तम व्यायाम कौन-सा है? वह है नित्य किसी तत्त्वदर्शीके साथ बातचीत करना क्योंकि वहां ठोस कोई वस्तु नहीं है, तुम किसी ऐसी वस्तुपर एकाग्र नहीं हो सकते जिसका कोई आकार हो, कोई बाह्य सत्य हो; निस्संदेह, वहां प्रत्येक बात कल्पनाके राज्यमें ऐकांतिक रूपसे शब्दोंके द्वारा चलती है, यह शुद्ध रूपमें मानसिक व्यायाम है। और तुम यदि किसी तत्त्वदर्शीकी मानसिक रचनाके अंदर प्रवेश कर सको और उसकी बात समझ सको और उसे उत्तर दे सको तो यह पूर्ण व्यायाम है!

(एक गणितज्ञ शिष्य) यही बात, मैं समझता हूं, गणितज्ञोंके विषयमें भी लागू होती है?

हां।

यदि मृत्युके समय प्राणिक सत्ताके ऊपर प्राण-जगत्में विरोधी शक्तियों या सत्ताओंके द्वारा आक्रमण हो तो क्या वह कहींपर किसी आश्रयस्थलकी खोज नहीं करती ?

हाँ, बस यही कारण है कि सभी देशोंमें और सभी धर्मोंमें यह सलाह दी गयी है कि किसी व्यक्तिकी मृत्युके बाद कम-से-कम सात दिनोंतक लोगोंको एकत्र होना चाहिये और उसके विषयमें सोचना चाहिये। क्योंकि जब तुम उसके विषयमें प्रेमके साथ (बिना किसी आंतरिक अशांतिके, बिना रोये, उन विक्षुब्ध आवेगोंमेंसे बिना किसी एकके) सोचते हो, यदि तुम शांत-स्थिर रहते हो, तुम्हारा वातावरण उसके लिये एक प्रकारका आकाशदीप बन सकता है, और जब वह विरोधी शक्तियोंके द्वारा आक्रांत होती है (निस्संदेह, हम यहांपर प्राण-सत्ताकी बात कह रहे हैं, चैत्य पुरुष-की नहीं, वह तो विश्राम करने चला जाता है), वह अपनेको एकदम खोया हुआ अनुभव करती है, यह नहीं जानती कि क्या करना चाहिये और अपनेको महान् विपत्तिमें अनुभव करती है, तब वह आंतरिक सादृश्यके द्वारा उन लोगोंके प्रकाशको देखती है जो प्रेमके साथ उसकी बात सोचते होते हैं और वहां दौड़ आती है। लगभग सर्वदा ही ऐसा घटित होता है कि मृत व्यक्तिकी प्राणिक रचना, प्राण-सत्ताका एक भाग (अथवा कभी-कभी संपूर्ण प्राण, यदि वह सुसंगठित हो) उन लोगों या उस व्यक्तिके ज्योतिर्मंडलमें, वातावरणमें शरण लेता है जो उसे प्यार किया करते थे। ऐसे लोग होते हैं जो सर्वदा अपने साथ उस व्यक्तिके प्राणका एक भाग वहन करते हैं जो मर चुका है। यही इन तथाकथित बाह्य अनुष्ठानोंकी यथार्थ उपयोगिता है, अन्यथा उनका कोई अर्थ नहीं।

परंतु यह कहीं अच्छा है कि किसी अनुष्ठानके बिना इसे किया जाय। बाह्याचार, यदि वे कुछ चीज हैं, अपेक्षाकृत हानिकारक ही होते हैं, उसका सीधा-सा कारण है : जब तुम किसी अनुष्ठानमें व्यस्त रहते हो, तुम उस व्यक्तिकी अपेक्षा कहीं अधिक उस क्रियाके विषयमें सोचते हो। जब तुम हाव-भावों, क्रियाओं आदिमें, कर्मकांडका अनुसरण करनेमें तल्लीन होते हो, तुम मृत व्यक्तिके बारेमें सोचनेकी अपेक्षा उन्हीं सब बातोंका चिंतन करते हो। अपितु, लोग इन अनुष्ठानोंको अधिकांश समय ठीक इसी कारण करते हैं, क्योंकि लगभग सर्वदा उनमें भूलनेकी कोशिश करनेकी प्रवृत्ति होती है। वास्तवमें देखा जाय तो मनुष्यके दो प्रधान कार्योंमेंसे एक तो है उस चीजको भूलनेकी कोशिश करना जो उसके लिये दुःखदायी है, और दूसरा है उकताहटसे बचनेके लिये मनबहलाव खोजनेकी कोशिश

करना। ये ही हैं मनुष्यजातिके दो प्रमुख कार्य, जिसका तात्पर्य है, मनुष्य-जाति अपना आधा समय कोई भी यथार्थ कार्य न करनेमें ही खर्च कर देती है।

और जब लोग ऊब जाते हैं (कुछ लोगोंको व्यस्त रहनेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं होती, अथवा उन्हें धनी होनेका दुर्भाग्य प्राप्त होता है), वे मूर्खतापूर्ण कार्य करते हैं! सब प्रकारके अतिरेकोंका, समस्त मानवीय मूढ़ताका मूल है "उकताहट", जिसे कि जड़ता कहते हैं, जो वह स्थिति है जिसमें तुम भीगे चिथड़ेकी तरह बन जाते हो: तुम किसी बातपर प्रतिक्रिया नहीं करते और तुम्हें अपने-आपको हिलाने-डुलाने और आगे बढ़ानेके लिये (आलंकारिक अर्थमें) अपने-आपको चाबुक मारनेके लिये बाध्य होना पड़ता है।

प्रकृति माताकी सुव्यवस्थाके अंदर मनुष्योंको अवकाशका समय इसलिये दिया गया है कि वे आत्मान्वेषण करें पर वे यह नहीं जानते कि उस समयका सदुपयोग कैसे किया जाय।

इस वार्तालापके निष्कर्षपर पहुंचनेपर श्रीमाताजीने निम्नांकित टिप्पणी की (१०.३.६५):

मैं अब बहुत-सी बातें कह सकती हूं...।

उदाहरणार्थ, जब भगवान् मनुष्योंके अत्यंत समीप, उनके साथ सचेतन संपर्क स्थापित करनेके लिये, आ जाते हैं तो सच पूछो तो उस समय अपनी मूढ़तावश वे सबसे बड़ी मूर्खताएं करते हैं।

यह सच है, बिलकुल सच है, वास्तवमें उसी क्षणमें जब सब कुछ निश्चल-नीरव हो जाता है जिसमें कि मनुष्य अपने मूल स्रोतके विषयमें सचेतन हो सके, वह, अपनी मूढ़ताके वश, अपना ध्यान हटानेके लिये सबसे बुरी मूर्खताओंकी कल्पना करता या उन्हें कार्यान्वित करता है।

अपना ध्यान इसलिये हटानेके लिये कि वह 'ज्योति'की शक्तिको सहन करनेमें असमर्थ होता है?

हां।

दबाव अत्यंत प्रबल होता है।

हां, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो डरते हैं, संत्रस्त होते हैं। वे इसे सहन नहीं कर सकते इसलिये इससे बचनेके लिये किसी भी चीजकी ओर मुड़ जाते हैं।

१४ मार्च, १९५१

"... जब तुम भगवान्‌के पास जाते हो तो तुम्हें अपनी सभी मानसिक धारणाओंका त्याग कर देना चाहिये; परंतु, ऐसा करनेके बदले, तुम अपनी धारणाओंको भगवान्‌पर लाद देते हो और यह चाहते हो कि भगवान् उनका अनुकरण करें। योगीके लिये एकमात्र सच्चा मनोभाव यह है कि वह नमनीय बने और भगवान्‌के आदेशका, चाहे वह जो कुछ भी हो, पालन करनेके लिये तैयार रहे।"

—वार्तालाप (१९२९)

"नमनीयता" क्या चीज है?

जो चीज आसानीसे अपना आकार बदल सकती है उसे "नमनीय" कहते हैं। आलंकारिक रूपसे, यह लचीलापन है, अपने-आपको परिस्थितियों और आवश्यकताओंके अनुरूप ढाल लेनेकी क्षमता है। मैं जब तुम लोगोंको भगवान्‌के प्रति नमनीय होनेको कहती हूं तो मेरा तात्पर्य यह होता है कि तुम अपनी पूर्वनिर्धारित भावनाओं और सुनिश्चित सिद्धांतोंकी कठोरताके द्वारा भगवान्‌का विरोध मत करो। मैं एक मनुष्यको जानती थी जो घोषित करता था कि "मैं पूर्ण रूपसे भगवान्‌के प्रति समर्पित हूं, भगवान् मुझसे जो कुछ भी करनेको कहें उसे करनेके लिये मैं तैयार हूं; परंतु मैं तनिक भी चिंतित नहीं हूं, क्योंकि मैं जानता हूं वह कभी भी मुझसे किसीकी हत्या करनेको नहीं कहेंगे!" मैंने जवाबमें कहा, "तुम कैसे यह बात जानते हो?" वह बहुत क्रुद्ध हो गया। यही नमनीयताका अभाव है।

यदि कोई सभी परिस्थितियोंमें नमनीय हो तो क्या यह एक दुर्बलता नहीं है?

परंतु तुमसे दूसरोंकी इच्छाके सामने नमनीय होनेको नहीं कहा जाता! कोई व्यक्ति किसी दूसरेके संपर्कमें नमनीय होनेको तुमसे नहीं कहता। तुमसे भागवत इच्छाके सम्मुख नमनीय होनेको कहा जाता है — जो ठीक वही बात नहीं है! और उसके लिये बहुत अधिक सामर्थ्यकी आवश्यकता होती है, क्योंकि जो एकदम पहली चीज तुम्हारे साथ घटित होगी वह यह है कि तुम अपने इर्द-गिर्दके प्रायः प्रत्येक व्यक्तिकी इच्छाकी ओर खुल जाओगे। यदि तुम्हारा अपना परिवार है तो तुम अपने परिवारका मनोभाव देखोगे! तुम भागवत इच्छाके प्रति जितना अधिक नमनीय होओगे, उतना ही अधिक विरोध दूसरोंकी इच्छासे तुम्हारे सम्मुख आयेगा जो उस 'दिव्य इच्छा' के संपर्कमें रहनेकी आदी नहीं हैं।

यदि प्रत्येक व्यक्ति भागवत इच्छाको अभिव्यक्त करे तो फिर, कहीं भी, कोई विरोध-विग्रह नहीं होगा, सब कुछ समस्वर हो जायगा। बस, यही चीज करनेका प्रयास हम करते हैं, पर यह बहुत आसान नहीं है।

परंतु भगवान्‌की इच्छाको जानना कठिन है, है न?

हम लोग पहले इस विषयका विस्तारसहित अध्ययन कर चुके हैं। क्या तुम्हें याद नहीं कि हमने क्या कहा था? भागवत इच्छाको जाननेकी चार शर्तें हैं:

१) सबसे प्रथम मुख्य शर्त है: पूर्ण सच्चाई।

२) कामनाओं और अभिरुचियोंको अतिक्रांत कर जाना।

३) मनको शांत-निश्चल बनाकर सुनना।

४) आज्ञा प्राप्त होते ही तुरत उसका पालन करना।

यदि तुम प्रयत्न जारी रखो तो तुम अधिकाधिक स्पष्ट रूपमें भागवत इच्छाको जानने लगोगे। परंतु यह जाननेसे पहले भी कि वह क्या है, तुम अपनी निजी इच्छाको समर्पित कर सकते हो और तुम देखोगे कि सारी परिस्थितियां इस प्रकार व्यवस्थित होंगी कि वे तुमसे उचित कार्य करायेंगी। परंतु तुम्हें मेरे परिचित उस व्यक्तिके जैसा नहीं होना चाहिये जो कहा करता था कि "मैं सर्वदा दूसरोंके अंदर भागवत इच्छाको देखता हूं।" वह चीज तुम्हें किसी भी घाट पहुंचा सकती है, उससे अधिक विपत्ति-जनक दूसरी कोई चीज नहीं, क्योंकि यदि तुम यह समझो कि तुम दूसरोंके अंदर भागवत इच्छाको देखते हो तो तुम अवश्य ही भागवत इच्छाके अनुसार नहीं, बल्कि उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करोगे। इस प्रसंगमें भी हम कह सकते हैं कि अनेक, अनेक मनुष्योंमेंसे कोई एक व्यक्ति भी भागवत इच्छाके अनुसार कार्य नहीं करता।

तुम उस क्रुद्ध हाथी, उसके महावत और हाथीको रास्ता न देनेवाले आदमीकी कहानी तो जानते ही हो। रास्तेके बीचमें खड़े होकर उस आदमीने महावतसे कहा, "भागवत इच्छा मेरे अंदर है और वह भागवत इच्छा यह चाहती है कि मैं न हटूं।" पर हाथीवान थोड़ा समझदार था, उसने उत्तर दिया, "परंतु हाथीमें विद्यमान भागवत इच्छा यह चाहती है कि तुम हट जाओ!"

श्रीमाताजी दूसरे प्रश्न, "बीमारियों" पर आ जाती हैं। किसी व्यक्तिके यह पूछनेपर कि क्या बीमारियां विरोधी शक्तियों अथवा योगके उतार-चढ़ावकी अपेक्षा रोगके कीटाणुओंके कारण नहीं होतीं? श्रीमाताजीने उत्तर दिया:

"योग भला कहांसे आरंभ होता और कहां समाप्त होता है? क्या तुम्हारा सारा जीवन ही योग नहीं है? तुम्हारे शरीरमें और उसके चारों ओर रोगकी संभावनाएं सर्वदा बनी रहती हैं; तुम्हारे अंदर या तुम्हारे चारों ओर सब प्रकारकी बीमारियों-के रोगाणु और बीजाणु झुंड-के-झुंड विद्यमान होते हैं। जो रोग तुमको वर्षों नहीं हुआ उसीके तुम एकाएक कैसे शिकार हो जाते हो? तुम कहोगे कि ऐसा "प्राणशक्तिके सुस्त पड़ जानेसे" होता है। परंतु यह सुस्ती कहांसे आती है? यह सत्तामें किसी प्रकारका असामंजस्य होनेसे, भागवत शक्तियोंके प्रति ग्रहण-शीलताका अभाव होनेसे आती है। जब तुम उस शक्ति और ज्योतिसे जो तुम्हारा भरण-पोषण करती हैं, अपने-आपको पृथक् कर लेते हो तब यह सुस्ती आती है, तब वहां वह बीज पैदा हो जाती है जिसे औषध-विज्ञान "अनुकूल क्षेत्र" कहता है और कोई चीज इसका लाभ उठाती है। सन्देह, विश्वासका अभाव, निजी स्वार्थके लिये भगवान्‌की ओरसे मुंह फेर पुनः अपनी ओर पलट आना — ये हैं जो ज्योति और दिव्य शक्तिसे तुम्हें अलग कर देते हैं और आक्रमणको इस प्रकारका लाभ पहुंचाते हैं। वास्तवमें यही चीज है जो तुम्हारे बीमार होनेका कारण है, न कि रोगाणु।"

—वार्तालाप (१९२९)

एक बात सभी लोगोंने, यहांतक कि चिकित्सक-दलने भी, अब स्वीकार करना आरंभ कर दिया है और वह यह है कि स्वास्थ्यसंबंधी नियम केवल उसी हदतक प्रभावशाली होते हैं जिस हदतक उनपर मनुष्यका विश्वास होता है। किसी महामारीका उदाहरण ले लो। बहुत वर्ष पूर्व यहां हैजेकी महामारी फैली थी — अवस्था बहुत बुरी थी — परंतु अस्पतालका प्रधान डाक्टर बड़ा कर्मठ व्यक्ति था: उसने प्रत्येक व्यक्तिको टीका देनेका निश्चय किया। टीका देकर जब वह लोगोंको विदा करता तो वह उनसे कहा करता, "अब तुम्हें टीका लग गया है और तुम्हें कुछ नहीं होगा, परंतु तुमने यदि टीका नहीं लिया होता तो तुम अवश्य मर गये होते!" वह यह बात बड़े अधिकारके साथ उनसे कहता था। साधारणतया ऐसी महामारी बहुत दिनोंतक बनी रहती है और उसे रोकना कठिन होता है, परंतु, मैं समझती हूं, लगभग पन्द्रह दिनोंमें उस चिकित्सकको उसे रोकनेमें सफलता मिल गयी; जो हो, यह कार्य आश्चर्यजनक शीघ्रताके साथ हुआ। परंतु उस डाक्टरको यह अच्छी तरह मालूम था कि उसके टीका लगानेका सर्वोत्तम प्रभाव यह था कि उसने लोगोंमें विश्वास जमा दिया।

अभी, बिलकुल हालमें, उन लोगोंको एक दूसरी चीज मिली है और उसे मैं अद्‌भुत चीज मानती हूं। उन्होंने यह पता लगाया है कि प्रत्येक रोगके लिये एक ऐसा सूक्ष्माणु (microbe) होता है जो उसे दूर कर देता है [तुम यदि चाहो तो उसे सूक्ष्माणु कहो, पर जो हो, वह एक प्रकारका कीटाणु (germ) है]।[1] परंतु इसमें जो इतनी असाधारण बात है है वह यह है कि यह "सूक्ष्माणु" अत्यंत ही संक्रामक है, रोगोंके कीटाणुओंसे भी कहीं अधिक संक्रामक है। और यह सामान्यतया दो अवस्थाओंमें विकसित होता है: उन लोगोंमें जिनमें एक प्रकारकी स्वाभाविक प्रसन्नता और स्फूर्ति होती है और फिर उन लोगोंमें जिनमें नीरोग होनेकी प्रबल इच्छा होती है। अचानक वे लोग इस "सूक्ष्माणु"को पकड़ लेते हैं और नीरोग हो जाते हैं। और अद्‌भुत बात यह है कि महामारीमें यदि कोई एक व्यक्ति नीरोग हो जाय तो तीन और व्यक्ति तुरत नीरोग हो जाते हैं। और यह "सूक्ष्माणु" उन सभी लोगोंमें पाये जाते हैं जो नीरोग हो जाते हैं।

परंतु मैं कुछ दूसरी ही बात तुमसे कहने जा रही हूं: जिस चीजको लोग सूक्ष्माणु कहते हैं वह असलमें दूसरे जगत्‌से आनेवाले एक प्रकंपन या एक इच्छाका महज स्थूल रूप है। जब मुझे इन चिकित्सासंबंधी

---

[1] संभवतः यह उस चीजकी ओर संकेत करता है जिसे आजकल "antibodies" (रोगप्रतिकारक पिंड) कहते हैं।

आविष्कारोंका पता लगा तो मैंने अपने-आपसे कहा, "सचमुच, विज्ञान प्रगति कर रहा है।" हम कहीं अधिक बुद्धिमानीके साथ प्रायः यह कह सकते हैं, "जड़तत्त्व प्रगति कर रहा है," यह एक उच्चतर इच्छा-शक्तिके प्रति अधिकाधिक ग्रहणशील बन रहा है। और जो कुछ उनके विज्ञानमें "सूक्ष्माणुओं" के रूपमें अनूदित हुआ है वह, यदि कोई उस चीजकी जड़-तक जाय, महज एक प्रकंपनशील आकारके रूपमें दिखायी देगा; और यह प्रकंपनशील रूप एक उच्चतर इच्छाका भौतिक रूपांतर है। यदि तुम इस शक्ति या इस इच्छाको, इस ऊर्जा, इस प्रकंपनको (चाहे जो नाम तुम इसे देना चाहो) किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें ले आ सको तो वह न केवल तुम्हारे अंदर बल्कि संक्रमणके द्वारा तुम्हारे चारों ओर भी कार्य करेगा।

(एक शिष्यके यह पूछनेपर कि जब हम यहां कीटाणुओंमें विश्वास नहीं करते, छाना हुआ पानी क्यों पीते हैं, श्रीमाताजीने उत्तर दिया):

> "क्या तुममेंसे कोई भी इतना शुद्ध और बलवान् है जिसपर सुझावोंका कुछ भी असर न होता हो? यदि तुम बिना छाने पानी पीओ और सोचो कि 'अब मैं अस्वच्छ जल पी रहा हूं' तो तुम्हारे बीमार पड़नेकी बहुत कुछ संभावना हो जाती है। और यद्यपि, इस प्रकारके सुझाव सचेतन मनके अंदर न भी प्रवेश करें तो भी तुम्हारी समग्र अवचेतना तो इन सुझावोंके लिये निष्क्रिय रूपसे खुली पड़ी ही है....। साधारण मानव-अवस्था वह अवस्था है जो भय और आशंकाओंसे भरी हुई है। यदि तुम अपने भौतिक मनको इस मिनटतक ध्यानपूर्वक देखो तो तुम्हें पता लगेगा कि दस मिनटमें नौ मिनट वह भयोंसे भरा रहता है....। और साधना और प्रयासके द्वारा यदि तुमने अपने मन और प्राणको सभी आशंकाओं तथा सभी भयोंसे मुक्त कर भी लिया हो तो भी शरीरको मना लेना अधिक कठिन होता है।"
>
> (वही)

जब हम अपने मन और प्राणमें अपने-आपको मुक्त कर लेनेमें सफल हो जाते हैं तब शरीरको मना लेना इतना कठिन क्यों होता है?

क्योंकि बहुसंख्यक मनुष्योंके अंदर शरीर अपनी अंतःप्रेरणा अवचेतनासे ग्रहण करता है, यह अवचेतनाके प्रभावके अधीन होता है। जो भय सक्रिय चेतनासे भगा दिये जाते हैं वे सब-के-सब वहीं चले जाते और आश्रय ग्रहण करते हैं और फिर, स्वभावतः ही, उन्हें अवचेतनासे भी बाहर खदेड़ना पड़ता है और वहांसे उनकी जड़ ही उखाड़ देनी पड़ती है।

मनुष्य भयभीत क्यों होता है?

मैं समझती हूं कि इसका कारण यह है कि मनुष्य अहंवादी होता है।

इसके तीन कारण हैं। पहला, अपनी सुरक्षाके लिये मनुष्य अत्यधिक चिंतित होता है। दूसरा, मनुष्य जो कुछ नहीं जानता वह उसे सर्वदा एक प्रकारकी बेचैनीका बोध प्रदान करता है और वह चीज उसकी चेतनामें भयकी रूप ले लेती है। और सबसे ऊपर, मनुष्यके अंदर भगवान्‌के प्रति स्वाभाविक विश्वास बनाये रखनेका अभ्यास नहीं होता। यदि तुम विषयको काफी दूरतक सोचो तो देखोगे कि वास्तवमें यही सच्चा कारण है। ऐसे लोग हैं जो यह भी नहीं जानते कि भगवान् हैं; परंतु हम उन्हें दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं, "तुम्हें अपनी भवितव्यतामें कोई विश्वास नहीं है" अथवा, "तुम भागवत कृपाके विषयमें कुछ नहीं जानते" — तुम किसी भी चीजको जैसे चाहो रख सकते हो, परंतु विषयकी जड़ है श्रद्धा-विश्वासका अभाव। यदि किसी व्यक्तिको सर्वदा यह बोध बना रहे कि समस्त परिस्थितियोंमें जो कुछ घटित होता है बस वही सर्वोत्तम होता है तो वह कभी भयभीत नहीं होगा।

भयकी प्रथम क्रिया सहज-स्वाभाविक रूपसे होती है। एक बहुत बड़े वैज्ञानिक थे और वह एक बड़े मनोवैज्ञानिक भी थे (अब मुझे उनका नाम याद नहीं है); उन्होंने अपनी आंतरिक चेतनाको विकसित किया था पर वह उसकी जांच करना चाहते थे। अतएव उन्होंने एक परीक्षण किया। वह यह जानना चाहते थे कि चेतनाके माध्यमसे मनुष्य अपने शरीरकी सहज क्रियाको संयमित कर सकता है या नहीं (संभवतः वह इतनी काफी दूरतक नहीं गये कि उसे कर सकें, क्योंकि ऐसा किया जा सकता है; परंतु जो हो, उनके लिये ऐसा करना अभी भी असंभव था)। हां तो, वह एक चिड़ियाघर गये और उस स्थानपर चले गये जहां शीशेके घरोंमें सांप रखे गये थे। वहां एक नाग था जो विशेष रूपसे आक्रामक था। जब वह नींदमें नहीं होता था तो लगभग सर्वदा क्रुद्ध रहता था, क्योंकि शीशेके भीतरसे वह लोगोंको देख सकता था और उस कारण वह भयानक

रूपमें उत्तेजित हो उठता था। हमारा वैज्ञानिक जाकर कठघरेके सामने खड़ा हो गया। वह अच्छी तरह जानता था कि शीशेका घर इस ढंगसे बना था कि सांप कभी शीशेको तोड़ नहीं सकता और वह आक्रांत होनेका कोई खतरा मोल नहीं ले रहा। अतएव वहांसे उसने चिल्ला-चिल्लाकर और हाव-भाव बनाकर सांपको उत्तेजित करना आरंभ कर दिया। सांपने क्रोधित होकर शीशेके ऊपर झपट्टा मारा, और जब-जब उसने ऐसा किया, वैज्ञानिकने अपनी आंखें बन्द कर लीं! हमारे मनोवैज्ञानिकने अपने-आपसे कहा, "पर देखो, मैं जानता हूं कि यह सांप शीशेके बाहर नहीं आ सकता, फिर भी मैं अपनी आंखें क्यों बन्द कर लेता हूं?" हां, हमें स्वीकार करना होगा कि प्रतिक्रियाको जीतना कठिन है। यह संरक्षणका बोध है, और जब कोई यह अनुभव करता है कि वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता तो वह भयभीत होता है। परंतु भयकी जो क्रिया आंखोंकी झपकीके द्वारा प्रकट होती है वह मानसिक या प्राणिक भय नहीं होती; यह वह भय है जो शरीरके कोषाणुओंमें होता है; क्योंकि कोषाणुओंपर यह संस्कार नहीं डाला गया है कि यहां कोई खतरा नहीं है और वे यह नहीं जानते कि उसका निवारण कैसे किया जाय। और इसका कारण यह है कि व्यक्तिने योगाभ्यास नहीं किया है, समझे? योग करनेपर मनुष्य खुली आंखों देख सकता है, वह आंखें बन्द नहीं करता; इस कारण बंद नहीं करेगा क्योंकि वह किसी अन्य वस्तुका आह्वान करता है, और वह "कोई अन्य वस्तु" है अपने अंदर भागवत उपस्थितिका बोध जो सब चीजोंसे कहीं अधिक शक्तिशाली है।

बस, एकमात्र यही चीज है जो तुम्हें भयसे विमुक्त कर सकती है।

कई वर्ष बाद इस बातचीतपर एक शिष्यने प्रश्न उठाया (१९ मई, १९६५):

आप कहती हैं, "यदि किसीके अंदर सर्वदा यह भावना बनी रहे कि सभी परिस्थितियोंमें जो कुछ घटित होता है वही सर्वोत्तम होता है तो वह भयभीत नहीं होगा।" क्या सचमुच वही सर्वोत्तम होता है जो सभी परिस्थितियोंमें घटित होता है?

वह संसारकी वर्तमान स्थितिमें सर्वोत्तम है — वह पूर्णतः सर्वोत्तम नहीं है। दो चीजें हैं: सर्वांगीण और संपूर्ण रूपमें, प्रत्येक मुहूर्त्त, यह 'सर्व' के

दिव्य 'लक्ष्य' की प्राप्तिके लिये यथासंभव सर्वोत्तम होता है; और जो व्यक्ति सचेतन रूपसे भागवत 'संकल्प' के साथ संयुक्त होता है उसके लिये यह उसकी अपनी दिव्य सिद्धिकी दृष्टिसे अत्यंत अनुकूल होता है।

मैं समझती हूं कि यही यथार्थ व्याख्या है।

'सर्व'के लिये, यह सर्वदा ही, प्रत्येक मुहूर्त्त, वही होता है जो दिव्य क्रमोन्नतिके लिये अत्यंत उपयुक्त होता है। और जो व्यक्ति ज्ञानपूर्वक भगवान्‌के साथ संयुक्त होते हैं उनके लिये यह उनके एकत्वकी परिपूर्णताके लिये सर्वोत्तम होता है।

बस, तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि यह निरंतर परिवर्तित होता रहता है, यह कोई स्थिर सर्वोत्तम नहीं होता; यह वह सर्वोत्तम होता है जिसे यदि सुरक्षित रखा जाय तो एक क्षण बाद सर्वोत्तम नहीं रह जायगा। और चूंकि मानव-चेतनामें सर्वदा यह प्रवृत्ति होती है कि जिसे वह शुभ अनुभव करती या जिसे शुभ समझती है उसे वह बनाये रखे, इसलिये वह अनुभव करती है कि वह चीज पकड़में आने योग्य नहीं है। सुरक्षित रखनेका यह प्रयास ही प्रत्येक चीजको मिथ्या बना देता है।

(मौन)

मैंने यह चीज उस समय देखी जब मैंने बुद्धके दृष्टिकोणको समझना चाहा जिन्होंने इस अभिव्यक्त जगत्‌के अस्थायित्वके लिये इसकी निंदा की है; उनके लिये पूर्णता और स्थायित्व एक ही और अभिन्न वस्तु थे। अभिव्यक्त विश्वके संपर्कमें आनेपर उन्होंने देखा कि इसमें सदा-सर्वदा परिवर्तन हो रहा है, इसलिये उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि व्यक्त जगत् अपूर्ण है और इसे विलीन हो जाना होगा। और परिवर्तन (अस्थायित्व) 'अव्यक्त' के अंदर नहीं है, अतएव 'अव्यक्त' ही सच्चा भगवान् है। बस, इसी दृष्टिसे विचार करनेपर और इसीपर एकाग्र होनेपर वास्तवमें मैंने देखा कि उनका निष्कर्ष सही था: अभिव्यक्त जगत् पूर्ण रूपसे अस्थायी है, यह एक सतत रूपांतरण है।

परंतु अभिव्यक्तिमें पूर्णता यही है कि रूपांतरकी गति अथवा उन्मीलन भागवत गति और अनिवार्य गतिके साथ अभिन्न हों। हालांकि जो कुछ निश्चेतन या तामसिक सृष्टिका है वह निरंतर रूपांतरके होते हुए उसमें भाग लेनेकी अपेक्षा, पहलेकी ही तरह अपने अस्तित्वको समान रूपसे बनाये रखनेकी कोशिश करता है।

यही कारण है कि कुछ विचारकोंने यह परिकल्पना की है कि यह

सृष्टि एक भूल-भ्रांतिका परिणाम है। परंतु हमें सभी प्रकारकी संभव धारणाएं दिखायी देती हैं: पूर्ण सृष्टि, फिर एक "भूल" जो भ्रांति उत्पन्न करती है; सृष्टि अपने-आपमें एक निम्नतर क्रिया है जिसका अवश्य ही एक अंत होगा क्योंकि इसका एक प्रारंभ है; फिर वैदिक विचार है, जैसा कि श्रीअरविंदने हमें बताया है, जो यह कहता है कि यह सृष्टि 'सर्व' का स्वयं अपने-आप एक प्रकारसे उन्मीलित करना है अथवा एक प्रकारकी क्रमशः बढ़ती हुई और अनंत — अनिर्दिष्ट और असीम — खोज है...। स्वभावतः ही ये सभी, सभी मानवीय व्याख्याएं हैं। अभी, जबतक तुम मानवीय भाषामें अपने-आपको व्यक्त करते हो, यह एक मानवीय रूपांतर है। परंतु मानव रूपांतरकारकी प्राथमिक स्थितिके अनुसार (कहनेका तात्पर्य, चाहे स्थिति वह हो जो "मूल पाप" को या सृष्टिमें किसी "दैवयोग" को या क्रमशः होनेवाले आत्मविस्तरणमें प्रारंभसे ही किसी परात्पर सचेत 'संकल्प-शक्ति'के अस्तित्वको स्वीकार करती हो), यौगिक मनोभावमें, निष्कर्ष या "अवतरण" विभिन्न प्रकारके हैं....। कोई तो शून्यवादी है, कोई निर्वाणवादी और कोई मायावादी; फिर सब प्रकारके धर्म हैं जो किसी-न-किसी रूपमें शैतानके हस्तक्षेपको स्वीकार करते हैं; फिर शुद्ध वैदिक धर्म है जो परात्पर भगवान्‌का शाश्वत आत्मप्रकाश है जिसमें वह क्रमशः विषयीभूत होते हैं। और अपनी रुचिके अनुसार, कोई अपने-आपको यहां, दूसरा वहां या अन्यत्र रखता है और उनके बीच सब प्रकारका अर्थांतर होता है। परंतु श्रीअरविंदने जिसे अत्यंत पूर्ण सत्यके रूपमें अनुभव किया है उसके अनुसार, क्रमवर्द्धमान विश्वसंबंधी इस परिकल्पनाके अनुसार हमें यह कहना पड़ता है कि प्रत्येक क्षण जो कुछ घटित होता है वह 'संपूर्ण'के प्रकटीकरणके लिये यथासंभव सर्वोत्तम होता है। यह एकदम न्यायसंगत है। और मैं समझती हूं कि किसी एक या दूसरेके प्रति, किसी एक प्रस्थापना या दूसरीके लिये कम या अधिक अभिघोषित प्रवृत्तिके कारण ही सब प्रकारके विरोध उत्पन्न होते हैं। जो लोग किसी "पाप" या किसी "भ्रांति" के बलात् प्रवेशको स्वीकार करते हैं और उसके परिणामस्वरूप पीछे खींचनेवाली और आगे खींचनेवाली शक्तियोंके बीच संघर्षको मानते हैं, वे सब स्वभावतः ही संभावनाके विषयमें वाद-विवाद कर सकते हैं। परंतु हमें यह कहना होगा कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक रूपसे परात्पर 'संकल्प' या परात्पर 'सत्य'के साथ युक्त है उसके लिये प्रत्येक मुहूर्त्त, आवश्यक रूपसे वही सर्वोत्तम होता है जो उसकी व्यक्तिगत सिद्धिके लिये घटित होता है। सभी उदाहरणोंके विषयमें बस यही बात है। अहैतुक सर्वोत्तमको केवल वही व्यक्ति स्वीकार कर सकता है जो विश्वको एक आत्मविस्तरणके रूपमें

देखता है, जो विश्वको इस रूपमें देखता है कि स्वयं परात्पर प्रभु इसके अंदर अपने विषयमें सज्ञान हो रहे हैं।

(मौन)

सच पूछो तो इन सब बातोंका कोई महत्त्व नहीं है; क्योंकि जो कुछ है, वह हर तरहसे संपूर्ण और एकांत रूपसे उस प्रत्येक चीजसे परे चला जाता है जो मानवीय चेतना उसके विषयमें सोच सकती है। वास्तवमें केवल तभी तुम **जानते हो**, जब कि तुम अब मानव नहीं रह जाते; परंतु जैसे ही यह ज्ञान व्यक्त किया जाता है, मानवीय सीमाएं फिरसे आरोपित हो जाती हैं और फिर तुम्हारा जानना बंद हो जाता है।

यह बात निर्विवाद है।

और इस अक्षमताके कारण, जब हम इस समस्याको एकदम किसी ऐसी चीजमें बदल देना चाहते हैं जिसे मानव बुद्धि समझ सके तो वह एक प्रकारसे व्यर्थ हो जाता है। इस प्रसंगमें मेरे एक परिचित व्यक्तिकी भांति यह कहना कहीं अधिक बुद्धिमानी है कि "हम यहां हैं, हमें एक काम करना है, और आवश्यक बात यह है कि हम उसे यथासंभव अच्छे रूपमें करें और उसके "क्यों" और "कैसे" के विषयमें कोई चिंता न करें।" जगत् अभी जैसा है वैसा वह क्यों है? ... जब हम इसे समझनेके योग्य होंगे, हम समझ जायेंगे।

व्यावहारिक दृष्टिकोणसे देखा जाय तो यह स्पष्ट है।

केवल, प्रत्येक व्यक्ति एक स्थितिपर आरूढ़ हो जाता है... यहां हमारे सामने सभी उदाहरण विद्यमान हैं। यहां हमारे पास सभी मनोभावोंके नमूनोंका संग्रह मौजूद है और हम उनकी प्रतिक्रियाओंको बहुत स्पष्ट रूपमें देख रहे हैं। मैं बस एक ही 'शक्ति'को — उसी और एक ही शक्तिको— इस नमूना-संग्रहके अंदर कार्य करती हुई तथा स्वभावतः ही विभिन्न प्रभाव उत्पन्न करती हुई देख रही हूं। परंतु ये "विभिन्न" प्रभाव, एक गभीरतर दृष्टिके लिये, बहुत छिछले (बाह्य) हैं: बस, बात ऐसी है कि "इस ढंगसे विचार करना उन्हें पसंद है, बस, इतनी ही बात है, ठीक इस प्रकारसे विचार करनेसे उन्हें सुख मिलता है।" परंतु सच पूछा जाय तो आंतरिक यात्रा, आंतरिक विकास, मूल प्रकंपनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता — बिलकुल नहीं। एक व्यक्ति अपने संपूर्ण हृदयसे निर्वाणकी अभीप्सा करता है, दूसरा अपनी समस्त संकल्प-शक्तिको लगाकर अतिमानसिक अभिव्यक्तिके लिये अभीप्सा करता है, और उनमेंसे दोनोंमें प्रकंपनसंबंधी परिणाम लगभग

एक ही होता है। और सच पूछो तो वह प्रकंपनोंकी एक समूची राशि होती है जो अधिकाधिक उस... उस चीजको ग्रहण करनेके लिये तैयार होती है जिसे होना है।

एक स्थिति है, एक स्थिति है जो मुख्यतया विघ्नकारी है, आध्यात्मिक दृष्टिसे विघ्नकारी है, जिसमें समस्त मानवीय निरर्थक वस्तुओंमें सबसे अधिक निरर्थक है तत्त्वमीमांसा।

१७ मार्च, १९५१

"....विश्वकी क्रियाधारामें जो कुछ घटित होता है वह पहले जो कुछ घटित हो चुका है उस सबका परिणाम होता है...।"

—वार्तालाप (१९२९)

इससे आपका क्या मतलब है?

विश्व नित्य-गतिशील है और यह परात्पर 'चैतन्य'का आत्मविस्तरण है। अतएव जो कुछ घटित होता है वह सब जो कुछ उससे पहले घटित हो चुका है उससे प्रसीमित है। विश्व वही बना रहता है जो कि वह है क्योंकि जिससे यह बना हुआ है, और जो कुछ यह अबतक रहा है वह जो कुछ यह पहले था उसका परिणाम है। और यह जो कुछ होगा... जो कुछ यह है उसीका फल होगा।

क्या विश्वका प्रसरण लगातार होता रहता है या यह कहीं जाकर रुक जाता है? वह कौन-सी चीज है जो हमें प्रारंभकी, आरंभ करनेके निश्चयकी, भावना प्रदान करती है?

प्रारंभ करनेका निर्णय भला कहांसे आता है?... (हंसते हुए) संभवतः 'परात्पर'से, मैं नहीं जानती! ऐसा हो सकता है कि एक दिन 'उन्होंने' निश्चय किया कि हम लोगोंके सामने जो विश्व है उस प्रकारका एक विश्व उत्पन्न हो और 'उन्होंने' अपने-आपको विषयीभूत बनाना प्रारंभ किया जिसमें कि एक विश्व जन्म ले।

इस विश्वका प्रत्येक तत्त्व शाश्वत है क्योंकि विश्व स्वयं 'शाश्वत' है।

अब, 'शाश्वत'के अंदर किसी "प्रारंभ" की चर्चा करना कठिन है। स्पष्ट ही, 'यह' सर्वदा रहा है और सर्वदा बना रहेगा। केवल, उदाहरणके लिये मान लो (यह एक रूपक है, याद रखो, मुझसे ऐसी बातें न कहलवाओ जो मैं नहीं कहती), एक गोला ले लो जो अनगिनत अतिसूक्ष्म वस्तुओंसे भरा है। यदि तुम इन सब तत्त्वोंका संबंध बदल दो तो, उनकी संख्या इतनी बड़ी है, संबंधोंकी संभावनाएं इतनी अधिक हैं कि तुम आसानीसे एक अनंतकी बात कह सकते हो, यद्यपि दार्शनिक दृष्टिकोणसे वह अनंत नहीं है; फिर भी वर्णनात्मक दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि वह अनंत है। प्रत्येक तत्त्व शाश्वत है। सभी समुच्चय अनंत हैं, पर वही समुच्चय कभी दुबारा संघटित नहीं होता। इस तरह विश्व नित्य नया होता है और फिर भी यह शाश्वत रूपसे वही बना रहता है।

परंपराके अनुसार यह कहा जाता है....

हां, हां, परंतु यह परंपराका प्रश्न नहीं है। कुछ लोग ऐसे हैं जो प्रलयकी बात कहते हैं, मैं जानती हूं, परंतु उसका अर्थ महज यह है (मुझे क्षमा करना, हमें थोड़ा हलके रूपमें ही बोलना चाहिये, नहीं तो बात असह्य हो जाती है) कि परात्पर भगवान्‌ने जिस प्रकारका विश्व बनाया है उससे शायद एक दिन 'वह' क्लांत, असंतुष्ट हो सकते और दूसरा विश्व बनानेकी इच्छा कर सकते हैं! तब, जैसे कि समस्त विश्व 'उन्हीं'का रूप है, 'वह' प्रत्येक चीजको 'अपने' अंदर वापस ले लेते हैं और उसे फिर बाहर ले आते हैं! यही चीज है जिसे लोग "प्रलय" कहते हैं, परंतु इससे कुछ भी नहीं बदलता; विश्वके सभी तत्त्व शाश्वत हैं और शाश्वत रूपसे वस्तुओंके समुच्चय विभिन्न बने रहेंगे।

> भौतिक विज्ञानके अनुसार, हमारा तीन आयामोंका भौतिक जगत् अनंत नहीं है: यह तीनसे अधिक आयामोंके देशमें स्वयं अपने ऊपर झुका हुआ है। तीन आयामोंका यह बंद विश्व लगातार प्रसारित हो रहा है और विश्वकी सभी वस्तुएं अपनी दूरीके साथ बढ़नेवाली गतिसे एक-दूसरीसे दूर भाग रही हैं। यदि कोई अतीत कालमें वापस जाय तो वह एक ऐसे कालमें पहुंच जायगा जब विश्व लगभग एक बिंदुपर घनीभूत था और उससे जड़तत्त्वके बनावटकी चाभी मिल जायगी जिसके ९२ तत्त्वोंकी व्याख्या आजतक कभी नहीं प्राप्त हुई है। यह

"घनीभूत बिंदु" या "आदि परमाणु", तीस या चालीस अरब वर्ष पहले विद्यमान था। यही वह बीज है जिसे भारतीय परंपरा "सुनहला अंडा" कहती है। परंतु उसके पहले? कुछ भी ज्ञात नहीं है। बिलकुल हालमें एक अमरीकी वैज्ञानिकने यह सिद्धांत निकाला है कि अनंत विस्तरणकी यह क्रिया जारी नहीं रहेगी, एक विपरीत क्रिया आरंभ होगी और सब कुछ फिर वापस एकत्रित हो जायगा।

विश्वकी श्वास-क्रिया।

यदि सूर्यसे पृथ्वीपर आनेवाली प्रकाशकी किरणके साथ-साथ कोई यात्रा कर सके तो उसका चलना और पहुंचना युगपद होगा, क्योंकि यात्रीका "वास्तविक काल" बंद हो जायगा।

युगपदताकी इस चेतनाके लिये प्रकाश मुझे अत्यंत स्थूल प्रतीत होता है।

स्पष्ट ही जब कोई आकारसे बाहर निकलकर आकार और 'निराकार'-के बीचके "सीमांत" प्रदेशमें प्रवेश करता है तो प्रत्येक वस्तु युगपद होती है, परंतु यह प्रकाशकी घनतासे बहुत दूर है।

मुझे आश्चर्य हो रहा है (यह संभव है, यह देखना होगा), पर मुझे संदेह है कि कोई भौतिक वस्तु विश्वसंबंधी इस युगपद चेतनाको देनेमें समर्थ होगी।

निस्संदेह, कोई भौतिक वस्तु या सत्ता प्रकाशकी गतिसे यात्रा नहीं कर सकती, पर यह मान लेनेपर कि यह संभव है, हम प्रत्येक वस्तु जान लेने और प्रत्येक वस्तु समझ लेनेमें सक्षम हो जायेंगे, क्योंकि प्रकाश-किरणोंकी संख्या एक तरहसे अनंत है और वे किरणें समूचे स्थूल विश्वको ढके रखती हैं।

परंतु वह विश्वका युगपद सर्वांगपूर्ण ज्ञान नहीं होगा, यहांतक कि पृथ्वीका भी नहीं। क्योंकि, जो व्यक्ति अति-पार्थिव प्रकाशको याद रखता है वह उच्चतर प्रकाशकी गतियोंको याद रखता है, पार्थिव प्रकाशकी गति मंद होती है, क्योंकि वह मद्धिम है। परंतु यह अपने-आपमें किसी उच्चतर वस्तुकी अभिव्यक्ति हो जायगी.... मैं नहीं जानती।

प्रकाश एक बहुत अच्छा प्रतीक है, पर मैं यह नहीं समझती कि यह कोई संपूर्ण प्रतीक है।

क्या प्रकाशकी गति विचारसे अधिक तेज है? ....तुम विचारके विषयमें कोई ठोस परीक्षण नहीं कर सकते। ध्वनि एक ऐसी वस्तु है जो बहुत, बहुत ही धीमी गतिवाली है, परंतु विचार एकदम ऐसी वस्तु है जो प्रकाशसे कहीं अधिक तेज गतिवाली है....शायद नहीं। विचार तात्कालिकताका बोध प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, क्या तुम भौतिक शरीरमें विचारको देखते हो? क्या तुम जड़तत्त्वोचित गुणसे पृथक् विचारको देखते हो? इसे देखना अभी बाकी है, है न? आओ, मैं इसकी व्याख्या कर दूं: यदि तुम अपने शरीरसे बाहर चले जाओ, यदि तुम प्राण-जगत्से बाहर चले जाओ और मानसिक जगत्में प्रवेश कर जाओ तो सभी संबंध शरीरमें रहते हुए विचारके संबंधोंसे एकदम भिन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, शरीरके मुकाबले, विचार प्रकाशकी तरह ही, बल्कि प्रकाशसे भी अधिक, एक तात्कालिक वस्तु प्रतीत होता है। परंतु जब तुम्हारा भौतिकके साथ कोई सरोकार नहीं रहता और तुम स्वयं मनमें प्रविष्ट हो जाते हो, वे ही संबंध रह जाते हैं जिन्हें कोई विशेष काल और विशेष देश ही प्रदान कर सकते हैं — वे काल और देश जो भौतिक चेतनाके लिये अस्तित्व नहीं रखते बल्कि मानसिक चेतनाके लिये अस्तित्व रखते हैं। तब, तुम जो कह रहे हो कि 'काल' बदल जाता है, उसकी, यदि तुम चाहो, व्याख्या हो जायगी; क्योंकि यह स्पष्ट है कि विश्व-रचनाके अंदर एक क्रमवर्द्धमान चेतनाका मिश्रण होता है जिसका रूपांतर मनोवैज्ञानिक क्षेत्रमें नवीन जगतों या नवीन "आयामों" के साथके एक संबंधके रूपमें होता है।

उदाहरणार्थ, यह कहा जाता है कि कुछ कालतक पार्थिव जगत्पर "अधि-मानसिक" शक्तियोंका शासन था और अब इस शासनका अतिक्रमण होने जा रहा है, अब जगत्पर अतिमानसिक शक्तियोंका राज्य होगा। हां, प्रत्येक समय जब नवीन शक्तियां जगत्में अवतरित होती हैं, एक परिवर्तन होता है और चेतनाके परिवर्तनके कारण जगत्की क्रियावलीमें उससे मिलता-जुलता परिवर्तन होना अनिवार्य है। तुम कहते हो कि विस्तरणकी गति अधिकाधिक तीव्र होती जाती है; इसका मतलब यह है कि जगत् एक ऐसी चेतनासे भर जाता है जो संसारकी गतिविधियोंको अधिकाधिक तेज बना देती है। इसे उस आध्यात्मिक व्यापारका एकदम भौतिक प्रतिलेखन कहा जायगा। पृथ्वी क्रमशः उच्चतर क्षेत्रोंसे आनेवाली (हमारी चेतनाके लिये) शक्तियोंसे अधिकाधिक भरती जा रही है, जिसका अर्थ है कि वे अधिकाधिक तीव्र गतिसे आ रही हैं और तात्कालिकताका अधिकाधिक बोध

प्रदान कर रही हैं। जो कुछ खोज निकाला गया है वह इसी आंतरिक व्यापारका एक प्रकारसे भौतिक रूपकोंके द्वारा संकेत प्रदान करना है जो वैज्ञानिक ढंगसे यह सिद्ध कर सकता है कि विश्व प्रगति कर रहा है। दूसरी संभावना यह है कि यह श्वास-प्रश्वासकी प्रकंपमान गतिका एक विषय है — यह बिलकुल संभव है; परंतु एकाग्रताके व्यापारका तात्पर्य अनिवार्यतः पश्चाद्गमन नहीं है; यह केवल एक क्रियासे दूसरी क्रियामें जाना है।

नक्षत्र अपनी दूरीके अनुसार बढ़नेवाली गतिके साथ एक-दूसरेसे अलग हटते जा रहे हैं....। इसका तात्पर्य क्या है?

ये रूपक हैं, हैं न? तुम एक विश्वके क्रमशः अधिक बड़े होते जानेकी कल्पना कर सकते हो, पर, तब, वह कौन-सी चीज होगी जो इस विश्वको धारण करेगी? इस विश्वके परे कौन-सी चीज होगी?.... तत्काल हमारा क्षुद्र मानव मन एक ऐसी चीजकी कल्पना कर लेता है जो बिलकुल खाली है और जिस शून्यके अंदर वह विश्व अधिकाधिक स्थान घेरता जाता है, जिसका मतलब है कि इस शून्यके अंदर एक देश होगा, जो एक मूर्खताकी बात है। वास्तवमें, हमें कहना चाहिये, "यह ऐसा है", क्योंकि यह ठीक वही चीज नहीं है जो घटित होती है, यह तो उसे व्यक्त करनेका महज एक ढंग है। एक ऐसी धारणाको पकड़नेके लिये, जो कि थोड़ी-बहुत ही सही हो, हमें स्थूलसे मनोवैज्ञानिक व्याख्यामें चले जाना चाहिये, और यदि तुम मनोवैज्ञानिकतक पहुंच जाओ तो भी सत्यसे बहुत दूर रहोगे, जो न तो मनोवैज्ञानिक है और न आकाशीय, बल्कि अन्य दूसरी वस्तु है जिसे हमारे शब्दोंमें व्यक्त करना स्पष्ट ही कठिन है। यह एक सुपरिचित अनुभव है: प्रत्येक बार जब कोई अपनी चेतनासे परेकी चेतनामें चला जाता है (मैं इसे आकाशीय नहीं कह सकती), अपनी पार्थिव चेतनासे (एकदम पार्थिव भी नहीं, बल्कि वस्तुतः व्यक्तिगत चेतनासे) परेकी चेतनामें चला जाता है, प्रत्येक बार जब किसीको कोई अनुभव होता है जो व्यक्तिगत चेतनाको अतिक्रम करता है, कहनेका तात्पर्य, अंशकी चेतनाको अतिक्रम कर 'संपूर्ण' की चेतनामें प्रवेश करता है और जब इस अनुभवकी कोई व्याख्या करना चाहता है तो वह सभी शब्दोंको अर्थसे खाली अनुभव करता है, क्योंकि भाषाका निर्माण मानवी मनके सामने मानवीय अनुभवकी व्याख्या करनेके लिये हुआ है। मानवीय अनुभवको व्यक्त करनेके लिये हमें सभी आवश्यक शब्द, यहांतक कि बहुत-सी अर्थ-

छटाओं और सूक्ष्मताओंके साथ, प्राप्त हैं, क्योंकि भाषाका निर्माण इसी उद्देश्यसे हुआ है, परंतु उस वस्तुकी व्याख्या करनेके लिये तुम कौन-सी भाषाका प्रयोग करोगे जो सभी भाषाओंके क्षेत्रसे बाहर है? यह अत्यंत ही कठिन कार्य है। अतएव तुम कहते हो, "वह इस प्रकारकी वस्तु है, वह उस प्रकारकी वस्तु है," और जब तुम बोलते हो, यह अनुभव करते हो कि तुम्हारा अनुभव इतने अधिक पूर्ण रूपमें विकृत होता जा रहा है कि कभी-कभी लोग तुम्हारी बातको एकदम ही विपरीत अर्थमें ग्रहण करते हैं।

इसी कारण भौतिक विज्ञान विरोधाभासोंसे भरा हुआ है।

हां, और सभी आध्यात्मिक पुस्तकें जो दूसरे जगत्के अनुभवोंकी चर्चा करती हैं, सर्वदा विरोधाभासोंसे भरी होती हैं। वे कहती हैं, "यह इस तरहका है, वह उस तरहका है," वे तुम्हें एक प्रकारकी नमनीयता प्रदान करना चाहती हैं जिससे तुम समझ सको — परंतु फिर भी तुम नहीं समझते।

सच्ची बात यह है कि इन अनुभवोंको केवल निश्चल-नीरवताके अंदर ही संचारित किया जा सकता है।

और फिर, यह कहा गया है (और यह सही बात है) कि ये जगत्, अतिमानसिक जगत्की तरह, भौतिक रूपमें अभिव्यक्त होने जा रहे हैं। तो फिर क्या घटित होने जा रहा है? क्या वे नवीन शब्द खोज निकालेंगे? हां, उनके लिये नवीन शब्दोंको खोज निकालना होगा... ऐसा करना कठिन है, क्योंकि यदि नये शब्द प्राप्त किये जायें तो फिर उनकी व्याख्या करनी होगी!

जो हो, प्राचीन दीक्षा-पद्धतियां एक तरहसे अच्छी थीं, इस अर्थमें कि वे केवल उन्हीं लोगोंके सम्मुख 'ज्ञान'का उद्घाटन करती थीं जो एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर चुके होते थे जहां वे शब्दोंकी सहायताके बिना सीधे उसे ग्रहण कर पाते थे। और मुझे भय है कि कहीं वही चीज अब फिरसे न आ जाय — जो लोग अतिमानसिक ज्ञान प्राप्त कर लेंगे वे भी लोगोंको कभी अपनी बात नहीं समझा सकेंगे जबतक कि स्वयं वे लोग उस ज्ञानमें प्रवेश करनेमें समर्थ नहीं हो जायेंगे। और, इसलिये, युक्तिसंगत परिणाम यह है कि लोग कहेंगे, जैसा कि मैंने लोगोंको कहते हुए सुना है, कि "ओह! यह ठीक वैसा ही है जैसा कि साधारण जीवनमें होता है।" यथार्थमें इसका कारण यह है कि जो सब चीजें साधारण जीवनकी नहीं होतीं वे पूर्णतः

हमारी समझसे बाहर होती हैं, उन्हें शब्दोंके द्वारा नहीं संचारित किया जा सकता।

इसी तरहका एक स्थान ले लो, जो किन्हीं विशेष शक्तियों, विशेष प्रकंपनोंसे भरा हुआ है; ये प्रकंपन दृश्य और ठोस वस्तुओंके रूपमें अपनेको प्रकट नहीं करते — वे परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं, पर ये परिवर्तन चूंकि किसी एक पद्धतिके अनुसार घटित होते हैं (जैसे कि सभी भौतिक वस्तुएं होती हैं), तुम लगभग युक्तिसंगत तरीकेसे एक स्थितिसे दूसरीमें चले जाते हो और यह युक्तिसंगतता तुम्हें यह देखनेसे रोकती है कि यहां कोई ऐसी चीज है जो सामान्य जीवनसे संबंध नहीं रखती। हां, जिन लोगोंको साधारण मानसिक दृष्टिसे भिन्न दूसरी कोई दर्शन-शक्ति नहीं है, जो वस्तुओंको उसी प्रकार घटित होते हुए देखते हैं जिस प्रकार कि वे साधारण जीवनमें स्वभावतः घटित होती हैं अथवा घटित होती हुई प्रतीत होती हैं, वे तुमसे कहेंगे, "ओ वह, वह तो बिलकुल स्वाभाविक है।" यदि उनमें शुद्ध भौतिक अनुभवशक्तिसे भिन्न कोई दूसरी अनुभवशक्ति न हो, यदि वे किसी प्रकंपनके गुणको अनुभव करनेमें सक्षम न हों (कुछ लोग अस्पष्ट रूपमें उसे अनुभव करते हैं), परंतु जो लोग उसे अनुभव करनेमें भी सक्षम न हों, जिनके अंदर उससे मिलती-जुलती कोई वस्तु न हो अथवा, यदि उनमें कोई वस्तु हो तो पर जाग्रत् न हो, तो वे यहांके जीवनकी ओर ताकेंगे और तुमसे कहेंगे, "यह भौतिक जीवनके जैसा है — संभवतः तुम्हारे अंदर अपने निजी कुछ विचार हैं, परंतु ऐसे बहुत-से लोग हैं जिनकी अभी निजी भावनाएं हैं; संभवतः तुम एक विशेष ढंगसे काम करते हो, पर ऐसे ढेर-के-ढेर लोग भी हैं जो एक विशेष ढंगसे कार्य करते हैं। आखिरकार, यह वैसा ही जीवन है जैसा कि मैं यापन करता हूं।" .... और फिर, ऐसा बहुत संभव है कि एक विशेष क्षणमें अतिमानसिक 'शक्ति' प्रकट हो, वह यहां सचेतन हो उठे, वह 'जड़तत्त्व' पर कार्य करे, पर जो लोग इसके प्रकंपनमें सचेतन रूपसे भाग ले पायें वे उसे अनुभव करनेमें अक्षम हों। लोग कहते हैं, "जब अतिमानसिक शक्ति अभिव्यक्त होगी तो हम खूब भली-भांति उसे जान जायेंगे। वह दिखायी देगी" — यह कोई आवश्यक नहीं है। वे उन लोगोंसे जरा भी अधिक अनुभव नहीं करेंगे जो थोड़ा संवेदनशील हैं और जो इस स्थानके भीतरसे गुजर जाते हैं, यहांतक कि यहां रहते हैं और यह अनुभव नहीं करते कि यहांका वातावरण अन्य स्थानोंसे भिन्न है — भला तुम लोगोंमेंसे कौन व्यक्ति उसे इतने यथार्थ रूपमें अनुभव करता है कि उसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर सके? ... तुम अपने हृदयमें, अपने विचारके अंदर अनुभव कर सकते हो कि यह ठीक

वैसा ही नहीं है, पर यह काफी अस्पष्ट है, है न? परंतु इसे ठीक-ठीक अनुभव करना... सुनो, जैसा कि मैंने किया था जब मैं जापानसे आयी थी: मैं जहाजपर, समुद्रमें थी, किसी चीजकी आशा नहीं करती थी (अवश्य ही मैं अपने आंतरिक जीवनमें व्यस्त थी, पर मैं भौतिक रूपसे जहाजपर विद्यमान थी), जब कि एकाएक, अकस्मात्, पांडिचेरीसे लगभग सामुद्रिक दो मीलकी दूरीपर, वातावरणके, वायुके प्रकारमें, मैं यहांतक कह सकती हूं कि उसके भौतिक प्रकारमें इतना अधिक परिवर्तन हो गया कि मैं जान गयी कि हम श्रीअरविंदके ज्योति-मंडलमें प्रवेश कर रहे हैं। यह एकदम **भौतिक** अनुभव था और मैं विश्वास दिलाती हूं कि जिस किसी व्यक्तिकी चेतना पर्याप्त रूपमें जाग्रत् हो चुकी है वह इस चीजको अनुभव कर सकता है।

मुझे इससे विपरीत अनुभव भी प्राप्त हुआ था, जब कि मैं यहां बहुत वर्षोंतक रहनेके बाद पहली बार मोटरकारसे बाहर निकली थी। जब मैं "झील"के उस ओर कुछ ही दूर पहुंची कि मैंने अकस्मात् यह अनुभव किया कि वातावरण बदल रहा है; जहां कि पहले समृद्धि, शक्ति, ज्योति और स्फूर्ति अनुभूत हो रही थी, अब वह सब कम होती जा रही थी, घटती जा रही थी.... और फिर..... कुछ नहीं रहा। मैं मानसिक या प्राणिक चेतनामें नहीं थी, मैं एकदम भौतिक चेतनामें थी। हां, जो लोग अपनी भौतिक चेतनामें संवेदनशील होते हैं उन्हें बिलकुल ठोस रूपमें उसे अनुभव करना चाहिये। और मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि जिस क्षेत्रको हम लोग "आश्रम" कहते हैं उसमें शक्तिका जैसा घनीभूत रूप है वैसा ही शहरके दायरेमें नहीं है और देहाती क्षेत्रके दायरेमें तो और भी कम है।

अतएव, मैं तुमसे पूछती हूं: शक्तिकी इस प्रकारकी घनीभूत स्थिति के विषयमें (जो तुम्हें चेतनाका एक नितांत विशेष प्रकारका स्पंदन प्रदान करती है) कौन व्यक्ति यहां है जो वास्तवमें सचेतन है?.... तुममेंसे बहुतेरे इसे अस्पष्ट रूपमें अनुभव करते हैं, मैं जानती हूं, यहांतक कि बाहरसे आनेवाले लोग भी अस्पष्ट रूपमें इसे अनुभव करते हैं; वे एक प्रकारका स्पर्श प्राप्त करते हैं, वे उसकी चर्चा भी करते हैं, पर यथार्थ चेतना, वैज्ञानिक चेतना किसे प्राप्त है जो तुम्हें उसका ठीक-ठीक माप दे सके? मैं विशेष रूपसे किसी व्यक्तिकी ओर संकेत नहीं कर रही हूं, प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने अंदर ताक सकता है। और यह, यह जो घनीभूत रूप यहां है वह अतिमानसिक शक्तिका एक दूरस्थ प्रतिबिंब मात्र है। अतएव जब यह अतिमानसिक शक्ति निश्चित रूपमें यहां स्थापित हो जायगी तब लोगों-

को यह जाननेमें कितना समय लगेगा कि वह यहां है? और वह सब कुछ बदल देती है, समझते हो? और जब मैं यह कहती हूं कि मन निर्णय नहीं कर सकता तब मैं इसी प्रकारके तथ्योंको अपना आधार बनाती हूं — मन ज्ञानका यंत्र नहीं है, वह जान नहीं सकता। एक वैज्ञानिक किसी विशेष वातावरणके विभिन्न घटक तत्त्वोंका अनुपात तुम्हें बता सकता है; वह उसका विश्लेषण करता है। परंतु यहांके अनुपातका जहांतक प्रश्न है, कौन इसे बता सकता है? कौन कह सकता है: ऐसा एक स्पंदन यहां है, इस वस्तुका अनुपात इतना है, उस वस्तुका अनुपात उतना है, अति-मानसिकका अनुपात इतना है?... मैं तुम्हारे सामने यह प्रश्न रख रही हूं ताकि तुम लोग इसपर विचार कर सको।

१९ मार्च, १९५१

"मन एक गति है, परंतु इस गतिके बहुत-से प्रकार हैं, बहुत-से स्तर हैं जो एक-दूसरेको स्पर्श करते और यहांतक कि एक-दूसरेको प्रभावित करते हैं। इसके अलावा, जिस गतिको हम मन कहते हैं वह अन्य स्तरोंमें भी प्रविष्ट होती है।... कुछ मनोमय भूमिकाएं ऐसी हैं जो प्राण-जगत्से बहुत ऊपर स्थित हैं और उसके प्रभावसे अछूती रहती हैं; वहां किसी प्रकारकी विरोधी शक्तियां या सत्ताएं नहीं हैं। परंतु मनकी दूसरी-दूसरी भूमिकाएं भी हैं — और वे अनेक हैं — जिन्हें प्राणमय शक्तियां प्रभावित कर सकतीं या जिनमें प्रविष्ट हो सकती हैं...।"

— वार्तालाप (१९२९

आप किस मानसिक स्तरकी बात कह रही हैं?

भौतिक मनके स्तरकी। निश्चय ही उच्चतर मनके स्तरकी नहीं, क्योंकि वहां कोई भी विरोधी शक्तियां नहीं हैं। यहां प्रसंग उस मनका है जो स्थूल वस्तुओंके साथ व्यवहार करता है।

क्या मानसिक जगतोंमें सत्ताएं होती हैं?

हां, बहुत-सी। वे पूर्णतः स्वतंत्र होती हैं; उनका अपना निजी जीवन होता है, उनमें परस्पर निजी संबंध होते हैं, जैसा कि दूसरे जगतोंमें होता है। केवल भौतिक चेतनाके लिये, प्राणमय या मनोमय लोकोंमें काल और देश ठीक वैसे ही नहीं हैं जैसे कि भौतिक जगत्में हैं। उदाहरणार्थ, जो लोग भौतिक चेतनामें होते हैं उन्हें ऐसी धारणा होती है कि मनमें होनेवाले रद्दोबदल तात्कालिक होते हैं — उच्चतर चेतनाके मुकाबले वे तात्कालिक नहीं होते, पर भौतिक चेतनाकी तुलनामें वे तात्कालिक होते हैं, अत्यंत तेजीसे होनेवाले होते हैं।

मानसिक जगत्की सत्ताओंका भी एक अपना निजी व्यक्तित्व होता है, एक आकार भी होता है जो स्थायी हो सकता है यदि वे एक आकार बनाये रखना चाहें। उनका आकार उनके विचारका व्यक्त रूप होता है और उनके विचारके साथ-साथ परिवर्तित होनेके लिये पर्याप्त नमनीय होता है, फिर भी उनमें काफी मात्रामें स्थायित्व होता है जिससे उन्हें पहचाना जा सकता है। यदि तुम अपने शरीरसे बाहर चले जाओ और मानसिक जगत्में घुस जाओ तो तुम इन सत्ताओंसे मिल सकते, उनसे बातचीत कर सकते, यहांतक कि दूसरी बार मिलनेके लिये उनसे समय भी निश्चित कर सकते हो!

क्या वे किसी मनुष्यपर अपने प्रभावका प्रयोग कर सकती हैं, जैसे कि प्राणमय जगतोंकी सत्ताएं करती हैं?

बहुत-सी मानसिक रचनाएं पृथ्वीपर अपने-आपको संसिद्ध करनेका प्रयास करती हैं, पर वे साधारणतया मनुष्योंद्वारा निर्मित होती हैं; फिर वे मानसिक जगत्में कार्य करना जारी रखती हैं ताकि वे मनुष्योंके मनको प्रभावित कर सकें। परंतु स्वयं मानसिक लोककी सत्ताएं सामान्यतया स्रष्टा होती हैं, और चूंकि वे आकारकी स्रष्ट्री होती हैं, वे दूसरे आकारों-पर प्रभाव डालनेके लिये बहुत उत्सुक नहीं होतीं — वे अपने ही निर्मित आकारोंके द्वारा अपने-आपको अभिव्यक्त करनेसे संतुष्ट रहती हैं।

क्या "आध्यात्मिक" और "चैत्य" के बीच कोई भेद है? क्या ये दो अलग-अलग स्तर हैं?

इस विषयने मानवविचारके अंदर बहुत बड़ी उलझन उत्पन्न कर दी है, मैं समझती हूं, दार्शनिक, यौगिक तथा अन्य शास्त्र इस "आध्यात्मिक"

शब्दका प्रयोग एक बहुत ही अस्पष्ट और शिथिल ढंगसे करते हैं। जो कुछ भौतिक नहीं है वह आध्यात्मिक है! भौतिक जगत्की तुलनामें अन्य सभी जगत् आध्यात्मिक हैं! समस्त विचार, समस्त प्रयास जो पार्थिव जीवनकी ओर नहीं झुकता वह एक आध्यात्मिक प्रयास होता है! प्रत्येक प्रवृत्ति जो नितांत मानवीय और अहंकारपूर्ण नहीं होती वह आध्यात्मिक प्रवृत्ति होती है। यह एक ऐसा शब्द है जो प्रत्येक व्यंजनको स्वादिष्ट बनानेके लिये प्रयुक्त हुआ है।

> **मैं ठीक एक "दृष्टांत"के रूपमें इसे पढ़ रहा हूं: "सर्वोत्तम आध्यात्मिक कार्य है पढ़ना और लिखना। आध्यात्मिक जीवनका केंद्र 'राष्ट्रीय पुस्तकालय' है।"**

यह एक सस्ती आध्यात्मिकता है!

फिर श्रीमाताजीने "चैत्य" और "आध्यात्मिक" के बीचका भेद बतलाया (वार्तालाप १९२९) और फिर आगे कहा:

> **"...जबतक तुम्हें शब्दोंके आकारको अपनी समझका आधार बनाना पड़ता है तबतक यह संभव है कि यथार्थ अर्थके विषयमें तुम्हें बहुत अधिक उलझनमें पड़े रहना पड़े। परंतु तुम यदि अपने मनकी नीरवतामें जाकर उस जगत्में ऊपर उठ सको जहांसे भावनाएं आकार ग्रहण करनेके लिये नीचे उतरती हैं तो तुम्हें तुरत सच्ची समझ आ जायगी।... परंतु वहां, उस अनभिव्यक्त मनके उच्चतर क्षेत्रमें और उसकी विशुद्धतर ऊंचाइयोंपर तुम स्वतंत्र होते हो; जब तुम वहां घुसते हो तो तुम स्वयं अपनेसे बाहर चले जाते हो एवं एक वैश्व मनोमय लोकमें प्रविष्ट हो जाते हो जिसमें प्रत्येक व्यक्तिगत मनोमय जगत् मानों एक विशाल समुद्रमें डूबा-सा लगता है। वहां तुम पूरी तरह यह समझ सकते हो कि दूसरेके अंदर क्या हो रहा है और उसके मनको इस तरह पढ़ सकते हो मानों वह तुम्हारा अपना ही मन हो, क्योंकि वहां पृथक्ताका कोई भाव है ही नहीं जो एक मनको दूसरे मनसे अलग करता है। जब तुम उस क्षेत्रमें जाकर दूसरोंके साथ युक्त हो जाते हो केवल तभी तुम उन्हें**

समझ सकते हो; अन्यथा तुम उनके साथ समस्वर नहीं हो, तुम उन्हें स्पर्श नहीं करते ....।"

(वही)

केवल नीरवतामें ही कोई समझ सकता है। ऐसा प्रायः ही होता है कि दो व्यक्ति एक विशेष विषयपर बातचीत करते हैं और अचानक, किसी कारणवश, दोनों कुछ क्षण मौन हो जाते हैं; फिर, एकाएक, एक व्यक्ति एक शब्द बोलता है जो ठीक-ठीक उस चीजसे मिलता-जुलता होता है जिसे दूसरा सोच रहा होता है। ये ऐसे लोग होते हैं जो एक-दूसरेको नीरवतामें समझते हैं। उन्होंने एक ही धाराका अनुसरण किया है, वे एक ही परिणामपर पहुंचे हैं और उनमेंसे एक-दूसरेके विचारको पूर्ण बनाता है। ऐसा अक्सर उन लोगोंके साथ घटित होता है जो दीर्घ कालतक एक साथ रह चुके हैं और उन्होंने एक प्रकारकी मानसिक समानता विकसित कर ली है जो उन्हें शब्दोंके पीछे जाकर एक-दूसरेको सच्चे रूपमें समझनेकी योग्यता प्रदान करती है। मैं ऐसे लोगोंसे मिल चुकी हूं जो विभिन्न देशोंके रहनेवाले थे — और तुम जानते ही हो कि देशके अनुसार लोगोंकी विचार करनेकी विधि बहुत अलग होती है, भावनाओंकी परंपरामें संबंध जोड़नेका तरीका अलग होता है, यहांतक कि दूसरे देशके तरीकेसे विपरीत भी होता है—, परंतु बहुत दूर-दूर रहनेवाली जातियोंके लोगोंके साथ मुझे अनुभव प्राप्त हुए हैं जिन्होंने मानसिक रूपमें एक-दूसरेके साथ इतनी अच्छी तरह सामंजस्य बैठानेमें सफलता प्राप्त की थी कि बिना शब्दके इस प्रकार समझनेकी शक्ति उन्हें प्राप्त हो गयी थी।

यदि एक व्यक्ति तो निश्चल-नीरव हो और दूसरा न हो तो क्या वे एक-दूसरेको समझ सकते हैं?

ऐसा संभव है। जो व्यक्ति नीरव है वह शायद दूसरे व्यक्तिको समझ जायगा जो नीरव नहीं है! ....परंतु जब यह सामंजस्य पूर्ण होता है, चाहे यह स्थायी न भी हो, जब तुम किसी व्यक्तिके साथ होते हो और किसी विचारका इतनी काफी दूरतक अनुसरण करते हो कि बाहरी हलचलसे बाहर निकल आते हो, यदि दूसरे व्यक्तिने भी उसी विचारका अनुसरण किया हो, तो तुम बिना बोले या बोलनेका कोई प्रयास किये बिना सहसा अपने-आपको एकमत अनुभव कर सकते हो। सामान्यतया निश्चल-नीरवता एक ही साथ या लगभग एक ही साथ दोनोंको प्राप्त

होती है — ऐसा लगता है मानों तुम निश्चल-नीरवतामें फिसल गये। अवश्य ही, यह भी हो सकता है कि एक व्यक्ति तो अपने मस्तकमें शोर मचाना जारी रखता है, जब कि दूसरा बंद कर चुका है, पर जिसने बंद कर दिया है उसके लिये यह समझनेकी बहुत अधिक संभावना है कि दूसरेके अंदर क्या हो रहा है!

जब यह क्लास[1] समाप्त हो जाती है तो लोग हमसे पूछते हैं कि आपने क्या कहा। क्या हमें बताना चाहिये?

तुम कह सकते हो, "वैसे मैंने पूरी कोशिश की, पर मुझे पूरा विश्वास नहीं कि मैंने समझा है, और यदि मैं यह बताऊं कि उन्होंने क्या कहा तो यह प्रायः निश्चित है कि मैं उनके शब्दोंको विकृत कर दूंगा।" इस तरह तुम सुरक्षित और शांत रहोगे।

चैत्य जगत्के मूल उपादान-तत्त्वके विशेष गुण क्या होते हैं?

चैत्य जगत्का उपादान-तत्त्व ठीक वही है जो उस जगत्का निजी तत्त्व है और उसके अपने चैत्य गुण हैं: अमरत्वका बोध, भागवत प्रभावके प्रति पूर्ण ग्रहणशीलता, इस प्रभावके प्रति, जिससे कि वह पूरी तरह परिव्याप्त है, पूर्ण आत्मसमर्पण। ठीक-ठीक यही वह चीज है जो चैत्यको सत्ताके अन्यान्य भागोंसे पृथक् करती है। उदाहरणार्थ, जब हम मन और प्राणको चैत्य केंद्रके चारों ओर संगठित करनेकी बात कहते हैं तब हमारा मतलब यह नहीं होता कि वे चैत्य बन जाते हैं; वे रहते मन और प्राण ही हैं, पर वे चैत्यके चारों ओर सुगठित हो जाते हैं जैसे कि कोई सेना अपने नेताके चारों ओर व्यवस्थित की जाती है — वह सेना स्वयं नेता नहीं बन जाती, वह उसकी आज्ञा मानती है, मानती है न? बस, वही बात यहां भी है; प्राण और मन चैत्यके चारों ओर व्यवस्थित हो जाते हैं, वे चैत्यसे आज्ञाएं प्राप्त करते हैं और जितने उत्तम रूपमें संभव होता है उतने उत्तम रूपमें उनका पालन करते हैं। परंतु उनका मूल उपादान-तत्त्व परिणामतः चैत्य उपादान नहीं बन जाता। वे चैत्यके प्रभावके अधीन

---

[1] बच्चे जब इन वार्तालापोंका हवाला देते तो वे इसे "श्रीमाताजीकी क्लास" कहा करते थे।

हो सकते हैं और कम या अधिक उसके स्वभावको ग्रहण कर सकते हैं पर उसके उपादान-तत्त्वको नहीं ग्रहण कर सकते।

आपने कहा था कि हमारा शरीर उन शक्तियोंके प्रति ग्रहणशील बन सकता है जो किन्हीं विशेष स्थानोंमें या विशेष देशोंमें संकेंद्रित होती हैं। परंतु क्या हम इस शारीरिक संवेदन-शक्तिको चेतनाकी किसी प्रारंभिक तैयारीके बिना प्राप्त कर सकते हैं? अथवा यह यथार्थमें कोई सहज-स्वाभाविक संवेदन है जैसे कि गर्मी, सर्दी या रोमांच आदि?[1]

यदि यह किसी विचार या संकल्पका परिणाम होता तो इसे अनुभव न कहा जाता और इसका कोई मूल्य न होता। समझते हो न, मैं पूरे निश्चयके साथ कह सकती हूं कि जो कोई अनुभव किसी विचार या पूर्व-निर्णीत संकल्पका परिणाम होता है उसका आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे कोई मूल्य नहीं होता।

परंतु आप क्या एक खास स्थितिमें, अर्थात् इस संवेदनके "अनुकूल" स्थितिमें नहीं थीं?

ऐसे लोग होते हैं जो निरंतर एक उच्चतर चेतनामें रहते हैं, जब कि दूसरोंको वहां पहुंचनेके लिये प्रयास करना पड़ता है। परंतु यहां एक बिलकुल भिन्न बात है; जिस अनुभवकी बात मैं कह रही थी उसमें उसका पूरा मूल्य देनेवाली बात यह थी कि मैं उसकी आशा बिलकुल नहीं करती थी, बिलकुल ही नहीं। मैं बहुत अच्छी तरह जानती थी, मैं बहुत दीर्घ कालतक और लगातार श्रीअरविंदके "आध्यात्मिक" वातावरणके संपर्कमें, यदि मैं ऐसा कह सकूं तो रह चुकी थी, परंतु मैंने कभी इस संभावनाकी बात नहीं सोची थी कि वह भौतिक वातावरणमें परिवर्तित हो सकता है और तनिक भी उसकी आशा नहीं करती थी, और यही चीज थी जिसने उस अनुभवको पूरा मूल्य दिया, क्योंकि वह अनुभव उस ढंगसे आया, बिलकुल अचानक, ठीक वैसे जैसे कोई व्यक्ति दूसरे तापमानवाले या दूसरी ऊंचाई-

---

[1] इससे पूर्वकी बातचीतमें श्रीमाताजीने कहा है कि जापानसे लौटते समय उन्होंने किस प्रकार एकाएक पांडिचेरीसे दो समुद्री मीलकी दूरीपर भौतिक रूपमें श्रीअरविंदके वातावरणका अनुभव प्राप्त किया था।

वाले स्थानमें प्रवेश करता है....। मैं नहीं जानती कि आया तुमने ध्यान दिया है कि नहीं कि जिस हवामें तुम सांस लेते हो वह सर्वदा वही नहीं होती, एक देशकी हवामें और दूसरे देशकी हवामें, एक स्थानकी हवा-में और दूसरे स्थानकी हवामें भिन्न प्रकारके स्पंदन होते हैं। यदि तुम सचमुच सूक्ष्म-भौतिक स्तरका इस प्रकारका बोध प्राप्त करनेके अभ्यस्त हो तो तुम तुरत कह सकते हो, "आह! यह वायु फ्रांसकी वायु जैसी है" अथवा "यह जापानकी हवा है।" यह स्वाद या गंधकी तरह ही एक अवर्णनीय वस्तु है। परंतु इस उदाहरणमें बात ऐसी नहीं है, यह एक दूसरी इंद्रियका बोध है। यह एक भौतिक इंद्रिय है, यह कोई प्राणमय या मनोमय इंद्रिय नहीं है। यह भौतिक जगत्की इंद्रिय है, पर जो पांच इन्द्रियां सामान्यतया हमें प्राप्त हैं उनसे भिन्न अन्य इन्द्रियां भी हैं — बहुत-सी दूसरी इंद्रियां भी हैं।

सच पूछा जाय तो भौतिक सत्ताके — ध्यान रखो कि मैं भौतिक सत्ता कह रही हूं — पूरी तरह विकसित होनेके लिये, उसमें बारह इंद्रियां होनी चाहिये। इन्हीं इंद्रियोंमेंसे एक ऐसी है जो तुम्हें उस प्रकारका बोध प्रदान करती है ज़िसकी बात मैं कह रही थी। तुम यह नहीं कह सकते कि यह स्वाद, गंध, श्रवण आदि है, पर यह एक ऐसी चीज है जो तुम्हें गुण-भेदकी बहुत यथार्थ धारणा देती है। और यह बहुत ठीक होती है, उतनी ही सुस्पष्ट होती है जितना कि काले और सादेको देखना, यह वास्तवमें एक इंद्रिय-बोध है।

साधारणतया जब तुम गुह्य विद्याका अध्ययन करना चाहते हो तो सबसे पहली चीज जो गुरु करता है वह यह है कि वह उसके विषयमें तुमसे कभी बात नहीं करता, कभी तुम्हारे सामने उसकी व्याख्या नहीं करता, और इसका यथार्थ कारण है मनका यह हास्यास्पद व्यापार; मन उसके विषयमें "सोचना" आरंभ कर देता है और तुम्हें ऐसे "अनुभव" देता है जिनका कोई मूल्य नहीं होता; वे मानसिक रचनाएं होते हैं जो तुम्हें एक खिलौना बना देते हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। उनमें कोई सत्यता नहीं होती।

जब तुम अनुभवोंके राज्यमें प्रवेश करना चाहते हो, तुम्हें अपने मनपर एकदम अविश्वास करना चाहिये। मनके लिये इतना काफी है कि उसे बिलकुल जरा-सा जगा दिया जाय और वह इतना कह सके, "आह, क्या हो रहा है?"....तब यह हो सकता है कि चीजें घटित तो हों पर अब वे 'यथार्थ वस्तु' न हों, वे महज एक प्रकारकी मिथ्या रचनाएं हों।

पहली शर्त: यह जानो कि नीरव कैसे रहा जाता है। और केवल

अपनी जीभको ही चुप न रखो, बल्कि अपने मनको शांत कर दो, अपने मस्तिष्कको नीरव बनाये रखो। यदि तुम चाहते हो कि तुम्हें यथार्थ और सच्चा अनुभव प्राप्त हो जिसके आधारपर तुम निर्माण कर सको तो तुम्हें जानना होगा कि नीरव कैसे हुआ जाता है, नहीं तो तुम्हारे पास कुछ नहीं होगा, होगा बस वही जिसको तुम स्वयं बुनोगे, जो शून्यके समान है। बस, मनुष्य इतना ही कह सकता है कि "हे भगवान्, कितना बड़ा निर्माता है मेरा मन!"

२२ मार्च, १९५१

आप कहती हैं कि "काल सापेक्षिक है।" इसका क्या अर्थ है?

कालकी लंबाईका बोध तुम्हारी चेतनापर निर्भर करता है। यदि तुम साधारण मानवीय चेतनामें रहते हो तो काल उतने वर्षोंसे नापा जाता है जितने वर्ष तुम जीनेकी आशा रखते हो। अतएव, जिस वस्तुको, मान लो, संसिद्ध करनेमें पचास वर्षोंकी आवश्यकता होती है, वह भयानक रूपसे दूर प्रतीत होती है, क्योंकि तुम सोचते हो, "पचास वर्ष ... मैं भला पचास वर्षोंमें होऊंगा कहां?" इस बातका स्पष्ट रूपमें तुम्हें कोई ज्ञान न होनेपर भी, यह बात तुम्हारी चेतनामें विद्यमान रहती है। परंतु तुम यदि मात्र मानसिक चेतनाके दृष्टिकोणसे देखो, ऐसी चीजके दृष्टिकोणसे देखो जो, उदाहरणार्थ, लिखित कृतिके समान बनी रहती है, सचमुच उत्तम प्रकारकी कृति सैकड़ों वर्ष और यहांतक कि हजारों वर्ष भी बनी रह सकती है; अतएव, यदि तुमसे कहा जाय, "तुम्हारी भावनाके प्रचारित होनेमें सौ वर्ष लग जायेंगे," तो यह तुम्हें उतना लंबा समय नहीं मालूम होगा। और, यदि तुम अपनी चेतनाको चैत्य चेतनाके साथ जोड़ देनेमें सफल होओ तो एक जीवन पहले गुजरे हुए एक ही जैसे अनेक क्षणोंमेंसे एक क्षण प्रतीत होगा; और इसलिये कम या अधिक एक जीवनका कोई अधिक महत्त्व नहीं होगा। और यदि, और भी आगे जाकर, तुम शाश्वतताकी चेतनाके साथ युक्त हो जाओ तो फिर कालकी अब कोई सत्ता ही नहीं रह जायगी।

सब कुछ सापेक्षिक है।

जब कोई सत्ताके विभिन्न भागोंके विषयमें सचेतन होता है तो वह कौन-सा भाग है जो सचेतन होता है?

वह संभवतः सर्वदा एक ही भाग नहीं होता। सामान्यतया सचेत होनेका यह कार्य चैत्यके द्वारा होना चाहिये, पर विरल प्रसंगोंमें यह चैत्य पुरुष होता है। अधिकांशतः यह मनका एक अंश होता है जो कम या अधिक प्रबुद्ध होता है, जिसे जरा पीछे हटकर खड़े होने और बाकी भागोंको देखनेकी क्षमता प्राप्त है। परंतु इसे तो तुम अच्छी तरह जानते ही हो कि यदि तुम अपने मनमें सचेतन होओ तो मनका एक भाग एक बात कहता है और दूसरा उसका उत्तर देता है, और दोनों भागोंके बीच अंतहीन तर्क-वितर्क चलता रहता है। बहुत-से लोगोंके मनमें ये वार्तालाप चलते रहते हैं।

सामान्य रूपमें यह कहना कठिन है कि कौन-सा भाग सचेतन होता है; परंतु स्वभावतः, यदि कोई चीज निरीक्षण करती है तो वह सदा ही उस भागमें विद्यमान "साक्षी" तत्त्व होती है — सत्ताके प्रत्येक भागमें कोई चीज होती है जो "साक्षी" होती है, जो देखती रहती है। यहांतक कि एक भौतिक साक्षी भी है जो रास्तेमें बहुत अधिक रोड़े अटका सकता है; जैसे, यदि वह तुम्हें खेलते हुए देखता है तो वह तुम्हें अत्यधिक शक्ति-हीन बना सकता है। एक प्राणमय साक्षी भी होता है जो तुमपर दृष्टि रखता है, तुम्हारी कामनाओंको देखता है और जो कुछ घटित होता है उसमें बहुत रस लेता है; वह ब्रेकके रूपमें भी काम करता है। फिर एक मनोमय साक्षी है जो तुम्हारे विचारोंका निर्णय करता है, जो कहता है, "यह विचार इस दूसरे विचारका खंडन करता है," और जो सब कुछकी व्यवस्था करता है। उसके बाद है महान् चैत्य 'साक्षी' जो अंतरस्थ भगवत्तत्त्व है।

कभी-कभी इन विभिन्न साक्षियोंके बीच कोई संबंध नहीं होता—संबंध होना तो चाहिये, पर सर्वदा होता नहीं। परंतु सत्ताके अंदर यदि पूर्ण बननेका संकल्प हो, तो यह संबंध बहुत शीघ्र स्थापित हो जाता है; एक-दूसरेसे संबंध जोड़ सकता है और अंतमें, यदि सत्तामें पर्याप्त सच्चाई हो, पर्याप्त एकाग्र होनेकी शक्ति हो तो तुम परम आंतर 'साक्षी'के पास पहुंच सकते हो जो सभी बातोंपर निर्णय दे सकता है। परंतु साधारण तौर-पर यह कहा जा सकता है कि वह सर्वदा मनका एक भाग होता है जो कम या अधिक प्रबुद्ध होता है और आंतर सत्ताके साथ, जो निरीक्षण करती और विचार करती है, थोड़ा घनिष्ठ संपर्क बनाये रखता है।

चेतना क्या वस्तु है ?

(थोड़ी देर चुप रहनेके बाद) मैं कई व्याख्याओंमेंसे चुनाव करनेकी कोशिश कर रही हूं ! एक यह है, जो एक मजाक है, कि चेतना अचेतनाका उलटा है ! दूसरी.... यह विश्वका सृजनकारी तत्त्व है—चेतनाके बिना कोई विश्व भी नहीं है; क्योंकि चेतनाका तात्पर्य है वास्तवीकरण। मैं यह भी कह सकती हूं कि जो "है" वही चेतना है, क्योंकि चेतनाके बिना कोई वस्तु नहीं है — यही सर्वोत्तम कारण है। चेतनाके बिना कोई जीवन नहीं, कोई ज्योति नहीं, कोई वास्तवीकरण नहीं, कोई सृष्टि नहीं, कोई विश्व नहीं।

संभवतः अनभिव्यक्त 'परात्पर'के अंदर एक चेतना है (परंतु जब कोई इन प्रश्नोंके संबंधमें बोलता है तो वह असंभव बातें कहना शुरू कर देता है); कहा जाता है कि प्रारंभमें 'परात्पर' अपने विषयमें सज्ञान हुए (जिसका अर्थ होगा कि वह उससे पहले अपने विषयमें सज्ञान नहीं थे ! वह एक ऐसी स्थितिमें थे जिसे हम "सचेतन" नहीं कह सकते), उनकी प्रथम क्रिया थी अपने विषयमें सचेतन होना और एक बार जब वह अपने विषयमें सचेतन हो गये तो उन्होंने इस चेतनाको प्रक्षिप्त कर दिया और उसने सृष्टिकी रचना की। कम-से-कम यही बात है जो प्राचीन परंपरा बतलाती है। मान लो कि कभी भी कोई प्रारंभ नहीं था, क्योंकि इसे इस प्रकार रखना एक मानवीय ढंग है: "प्रारंभ" तो स्वयं 'परात्पर' ही हैं — अनभिव्यक्त 'परात्पर' जो अपने विषयमें सचेतन होते हैं। संभवतः उन्होंने देखा कि यह चेतना पूर्णतः संतोषजनक नहीं है (!) और उन्होंने उसे प्रक्षिप्त किया, पर अपनेसे बाहर नहीं क्योंकि कोई भी चीज़ उनसे बाहर नहीं है, बल्कि उन्होंने उसे एक सक्रिय चेतनामें बदल दिया ताकि वह स्वयं उन्हींका एक वास्तव रूप बन जाय। फलस्वरूप, पूर्ण निश्चयताके साथ यह कहा जा सकता है कि 'चेतना' ही है समस्त सृष्टि-का मूल स्रोत; वास्तवमें हम यहींपर शब्दोंके विषयमें उतने निश्चित होते हैं जितना कभी भी हो सकते हैं। चेतना ही सारी सृष्टिका मूल है— चेतनाके बिना कोई सृष्टि नहीं हो सकती। और जिसे हम लोग "चेतना" कहते हैं वह परात्पर 'चेतनाके' साथ प्राप्त ठीक एक सुदूर संपर्क होता है जिसमें सुनिश्चितता और सुस्पष्टता नहीं होती। अथवा, यदि तुम कहना चाहो, वह मूल 'चैतन्य'का एक प्रतिबिंब होता है, और वह भी किसी बहुत दुरुस्त या शुद्ध दर्पणमें पड़ा हुआ नहीं। जिसे हम अपनी चेतना कहते हैं वह यह मूल 'चैतन्य' ही है जो कुछ-कुछ धुंधले दर्पणमें प्रतिबिंबित होता

है (कभी-कभी तो दर्पण बहुत ही धुंधला होता है और कभी-कभी बहुत विकृत), यह प्रतिबिंब व्यक्तिगत दर्पणमें पड़ा होता है। परंतु इस प्रतिबिंबको पकड़कर, यदि हम धीरे-धीरे उस वस्तुके मूलतक चले जायें जो प्रतिबिंबित हुई है तो हम 'चैतन्य'—'सत्य-चैतन्य' के साथ संपर्क प्राप्त कर सकते हैं। और जब हम एक बार 'सत्य-चैतन्य'के संपर्कमें आ जाते हैं, हम अवगत हो जाते हैं कि यह सर्वत्र एक ही चेतना है, वास्तवमें केवल विकृति ही इसे विभक्त करती है; यदि विकृति न हो तो प्रत्येक वस्तु मात्र एक और उसी 'चैतन्य'के द्वारा धारित होती है। अर्थात् केवल विकृति ही, विकृत करनेवाले आइनेमें पड़ा हुआ प्रतिबिंब ही 'चैतन्य'के अंदर विभेद और विभाजन उत्पन्न करता है, अन्यथा वह केवल एक ही 'चैतन्य' है। परंतु एकमात्र अनुभवके द्वारा ही मनुष्य इन बातोंको समझ सकता है।

बारह इंद्रियां[1] कौन-कौन-सी हैं?

हमें पांच इंद्रियां दी गयी हैं, दी गयी हैं न? फिर एक दूसरी है जिसका, ठीक-ठीक, चेतनाके साथ संबंध है। मैं नहीं जानती कि यह बात तुम्हें कभी बतायी गयी है या नहीं, परंतु, उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति अंधा होता है, जो देख नहीं सकता, वह एक प्रकारकी संवेदन-शक्तिके द्वारा कुछ दूरीपर विद्यमान किसी वस्तुके विषयमें अवगत हो सकता है — उस संवेदन-शक्तिके द्वारा जो स्पर्श नहीं है क्योंकि वह उसे छूता नहीं, वह दर्शन-शक्ति नहीं है क्योंकि वह देखता नहीं, बल्कि जो एक प्रकारका संपर्क है — एक ऐसी वस्तु है जो बिना सुने, देखे या स्पर्श किये संपर्क बनानेकी शक्ति उसे प्रदान करती है। यह एक अत्यंत विकसित इंद्रिय है और अभ्यासतः हम जिन इंद्रियोंका व्यवहार करते हैं उनसे भिन्न है। फिर एक दूसरी इंद्रिय है, एक प्रकारका सामीप्यका बोध है: जब कोई किसी वस्तुके निकट आता है तो वह उसे अनुभव करता है मानों उसका उसके साथ संपर्क हो गया हो। दूसरी इंद्रिय, जो भौतिक ही है, तुम्हें बहुत दूरीपर होनेवाली घटनाओंके सपर्कमें ला देती है; यह एक भौतिक इंद्रिय ही है क्योंकि यह भौतिक जगत्से संबंध रखती है, यह विशुद्धतः मनोमय नहीं है: उस समय एक प्रकारका संवेदन होता है। कुछ लोगोंको ऐसी बातोंके

---

[1] इससे पहलेके वार्तालापमें श्रीमाताजीने "बारह इंद्रियों" की चर्चा की थी।

संपर्कका एक प्रकारका संवेदन प्राप्त होता है जो बहुत बड़ी दूरीपर घटित हो रही होती हैं। तुम्हें यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि भौतिक चेतनाके भी कई स्तर हैं; एक तो भौतिक प्राण-स्तर है और एक भौतिक मन-स्तर है जो एकमात्र शरीरसे संबंधित नहीं हैं। भौतिक स्तरपर होनेवाली किसी बातकी पूर्वदृष्टि भी एक भौतिक इंद्रिय है....। इस प्रकार हमारे अंदर कोई चीज है जो थोड़ी दूरकी चीज देखती है, कोई चीज है जो लंबी दूरीकी वस्तु देखती है और कोई चीज है जो आगेकी चीज देखती है; ये सब मिलकर तीन इंद्रियां हो गयीं। ये एक प्रकारसे उन इन्द्रियोंके उन्नत रूप हैं जो हमारे पास हैं। उदाहरणार्थ, बहुत दूरकी बातको सुन लेना—कुछ लोग ऐसे होते हैं जो बहुत दूरके शोर-शराबेको सुन सकते हैं, जो बहुत दूरकी गंधको सूंघ सकते हैं। यह सब एक प्रकारसे इन इंद्रियोंको पूर्ण बनाना है।

पानीके विषयमें भविष्यवाणी करनेके लिये किस इंद्रियका प्रयोग किया जाता है?

यह बोध प्रत्येक व्यक्तिमें अलग-अलग प्रकारका होता है। कुछ लोगोंमें, ऐसा होता है मानों उन्होंने पानी देख लिया हो; दूसरोंमें, मानों उन्होंने पानीकी गंध पा ली हो, और फिर दूसरोंमें, यह मानसिक क्षेत्रसे आनेवाला एक प्रकारका अंतर्बोध होता है, परंतु उस हालतमें हम इसे भौतिक बोध या दर्शन नहीं कह सकते, यह तो एक प्रकारका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। यहां एक आदमी था जो यह कहा करता था कि वह पानी सूंघ लेता है; उसके पास एक यंत्र था, पर वह केवल एक बहाना था....। वह एक छड़ीकी जैसी चीज थी जो झुक सकती थी; अब तुम्हारे लिये जितना संभव हो उतना निष्क्रिय बननेकी कोशिश करो; फिर तुम जैसे ही यह अनुभव करोगे कि कोई चीज यहां है वैसे ही तुम सर्वदा एक हल्की-सी हरकत करोगे। मैंने बहुत बार इस प्रयोगको आजमाया है; तुम छड़ी किसी व्यक्तिको दे देते हो, तुम उससे चलनेको कहते हो; तुम नीरव हो, वह मनुष्य भी नीरव है, बिलकुल एकाग्र है; फिर, अचानक, तुम बड़े जोरसे चिंतन करते हो: "यहांपर पानी है" और हप! छड़ीमें थोड़ी-सी हरकत हो जाती है—यह बिलकुल स्पष्ट है कि यह तुम्हारा सुझाव है। मैंने ऐसा सोचा था, मुझे जरा भी ख्याल नहीं था कि वहां पानी है, महज एक परीक्षण करनेके लिये मैंने ऐसा किया था, और जल-गणकके हाथकी छड़ी नीचे आ गयी; उसने अपनी अवचेतनामें सुझावको ग्रहण कर लिया था।

यदि कोई पूरी तरह शांत-स्थिर हो तो क्या स्नायुएं पानीके प्रकंपनोंको ग्रहण कर सकती हैं?

परंतु वहां पानी नहीं था! सच पूछो तो मैंने ऐसा **सोचा** था कि वहां पानी है (हो सकता है कि वहां पानी हो, मैं नहीं जानती, मैंने उनसे मिट्टी खोदने और देखनेको नहीं कहा)। परंतु यह प्रयोग यह सिद्ध करता है कि वास्तवमें महज मेरा विचार ही वह चीज था जिसने छड़ी पकड़नेवाली अंगुलियोंपर कार्य किया और छड़ी नीचे आ गयी...। तुम मुझसे यह भी कह सकते हो कि मैंने पानीकी बात इसीलिये सोची थी कि वहां पानी था!

ऐसे पशु होते हैं जिनकी इंद्रियां बहुत विकसित होती हैं, ठीक है न?

ओह! हां, ऐसे पशु होते हैं जो हम लोगोंसे बहुत अधिक विकसित होते हैं।

मैंने एक ऐसे हाथीको देखा था जो बाघका शिकार करते समय हम लोगोंको सीधे पानीके पास ले जाता था।

पशुओंकी इंद्रियां मनुष्योंकी इंद्रियोंकी अपेक्षा बहुत अधिक पूर्ण होती हैं। उदाहरणार्थ, मैं चुनौती देती हूं कि तुम किसी आदमीको उसी तरह खोज निकालो जैसे कि एक कुत्ता ढूंढ़ लेता है!

इसका मतलब है कि क्रमविकासके मोड़पर अथवा यों कहें कि उसकी चक्राकार गतिके अंदर पशु (और इस प्रकारके अधिक पशु वे हैं जिन्हें हम "उच्चतर" पशु कहते हैं, क्योंकि वे अधिक घनिष्ठ रूपमें हमसे मिलते-जुलते हैं) अपनी जातिकी आत्माके द्वारा शासित होते हैं जो एक बहुत ही चेतन चेतना है। मधुमक्खियां, चींटियां जातिकी इस आत्माका अनुसरण करती हैं जो एक बिलकुल विशेष प्रकारकी होती है। और जिसे पशुओंकी "सहज-प्रवृत्ति" कहते हैं वह महज जातिकी आत्माकी आज्ञानुवर्तिता है जो यह सर्वदा जानती है कि क्या चीज करनी चाहिये और क्या नहीं करनी चाहिये। इसके बहुत सारे उदाहरण हैं, समझे। तुम एक गायको चरागाहमें छोड़ दो; वह चारों ओर घूमती है, सूंघती है, और एकाएक अपनी जीभ बाहर निकालती है और घासका एक पत्ता झपट

लेती है। उसके बाद वह फिर इधर-उधर घूमती है, सूंघती है और घास-की दूसरी कलंगी ले लेती है, और इसी भांति वह चरती रहती है। क्या किसीने इन अवस्थाओंमें कभी किसी गायको विषैली घास खाते हुए देखा है? परंतु इस गरीब जानवरको किसी बाड़ेमें बन्द कर दो, थोड़ी-सी घास इकट्ठी करके उसके सामने रख दो, और वह गरीब जानवर, जिसने अपनी सहज-प्रवृत्ति खो दी है, क्योंकि अब वह मनुष्यका (क्षमा करना) अनुसरण करता है, बाकी घासोंके साथ-साथ विषैली घासको भी खा लेता है। ऐसी तीन घटनाएं हम यहां देख चुके हैं, तीन गायें, जो विषैली घास खानेके कारण मर गयीं। और इन अभागे जानवरोंमें, अन्य जान-वरोंकी तरह, मानवकी श्रेष्ठताके प्रति एक प्रकारका आदर-भाव होता है (जिसे मैं असमर्थनीय कह सकती हूं)—यदि वह (मनुष्य) गायके सामने विषैली घास रख देता और उसे खानेको उससे कहता है तो वह उसे खा लेती है! परंतु तुम उसे स्वतंत्र छोड़ दो, अर्थात्, जातिकी आत्मा और उसके बीच कोई चीज हस्तक्षेप न करे, तो वह ऐसा कभी नहीं करेगी। जो पशु मनुष्यके समीप रहते हैं वे सब अपनी सहज-प्रेरणा खो देते हैं, क्योंकि उनमें इस जीवके प्रति एक प्रकारका भक्तिपूर्ण आदर-भाव है जो उन्हें बिना किसी कठिनाईके आश्रय और भोजन दे सकता है — और थोड़ा-सा भय भी होता है, क्योंकि वे जानते हैं कि मनुष्य जो कुछ चाहता है उसे वे यदि नहीं करेंगे तो वे पीटे जायेंगे।

यह बहुत विचित्र बात है, वे अपनी क्षमता खो देते हैं। कुत्तोंको देखो, जैसे, जो गड़रियेका कुत्ता, भेड़ोंके झुंडके साथ मनुष्योंसे बहुत दूर रहता है और जिसका स्वभाव बहुत स्वतंत्र होता है (वह कभी-कभी घर आता है और अपने मालिकको अच्छी तरह पहचानता है, पर बार-बार उससे मिलता नहीं), उसे यदि सांप काट देता है तो वह एक कोनेमें बैठ जाता है, शरीर-के उस स्थानको चाटता है और तबतक आवश्यक सभी बातें करता रहता है जबतक कि वह निरोग नहीं हो जाता। परंतु वही कुत्ता जब तुम्हारे साथ रहता है और उसे सांप काट देता है तो वह चुपचाप मनुष्यकी तरह मर जाता है।

मेरे पास एक बहुत सुन्दर छोटी-सी बिल्ली थी। वह पूर्ण शिष्ट और अद्भुत बिल्ली थी। वह घरमें ही पैदा हुई थी और अन्य बिल्लियोंकी जैसी ही उसकी आदत थी, अर्थात्, यदि कोई चीज चलती नजर आती तो उसके साथ वह खेलने लगती। एक दिन घरमें एक बड़ा-सा बिच्छू निकल आया; जैसा कि उसका अभ्यास था, उस बिल्लीने बिच्छूके साथ खेलना आरंभ कर दिया। और बस बिच्छूने उसे डंक मार दिया।

परंतु वह एक असामान्य बिल्ली थी; वह मेरे पास आयी, वह लगभग मरी जा रही थी, परंतु उसने मुझे अपना पंजा दिखाया जहां बिच्छूने डंक मारा था,—वह स्थान फूल गया था और बड़ी भयंकर स्थितिमें था। मैंने अपनी नन्हीं बिल्लीको उठा लिया — वह वास्तवमें बड़ी प्यारी थी— और उसे एक मेजपर रखकर श्रीअरविंदको बुलाया। मैंने उनसे कहा, "कीकीको एक बिच्छूने डंक मार दिया है, इसका दर्द दूर होना चाहिये।" बिल्लीने अपनी गर्दन बढ़ा दी और श्रीअरविंदकी ओर देखा, उसकी आंखें अबतक थोड़ी पथरा गयी थीं। श्रीअरविंद उसके सामने बैठ गये और उन्होंने भी उसकी ओर देखा। तब हमने देखा कि वह नन्हीं बिल्ली धीरे-धीरे अच्छी होने लगी, चंगी होने लगी, और एक घंटे बाद मेजपरसे कूद गयी और पूरी तरह स्वस्थ होकर चली गयी....। उन दिनों जिस कमरेमें श्रीअरविंद सोया करते थे (जहां अब 'अ' रहते हैं), मैं ध्यानका एक कार्यक्रम चलाया करती थी और नित्य कुछ चुने हुए लोग ही आते थे; प्रत्येक चीज व्यवस्थित थी। परंतु वहां हाथोंवाली एक कुर्सी थी जिसमें यही बिल्ली रोज पहले जाकर बैठ जाती थी — वह प्रतीक्षा नहीं करती थी कि कोई आवे और उस कुर्सीपर बैठे, स्वयं सबसे पहले आकर बैठ जाती थी! और नियमित रूपसे वह समाधिमें डूब जाती थी! वह सोती नहीं थी, सोते समय बिल्लियां जिस ढंगसे बैठती हैं उस ढंगसे वह नहीं बैठती थी; वह समाधिमें चली जाती थी, वह कभी-कभी चौंक पड़ती थी, उसे अवश्य ही सूक्ष्म-दर्शन हुआ करते थे। और वह धीमी आवाज निकालती थी। वह बड़ी गहरी समाधिमें चली जाती थी। वह इस प्रकार घंटों बनी रहती थी और जब वह उस स्थितिसे बाहर आती थी तो खाना अस्वीकार कर देती थी। उसे जगाकर खाना दिया जाता था पर वह इन्कार कर देती थी; वह फिरसे अपनी कुर्सीपर जा बैठती थी और फिर समाधिमें डूब जाती थी! यह बात उस छोटी-सी बिल्लीके लिये बहुत खतरनाक बनती जा रही थी....। परंतु वह कोई सामान्य बिल्ली नहीं थी।

अब अपनी कहानी समाप्त करते हुए कह दूं कि यदि तुम किसी पशुको उसकी स्वाभाविक स्थितिमें, मनुष्योंसे दूर, छोड़ दो तो वह अपने वर्गकी आत्माका अनुसरण करता है, उसे बहुत सुनिश्चित सहज-प्रेरणा प्राप्त होती है और वह कभी कोई मूर्खता नहीं करता। परंतु यदि तुम उसे लेकर अपने पास रखो तो वह अपनी सहज-प्रेरणा खो देता है, और तब तुम्हें ही उसकी देख-रेख करनी चाहिये, क्योंकि अब उसे मालूम नहीं होता कि क्या करना चाहिये, क्या नहीं। एक परीक्षण करनेकी दृष्टिसे

मुझे बिल्लियोंमें दिलचस्पी थी, मैं एक प्रकारके विलोम जन्मान्तरका, यदि उसे यह नाम दिया जा सके, परीक्षण करना चाहती थी, अर्थात् यह देखना चाहती थी कि क्या पशु-रूपमें उनका यह अंतिम जन्म हो सकता है या नहीं, उन्हें अपने अगले जन्ममें मनुष्य-शरीरमें प्रवेश करनेके लिये तैयार किया जा सकता है या नहीं। वह परीक्षण पूर्ण रूपसे सफल रहा, मुझे तीन बिलकुल सुस्पष्ट उदाहरण प्राप्त हुए; उन्होंने जब शरीर छोड़ा तो उनका चैत्य पुरुष मानव शरीरमें प्रवेश करनेके लिये पर्याप्त सचेतन हो चुका था। परंतु साधारण तौरपर मनुष्य ऐसा नहीं करते; सामान्यतया वे पशुओंकी चेतनाको अथवा यों कहें कि उनकी सहज-प्रेरणाको बिगाड़ देते हैं।

२४ मार्च, १९५१

आप कहती हैं, "प्रेम सर्वत्र विद्यमान है। इसकी क्रिया पौधोंमें, संभवतः एकदम पत्थरोंतकमें भी होती है।"

—वार्तालाप (१९२९)

यदि पत्थरमें भी प्रेम है तो उसे हम कैसे देख सकते हैं?

संभवतः पत्थरका निर्माण करनेवाले विभिन्न तत्त्व प्रेमकी चिनगारीके द्वारा ही एक सूत्रमें ग्रथित होते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि जब भागवत 'प्रेम' 'जड़तत्त्व'के अंदर उतरा, यह 'जड़तत्त्व' बिल्कुल अचेतन था, इसका एकदम कोई आकार नहीं था; ऐसा भी कहा जा सकता है कि जब 'प्रेम' 'जड़तत्त्व'में चेतना ले आनेका प्रयत्न करता है तो उसका परिणाम होता है सामान्य आकारोंका बनना। यदि तुममेंसे कोई व्यक्ति (मुझे संदेह है, पर फिर भी) 'निश्चेतना'में, जिसे विशुद्ध 'निश्चेतना' कहते हैं, उतर जाय तो वह अनुभव करेगा कि वह क्या है। तब उस व्यक्तिको उसके मुकाबले पत्थर अद्भुत रूपमें सचेतन प्रतीत होगा। तुम पत्थरके विषयमें घृणाके साथ बातें करते हो क्योंकि तुम्हारे अंदर उसकी अपेक्षा ठीक एक बूंद अधिक चेतना होती है, परंतु पत्थर और नितांत 'निश्चेतना'के बीच जो चेतनाका अंतर है वह पत्थर और तुम्हारे बीचकी चेतनाके अंतरसे शायद

बहुत अधिक है। और सच पूछो तो एकमात्र 'भगवान्'की आत्माहुतिके कारण ही, 'जड़तत्त्व'के अंदर, दिव्य 'प्रेम'के इस अवतरणके कारण ही 'निश्चेतना' के भीतरसे बाहर आना संभव हुआ है। अतएव, जब मैंने यह कहा था कि "संभवतः पत्थरोंतकमें", मैं "संभवतः" शब्दको निकाल सकती थी —मैं बलपूर्वक कह सकती हूं कि **यहांतक कि** पत्थरोंमें भी वह विद्यमान है। यदि इस दिव्य 'प्रेम' की उपस्थिति न हो तो कोई वस्तु नहीं होगी, न तो पत्थर, न धातु और न अणुओंका कोई भी संघटन।

बहुत-से लोग कहते हैं कि जब वे सोचते हैं तब उनमें "चेतना" होती है—जब कोई नहीं सोचता तब वह सचेतन नहीं होता। परंतु पौधे पूर्ण रूपमें सचेतन होते हैं और फिर भी वे सोचते नहीं। उनमें बहुत सही-सही संवेदन होते हैं जो चेतनाकी ही अभिव्यक्ति होते हैं, परंतु वे सोचते नहीं। पशु सोचना आरंभ करते हैं और उनकी प्रतिक्रियाएं बहुत अधिक जटिल होती हैं। परंतु पौधे और पशु दोनों सचेतन होते हैं। मनुष्य जरा भी विचार किये बिना संवेदनके विषयमें सचेतन हो सकता है।

क्या भागवत 'प्रेम'के अवतरणसे पूर्व स्थूल पदार्थका अस्तित्व था?

मैं नहीं समझती कि ऐसा कहा जा सकता है कि उससे पूर्व स्थूल पदार्थ था। 'निश्चेतना'... वह तो निश्चेतना है। मैं नहीं समझती कि इसे मैं तुम्हें कैसे समझाऊं। यदि किसी वस्तुका निषेध हो तो वह वास्तवमें 'निश्चेतना' है, वह प्रत्येक वस्तुकी निषेध है। सच पूछो तो उसमें शून्य होनेकी क्षमता भी नहीं है। यह जाननेके लिये और उसकी व्याख्या करनेके लिये कि वह क्या है वास्तवमें मनुष्यको उसके अंदर उतरना होगा। शब्द उसका वर्णन नहीं कर सकते। वह सभी वस्तुओंका अभाव है क्योंकि प्रत्येक वस्तुका प्रादुर्भाव चेतनासे होता है। चेतनाके बिना कोई चीज नहीं हो सकती।

इस 'प्रेम'के अवतरणसे पहले कोई सत्ताएं विद्यमान थीं? क्या वे चेतन थीं?

उससे पूर्व किसी प्रकारकी पार्थिव सत्ताएं नहीं थीं। पार्थिव जगत्, पृथ्वी 'निश्चेतना'के अंदर यह अवतरण होनेके बाद अस्तित्वमें आयी, उससे पहले नहीं।

'परात्पर सत्ता'से अत्यंत भौतिक क्षेत्रतक, सत्ताके विभिन्न स्तरोंका जो

क्रमिक निर्माण हुआ है वह 'निश्चेतना'के बाद हुआ। ठीक-ठीक जब 'चेतना'ने अपनी सृष्टि "प्रारंभ की" (जो कुछ मैं कह रही हूं उसे बिलकुल शब्दशः मत लो मानों वह किसी दूसरे देशका एक छोटा-सा इतिहास हो, क्योंकि यह चीज वैसी नहीं है, मैं तुम्हें समझानेका प्रयास कर रही हूं, बस इतना ही), सृष्टिकारिणी 'चेतना' की प्रथम अभिव्यक्ति थी चेतनाकी — सज्ञान ज्योतिकी — बस एक अंशविभूति और जब यह अंशविभूति अपने मूलसे पृथक् हुई तो प्रतिरोधके द्वारा निश्चेतना पैदा हुई, इसे भला कैसे कहा जाय? .... हां, वास्तवमें प्रतिरोधके द्वारा। फलस्वरूप, 'निश्चेतना' का जन्म जगत्की रचनासे पूर्ववर्ती है, और सच पूछो तो जब यह बोध उत्पन्न हुआ कि समूचा विश्व निरर्थक ही सृष्ट होने जा रहा है तभी एक पुकार उठी और भागवत 'प्रेम' 'निश्चेतना'को चेतनामें बदलनेके लिये उसके अंदर कूद पड़ा। इसलिये यह कहा जा सकता है कि भौतिक जगतोंका निर्माण, जैसा कि हम लोग उन्हें जानते हैं, 'निश्चेतना'के अंदर परात्पर 'चेतना'के अवतरणका परिणाम है। यह नहीं कहा जा सकता कि उससे पूर्व कोई चीज थी, वैसी चीजें जैसी कि हम उन्हें इस भौतिक जगत्-में देखते हैं (अपने शब्दोंकी अस्पष्टताके लिये मुझे खेद है, पर तुम जानते ही हो कि इन बातोंको कोई हमारे सामान्य शब्दोंके द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता)।

पृथ्वीकी, जैसा कि हम इसे जानते हैं, विराट् विश्वके अंदर विद्यमान इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म बिंदुकी रचना वास्तवमें इसलिये की गयी थी कि रूपांतर-का प्रयास एक बिंदुपर केंद्रित किया जाय; यह एक प्रतीकात्मक बिंदुकी तरह है जिसकी सृष्टि विश्वके अंदर इस कार्यको संभव बनानेके लिये, सीधे एक बिंदुपर कार्य करते हुए उसे संपूर्ण विश्वपर विकीर्ण करनेके लिये की गयी थी।

यदि हम इस समस्याको थोड़ा अधिक समझने योग्य बनाना चाहें तो अपने-आपको सृष्टितक और पृथ्वीके इतिहासतक ही सीमित रखना पर्याप्त होगा, क्योंकि यह विश्वके इतिहासका एक बहुत अच्छा प्रतीक है।

खगोल विज्ञानके दृष्टिकोणसे पृथ्वी कुछ नहीं है, यह एक बहुत ही तुच्छ आकस्मिक घटना है। आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे यह एक प्रतीकात्मक इच्छा-कृत रचना है। और जैसा कि मैं पहले ही कह चुकी हूं, केवल पृथ्वीपर ही यह दिव्य 'उपस्थिति' पायी जाती है, परात्पर 'मूल-स्रोत' के साथ यह सीधा संपर्क, सब वस्तुओंमें प्रच्छन्न दिव्य 'चेतना' की यह उपस्थिति पृथ्वीपर ही पायी जाती है।

अन्य जगत् कम या अधिक सोपान-श्रेणीके रूपमें व्यवस्थित हुए हैं, यदि

ऐसा कहा जा सके, परंतु पृथ्वीकी रचना एक विशेष प्रकारकी है जो 'निश्चेतना'में परात्पर 'चेतना'के सीधे हस्तक्षेप होनेके कारण, बिना किसी मध्यस्थके, हुई है।

क्या सूर्यसे विच्छिन्न खंडोंका उपादान-तत्त्व वही है जो पृथ्वीका है?

इस बातको याद रखो कि मैं यह कहना आरंभ करनेके बदले कि पृथ्वीकी रचना सूर्यसे प्रक्षिप्त किसी तत्त्वसे हुई है अथवा कोई नक्षत्रपुंज अवश्य ही टूटकर बिखर गया होगा और उसीसे सूर्य तथा उसके सभी उपग्रहों आदिका जन्म हुआ होगा आदि-आदि, मैंने तुमसे यह कहनेकी सावधानी बरती है कि यह प्रसरण एक प्रतीकात्मक सृजन था, और इस विशिष्ट बिंदुपर होनेवाले सभी कार्य समूचे विश्वमें फैल गये थे।

परंतु क्या यह सत्य है कि सौर पदार्थ और पार्थिव पदार्थके बीच कोई विभेद नहीं है? क्या सूर्य तथा सूर्य-मंडलके दूसरे जगतोंका निर्माण उसी समय हुआ था जब पृथ्वीका हुआ था?

अवश्य ही, प्रत्येक चीजका निर्माण एक ही समय हुआ था, सृष्टि एक साथ हुई थी पर पृथ्वीपर 'चेतना'की एक विशिष्ट प्रकारकी एकाग्रताके साथ हुई थी।

क्या दूसरे जगतों और ग्रहोंपर रहनेवाली सत्ताओंमें चैत्य पुरुष है?

नहीं, यह विशुद्ध रूपसे पार्थिव व्यापार है। केवल, इस ख्यालके विरुद्ध कोई बात नहीं है कि चैत्य पुरुष अन्य जगतोंमें भी जा सकते हैं यदि वे ऐसा करना पसंद करें। ऐसा समझनेका कोई कारण नहीं कि यदि कोई दूसरे ग्रहोंपर जाय तो चैत्य पुरुषोंसे उसकी मुलाकात नहीं हो सकती; यह असंभव नहीं है; परंतु वे पृथ्वीपर गठित चैत्य पुरुष होंगे जो अपनी गतिविधिमें स्वतंत्र हो चुके हैं, किसी-न-किसी कारणवश स्वेच्छापूर्वक इधर-उधर घूमते हैं। पृथ्वीके सभी भागोंका, सभी परंपराओंका समस्त ज्ञान यह कहता है कि चैत्य रचना एक पार्थिव रचना है और चैत्य पुरुषका विकास एक ऐसी चीज है जो पृथ्वीपर संपादित होती है। परंतु जब वे

एक बार गठित हो जाते हैं और अपनी गतिविधिमें स्वाधीन हो जाते हैं, वे विश्वमें कहीं भी जा सकते हैं, उनकी गतिविधि सीमित नहीं है; परंतु उनका निर्माण और वृद्धि, एकाग्रताके कारणोंसे, पार्थिव जीवनसे संबंध रखते हैं।

क्या भागवत 'प्रेम' और 'कृपा' एक ही चीज हैं?

मौलिक रूपमें, सभी वस्तुएं एक ही हैं। अपने मूल तत्त्वमें प्रत्येक वस्तु वही है, वह चेतनाका एक व्यापार है। परंतु 'प्रेम' 'कृपा' के बिना रह सकता है और 'कृपा' 'प्रेम' के बिना रह सकती है। परंतु मानव चेतनाके लिये 'कृपा' की समस्त अभिव्यक्ति परात्पर 'प्रेम' की ही अभिव्यक्ति होती है, अनिवार्य रूपसे। केवल वह मानवचेतनासे परे चली जाती है।

मनुष्य भागवत 'प्रेम' के विषयमें सचेतन और उसकी अभिव्यक्तिका एक यंत्र कैसे बन सकता है?

सर्वप्रथम, चाहे जो भी चीज क्यों न हो, उसके विषयमें सचेतन होनेके लिये तुम्हें उसकी इच्छा करनी चाहिये। और जब मैं यह कहती हूं कि "उसकी इच्छा" करनी चाहिये तो मेरा मतलब यह नहीं है कि कोई एक दिन तो यह कहे कि "ओह! मैं इसे बहुत अधिक चाहता हूं," और फिर दो दिन बाद उसे पूरी तरह भूल जाय।

इच्छा करनेका मतलब है एक सतत, अविरत, संकेंद्रित अभीप्सा, चेतनाकी प्रायः ऐकांतिक संलग्नता। यह पहला पग है। इसके अलावा दूसरे कई पग हैं: बहुत ध्यानके साथ निरीक्षण, बहुत अध्यवसायके साथ विश्लेषण, और हमारी गतिविधिमें कौन-सी चीज शुद्ध है और कौन-सी नहीं इस बातका बहुत सूक्ष्म विवेक। यदि तुम्हारे अंदर कल्पना-शक्ति हो, तो तुम कल्पना करनेकी कोशिश कर सकते हो और देख सकते हो कि तुम्हारी कल्पना सत्यके साथ मिलती-जुलती है या नहीं। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो यह विश्वास करते हैं कि एक दिन एक विशिष्ट मनोभावके साथ जग पड़ना और यह कहना ही काफी है कि "आह! मैं कितना चाहता हूं कि दिव्य 'प्रेम' के विषयमें सचेतन हो जाऊं, मैं कितना चाहता हूं कि दिव्य 'प्रेम' को अभिव्यक्त करूं....।" जरा ध्यान दो, पता नहीं कितनी बार हजारों-लाखों बार मनुष्य अपने अंदर प्रेमकी मानवीय सहज-वृत्तिके एक

क्षीण कंपनको अनुभव करता चाहता है और कल्पना करने लगता है कि यदि दिव्य 'प्रेम' मुझे हस्तगत हो जाता तो महान् चीजें संसिद्ध हो सकतीं, और वह कहता है, "मैं दिव्य 'प्रेम' के लिये प्रयास करने और उसे प्राप्त करने जा रहा हूं और हम उसका परिणाम देखेंगे।" यह सबसे बुरा संभव पथ है। क्योंकि, ऐसी हालतमें तुम अनुभूतिके एकदम प्रारंभ होनेसे भी पहले उसके परिणामको नष्ट कर देते हो। तुम्हें अभीप्सा और समर्पणकी शुद्धताके साथ अपनी खोजका प्रारंभ करना चाहिये जिन्हें प्राप्त करना पहले ही अपने-आपमें काफी कठिन है। इस 'प्रेम'की अभीप्साके लिये अपने-आपको **तैयार** करनेके लिये ही तुम्हें अपने ऊपर बहुत कुछ कार्य करना होता है। यदि तुम बहुत सच्चाईके साथ, बहुत सीधे ढंगसे अपने-आपको देखो तो देखोगे कि ज्यों ही तुम 'प्रेम' के विषयमें सोचना आरंभ करते हो, तो सर्वदा तुम्हारे अंदरका तुच्छ विक्षोभ ही चक्कर काटना आरंभ कर देता है। जो कुछ तुम्हारे अंदर अभीप्सा करता है वह विशिष्ट प्रकंपनोंको चाहता है। सच पूछो तो योग-मार्गमें बहुत आगे बढ़े बिना 'प्रेम'की अपनी धारणासे प्राणिक तत्त्वको, प्राणिक प्रकंपनको पृथक् करना लगभग असंभव है। जो कुछ मैं कह रही हूं वह मानवप्राणियोंके श्रमसाध्य अनुभवपर आधारित है। हां, पर तुम्हारे लिये, जिस स्थितिमें तुम हो, जैसे कि तुम हो, तुम्हारा यदि विशुद्ध दिव्य 'प्रेम'के साथ संपर्क हो जाय तो वह तुम्हें बर्फसे भी अधिक ठंडा प्रतीत होगा, अथवा इतना अधिक दूर, इतना ऊंचा मालूम होगा कि तुम सांस लेनेमें भी असमर्थ होओगे; वह उस पर्वत-शृंगके जैसा होगा जहां तुम्हें ऐसा लगेगा मानों तुम जमे जा रहे हो और तुम्हें सांस लेनेमें भी कठिनाई होगी और जो कुछ तुम सामान्यतया अनुभव करते हो उससे वह बहुत दूर प्रतीत होगा। भागवत 'प्रेम', यदि चैत्य या प्राणिक प्रकंपनसे न आच्छादित हो तो उसे अनुभव करना मनुष्यके लिये कठिन है। मनुष्य भगवत्कृपाकी धारणा कर सकता है; उस कृपा-की जो इतनी दूरस्थ, इतनी उच्च, इतनी निर्व्यक्तिक वस्तु है कि... हां, मनुष्य कृपाका अनुभव कर सकता है, पर वास्तवमें कठिनाईके साथ ही कोई दिव्य 'प्रेम' को अनुभव करता है।

पर तब क्या यह कहा जा सकता है कि चैत्य प्रकंपन दिव्य 'प्रेम' का ही प्रकंपन है?

तुममेंसे प्रत्येक व्यक्तिको अपने निजी चैत्य पुरुषके संपर्कमें आना चाहिये, वह कोई दुष्प्राप्य वस्तु नहीं है। तुम्हारा चैत्य पुरुष ठीक इसीलिये है

कि वह तुम्हें दिव्य शक्तियोंके संपर्कमें ला दे। और, यदि तुम अपने चैत्य पुरुषके संपर्कमें होओ तो तुम यह अनुभव करना, एक प्रकारका बोध प्राप्त करना आरंभ कर देते हो कि दिव्य 'प्रेम' कैसा हो सकता है। जैसा कि हमने ठीक अभी कहा है: यह पर्याप्त नहीं है कि तुम एक दिन सवेरे यह कहते हुए जगो, "ओह! मैं दिव्य 'प्रेम'के संपर्कमें आना चाहता हूं," यह चीज ऐसी नहीं है। यदि, सतत प्रयास, गभीर एकाग्रता, आत्यंतिक आत्मविस्मरणके द्वारा, तुम अपने चैत्य पुरुषके संपर्कमें आनेमें सफल होओ, तुम कभी यह सोचनेका स्वप्न नहीं देखोगे कि "ओह! मैं दिव्य 'प्रेम' के संपर्कमें आना चाहता हूं"—तब तुम एक ऐसी स्थितिमें होओगे जिसमें तुम्हें ऐसा लगेगा कि प्रत्येक वस्तु ही यह दिव्य 'प्रेम' है, इसके सिवा और कुछ है ही नहीं। और फिर भी यह केवल एक आच्छादन है, पर एक ऐसा आच्छादन जिसकी बुनावट अत्यंत सुन्दर है।

सो, चैत्य पुरुषसे पृथक् करके दिव्य 'प्रेम'को खोजने और जाननेकी आवश्यकता नहीं है?

नहीं, अपने चैत्य पुरुषको प्राप्त करो और तुम समझ जाओगे कि दिव्य 'प्रेम' क्या है। सीधे दिव्य 'प्रेम' के संपर्कमें आनेकी कोशिश मत करो, क्योंकि ऐसा करनेका मतलब फिरसे यही होगा कि प्राणिक कामना तुम्हें परिचालित कर रही है; तुम संभवतः उसके विषयमें सचेतन नहीं होओगे, पर वह होगी प्राणिक कामना ही।

तुम्हें अपने चैत्य पुरुषके साथ संपर्क स्थापित करनेका, उसकी चेतनामें सज्ञान और मुक्त होनेका प्रयत्न करना चाहिये, और तब, बिलकुल स्वाभाविक रूपमें, अपने-आप तुम यह जान जाओगे कि भागवत 'प्रेम' क्या वस्तु है।

वास्तवमें इस पृथ्वीपर, जो एक आध्यात्मिक प्रतीक है, चैत्य पुरुषके साथ उत्पन्न होनेकी बात ही यह सिद्ध करती है कि हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिके ऊपर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है, ठीक है न?

निश्चय ही। मनुष्यपर एक बड़ी जिम्मेदारी है, एक विशिष्ट भगवत्प्रदत्त कार्यको पूरा करनेके लिये ही वह पृथ्वीपर पैदा हुआ है। बस, स्वभावतः ही, बात इतनी है कि चैत्य पुरुषको विकासकी एक विशेष मात्राको प्राप्त

कर चुकना चाहिये; अन्यथा यह कहा जा सकता है कि वास्तवमें समूची पृथ्वीपर ही जिम्मेदारी है। जितना ही अधिक सचेतन और व्यष्टिभावापन्न मनुष्य बने उतना ही अधिक उसे उत्तरदायित्वका बोध होना चाहिये। परंतु यह बात एक विशेष क्षणमें ही घटित होती है; मनुष्य यह सोचना आरंभ कर देता है कि वह यहां बिना किसी कारणके, बिना किसी उद्देश्यके नहीं है। वह अचानक यह अनुभव करता है कि वह यहां इसलिये है कि उसे कोई कार्य संपन्न करना है और यह कार्य कोई अहंकारपूर्ण कार्य नहीं है। यही मुझे योग-पथपर प्रवेश करनेका अत्यंत युक्तिसंगत तरीका प्रतीत होता है — एकाएक कोई यह अनुभव करे कि "चूंकि मैं यहां हूं, इसका तात्पर्य है कि मुझे कोई मिशन पूरा करना है। चूंकि मुझे एक चेतना प्रदान की गयी है, माने इस चेतनासे मुझे कोई कार्य संपन्न करना है — वह क्या है?"

साधारणतया, मुझे ऐसा लगता है कि यही पहला प्रश्न है जो मनुष्यको अपने-आपसे पूछना चाहिये: मैं क्यों यहां हूं?

मैंने इसे बच्चोंमें देखा है, यहांतक कि पांच या छः वर्षके बच्चोंमें भी यह प्रश्न उठते हुए देखा है: "मैं यहां क्यों हूं? मैं क्यों जीवन यापन करता हूं?" और फिर जो कुछ भी चेतना प्राप्त है उसीसे, चेतनाके एक अत्यंत तुच्छ भागसे ही खोजना चाहिये: मैं यहां क्यों हूं, किस कारणसे हूं?

यही मुझे स्वाभाविक प्रारंभ-बिंदु प्रतीत होता है।

२६ मार्च, १९५१

"हमें प्रत्येक क्षण यह जानना चाहिये कि हम कैसे सब कुछ खो दें ताकि सब कुछ पा जायं।" इसका क्या मतलब है?

हम इसके विषयमें पहले ही कह चुके हैं। जब हम योगके पथमें प्रवेश करते हैं तो क्यों हमारे प्रियजन हमें छोड़ देते हैं? मनुष्य समस्त सांसारिक संपत्तियों, अपने समस्त संबंधोंको खो देता है; कभी-कभी तो यहांतक होता है कि मनुष्य अपनी पद-प्रतिष्ठाको भी खो देता है, और कौन-सी चीज पानेके लिये? — अत्यंत महत्त्वपूर्ण वस्तु, एकमात्र वस्तु जो मूल्यवान्

है: दिव्य 'चैतन्य'। और इसे पानेके लिये मनुष्यको यह अवश्य जानना चाहिये कि किस तरह इस संसारकी सभी प्राप्तव्य वस्तुओंको खोया जा सकता है, किस तरह अपनी समस्त संपत्तियों, सभी कामनाओं, सभी आसक्तियों, सभी तुष्टियोंको छोड़ा जा सकता है; मनुष्य यदि दिव्य 'चेतना'-को पाना चाहता है तो उसे यह अवश्य जानना चाहिये कि इन सब चीजों-को कैसे गंवा देना चाहिये।

यह मनके लिये थोड़ा-सा विरोधाभासपूर्ण है।

आपने कहा है कि अपने विकासको पूरा करनेके बाद चैत्य पुरुष अन्य जगतोंमें जा सकते हैं; फिर भी, चैत्य पुरुष तो ऐकांतिक रूपसे पृथ्वीसे संबंध रखता है, रखता है न?

परंतु चैत्य पुरुष भौतिक नहीं है, वह चैत्यिक है! वह भौतिक जगत्‌से बंधा हुआ नहीं है; जैसे ही वह किसी शरीरमें रहना बन्द कर देता है, वह चैत्य जगत्‌में चला जाता है जो भौतिक जगत्‌से बहुत दूर है।

हम प्राणका रूपांतर कैसे कर सकते हैं?

पहला पग है: संकल्प। दूसरा है सच्चाई और अभीप्सा। परंतु संकल्प और अभीप्सा लगभग एक ही चीज हैं, एक-दूसरेके अनुगामी हैं। फिर है, अध्यवसाय। हां, किसी भी प्रक्रियामें अध्यवसाय आवश्यक है, और यह प्रक्रिया क्या है, ...प्रथम, निरीक्षण और विवेक करनेकी योग्यता अवश्य होनी चाहिये, अपने अंदर प्राणको खोज निकालनेकी योग्यता होनी चाहिये, नहीं तो तुम्हारे लिये यह कहना कठिन हो जायगा कि, "यह प्राणसे आता है, यह मनसे आता है, यह शरीरसे आता है।" प्रत्येक चीज तुम्हें मिली-जुली और अस्पष्ट प्रतीत होगी।

बहुत दीर्घकालिक निरीक्षणके बाद, तुम विभिन्न भागोंके बीच विभेद करने तथा किसी क्रियाका मूल समझनेमें समर्थ हो सकोगे। इसके लिये अत्यंत लंबे समयकी आवश्यकता होती है, परंतु मनुष्य बहुत तेज भी जा सकता है, यह मनुष्य-मनुष्यपर निर्भर करता है। परंतु एक बार जब तुम विभिन्न भागोंका पता पा चुको तो अपने-आपसे पूछो, "इसमें प्राणका क्या है? हमारी चेतनामें प्राण कौन-सी चीज ले आता है? किस भांति वह हमारी क्रियाओंको बदलता है; उनमें वह क्या जोड़ता और घटाता है? प्राणके हस्तक्षेपके कारण हमारी चेतनामें क्या घटित होता है?" एक बार

तुम जब यह जान जाते हो तो फिर क्या करते हो? ....तब तुम्हें इस हस्तक्षेपपर चौकसी रखनी होती है, उसका निरीक्षण करना होता है, पता लगाना होता है कि किस ढंगसे यह कार्य करता है। उदाहरणार्थ, तुम अपने प्राणको रूपांतरित करना चाहते हो। तुम्हारी अभीप्सामें तथा एकदम अंततक जानेके संकल्पमें बहुत अधिक सच्चाई है। तुममें वह सभी चीजें हैं। तुम निरीक्षण करना आरंभ करते हो और तुम देखते हो कि दो बातें घट सकती हैं (बहुत-सी बातें घट सकती हैं), पर मुख्यतः दो घट सकती हैं।

पहली, एक प्रकारका उत्साह तुमपर हावी हो जाता है। तुम सच्चे दिलसे काम करना शुरू कर देते हो। इस उत्साहमें तुम सोचते हो, "मैं यह करने और वह करने जा रहा हूं, मैं तुरत-फुरत अपने लक्ष्यपर पहुंचने जा रहा हूं, प्रत्येक चीज ही शानदार होने जा रही है! यह देखेगा, यह प्राण, कि यदि यह आज्ञा नहीं मानता तो मैं किस प्रकार इसके साथ पेश आता हूं!" और यदि सावधानीके साथ तुम देखो तो तुम देखोगे कि प्राण अपने-आपसे कह रहा है, "आह! आखिरकार, यहांपर एक मौका है!" वह स्वीकार करता है, अपनी पूरी उमंगके साथ, अपने पूरे उत्साहके साथ काम करना शुरू कर देता है और ....अपनी समस्त अधीरताके साथ भी।

दूसरी बात इससे बिलकुल उलटी हो सकती है। एक प्रकारकी बेचैनी हो सकती है: "मैं स्वस्थ नहीं हूं, कितना कष्टदायक यह जीवन है, कितनी थकानेवाली सभी चीजें हैं। मैं भला वह सब कैसे कर सकता हूं? क्या मैं कभी लक्ष्यतक पहुंचूंगा? क्या यह प्रारंभ करने योग्य है? क्या यह तनिक भी संभव है? क्या यह असंभव नहीं है?" सच पूछा जाय तो प्राणके लिये जो कुछ किया जाता है उससे वह बहुत प्रसन्न नहीं होता, वह यह नहीं चाहता कि कोई उसके मामलेमें दखल दे, वह यह सब बहुत अधिक पसंद नहीं करता, अतएव वह निराशाके, निरुत्साहके, श्रद्धाकी कमी और संदेहके सुझाव देता है — क्या वास्तवमें इसके लिये कष्ट उठाना उचित है?

ये दो चरम सीमाएं हैं, और प्रत्येककी अपनी कठिनाइयां, अपनी बाधाएं हैं।

अवसाद, यदि किसीमें प्रबल संकल्प-शक्ति न हो, यह सुझाव देता है, "यह बेकार है, इसके लिये जीवनभर प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है।" उत्साह, वह रातों-रात प्राणको रूपांतरित देखनेकी आशा करता है, कहता है: "अबसे कोई कठिनाई नहीं रह जायगी, मैं योग-पथपर तेजीसे आगे

बढ़ता जा रहा हूं, मैं बिना किसी कठिनाईके दिव्य चेतना प्राप्त करने जा रहा हूं।" कुछ दूसरी कठिनाइयां भी हैं....। मनुष्यको थोड़े समयकी, अत्यधिक अध्यवसायकी जरूरत होती है। अतएव प्राण कुछ घंटोंके बाद — शायद कुछ दिनों, शायद कुछ महीनोंके बाद — अपनेआपसे कहता है: "हम अपने उत्साहके बलपर बहुत दूर नहीं पहुंचे हैं, क्या वास्तवमें कोई चीज संपन्न हुई है? क्या यह प्रयास हमें ठीक वहीं नहीं छोड़ रहा है जहां हम थे? — संभवतः हम जो थे उससे बुरे, कुछ परेशान, कुछ अशांत हैं? अब अवस्थाएं ठीक वही नहीं हैं जो पहले थीं, अभी भी वैसी नहीं हैं जैसी होनी चाहियें। यह तो बहुत अप्रिय है, मैं क्या कर रहा हूं।" और फिर, यदि कोई थोड़ा और अधिक धक्का देता है तो यह महाशय यह कहते हुए नजर आते हैं, "आह! नहीं, मुझे इसका काफी अनुभव हो चुका, मुझे अकेले छोड़ दो। मैं जरा भी हिलना-डुलना नहीं चाहता, मैं बस अपने कोनेमें पड़ा रहूंगा, मैं तुम्हें परेशान नहीं करूंगा, पर मुझे तंग न करो!" अतएव हम कह सकते हैं कि मनुष्य पहलेसे बहुत अधिक आगे नहीं बढ़ा है।

यह एक बहुत बड़ी बाधा है जिससे बड़ी सावधानीके साथ बचना चाहिये। जैसे ही असंतोषका, झुंझलाहटका जरा-सा भी चिह्न दिखायी दे तो इस प्रकार प्राणसे कहना चाहिये, "मेरे मित्र, तुम्हें शांत बने रहना होगा, तुमसे जो कुछ करनेको कहा जा रहा है, उसे करना होगा, अन्यथा तुम्हें मेरे साथ निपटना होगा।" और दूसरेको, उत्साहीको, जो कहता है, "सब कुछ अभी, तुरत-फुरत होना चाहिये," तुम्हारा उत्तर होना चाहिये, "जरा शांत होओ, तुम्हारी शक्ति अत्युत्तम है, पर उसे पांच मिनटमें ही खर्च नहीं हो जाना चाहिये। हमें बहुत दिनोंतक इसकी आवश्यकता होगी, इसे सावधानीके साथ बनाये रखो और, जैसे ही इसकी आवश्यकता होगी, मैं तुम्हारे सद्भावका आह्वान करूंगा। तुम यह दिखाओगे कि तुम सदिच्छासे भरपूर हो, तुम आज्ञापालन करोगे, तुम शिकायत नहीं करोगे, तुम विरोध नहीं करोगे, तुम विद्रोह नहीं करोगे, तुम बस हां, हां कहोगे। जब कहा जायगा, तुम थोड़ा-सा त्याग करोगे, तुम पूरे हृदयसे हां कहोगे।"

इस प्रकार हम मार्गपर रवाना हो जाते हैं। पर सड़क बहुत लंबी है। बहुतेरी चीजें मार्गपर घटित होती हैं। सहसा हम समझते हैं कि हमने एक बाधा पार कर ली है; मैं कहती हूं "समझते हैं", क्योंकि यद्यपि हम उसे पार कर जाते हैं, पर हम उसे संपूर्ण रूपसे अतिक्रम नहीं करते। मैं एक बहुत स्पष्ट उदाहरण, एक बहुत सामान्य निरीक्षणका उदाहरण दे रही हूं। किसी व्यक्तिको यह पता लगता है कि उसका प्राण अदम-

नीय और अनियंत्रित है, वह अकारण और अनावश्यक रूपसे लाल-पीला हो जाता है। वह उसे इस प्रकार बह न जानेकी, आग-बबूला न होनेकी, शांत-स्थिर बने रहने और जीवनके आघातोंको बिना तीव्र प्रतिक्रियाके सहनेकी शिक्षा देना आरंभ कर देता है। यदि मनुष्य इसे हंसते हुए करता है तो यह कार्य काफी तेजीसे आगे बढ़ता है (इस बातको अच्छी तरह ध्यानमें रखो, यह बहुत आवश्यक है : जब तुम्हें अपने प्राणके साथ निपटना हो तो खूब सावधानीसे अपनी प्रसन्नताको बनाये रखो, नहीं तो तुम विपत्तिमें पड़ जाओगे)। मनुष्य अपनी खुशमिजाजीको बनाये रखता है, अर्थात् जब वह क्रोधको उठते हुए देखता है तो वह हंसना आरंभ कर देता है। अवसन्न हो जाने और यह कहनेके बजाय कि "आह! मेरे समस्त प्रयासके बावजूद यह सब कुछ फिरसे आरंभ कर रहा है," मनुष्य हंसना आरंभ कर देता है और कहता है, "अच्छा, अच्छा! अभी भी इसका अंत नहीं हुआ है। अब देखो, क्या तुम हास्यास्पद नहीं हो, तुम एकदम अच्छी तरह जानते हो कि तुम हास्यास्पद बन रहे हो! क्या क्रोध करना उचित है?" मनुष्य उसे प्रसन्नचित्त होकर यह पाठ पढ़ाता है। और, यथार्थमें, कुछ समय बाद वह फिर क्रोधित नहीं होता, वह शांत रहता है — और मनुष्य अपने ध्यानको ढीला कर देता है। वह समझता है कि कठिनाई जीत ली गयी है, वह समझता है कि आखिरकार परिणाम प्राप्त हो गया है: "मेरा प्राण अब मुझे परेशान नहीं करता, अब वह कुपित नहीं होता, सब कुछ सुन्दर ढंगसे चल रहा है।" और दूसरे दिन, वह क्रोधसे अभिभूत हो जाता है। इसलिये मनुष्यको सर्तक रहना चाहिये, इसलिये उसे यह नहीं कहना चाहिये, "यही हैं हम, इससे कोई लाभ नहीं, मैं कभी कोई चीज उपलब्ध नहीं करूंगा, मेरे सभी प्रयत्न निष्फल हैं; यह सब एक भ्रम है, यह असंभव है।" इसके विपरीत, मनुष्यको कहना चाहिये, "मैं पर्याप्त रूपमें सजग नहीं था।" मनुष्यको दीर्घकाल-तक, बहुत दीर्घकालतक प्रतीक्षा करनी चाहिये, उसके बाद ही वह कह सकता है, "आह! यह संपन्न और समाप्त हो गया।" कभी-कभी मनुष्यको वर्षों, अनेक वर्षोंतक प्रतीक्षा करनी पड़ती है ...।

मैं यह बात तुम्हें निरुसाहित करनेके लिये नहीं कह रही हूं, बल्कि तुम्हारे अंदर धैर्य और लगन पैदा करनेके लिये कह रही हूं — क्योंकि एक क्षण आता है जब तुम अवश्य पहुंच जाते हो। और यह ध्यानमें रखो कि प्राण तुम्हारी सत्ताका एक छोटा-सा भाग है — बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है, हमने कहा है कि यह क्रियाशील शक्ति है, संसिद्धिकारी सामर्थ्य है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है; पर यह केवल एक छोटा-सा भाग है। और

मन! ... जो घूमता-फिरता है, जिसे स्थिर बनाये रखनेके लिये सभी डोरोंके द्वारा पीछे खींचना होता है! तुम समझते हो कि यह रातों-रात किया जा सकता है? और तुम्हारा शरीर? ... तुममें एक दुर्बलता है, एक कठिनाई है, कभी-कभी कोई मामूली-सी पुरानी बीमारी है, अधिक कुछ नहीं, पर फिर भी है यह एक कंटक ही, है न? तुम उससे छुटकारा पाना चाहते हो। तुम प्रयत्न करते हो, तुम एकाग्र होते हो, तुम उस-पर क्रिया करते हो, समस्वरता स्थापित करते हो, और तुम सोचते हो कि वह समाप्त हो गया है, और उसके बाद ...। उदाहरणार्थ, उन लोगोंको लो जिन्हें खांसनेकी आदत है; वे अपनेको रोक नहीं सकते या प्रायः नहीं रोक सकते। वह गंभीर बात नहीं है पर है दुःखदायी, और कोई कारण नहीं दिखायी देता कि उसे क्यों बंद नहीं होना चाहिये। हां तो, मनुष्य अपने-आपसे कहता है, "मैं इसे संयमित करूंगा।" वह प्रयत्न करता है — यौगिक प्रयत्न, कोई भौतिक प्रयत्न नहीं — वह चेतनाको, शक्तिको नीचे उतारता है और खांसीको बंद कर देता है। और वह सोचता है, "शरीर खांसना भूल गया है।" और यह एक बड़ी बात है यदि शरीर उसे भूल गया है, तब सचमुच मनुष्य कह सकता है, "मैं रोगमुक्त हो गया हूं।" परंतु दुर्भाग्यवश यह बराबर सच नहीं होता, क्योंकि रोग अवचेतनाके अंदर चला जाता है और, एक दिन, जब शक्तियोंका संतुलन उतना सुस्थापित नहीं होता, जब वही शक्ति नहीं रहती तो वह फिरसे शुरू हो जाता है। और मनुष्य विलाप करने लगता है, "मुझे विश्वास हो गया था कि यह चला गया! मुझे सफलता मिल गयी थी और मैंने मन-ही-मन यह कहा था, 'यह सच है कि आध्यात्मिक शक्ति शरीरपर कार्य करती है, यह सही है कि कुछ चीज की जा सकती है, और यह देखो! यह बात ठीक नहीं है।' और फिर भी यह बात बहुत छोटी थी, और मैं, अमरत्वको जीतना चाहता हूं! मैं कैसे सफल होऊंगा? ... वर्षों मैं इस नन्हीं-सी चीजसे मुक्त रहा हूं और अब यह नये सिरेसे शुरू हो रही है!" इसलिये तुम्हें सावधान रहना चाहिये।

तुम्हें अंतहीन धैर्य और सहिष्णुतासे लैस होना चाहिये। तुम, यदि आवश्यक हो, एक ही चीजको एक बार, दस बार, सौ बार, हजार बार भी करो, पर उसे तबतक करो जबतक वह पूरी न हो जाय। और केवल यहां और वहां ही पूरी न हो, बल्कि सर्वत्र हो और सर्वत्र एक ही समय हो। यह एक महान् समस्या है जिसे अपने सामने रखना है। यही कारण है कि जो लोग मेरे पास आकर हलके दिलसे कहते हैं, "मैं योग

करना चाहता हूं," तो मैं उत्तर देती हूं, "फिरसे विचार कर लो, मनुष्य कई वर्षोंतक योग कर सकता है पर जरा भी परिणाम नहीं दिखायी दे सकता। परंतु तुम यदि इसे करना चाहते हो तो तुम्हें ऐसे संकल्पके साथ अड़े रहना चाहिये कि तुम, यदि आवश्यक हो तो, सफलता प्राप्त करनेके लिये दस जन्मोंतक, सौ जन्मोंतक, इसे करते रहनेके लिये तैयार रहोगे। मैं यह नहीं कहती कि बात ऐसी ही होगी, पर तुम्हारा **मनोभाव** ऐसा ही होना चाहिये। किसी भी चीजसे तुम्हें निरुत्साहित नहीं होना चाहिये; कारण, सत्ताकी विभिन्न अवस्थाओंमें अज्ञानकी सब प्रकारकी कठिनाइयां मौजूद हैं और उनके साथ जुड़ा हुआ है संसारमें विद्यमान विरोधी शक्तियोंका अंतहीन विद्वेष तथा असीम छल-छद्म....। वे हैं, जानते हो क्यों? उन्हें बरदाश्त किया गया है, जानते हो क्यों?— महज यह देखनेके लिये कि मनुष्य कबतक टिक सकता है और उसके कार्यमें कितनी अधिक सच्चाई है। क्योंकि प्रत्येक चीज निर्भर करती है तुम्हारी सच्चाईपर। यदि तुम अपने संकल्पमें सचमुच सच्चे हो तो कोई वस्तु तुम्हें रोक नहीं सकती, तुम सीधे अंततक चले जाओगे, और यदि तुम्हें इसे करनेके लिये एक हजार वर्ष जीनेकी भी आवश्यकता हो तो तुम इसे करनेके लिये हजार वर्ष जीओगे।

क्या प्राण अपने निजी रूपांतरकी चेष्टा नहीं करता? वह अभीप्सा करता है पर वह सर्वदा बाहरसे आनेवाली वस्तुओंका, आवेगोंका शिकार हो जाता है।

यदि वह स्वयं अपने रूपांतरकी चेष्टा करता है तो वह वास्तवमें अद्भुत है! और, यदि वह रूपांतरके लिये अभीप्सा करता है तो वह मुक्त होनेकी कोशिश करेगा। यदि प्राण दुर्बल है तो उसकी अभीप्सा भी दुर्बल होगी। और ध्यानमें रखो, दुर्बलता एक प्रकारकी असच्चाई है, एक प्रकारका बहाना है जो मनुष्य अपने-आपसे करता है — बहुत, बहुत सचेतन रूपमें नहीं शायद, परंतु तुमको यह बता देना आवश्यक है कि अवचेतना एक ऐसी जगह है जो असच्चाईसे भरपूर है। और जो दुर्बलता यह कहती है, "मैं इसे इतना अधिक चाहती हूं, पर मैं कर नहीं पाती," वह असच्चाई है। कारण, अगर मनुष्य सच्चा है तो जो काम वह आज नहीं कर पाता, उसे वह कल कर लेगा, और जिसे वह कल नहीं कर पाता, उसे वह परसों कर लेगा, और इसी भांति वह प्रयास करता रहेगा जबतक कि वह कर नहीं लेता। यदि तुम निश्चित रूपसे यह समझ जाओ कि

संपूर्ण विश्व (अथवा, यदि तुम चाहो, इस समस्याको एकाग्र करनेके लिये यह कहो कि, हमारी पृथ्वी) स्वयं भगवान्‌के सिवा — उस भगवान्‌के सिवा जो अपने-आपको भूल गये हैं — और कुछ नहीं है तो तुम वहां दुर्बलताके लिये कहां स्थान पाओगे ? निश्चय ही भगवान्‌के अंदर नहीं ! तब, विस्मृतिमें। और यदि तुम विस्मृतिके विरुद्ध संघर्ष करो तो तुम दुर्बलतासे युद्ध करते हो, और जिस हदतक तुम भगवान्‌के समीप पहुंचते जाते हो, तुम्हारी दुर्बलता विलीन होती जाती है।

और यह बात केवल मनपर ही लागू नहीं होती, बल्कि प्राणपर भी लागू होती है और यहांतक कि शरीरपर भी लागू होती है। सच पूछो तो सभी दुःख-कष्ट, सभी दुर्बलताएं, सभी अक्षमताएं, अंतिम विश्लेषणमें, असच्चाइयां हैं।

ऐसे बहुत-से स्थान हैं जहां असच्चाई रह सकती है, और इसी कारण कभी नहीं कहना चाहिये, जैसा कि अक्सर लोग मुझसे कहा करते हैं, कि "मैं पूर्ण रूपसे सच्चा हूं।" यह बात ठीक उन लोगोंकी तरह है जो तुम्हें विश्वास दिलाते हैं कि "मैंने कभी कोई झूठी बात नहीं कही है।" यदि तुम पूर्ण रूपसे सच्चे हो जाओ तो तुम 'भगवान्' बन जाओगे, यदि तुमने कभी कोई झूठी बात नहीं कही है, अर्थात् कोई बात जो सत्य नहीं है, तो तुम साक्षात् 'सत्य' बन जाओगे ! अतएव, चूंकि तुम वास्तवमें न तो 'भगवान्' हो और न 'सत्य' (तुम तत्त्वतः वह हो पर यथार्थमें नहीं हो), 'सत्य' और सच्चाईतक पहुंचनेके लिये तुम्हें सदा ही बड़ी लंबी यात्रा करनी होगी।

तुम्हें दुःखी होनेकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि यह बात ऐसी है।

यह उन निराशापूर्ण लोगोंकी बातकी तरह है जो तुमसे कहते हैं, "संसार इतना भयावना क्यों है ?" भला रोने-धोनेसे क्या लाभ, जब कि यह है ही ऐसा ? सच पूछो तो एकमात्र चीज जो तुम कर सकते हो, वह है इसे बदलनेके लिये कार्य करना। स्वभावतः अनुसंधानकी दृष्टिसे मनुष्य समझनेका प्रयास कर सकता है, पर मानवीय मन ऐसी चीजोंको समझनेमें असमर्थ होता है। अभी-अभी यह बिलकुल निरर्थक है। उपयोगी चीज है उसे बदलना। हम सभी स्वीकार करते हैं कि जगत् गर्हित है, यह वैसा नहीं है जैसा इसे होना चाहिये, और एकमात्र चीज जो हमें करनी है वह है इसे अन्य प्रकारका बनानेके लिये कार्य करना। फलस्वरूप, हमारा संपूर्ण कार्य होना चाहिये इसे भिन्न प्रकारका बनानेके लिये सर्वोत्तम उपाय खोज निकालना; और हम एक बात समझ सकते हैं, वह यह कि सर्वोत्तम साधन (यद्यपि हम इसे अभी एकदम अच्छी तरह नहीं जानते), स्वयं हम लोग हैं, हैं न ? और निश्चय ही हम अपने पड़ोसीको जितना जानते हैं उससे

अधिक अच्छे रूपमें अपने-आपको जानते हैं — हम मानव-प्राणीके अंदर अभिव्यक्त चेतनाको, उदाहरणार्थ, नक्षत्रोंमें अभिव्यक्त चेतनाकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह समझते हैं। अतएव, थोड़ी हिचकिचाहटके बाद हम कह सकते हैं, "आखिरकार, सर्वोत्तम उपाय बस वही है जो मैं हूं। मैं बहुत अच्छी तरह नहीं जानता कि मैं क्या हूं, परंतु जिस समष्टिका मैं एकरूप हूं वही संभवतः इस कार्यमें मेरा भाग है, और यदि यथासंभव अच्छे-से-अच्छे रूपमें इसे करूं तो शायद मैं यथाशक्ति उत्तम रूपमें कर सकूंगा।" यह एक बहुत बड़ा प्रारंभ है, बहुत बड़ा। यह कोई बहुत अधिक नहीं है, तुम्हारी संभावनाओंकी सीमाओंसे बाहर भी नहीं है। तुम्हारा कार्य तुम्हारे समीप है, यह सर्वदा तुम्हारी पहुंचके अंदर है, कहनेका मतलब, यह सदा वहां मौजूद है ताकि तुम उसमें लग जाओ — यह एक ऐसा कार्य-क्षेत्र है जो तुम्हारी शक्तिके अनुरूप है, पर पर्याप्त विविध, पर्याप्त जटिल, पर्याप्त विशाल, मजेदार होनेके लिये पर्याप्त गंभीर है। और तुम इस अज्ञात जगत्का अन्वेषण करते हो।

बहुत-से लोग कहते हैं, "परंतु तब तो यह स्वार्थपरता है!" — यह स्वार्थपरता तब है यदि तुम इसे किसी अहंकारपूर्ण ढंगसे करो, अपने व्यक्तिगत लाभके लिये करो, यदि तुम शक्तियां प्राप्त करनेकी, दूसरोंको प्रभावित करनेके लिये यथेष्ट शक्तिशाली बननेकी कोशिश करो, अथवा यदि तुम अपने लिये सुखी जीवन निर्मित करनेके उपाय खोजो। स्वभावतः ही, यदि तुम इसे इस भावके साथ करो तो वह अहंकारपूर्ण हो जायगा। परंतु इसकी खूबसूरती यह है कि तुम कहीं भी नहीं पहुंचोगे! तुम आत्म-प्रवंचनाके साथ आरंभ करोगे, तुम बढ़ती हुई भ्रम-भ्रांतियोंमें निवास करोगे और तुम अधिकाधिक अंधकारमें गिरते जाओगे। परिणामतः, वस्तुएं, हम जितना समझते हैं उससे बहुत अधिक अच्छे रूपमें, संगठित हैं; यदि तुम अपना कार्य अहंकारपूर्ण ढंगसे करोगे (हम कह चुके हैं कि हमारा कार्य-क्षेत्र सर्वदा हमारी पहुंचके अंदर है), उसका फल कुछ नहीं होगा। इसी कारण आवश्यक शर्त है भागवत कर्मकी संसिद्धिके लिये अपनी अभीप्सामें पूर्ण सच्चाई रखते हुए उसे करना। अतएव यदि तुम उस तरह प्रारंभ करो तो मैं तुम्हें विश्वास दिला सकती हूं कि तुम्हारी यात्रा इतनी मजेदार होगी कि यदि उसमें तुम्हें दीर्घ काल भी लग जाय तो तुम कभी थकावट नहीं महसूस करोगे। परंतु तुम्हें उसे उसी तरह, तीव्र संकल्पके साथ, लगनके साथ और उस अनिवार्य प्रसन्नचित्तताके साथ करना चाहिये जो कठिनाइयोंपर मुस्कराती और भूलोंपर हंसती है। तब सब कुछ अच्छे ढंगसे चलता रहेगा।

कौन-सा आईना है वह जिसमें 'परात्पर' प्रतिबिंबित होते हैं?

स्वयं चेतना। वास्तवमें वह है इसी कारण, उसके बिना कोई कमी कहीं नहीं पहुंच सकता। यदि सारी सृष्टिके केंद्रमें परम 'चैतन्य' न होता तो सृष्टि कभी उस परम 'चैतन्य'के विषयमें सचेतन न हो पाती।

प्राणका रूपांतर करनेके लिये मनुष्यमें संकल्प, अध्यवसाय, सच्चाई आदि अवश्य होनी चाहिये। परंतु सत्ताके किस भागमें ये सब चीजें पायी जाती हैं?

सच्चाईका, संकल्पका, अध्यवसायका मूल स्रोत चैत्य पुरुषमें है, परंतु विभिन्न लोगोंमें यह विभिन्न रूप ले लेता है। सच पूछा जाय तो मनके उच्चतर भागमें यह आकार लेना आरंभ करता है, परंतु इसके प्रभावशाली बननेके लिये कम-से-कम प्राणके एक भागको भी अवश्य प्रत्युत्तर देना चाहिये, क्योंकि तुम्हारे संकल्पकी तीव्रता वहांसे ही आती है, संकल्पमें सिद्धि लानेवाली शक्ति तभी आती है जब प्राणके साथ उसका संपर्क स्थापित होता है। यदि प्राणमें केवल हठी तत्त्व ही हों तो तुम एकदम कुछ भी करनेमें सक्षम नहीं होगे। परंतु सर्वदा ही कोई चीज, कहींपर ऐसी होती है जो इच्छुक होती है — यह संभवतः कोई नगण्य वस्तु होती है, परंतु कोई-न-कोई चीज बराबर ऐसी होती है जो इच्छुक होती है। यदि एक बार एक क्षण भी भगवान्‌के विषयमें सचेतन होनेके लिये, भगवान्‌को उपलब्ध करनेके लिये अभीप्सा और संकल्प उठा हो, भले ही वह बहुत क्षणस्थायी ही क्यों न रहा हो, तो वह समस्त सत्तामें बिजलीकी तरह कौंध जानेके लिये पर्याप्त होता है — सच पूछा जाय तो शरीरके कोषाणु भी ऐसे होते हैं जो प्रत्युत्तर देते हैं। एकदम तुरत यह चीज दिखायी नहीं देती, परंतु एक प्रकारका प्रत्युत्तर सर्वत्र होता है। जिन सब भागोंने, केवल एक बार भी, प्रत्युत्तर दिया हो उनको धीरे-धीरे, सावधानीके साथ एक साथ रखकर मनुष्य कोई चीज तैयार कर सकता है जो सुसंबद्ध और सुसंगठित हो और जो उसके कार्यको संकल्प, सच्चाई और लगनके साथ जारी रखनेका अवकाश दे सके।

एक बालकमें, उसके बचपनके एक विशेष मुहूर्त्तमें जब कि चैत्य पुरुष अत्यधिक सामने हो, कोई क्षणभंगुर भावना भी यदि बाहरी चेतनाके भीतर प्रविष्ट होनेमें सफल होती है और बच्चेमें ऐसा संस्कार डाल देती है कि कोई सुन्दर चीज है जिसे संसिद्ध करना है तो वह एक छोटा-सा केंद्र उत्पन्न

करती है और इसीके ऊपर तुम अपने कार्यका निर्माण करते हो। मनुष्य-जातिका एक बहुत बड़ा दल ऐसा है जिसे हम कभी नहीं कह सकते कि "तुम्हें भगवान्‌को प्राप्त करना चाहिये" अथवा "भगवान्‌को पानेके लिये योग करो।" यदि तुम भली प्रकार निरीक्षण करो तो तुम देखोगे कि वास्तवमें एक छोटा-सा अल्पसंख्यक वर्ग ही ऐसा है जिससे यह कहा जा सकता है। इसका मतलब है कि मनुष्योंका यह अल्पसंख्यक वर्ग योग करनेके लिये "तैयार" है, बस इतना ही। इसका अर्थ है कि अनुभूतिका होना आरंभ हो गया है — यह प्रारंभ काफी है। दूसरोंमें शायद यह कोई पुरानी चीज होती है, कोई ऐसी जागृति होती है जो पूर्व-जीवनोंसे आ सकती है। परंतु हम लोग उनकी चर्चा करते हैं जो कम तैयार हैं; वे वे लोग होते हैं जिनके अंदर एक विशेष क्षणमें एक चमक आ गयी थी और वह उनकी समूची सत्तामें भर गयी थी तथा उसने प्रत्युत्तर उत्पन्न कर दिया था, पर वह पर्याप्त है। यह चीज बहुत लोगोंमें नहीं घटित होती। वे लोग जो योगके लिये तैयार होते हैं वे, यदि तुम अचेतन मानव-समूहके साथ उनकी तुलना करो, बहुत नहीं होते। परंतु एक बात निश्चित है, तुम सब जो यहां हो यह तथ्य ही यह सिद्ध करता है कि कम-से-कम तुम लोगोंमें वैसा हुआ है — ऐसे लोग हैं जो योग-मार्गपर बहुत पीछे हैं (कभी-कभी उन्हें इसकी कोई कल्पना नहीं होती), पर कम-से-कम तुम सब लोगोंमें वह चीज घटित हुई है, उस प्रकारका स्वाभाविक पूर्ण संपर्क प्राप्त हुआ है जो बिजलीके धक्केके जैसा होता है, बिजलीकी कौंध तुम्हारे अंदर फैल जाती है और तुम्हें किसी वस्तुके प्रति जागृत कर देती है : (लगता है) कोई ऐसी वस्तु है जिसे प्राप्त करना चाहिये। यह संभव है कि वह अनुभूति शब्दोंमें रूपांतरित न हुई हो, बस, एक लौके रूपमें आयी हो। पर वह यथेष्ट है। और बस इसी केंद्रके चारों ओर मनुष्य अपनेको धीरे-धीरे, क्रमशः व्यवस्थित करता जाता है। और एक बार जब वह केंद्र वहां बन जाता है, वह कभी विलीन नहीं होता। हां, यदि तुमने विरोधी शक्तियोंके साथ कोई समझौता ही कर लिया हो और उस संपर्कको तोड़ डालनेका यथेष्ट प्रयत्न करो तथा उसकी उपस्थितिकी ओर ध्यान ही न दो तो तुम यह विश्वास कर सकते हो कि वह विलीन हो गया है। और फिर भी, महज एक चमक ही उसके फिरसे वापस आ जानेके लिये पर्याप्त होती है।

यदि यह चीज बस एक बार भी तुम्हारे अंदर हुई है तो तुम अपने-आपसे कह सकते हो कि इस जीवनमें या दूसरे जीवनमें तुम्हारे लिये सिद्धि प्राप्त करना सुनिश्चित है।

२९ मार्च, १९५१

"किसी धर्मके सिद्धांत और नियम मन-निर्मित होते हैं, और यदि तुम उनसे चिपके रहो तथा मनुष्यके लिये बनाये गये जीवनके विधानोंके अंदर अपनेको बंद कर दो तो तुम आत्माके उस सत्यको जो समस्त विधानों और सिद्धांतोंसे परे है, विशाल और विराट् और स्वतंत्र है, नहीं जानते एवं नहीं जान सकते...। प्रत्येक धर्ममें कुछ ऐसे लोग होते हैं जिन्होंने उच्च आध्यात्मिक जीवनका विकास किया है। परंतु वास्तवमें धर्मने उन्हें उनकी आध्यात्मिकता नहीं दी; बल्कि उन्होंने ही उस धर्ममें अपनी आध्यात्मिकता स्थापित की। वे लोग अन्यत्र कहीं भी होते, किसी अन्य संप्रदायमें भी पैदा हुए होते तो उन्होंने वही आध्यात्मिक जीवन वहां स्थापित किया होता और यापन किया होता। वे जो कुछ भी हैं उसे बनाया है उनके अपने सामर्थ्यने, उनकी अपनी आंतर सत्ताकी किसी शक्तिने, न कि उस धर्मने जिसे उन्होंने स्वीकार किया।"

—वार्तालाप (१९२९)

क्या सभी धर्म मनकी रचनाएं हैं?

सभी धर्म अपने आरंभमें शायद वैसे नहीं थे, पर कालक्रमसे वे निश्चय ही वैसे बन गये हैं।

"हीनयान" और "महायान" क्या चीजें हैं?

ये बौद्धधर्मके शब्द हैं। मैं समझती हूं ये पाली शब्द हैं। ऐसा कहा जाता है कि उत्तरका धर्म "महायान" है और दक्षिणका धर्म "हीनयान"। हीनयान एक बिलकुल कठोर शिक्षाको मानता है और वह बुद्धके कथनके उस भागपर आधारित है जो सुरक्षित रखा गया है अथवा ऐसा विश्वास किया जाता है कि सुरक्षित रखा गया है।

तुम जानते ही हो कि बुद्ध कहा करते थे कि कोई भगवान् नहीं है, अहंका कोई स्थायित्व नहीं है, उच्चतर लोकोंकी कोई सत्ताएं नहीं हैं जो

यहां अवतरित हो सकें, कोई चीज नहीं ...। उन्होंने लगभग प्रत्येक संभव वस्तुको अस्वीकार कर दिया। दक्षिणका धर्म उसी प्रकारका है, वह चरम शून्यवादी है, वह प्रत्येक वस्तुके बारेमें ना, ना, ना, कहता है; जब कि उत्तरके धर्ममें, जिसका अभ्यास तिब्बतमें किया जाता है और जो तिब्बतसे चीन और चीनसे जापानमें फैला हुआ है, हम बोधि-सत्त्वोंको पाते हैं (जो सभी अन्य धर्मोंमें विद्यमान संतोंके जैसे हैं), पुराकालके सभी बुद्धोंको पाते हैं जो एक प्रकारके अर्ध-देवताओं या देवताओंके सदृश हैं। मैं नहीं जानती कि तुम लोगोंको उत्तरके किसी बौद्ध मंदिरको देखनेका मौका कभी मिला है या नहीं (मैंने उन्हें चीन और जापानमें देखा था), तुम वहां ऐसे बड़े-बड़े दालानोंमें प्रवेश करते हो जहां असंख्य छोटी-छोटी मूर्तियां होती हैं — सभी बोधिसत्त्व, उन बोधिसत्त्वोंके सभी शिष्य, देवता-रूपमें प्रकृतिकी सभी शक्तियां, सचमुच तुम देवताओंकी संख्या देखकर अभिभूत हो जाते हो! दूसरी ओर, यदि तुम दक्षिणमें जाओ तो वहां कुछ नहीं है, एक भी मूर्ति नहीं है। मैं समझती हूं कि वे "महायान" इसलिये कहते हैं कि वहां अंदर बहुत-सारी चीजें होती हैं; और "हीनयान" इसलिये कहते हैं कि वहां बहुत कम हैं! मैं दोनों शब्दोंका ठीक-ठीक मूल नहीं जानती।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं): **"... जब कोई अपनी स्वतंत्र पसंदका उपयोग करके किन्हीं वस्तुओंको प्राप्त करता है तभी उसके लिये उन वस्तुओंका आंतरिक मूल्य होता है और वे उसके लिये वास्तविक होती हैं, उस समय नहीं जब वे उसपर थोपी गयी हों। यदि तुम अपने धर्मके बारेमें निस्संदिग्ध होना चाहते हो तो तुम्हें उसे चुनना होगा; यदि तुम अपने देशके विषयमें निस्संदिग्ध होना चाहते हो तो तुम्हें उसे चुनना होगा; यदि तुम अपने परिवारके विषयमें निस्संदिग्ध होना चाहते हो तो उसे भी तुम्हें चुनना होगा।"**

—वार्तालाप (१९२९)

"अपने परिवारको चुननेका" का क्या मतलब है?

तुम संसारमें एक विशेष वातावरणमें, विशेष लोगोंके मध्य आये हो। जब तुम बिलकुल बालक होते हो, कुछ विरल अपवादोंके सिवा, जो कुछ तुम्हारे चारों ओर होता है वह तुम्हें एकदम स्वाभाविक प्रतीत होता है,

क्योंकि तुम उसके बीच पैदा हुए हो और उस सबके लिये पूरी तरह अभ्यस्त हो। परंतु, कुछ दिनों बाद, जब तुम्हारे अंदर कोई आध्यात्मिक अभीप्सा जाग्रत् होती है, तो बिलकुल संभव है कि तुम जिस परिवेशमें रहते आये हो उसमें अपने-आपको पूर्णतः बेचैन अनुभव करो; उदाहरणार्थ, जिन लोगोंने तुम्हें पाला-पोसा है उनमें यदि वही अभीप्सा न हो या यदि उनकी भावनाएं तुम्हारे अंदर विकसित होनेवाली भावनाओंके बहुत विपरीत हों तो तुम उनके बीच अपनेको बहुत अशांत अनुभव कर सकते हो। तब यह कहनेके स्थानपर कि "देखो तो, मैं इस परिवारका व्यक्ति हूं, अब मैं क्या करूं? मेरी मां, मेरे पिता, मेरे भाई, मेरी बहनें हैं...," तुम खोजमें निकल सकते हो (मेरा मतलब यह नहीं है कि तुम अवश्य यात्रामें निकल पड़ो), उन आत्माओंकी खोज आरंभ कर दो जिनमें तुम्हारे साथ एक प्रकारकी समानता है, जिन लोगोंमें तुम्हारी जैसी ही अभीप्सा है और, यदि तुम्हारे अंदर उन लोगोंको पानेकी सच्ची अभीप्सा हो जो तुम्हारी ही तरह किसी चीजकी खोजमें हैं, तो तुम्हें किसी-न-किसी प्रकार, बिलकुल अप्रत्याशित परिस्थितियोंमें उनसे मिलनेका अवसर सर्वदा मिलता रहेगा; और जब तुम एक या अधिक लोगोंको पा लोगे जो ठीक उसी मानसिक स्थितिमें रहते हैं और जिनमें वही अभीप्सा है तो एकदम स्वाभाविक रूपमें समीपता, घनिष्ठता, मित्रताका बंधन सृष्ट होगा और तुम लोग, अपने बीच, एक-प्रकारके भ्रातृत्वका, अर्थात् एक प्रकारके सच्चे परिवारका निर्माण करोगे। तुम लोग अब एक साथ इसलिये हो कि तुम एक-दूसरेके समीप हो, तुम एक साथ इसलिये हो कि तुममें एक ही प्रकारकी अभीप्सा है, तुम एक साथ इसलिये हो कि तुम जीवनमें एक ही लक्ष्यकी सृष्टि करना चाहते हो; बातचीत करते समय तुम एक-दूसरेको समझते हो, जब कोई बात कही जाती है तो उसपर वाद-विवाद करनेकी तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं होती और तुम एक प्रकारकी आंतरिक समस्वरतामें रहते हो। यही है सच्चा परिवार, यही है अभीप्साका परिवार, आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंका परिवार।

अब देशकी बात लें। यह सभी प्रकारकी चीजोंपर निर्भर कर सकता है, यह एक प्रकारके आंतरिक सादृश्यपर निर्भर कर सकता है। उदाहरणार्थ, यदि तुम एक देशमें जाते हो और वहां तुम अपनी अभीप्साके प्रति एक प्रकारका प्रत्युत्तर, एक आंतरिक प्रत्युत्तर पाते हो, तुम अपनी रुचियों, प्रवृत्तियोंके साथ अधिक मेल खानेवाले परिवेश पाते हो तो तुम भली-भांति इस देशमें रहनेका चुनाव कर सकते हो जो आवश्यक रूपमें वह

देश नहीं है, जहां तुम्हारा जन्म हुआ था; और चूंकि तुम उस देशका चुनाव अपने रहनेके लिये करते हो, तुम कह सकते हो, "यह मेरा देश है।" ऐसे लोग हैं, बहुतेरे लोग होते हैं जो अधिकांश समय एकदम भौतिकवादी और रुचिहीन कारणोंसे दूसरी जगह जाते और बस जाते हैं, पर दूसरे ऐसे लोग भी होते हैं जो एक ऐसे परिवेशकी खोजमें होते हैं जो उनकी आंतरिक रुचि, उनकी अभीप्साके अनुकूल हो, अथवा जो ऐसे स्थानों, जीवन-विधियोंको खोजते हैं जो उनकी गभीरतर प्रकृतिके साथ अधिक मेल खाती हों; वे फिर कहींपर बस जाते हैं और वहांसे फिर नहीं हटते, और जब वे वहां कई वर्षोंतक रह जाते हैं, वे वास्तवमें यह अनुभव कर सकते हैं कि यह देश उनका अपना ही है, जहां वे पैदा हुए थे उस मकान या गांव या नगरसे बहुत अधिक अपना है।

क्या एकदम जन्मसे ही प्राण विकृत होता है?

यदि तुम्हारा जन्म आकस्मिक न हो तो तुम भली-भांति यह मान सकते हो कि उसमें कोई विकृति नहीं है, पर जन्मके समय तुम जो कुछ होते हो वह अधिकांश समय लगभग पूर्णतः वही होते हो जो तुम्हारे पिता और माताने तुम्हें बनाया है, और फिर, उनके माध्यमसे, जो कुछ तुम्हारे दादा-दादीने तुम्हें बनाया है। प्रत्येक परिवारमें एक विशेष प्राणिक परंपरा होती है और, उसके अतिरिक्त, चेतनाकी वह स्थिति होती है जिसमें तुम निर्मित होते हो, गर्भस्थ होते हो — वह क्षण जिसमें तुम गर्भमें आये थे — और वह, लाखों बारमें एक बार भी, वह अवस्था सच्ची अभीप्साको पुष्ट नहीं करती; और सच पूछा जाय तो केवल सच्ची अभीप्सा ही तुम्हारे प्राणको सब प्रकारकी मिलावटोंसे शुद्ध रख सकती है, जो प्राण-तत्त्व सत्ताका निर्माण करनेके लिये आकर्षित हुआ है उसे सब प्रकारकी छूतसे मुक्त, एक शुद्ध तत्त्व बना सकती है। मेरा मतलब यह है कि यदि चैत्य पुरुष वहां प्रवेश करता है तो वह अपने विकासके अनुकूल तत्त्वोंको एकत्र कर सकता है। संसार अभी जैसा है, उसमें वस्तुएं इतनी अधिक मिली-जुली हैं, हर प्रकारसे इतनी अधिक मिल-जुल गयी हैं कि पूरी मात्रामें शुद्ध प्राण-तत्त्वोंको प्राप्त करना प्रायः असंभव है और इसलिये वे अन्य सभी दूषित सत्ताओंकी छूत ग्रहण कर लेते हैं।

मैं समझती हूं इस विषयमें मैं पहले कह चुकी हूं, मैंने कहा है कि बच्चेके जन्मसे पहले माता-पितामें किस प्रकारकी अभीप्सा होनी चाहिये; परंतु जैसा कि मैं कह चुकी हूं, इस तरहकी चीज हजारों-लाखों उदाहरणों-

मेंसे एकमें भी नहीं होती। किसी बच्चेका इच्छित गर्भाधान अत्यंत विरल है; अधिकांशतः यह एक संयोग होता है। असंख्य माता-पिताओंमें बिलकुल थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो साधारण रूपमें भी यह चिंता करते हैं कि बच्चेको कैसा होना चाहिये; वे यह जानते भी नहीं कि बच्चा कैसा होगा, यह इस बातपर निर्भर है कि वे स्वयं क्या हैं। वास्तवमें बहुत थोड़े-से विशिष्ट लोग ही ऐसे होते हैं जो इसे जानते हैं। अधिकतर समय तो चीज वैसे ही घटित होती जैसा कि संभव होता है; एकदम कोई भी चीज घटित होती है और लोग यह समझतेतक नहीं कि क्या घटित हो रहा है। सो, ऐसी परिस्थितियोंमें तुम कैसे आशा करते हो कि तुम एक ऐसी प्राण-सत्ताके साथ जन्म लोगे जो तुम्हें सहायता करनेके लिये पर्याप्त विशुद्ध होगी? सच पूछो तो मनुष्य कीचड़के साथ उत्पन्न होता है जिसे जीना आरंभ करनेसे पहले उसे साफ करना पड़ता है। और एक बार जब तुम आंतरिक रूपांतरके पथपर अच्छे ढंगसे पग रख देते हो और सत्ताकी अवचेतन जड़तक भीतर चले जाते हो — जो कुछ ठीक माता-पितासे, पूर्वपुरुषानुकृतिसे आता है — हां, तुम ठीक देखते हो कि वह क्या है! और सभी, लगभग सभी कठिनाइयां वहां ही रहती हैं, बहुत थोड़ी-सी चीजें ही जीवनके प्रथम वर्षोंके बाद हमारी सत्तामें आ जुड़ती हैं। ऐसा किसी भी अनोखे क्षणमें घटित होता है; यदि तुम बुरी संगतमें पड़ते हो या बुरी पुस्तकें पढ़ते हो, विष तुम्हारे अंदर घुस सकता है; परंतु सभी संस्कार अवचेतनामें हैं जो गहराईतक जड़ जमाये बैठे हैं, सभी गंदी आदतें हैं जो तुममें हैं और जिनके साथ तुम संघर्ष करते हो। उदाहरणार्थ, ऐसे लोग होते हैं जो कोई झूठ बात बोले बिना अपना मुंह ही नहीं खोल सकते, और वे सर्वदा ऐसा जान-बूझकर नहीं करते (यह सबसे बुरी बात है), अथवा ऐसे लोग होते हैं जो झगड़ा किये बिना, सभी प्रकारकी मूर्खताएं किये बिना दूसरोंके संपर्कमें नहीं आ सकते — ये सब चीजें अवचेतनामें विद्यमान हैं, गहराईतक जड़ जमाये हुए। अब, जब कि तुम्हारे अंदर शुभेच्छा जगती है, बाहरी जीवनमें उन सब चीजोंसे बचनेका, उन्हें सुधारनेका, यदि संभव हो, तुम भरसक प्रयत्न करते हो; तुम इसके लिये कार्य करते हो, संघर्ष करते हो; फिर तुम्हें यह ज्ञात होता है कि यह चीज बराबर उमड़ती रहती है, यह किसी ऐसे भागसे उमड़ती है जो तुम्हारे वशके बाहर है। परंतु तुम यदि इस अवचेतनामें प्रवेश करो, यदि तुम अपनी चेतनाको उसके अंदर छन-छनकर भीतर पैठने दो, और सावधानीके साथ दृष्टि दौड़ाओ तो धीरे-धीरे तुम अपनी सभी कठिनाइयोंके सभी मूलस्रोतोंका, सभी उद्गम स्थानोंका पता पा जाओगे; तब तुम यह समझना

आरंभ करोगे कि तुम्हारे माता-पिता, दादा-दादी क्या थे, और यदि किसी विशेष मुहूर्त्तमें तुम अपनेको वशमें करनेमें असमर्थ होओ तो तुम समझ जाओगे कि "मैं इस प्रकारका इसलिये हूं कि वे ऐसे ही थे।"

यदि तुम्हारे अंदर एक चैत्य पुरुष है जो यथेष्ट जाग्रत् है और तुम्हारे ऊपर निगरानी रख सकता है, तुम्हारा मार्ग तैयार कर सकता है तो वह तुम्हारी ओर उन चीजोंको खींच सकता है जो तुम्हें सहायता दे सकें, लोगोंको, पुस्तकोंको, परिस्थितियोंको खींच सकता है, सब प्रकारके छोटे-छोटे संयोगोंको खींच सकता है जो तुम्हारे पास इस तरह आते हैं मानों कोई हितैषी संकल्प-शक्ति उन्हें ले आयी हो और तुम्हें निर्णय लेनेके लिये एक संकेत, एक सहायता, एक अवलंब प्रदान कर रही हो तथा तुम्हें सही दिशामें मोड़ रही हो। परंतु एक बार जब तुम यह निर्णय ले लेते हो, एक बार तुम अपनी सत्ताके सत्यको खोज निकालनेका निश्चय कर चुकते हो, एक बार तुम सच्चाईके साथ मार्गपर चलना शुरू कर देते हो, फिर ऐसा लगता है कि सभी चीजें तुम्हें आगे बढ़नेमें सहायता करनेके लिये एकमत हैं, और यदि तुम सावधानीके साथ निरीक्षण करो तो तुम क्रमशः अपनी कठिनाइयोंका मूल देखने लगते हो: "ओह! ठहरो एक मिनट, यह कमी मेरे पितामें थी; आह! यह आदत मेरी मातामें थी; आह! मेरी दादी इस प्रकारकी थी, मेरे दादा इस प्रकारके थे," अथवा ठीक वह धाई हो सकती है जिसने तुम्हारे बचपनमें तुम्हारी देख-भाल की, या भाई और बहनें हो सकती हैं जो तुम्हारे साथ खेले-कूदे, बचपनके मित्र हो सकते हैं जो तुमसे मिले-जुले, और तुम देखोगे कि यह सब इस या उस या अन्य व्यक्तिमें था। परंतु तुम यदि सच्चे बने रहो तो तुम देखोगे कि तुम इस सबको बिलकुल शांतिके साथ पार कर सकते हो, और कुछ दिन बाद उन सभी जंजीरोंको काट सकते हो जिनके साथ तुम पैदा हुए थे, बन्धनों-को तोड़ सकते और स्वतंत्रतापूर्वक पथपर अग्रसर हो सकते हो।

यदि तुम वास्तवमें अपने चरित्रको रूपांतरित करना चाहते हो तो बस यही चीज तुम्हें करनी होगी। सर्वदा ही यह कहा गया है कि अपने स्वभावको बदलना असंभव है; दर्शनके, यहांतक कि योगके सभी ग्रंथोंमें एक ही कहानी कही गयी है: "तुम अपना चरित्र नहीं बदल सकते, तुम वैसे ही पैदा हुए हो, तुम वैसे ही हो।" यह एकदम गलत है, मैं विश्वास दिलाती हूं कि यह मिथ्या है; परंतु एक चीज है जिसे अपने चरित्रके परिवर्तनके लिये करना बहुत कठिन है, क्योंकि वास्तवमें तुम्हें अपने चरित्रको नहीं, बल्कि अपने पूर्ववर्ती पुरुषोंके चरित्रको भी बदलना होगा। उनके अंदर तुम इसे नहीं बदल पाओगे (क्योंकि उनमें ऐसी इच्छा नहीं है), बल्कि

स्वयं अपने अंदर ही तुम्हें उसे बदलना होगा। यही चीज उन्होंने तुम्हें दी है, ये ही सब छोटे-छोटे उपहार — सुन्दर उपहार — उन्होंने तुम्हें तुम्हारे जन्मके समय दिये हैं, इन्हीं चीजोंको तुम्हें परिवर्तित करना होगा। परंतु तुम यदि इन चीजोंके सूत्रको, सच्चे सूत्रको पकड़ पानेमें सफल होओ क्योंकि तुमने लगन और सच्चाईके साथ इसके लिये कार्य किया है, तो एक शुभ मुहूर्त्तमें तुम मुक्त हो जाओगे; ये सब चीजें तुमसे झड़ जायंगी और तुम बिना किसी बोझके जीवनमें एक नया प्रवेश पा सकोगे। तब तुम एक नवीन मनुष्य हो जाओगे, एक नवीन जीवन यापन करोगे, लगभग एक नवीन स्वभावके साथ। और तुम यदि पीछेकी ओर ताको तो तुम कहोगे, "यह संभव नहीं है, मैं कभी ऐसा नहीं था!"

३१ मार्च, १९५१

"क्या समस्त शारीरिक व्याधियोंका मूल कारण मनकी ही किसी अव्यवस्थामें खोजा जा सकता है?"

—वार्तालाप (१९२९)

यदि कोई एक मानसिक अव्यवस्था हो जो सभी बीमारियां पैदा कर सकती हो तो वह है भय।

परंतु प्रत्येक व्यक्ति अपना निजी परीक्षण कर सकता है। यदि किसीका गला खराब हो गया हो तो इसका कारण यह हो सकता है कि एक दिन पहले वह अवसादकी स्थितिमें था। अथवा, शायद कोई व्यक्ति बहुत दुःखी, असंतुष्ट है, उसे प्रत्येक वस्तु बहुत बुरी लगती है, और दूसरे दिन उसके सिरमें ठंड लग जाती है....। प्रत्येक व्यक्ति अपना निजी पर्यवेक्षण कर सकता है।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं): **"शरीरका प्रत्येक स्थान किसी-न-किसी आंतरिक गतिका प्रतीकरूप होता है; यहां इनमें एक बहुत बड़ा सूक्ष्म सादृश्य है।... शरीरके जिस विशिष्ट स्थलको रोगने आक्रांत किया है वह इस बातका सूचक होता है कि जो आंतरिक असामंजस्य घटित हुआ है उसका स्वरूप**

क्या है। वह व्याधिके मूलको दिखा देता है, रोगका जो कारण होता है उसका वह एक चिह्न होता है। वह यह भी प्रकट कर देता है कि जो प्रतिरोध समस्त सत्ताको एक ही समान तेज चालसे आगे बढ़नेसे रोकता है, उसका स्वरूप क्या है। वह यह भी सूचित करता है कि उसका उपचार और औषध क्या है। यदि कोई पूर्णतः यह समझ जाय कि भूल कहांपर है, यह जान जाय कि कौन-सा भाग ग्रहणशील नहीं है, उस भागको खोल दे और वहां शक्ति और प्रकाश डाले तो जो सामंजस्य भंग हो गया है उसे एक क्षणमें पुनः स्थापित करना संभव हो जायगा और बीमारी तुरत दूर हो जायगी।"

(वही)

क्या आप यह समझायेंगी कि किस प्रकार शरीरका प्रत्येक भाग किसी आंतरिक गतिका प्रतीकरूप होता है?

प्राचीन दीक्षा-पद्धतियोंमें, उन लोगोंसे जिन्हें पहलेसे ही इन चीजोंका ज्ञान प्राप्त होता था, महज यह कहनेकी परिपाटी थी कि "यह सत्य है" या "यह गलत है।"

क्या इस विषयमें कोई व्यक्ति अपना अनुभव बता सकता है? स्वभावतः ही इसके लिये तुममें एक विशेष आंतरिक स्थिति और शरीरके एक विशेष अंगके बीचका पारस्परिक संबंध बतानेकी योग्यता अवश्य होनी चाहिये।

एक बार मैंने आपसे किसी दर्दके विषयमें शिकायत की और आपने मुझसे पूछा कि शरीरके किस भागमें वह दर्द है। जब मैंने आपको बताया तो वह दर्द दूर हो गया, यद्यपि मुझे यह मालूम नहीं था कि उसका प्राण, मन आदि-आदिसे क्या संबंध था।

इसमें मुझे कोई विरोध नहीं दिखायी देता! .... आध्यात्मिक ढंगसे किसी रोगको दूर करनेके दो तरीके हैं। एक तरीका है चेतना और सत्यकी शक्तिको शरीरके उस स्थानपर प्रयुक्त करना जो रोगाक्रांत हो। इस हालतमें प्रभावका उत्पन्न होना स्वभावतः ही व्यक्तिकी ग्रहणशीलतापर निर्भर करता है। मान लिया कि व्यक्ति ग्रहणशील है; अब चेतनाकी शक्ति रोगाक्रांत भागपर प्रयुक्त की जाती है और उसके दबावसे सुव्यवस्था

व्यापित हो जाती है। यहां विद्यमान तुम लोगोंमेंसे बहुत-से लोग यह बता सकते हैं कि श्रीअरविंदने किस प्रकार उन्हें निरोग कर दिया। वह मानों एक हाथ जैसी चीज थी जो आयी और दर्दको उठा ले गयी। यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है जितनी कि वह बात।

दूसरे तरीकेमें, यदि शरीरमें ग्रहणशीलताका एकदम अभाव हो, अथवा उसकी ग्रहणशीलता अपर्याप्त हो, तब यह देखा जाता है कि मनोवैज्ञानिक अवस्थाके साथ वह आंतरिक मेल क्या है जिसने बीमारी पैदा की है और उसपर कार्य किया जाता है। परंतु बीमारीका कारण यदि कठिन हो तो विशेष कुछ नहीं किया जा सकता। मान लो कि रोगका मूल प्राणमें है। प्राण पूर्ण रूपसे परिवर्तित होना अस्वीकार करता है, वह भयानक रूपमें अपनी वर्तमान अवस्थासे चिपका रहता है; फिर तो वह असाध्य है। तुम शक्तिका प्रयोग करते हो पर प्राणके — जो इस बारेमें कुछ समझना नहीं चाहता — प्रतिरोध स्वरूप साधारणतया रोग बढ़ ही जाता है। मैं प्राणकी बात कह रही हूं पर वह मन या दूसरी भी कोई चीज हो सकती है।

जब क्रिया सीधे शरीरपर, अर्थात्, रुग्ण भागपर की जाती है तो यह संभव है कि बीमारी दूर हो जाय, तब, कुछ घंटों बाद या कुछ दिनोंके बाद भी, बीमारी लौट आती है। इसका मतलब यह है कि रोगके कारण-को नहीं बदला गया है, कारण प्राणमें है और वह अभी भी वहां है; वास्तवमें केवल रोगके प्रभावको ही दूर किया गया है। परंतु कोई यदि एक साथ कारण और प्रभाव दोनोंपर कार्य कर सके, और कारण इतनी पर्याप्त मात्रामें ग्रहणशील हो कि परिवर्तनके लिये सहमत हो जाय तो फिर मनुष्य पूर्ण रूपसे, सदाके लिये निरोग हो जाता है।

एक बार मुझे एक बीमारी हुई जो लगभग एक अनुभवके जैसी थी। मैं ईर्ष्यासे मुक्त होना चाहता था। सारी रात मैंने बहुत अधिक दबाव अनुभव किया, मेरे समूचे शरीरमें दर्द हो रहा था, एकदम हड्डियोंतकमें। दूसरे दिन मेरे पेटमें दर्द हो गया और अपने भाईके द्वारा मैंने आपको खबर भेजी। आपने उनसे कहा कि यदि मैं कुछ घंटोंके भीतर अच्छा नहीं हो जाता तो आप डाक्टरको भेजेंगी। मेरे भाई मुझे यह बताना भूल गये कि आपसे उनकी मुलाकात हुई थी और आपने उनसे ऐसा कहा था, परंतु मुझे पीछे पता चला कि ठीक जिस मुहूर्त्त आपने उनसे बातचीत की थी उसी मुहूर्त्त मैं निरोग हो गया था।

मुझे मालूम हो गया था कि तुम अच्छे हो गये हो!

हम शरीरकी ग्रहणशीलताको कैसे बढ़ा सकते हैं?

यह शरीरके अंगपर निर्भर करता है। सत्ताके सभी भागोंके लिये पद्धति प्रायः एक ही है। प्रथमतः, सबसे पहली शर्त्त है: जितना संभव हो उतना शांत-स्थिर बने रहना। तुम लक्ष्य कर सकते हो कि तुम्हारी सत्ताके विभिन्न भागोंमें जब कोई चीज आती है और तुम उसे ग्रहण नहीं करते तो इससे एक प्रकारकी सिकुड़न उत्पन्न होती है — प्राण, मन या शरीरमें कोई चीज ऐसी होती है जो सख्त हो जाती है। वहां एक प्रकारकी कठोरता आ जाती है और वह कठोरता चोट पहुंचाती है, हम कोई मानसिक, प्राणिक या शारीरिक दर्द अनुभव करते हैं। सो, पहली चीज है अपने संकल्पका प्रयोग करना और इस सिकुड़नको ढीला कर देना, जैसे कि हम किसी ऐंठ गयी स्नायु या तने हुए पुट्ठेको शिथिल करते हैं। तुम्हें अपने-आपको शिथिल करना सीखना होगा, और इस तनावको, चाहे वह सत्ताके किसी भी भागमें क्यों न हो, दूर करनेमें तुम्हें समर्थ होना चाहिये। इस सिकुड़नको ढीला करनेकी पद्धति मन, प्राण या शरीरमें अलग-अलग हो सकती है, पर न्यायतः यह है एक ही चीज। एक बार जब तुम तनावको शिथिल कर लो तो तुम सबसे पहले यह देखो कि अरुचिकर प्रभाव बन्द हो गया है या नहीं, इससे यह सिद्ध होगा कि वह कोई तुच्छ क्षणस्थायी प्रतिरोध था, परंतु दर्द यदि जारी रहे और यदि सहायक चीजोंको, ग्रहणीय वस्तुओंको ग्रहण करने योग्य बननेके लिये ग्रहणशीलता बढ़ानेकी आवश्यकता वास्तवमें हो तो तुम, इस सिकुड़नको ढीली करनेके बाद, अपने-आपको विस्तारित करनेकी कोशिश करना आरंभ कर दो — तब तुम अनुभव करते हो कि तुम विस्तारित हो रहे हो। इसकी कई पद्धतियां हैं। कुछ लोगोंको यह कल्पना करना बहुत लाभदायी प्रतीत होता है कि वे अपनी पीठके नीचे एक तख्ता रखकर पानीपर तैर रहे हैं। फिर वे अपनेको फैलाते हैं, फैलाते जाते हैं, जबतक कि वे विशाल जलराशि नहीं बन जाते। दूसरे लोग आकाश और सितारोंके साथ तादात्म्य स्थापित करनेका प्रयत्न करते हैं, अतएव वे अपने-आपको विस्तारित करते, विस्तारित करते जाते हैं और आकाशके साथ अधिकाधिक एकात्म होते जाते हैं। फिर दूसरे कुछ लोगोंको इन मानसिक चित्रोंकी कोई आवश्यकता नहीं होती; वे अपनी चेतनाके विषयमें सचेतन हो सकते हैं, अपनी चेतनाको अधिकाधिक विस्तारित कर सकते हैं जबतक कि वह

मालूम नहीं हो जाती। हम उसे तबतक फैला सकते हैं जबतक कि वह पृथ्वीकी तरह, यहांतक कि विश्वकी तरह विशाल नहीं बन जाती। जब मनुष्य ऐसा करता है वह वास्तवमें ग्रहणशील बन जाता है। जैसा कि मैंने कहा है, यह बस प्रशिक्षणका प्रश्न है। पर जो हो, तात्कालिक दृष्टिकोणसे, जब कोई चीज आती है और मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह अत्यंत जोरदार है, उससे सिर-दर्द होता है, उसे सहा नहीं जा सकता तो पद्धति ठीक वही है, तुम्हें सिकुड़नेके ऊपर कार्य करना चाहिये। हम विचारके द्वारा कार्य कर सकते हैं, इस प्रकार शांति, स्थिरताको (शांति-का अनुभव कठिनाईका बहुत-सा भाग हटा देता है) पुकारकर कार्य कर सकते हैं: "शांति, शांति, शांति.... स्थिरता... अचंचलता।" इस तरह बहुत-से दुःख-कष्ट, यहांतक कि स्नायुगुच्छकी इन सब सिकुड़नोंकी जैसी शारीरिक व्याधियां भी दूर हो सकती हैं जो इतनी अधिक दुःखदायी होती हैं और कभी-कभी जिनके कारण जी मचलाता है, दम घुटनेका बोध होता है और सांस लेनेमें भी कठिनाई मालूम होती है। वास्तवमें यह स्नायु-केंद्र है जो प्रभावित होता है, वह बहुत आसानीसे प्रभावित हो जाता है। जैसे ही कोई ऐसी चीज आये जो स्नायु-केंद्रको प्रभावित करती है, वैसे ही तुम्हें कहना चाहिये, "शांति... शांति... शांति," अधिकाधिक शांत-स्थिर होना चाहिये जबतक कि तनाव दूर न हो जाय।

विचारके विषयमें भी यही बात है। उदाहरणार्थ, तुम कोई चीज पढ़ रहे हो और तुम्हारे सामने एक ऐसा विचार आता है जिसे तुम नहीं समझते — वह तुम्हारी पहुंचसे परे है, तुम कुछ भी नहीं समझते और इस-लिये तुम्हारे मस्तिष्कमें वह पत्थरकी तरह जम जाता है, और यदि तुम उसे समझनेकी कोशिश करते हो तो वह अधिकाधिक पत्थरकी तरह जमता जाता है। एक कठोरता आ जाती है, और यदि तुम समझनेका प्रयत्न जारी रखो तो वह सिर-दर्द पैदा कर देता है। बस, केवल एक ही चीज करनेकी है: शब्दोंके साथ संघर्ष न करो, ठीक इस प्रकार बने रहो (**संकेत: विस्तारित होना, अचल-अटल बने रहना**), शिथिलता उत्पन्न करो, बस, फैलते जाओ, अधिकाधिक फैलते जाओ। और समझनेका प्रयास मत करो, सर्वोपरि, समझनेका प्रयास मत करो — उसे इस भांति, एकदम धीरे-धीरे, प्रवेश करने दो, और अपनेको शिथिल कर दो, शिथिल कर दो, और इस प्रकार शिथिल होनेपर तुम्हारा सिर-दर्द चला जायगा। अब तुम किसी चीजका चिंतन नहीं करते, कुछ दिनों प्रतीक्षा करते हो और कुछ दिनों बाद अंदरसे देखते हो: "ओह! कितना स्पष्ट है यह! जो मैंने नहीं समझा था उसे मैं समझ रहा हूं।" यह बात प्रायः इतनी ही आसान है। जब

तुम कोई किताब पढ़ते हो जो तुम्हारी समझके परे है, जब तुम ऐसे वाक्य पाते हो जिन्हें तुम नहीं समझ सकते — मनुष्य ऐसा अनुभव करता है कि मस्तकमें उसके साथ कोई संगति नहीं है — हां, तब तुम्हें ऐसा ही करना चाहिये; तुम उस चीजको एक बार, दो बार, तीन बार पढ़ते हो और फिर शांत-स्थिर बने रहते हो तथा मनको निश्चल-नीरव बना देते हो। कोई पंद्रह दिन बाद, तुम फिरसे उसी परिच्छेदको लेते हो और वह दिवालोककी तरह स्पष्ट हो जाता है। मस्तकमें प्रत्येक चीज व्यवस्थित कर दी गयी है, मस्तिष्कके जो तत्त्व समझनेके लिये अभीष्ट थे वे निर्मित हो गये हैं, धीरे-धीरे सारी बात संपन्न हो गयी है और तुम समझने लगे हो। मैं बहुत-से लोगोंको जानती हूं जो मेरे कुछ कहनेपर तर्क किया करते थे — वे एकदम कुछ नहीं समझते थे। वे अपने मनमें बंद थे जो विचारको पकड़ नहीं पाता था, जो उसे बाहर फेंक देता था, उग्रभावसे अस्वीकार कर देता था। तुमने कुछ बात कही है, तुम हठ नहीं करते; तुमने उसे कही है, बस; यदि आवश्यक हो तो उसे दूसरी बार कहते हो, परंतु तुम उसपर कोई आग्रह नहीं करते। एक सप्ताह, एक माह बाद, ठीक वे ही लोग तुमको खोजते हुए आते हैं और प्रबल विश्वासके साथ तुमसे कहते हैं, "परंतु बातें ऐसी हैं, तुम नहीं समझते, बातें ऐसी हैं!" उनकी बात ठीक-ठीक वही होती है जो तुमने उनसे कही थी। परंतु वे तुमसे कहते हैं, "मैंने इस विषयमें विचार किया है, अब मैं जान गया हूं कि यह बात ऐसी है, यह वास्तवमें यही है।" यदि तुम दुर्भाग्यवश उनसे यह कह दो कि "परंतु ठीक यही बात तो मैंने तुमसे कही थी," तो उनका मुंह उतर जाता है और फिर वे कुछ नहीं समझ पाते!

रोग सूक्ष्म शरीरके भीतरसे प्रवेश करते हैं, ठीक है न? उन्हें कैसे रोका जा सकता है?

ओह! इस विषयमें...। यदि हम बहुत संवेदनशील, बहुत संवेदनशील हों — हमें बहुत संवेदनशील होना होगा — जिस क्षण वे सूक्ष्म शरीरको छूते हैं और उसके भीतरसे घुसनेकी कोशिश करते हैं, हम उसे अनुभव करते हैं। यह शरीरको छूनेवाली किसी चीजके सदृश नहीं है, यह एक प्रकारकी अनुभूति है। यदि उस क्षण उन्हें देख सकनेकी शक्ति तुममें हो तो तुममें उन्हें "ना" कहनेकी शक्ति भी सर्वदा रहती है, और वे वापस चले जाते हैं। परंतु इसके लिये हमें अत्यंत संवेदनशील होना चाहिये। पर जो हो, वह चीज विकसित होती है। ये सब चीजें संकल्प-शक्तिके

द्वारा विधिवत् विकसित की जा सकती है। तुम इस आवरणके विषयमें पूर्णतः सचेतन हो सकते हो, और यदि तुम इस गुणको पर्याप्त रूपमें विकसित करो तो तुम्हें ताकने और देखनेकी भी आवश्यकता नहीं होती, तुम अनुभव करते हो कि किसी वस्तुने तुम्हें स्पर्श किया है। मैं इस बातका एक उदाहरण तुम्हें दूंगी, इस प्रकारके बहुत-से उदाहरण हैं।

एक महिला अपने अंतरस्थ 'देवता'के साथ, न केवल अपने चैत्य पुरुषके साथ वरन् चैत्य पुरुषमें विद्यमान भागवत 'उपस्थिति' के साथ सतत और सचेतन —पूर्णतः सतत और सचेतन — संपर्क स्थापित करनेका प्रयास कर रही थी, और उसने निश्चय किया था कि वह ऐसा अवश्य करेगी, वह अन्य किसी चीजमें व्यस्त नहीं रहेगी, तात्पर्य, वह जो कुछ भी करे, उसकी एकाग्रता उसी बातपर रहेगी, यहांतक कि जब वह सड़कपर चलेगी तब भी वह इसी बातपर एकाग्र होगी। वह एक बड़े शहरमें रहती थी जहां गाड़ियोंका आवागमन बहुत था: बस, ट्रामगाड़ियां आदि बहुतेरी चीजें थीं, और सड़कको पार करनेके लिये मनुष्यको बहुत अधिक सावधान, सचेत और जागरूक रहना पड़ता था, अन्यथा मनुष्य गाड़ियोंके नीचे कुचल सकता था, परंतु इस स्त्रीने प्रतीज्ञा की थी कि वह अपनी एकाग्रतासे बाहर नहीं आयेगी। एक दिन जब वह एक बहुत बड़े राजपथको पार कर रही थी जिसपर मोटरगाड़ियों, ट्रामगाड़ियों आदि सबकी भीड़ थी और फिर भी अपनी एकाग्रताकी, अपनी आंतरिक खोजकी गहराईमें डूबी थी, एकाएक उसने लगभग एक हाथकी दूरीपर एक छोटा-सा धक्का, इस तरह अनुभव किया; वह पीछेकी ओर कूद गयी और एक मोटरगाड़ी ठीक उसकी बगलसे निकल गयी। यदि वह पीछे न कूदी होती तो वह गाड़ीके नीचे आ गयी होती...। यह एक चरम अवस्था है, परंतु इतनी दूर गये बिना भी मनुष्य बहुत आसानीसे एक प्रकारकी मामूली बेचैनीका (यह कोई ऐसी चीज नहीं होती जो बहुत जोरके साथ थोप दी जाय) अनुभव कर सकता है, एक मामूली-सी अशांति एकदम कहींसे भी — सामने, पीछे, ऊपर, नीचेसे तुम्हारे पास आ सकती है। यदि उस समय तुम पर्याप्त सजग होओ तो तुम "नहीं" कह देते हो, मानों तुम बड़े जोरके साथ संपर्कको छिन्न कर रहे होओ, और वह चीज समाप्त हो जाती है। यदि तुम उस क्षण सचेत न होओ तो दूसरे क्षण या कुछ क्षण बाद तुम्हें अपने अंदर एक विचित्र रुग्णताका बोध होता है, पीठमें ठंडक, जरा-सी बेचैनी, किसी असामंजस्यका प्रारंभ होना अनुभूत होता है; तुम कहींपर एक प्रकारकी अव्यवस्थाका अनुभव करते हो, मानों सामान्य समस्वरता भंग हो गयी हो। तब तुम्हें और भी अधिक एकाग्र होना चाहिये और महान् संकल्प-शक्तिके साथ यह विश्वास

बनाये रखना चाहिये कि कोई भी चीज मुझे हानि नहीं पहुंचा सकती, कोई भी चीज मुझे छू नहीं सकती। बस, इतना काफी होता है, तुम उस समय बीमारीको दूर फेंक सकते हो। परंतु तुम्हें यह कार्य तुरत-फुरत करना चाहिये, समझे न, तुम्हें पांच मिनट रुक नहीं जाना चाहिये, इसे एकदम तुरत करना चाहिये। यदि तुम बहुत देरतक रुक जाओ और कहींपर सचमुच बेचैनी अनुभव करने लगो, और कोई चीज एकदम उद्विग्न होना आरंभ कर दे, तो उस समय यह अच्छा है कि तुम बैठ जाओ, एकाग्र होओ और 'शक्ति' को पुकारो, उसे उस स्थानपर एकाग्र करो जो उद्विग्न हो रहा है, कहनेका मतलब, जिसने बीमार होना प्रारंभ कर दिया है। पर तुम यदि बिलकुल ही कुछ न करो तो सचमुच कोई-न-कोई बीमारी कहीं-पर जमकर बैठ जाती है; और वह सब इस कारण कि तुम पूरी तरह जागरूक नहीं थे। और कभी-कभी तो हमें फिरसे अनुकूल समय पाने और इस मामलेसे छुट्टी पानेके लिये समूचे चक्रका अनुसरण करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। मैंने कहींपर कहा है कि भौतिक क्षेत्रमें सब कुछ एक पद्धतिका प्रश्न है — प्रत्येक वस्तुको प्राप्त करनेके लिये एक पद्धतिकी आवश्यकता होती है। यदि बीमारीने स्थूल भौतिकको स्पर्श करनेमें सफलता पा ली है तो तुम्हें उससे मुक्त होनेके लिये आवश्यक प्रक्रियाका अनुसरण करना ही होगा। यही चीज है जिसे चिकित्सा-विज्ञान "रोगकी गति-धारा" कहता है। हम आध्यात्मिक शक्तियोंकी सहायतासे गति-धारा-को तेजीसे आगे बढ़ा सकते हैं, पर सब होते हुए प्रक्रियाका अवश्य अनुसरण करना होता है। इसकी कोई चार अलग-अलग अवस्थाएं हैं। एकदम पहली है तात्कालिक। दूसरी कुछ मिनटोंके भीतर की जा सकती है, तीसरी कई घंटे ले सकती है और चौथी कई दिन। और फिर, जब एक बार रोग घर कर लेता है, सब कुछ केवल शरीरकी ग्रहणशीलतापर ही निर्भर नहीं करेगा बल्कि उससे भी अधिक उस भागकी रजामंदीपर भी निर्भर करेगा जो कि अव्यवस्थाका कारण है। जानते हो न, जब कोई चीज बाहरसे आती है तो वह भीतरकी किसी चीजके साथ मिलती-जुलती है। यदि वह भीतर घुस पाती है, उसके विषयमें हमारे सज्ञान हुए बिना ही प्रवेश कर जाती है तो इसका मतलब है कि हमारे अंदर कहीं कोई सादृश्य है, और सत्ताके जिस भागने प्रत्युत्तर दिया है उसे विश्वास दिलाना और मनाना होगा।

मुझे वास्तवमें कुछ असाधारण उदाहरण मालूम हैं। यदि इस समय तुम....। ठहरो, एक दृष्टांत लो जो बिलकुल ठोस है: लू लगना। लू तुम्हें बहुत अधिक विक्षुब्ध कर देती है, यह एक ऐसी चीज है जो तुम्हें

अत्यंत बीमार बना देती है — सूर्याघात सब कुछ अस्तव्यस्त कर देता है, यह भीतरी क्रियाओंको उलट-पलट देता है, यह प्रायः मस्तकमें रक्ताधिक्य और बहुत अधिक ज्वर उत्पन्न कर देता है। अतएव, यदि लू लग गयी हो, यदि वह संरक्षणके भीतरसे जाने और तुम्हारे अंदर प्रविष्ट होनेमें सफल हो गयी हो, तब, यदि तुम उसी समय किसी नीरव स्थानमें जा सको, बिस्तर लेट जाओ, अपने शरीरसे बाहर निकल जाओ (स्वभावतः ही तुम्हें ऐसा करना सीखना होगा; कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने-आप स्वाभाविक रूपसे में ऐसा कर लेते हैं, पर दूसरोंको एक लंबे प्रशिक्षणकी आवश्यकता होती है), अपने शरीरसे बाहर निकल जाओ, इस प्रकार ऊपर बने रहो कि अपने शरीरको देख सको (क्या तुम इस क्रियाको, शरीरसे बाहर रहकर शरीरको देखनेकी क्रियाको जानते हो? ऐसा स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है, अपने शरीरसे बाहर जाकर और ठीक उसके ऊपर रहकर उसे देखा जा सकता है), शरीर किसी बिछौनेपर, किसी तिपाईपर, जमीनपर, कहीं पर लंबा पड़ा हुआ है; तुम ठीक उसके ऊपर फैले हुए हो और वहांसे, ज्ञान पूर्वक, ऊपरसे 'शक्ति'को खींचते हो, और तुम्हें यदि ऐसा करनेका अभ्यास हो, यदि तुम्हारी अभीप्सा बहुत प्रबल हो तो तुम्हें प्रत्युत्तर मिलता है और फिर, वहांसे, अपने शरीरमें वापस न आनेकी सावधानी बरतते हुए तुम इन शक्तियोंको अपने शरीरमें धकेलना शुरू करते हो, इस प्रकार नियमित, जबतक कि तुम शरीरको उन्हें ग्रहण करते हुए नहीं देखते (क्योंकि, आरंभमें कुछ क्षण वे नहीं घुसतीं, क्योंकि शरीर बीमारीके कारण बिलकुल अस्तव्यस्त होता है, वह ग्रहणशील नहीं होता, वह सिकुड़ा हुआ होता है), तुम उन्हें धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा, चुपचाप, बिना घबड़ाये, बहुत शांतिके साथ शरीरमें धकेलते हो। परंतु उस समय किसी मनुष्यको आकर तुम्हें बाधा नहीं देनी चाहिये। यदि कोई वहां आये, तुम्हें लेटे हुए देखे और तुम्हें हिलाये तो यह अत्यंत खतरनाक है। तुम्हें इसे शांत-नीरव अवस्थाओंमें करना चाहिये, लोगोंसे पहले ही बाधा न देनेके लिये कह दो अथवा उत्तम तो यह है कि तुम अपनेको ऐसी जगह बंद कर लो जहां वे तुम्हें बाधा न दे सकें। परंतु तुम धीरे-धीरे एकाग्र होओ (इसमें कम या अधिक समय लगता है — दस मिनट, आधा घंटा, एक घंटा, दो घंटा, — यह बात उस अव्यवस्थाकी गंभीरतापर निर्भर करती है जो उत्पन्न हुई है), धीरे-धीरे, ऊपरसे, तुम 'शक्ति' को एकाग्र करो जबतक कि तुम यह न देख लो कि शरीर ग्रहण कर रहा है, 'शक्ति' प्रवेश कर रही है, अव्यवस्था सुधर रही है, और स्वयं शरीरमें ढीलापन आ रहा है। एक बार जब ऐसा हो जाता है, तुम अपने शरीरमें वापस आ सकते

हो और तुम निरोग हो जाते हो। सूर्याघातके विषयमें ऐसा किया जा चुका है जो काफी उग्र रोग है और टाइफाइड ज्वरमें प्रसंगमें भी तथा अनेक दूसरे रोगोंके विषयमें भी किया जा चुका है, जैसे, यकृतके विषयमें, जो एकाएक किसी कारण बिगड़ गया था (अपाचनके कारण नहीं, बल्कि ऐसा यकृत जो ठीक-ठीक कार्य नहीं कर रहा था); वह भी उस ढंगसे निरोग हो सकता है। एक हैजेका रोगी था जो इसी प्रकार निरोग हो गया था। हैजेने बस अभी-अभी पकड़ा था, घुस गया था, पर अभी वहां जमकर बैठा नहीं था; वह पूर्ण रूपसे दूर हो गया था। फलतः, जब मैं यह कहती हूं कि जब कोई आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर लेता है और उसे प्रयुक्त करना जानता है तो ऐसा कोई रोग नहीं जिसे वह दूर न कर सके, तब मैं इसे ठीक यों ही हवामें नहीं कहती; यह अनुभवके आधारपर ही कहती हूं। निस्संदेह, तुम कहोगे कि तुम शरीरसे बाहर जाना, 'शक्ति' को खींचना, उसे एकाग्र करना, इन सबपर आधिपत्य पाना नहीं जानते . . .। यह बहुत सामान्य चीज तो नहीं है, पर यह असंभव भी नहीं है। और तुम इस विषयमें निःसंशय हो सकते हो कि यदि तुम्हें सहायता मिले . . .। वास्तवमें, एक बहुत आसान तरीका है, वह है सहायताके लिये आह्वान करना।

परंतु प्रत्येक मनुष्यके लिये — प्रत्येक मनुष्यके लिये — चाहे वह इसे स्वयं करे और केवल अपने-आपपर निर्भर करके करे अथवा वह चाहे किसी दूसरेसे कहकर उसे अपने लिये कराए, पहली शर्त है : भय न करना और शांत-स्थिर बने रहना। यदि तुम अपने शरीरमें उत्तेजित और विकल होना आरंभ कर दो तो बस, सब चौपट हो जायगा, तुम कुछ नहीं कर सकोगे।

प्रत्येक चीजके लिये — आध्यात्मिक जीवन यापन करनेके लिये, बीमारी दूर करनेके लिये — प्रत्येक चीजके लिये मनुष्यको शांत बने रहना चाहिये।

२ अप्रैल, १९५१

आपने कहा है: "सृष्टिमें आंतरिक रूपांतरकी जो धीमी सतत प्रक्रिया चल रही है वह योगके द्वारा अधिक तीव्र और द्रुत हो जाती है, किंतु बाह्य रूपांतरकी गति लगभग साधारण जीवनकी गतिकी जैसी ही होती है। फलस्वरूप, यदि सावधानी न रखी जाय तो योग करनेवाले व्यक्तिके अंदरका, आंतरिक और बाह्य सत्ताके बीचका यह असामंजस्य और भी अधिक बढ़ जानेकी प्रवृत्ति रखता है।"

—वार्तालाप (१९२९)

कौन-कौन-सी सावधानियां रखनी चाहियें?

यह मनुष्य-मनुष्यपर निर्भर करता है। प्रत्येक प्रसंग भिन्न होता है। व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं, कठिनाइयों, प्रतिरोधोंके अनुसार व्यक्तिगत सावधानियां अलग-अलग होंगी। प्रत्येक व्यक्तिके लिये एक कार्यक्रम होता है जिसका उसे अनुसरण करना होता है और जो केवल उसीके लिये लाभदायी होता है। इसके लिये कोई साधारण नियम नहीं है। ये चीजें मिठाईकी तरह सबको नहीं बांटी जा सकतीं। यदि कोई मुझसे पूछे कि "मुझे क्या करना चाहिये?" तब मैं कहूंगी, "हां, सुनो।"

दुर्घटनाओंके क्या कारण हैं? क्या उनका कारण कोई विषमता होती है?

यदि कोई गहराईके साथ उत्तर दे . . .। बाहरमें उसके कई कारण होते हैं, परंतु एक गभीरतर कारण भी होता है जो सर्वदा विद्यमान रहता है। मैंने कुछ दिन पहले कहा था कि यदि स्नायविक आवरण अभेद्य हो तो दुर्घटनाओंसे बचा जा सकता है, और यदि कोई दुर्घटना हो भी जाय तो उसका कोई दुष्परिणाम नहीं होगा। परंतु जैसे ही सत्ताके स्नायविक आवरणमें कोई खरोंच पड़ जाती है या कोई दोष आ जाता है तो, उस खरोंचके प्रकारके अनुसार, यदि ऐसा कहा जा सके, उसके स्थान, उसके स्वरूपके अनुसार कोई दुर्घटना घटित हो सकती है जो आवरणके प्रतिरोधकी कमीके अनुरूप होगी। मैं समझती हूं लगभग प्रत्येक व्यक्ति

मनोवैज्ञानिक रूपसे यह जानता है कि दुर्घटनाएं उस समय होती हैं जब मनुष्य एक प्रकारकी बेचैनी महसूस करता है, जब वह पूर्णतः सचेतन और स्वस्थचित्त नहीं होता, जब वह बेचैनीका अनुभव करता है। जो हो, सामान्यतया लोग यह अनुभव करते हैं कि वे पूर्ण रूपसे अपने-आपमें नहीं हैं, यह पूरी तरह नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। यदि कोई संपूर्ण सज्ञान हो, चेतना पूर्ण जाग्रत् हो तो दुर्घटनाएं नहीं घटित होंगी; मनुष्य उस समय ठीक सही हरकत करेगा, दुर्घटनासे बचनेके लिये आवश्यक क्रिया करेगा। अतएव, लगभग पूर्ण रूपमें दुर्घटनाका कारण है चेतनाकी सुस्ती। अथवा बहुत संभव है कि चेतना किसी उच्चतर क्षेत्रमें एकाग्र हो; जैसे, आध्यात्मिक चीजोंकी बात छोड़ भी दें तो, जो व्यक्ति कोई मानसिक समस्या हल करनेमें व्यस्त होता है और अपनी मानसिक समस्यापर बहुत एकाग्र होता है, वह भौतिक वस्तुओंकी ओरसे असावधान हो जाता है, और यदि वह किसी सड़कपर जा रहा हो या किसी भीड़में हो तो, अपना ध्यान अपनी समस्यामें संलग्न होनेके कारण, वह दुर्घटनासे बचनेके लिये आवश्यक क्रिया नहीं करेगा, और दुर्घटना घटित हो जायगी। यही बात खेल-कूदों और व्यायामोंमें भी होती है। तुम इसे आसानीसे देख सकते हो, जब कोई दुर्घटना होती है तो वहां सर्वदा चेतनामें सुस्ती होती है, या सावधानीका अभाव होता है; थोड़ी-सी अन्यमनस्कता होती है; एकाएक मनुष्य किसी दूसरी वस्तुकी बात सोचने लगता है, ध्यान कहीं दूसरी ओर खिंच जाता है — वह जो कुछ कर रहा होता है उसके विषयमें पूर्ण रूपसे सचेतन नहीं होता और दुर्घटना हो जाती है।

जैसा कि प्रारंभमें मैं तुमसे कह रही थी, यदि किसी-न-किसी कारणसे — उदाहरणार्थ, नींदकी कमीसे, विश्रामकी कमीसे अथवा किसी तल्लीनकारी धंधेसे अथवा उन सभी प्रकारकी चीजोंसे जो तुम्हें थका देती हैं — यदि प्राणिक आवरण थोड़ा-सा क्षतिग्रस्त हो जाता है तो वह पूर्णताके साथ कार्य नहीं करता और उसके भीतरसे गुजरनेवाला शक्तिका कोई भी प्रवाह दुर्घटना उत्पन्न करनेके लिये पर्याप्त होता है। अंतिम विश्लेषणके अनुसार दुर्घटना सर्वदा उसीसे आती है, यही वह चीज है जिसे हम असावधानता या चेतनाका सुस्त पड़ना कह सकते हैं। ऐसे दिन होते हैं जब मनुष्य अपनेको बिलकुल.... ठीक बेचैनी नहीं अनुभव करता, बल्कि वह मानों किसी ऐसी चीजको पकड़नेकी कोशिश कर रहा होता है जो उससे बच निकलती है, वह अपनेको एक साथ संयुक्त नहीं रख पाता, वह मानों अर्ध-मिश्रित होता है, ये ही दुर्घटनाओंके दिन होते हैं। तुम्हें

होना चाहिये। स्वभावतः ही इसका मतलब तुमसे यह कहना नहीं है कि तुम अपनेको अपने कमरेके भीतर बंद कर लो और उससे बाहर न निकलो और इच्छा होनेपर बाहर निकलो! मेरे कहनेका अर्थ यह नहीं है। वरन् मेरा मतलब यह है कि तुम्हें और भी अधिक ध्यानके साथ विरीक्षण करना चाहिये, और भी अधिक सचेत रहना चाहिये, ठीक-ठीक इस असावधानताको, चेतनाकी इस शिथिलताको नहीं आने देना चाहिये।

क्या ऐसी दुर्घटनाएं नहीं हैं जो प्रायः दुर्निवार्य हों? अभी मैंने एक घटना पढ़ी है जिसे एक अमेरिकनने उद्धृत किया है जिसमें परोक्ष-दर्शनकी शक्ति थी। एक बच्चा रेलवे लाइनपर खेल रहा था, वह खतरेमें था। अचानक वहां उपस्थित व्यक्तिने बच्चेकी बगलमें एक सूक्ष्म सत्ताको देखा और उसने शांतिकी सांस ली, उसने सोचा, "बच्चा बचा लिया जायगा।" परंतु उसे यह देखकर अत्यंत आश्चर्य हुआ कि उस सत्ताने बच्चेकी आंखोंपर अपना हाथ रख दिया और किसी भांति उस बच्चेको रेलगाड़ीके नीचे फेंक दिया। यह आदमी बहुत दुःखी हुआ, वह समझ ही न सका कि जिस सत्ताको उसने एक उच्चतर सत्ता समझा था उसने क्यों उस बच्चेको मृत्युके मुखमें धकेल दिया।"

निश्चय ही यह घटना सच्ची होगी, परंतु स्वयं अपनेको उस घटनाका सूक्ष्म दर्शन हुए बिना कोई उसकी व्याख्या नहीं कर सकता।

यहां दो एकदम विभिन्न वस्तुओंका प्रश्न हो सकता है। संभवतः, निस्संदिग्ध रूपसे, यह उस बच्चेके भाग्यमें बदा था, इस अर्थमें कि यह उसके जीवनका अंत था जो उसके चैत्य पुरुषके लिये आवश्यक था, यह ऐसी मृत्यु थी जो किसी कारणवश पूर्वनिर्दिष्ट थी, क्योंकि ऐसा होना संभव है। अथवा, संभवतः वह कोई विरोधी शक्ति हो सकती है जिसे उसने देवदूत मान लिया था, क्योंकि सामान्यतया लोग ऐसी भूल किया करते हैं— जब वे किसी भूत-प्रेतको देखते हैं, वे सर्वदा यह समझते हैं कि वह कोई स्वर्गीय सत्ता है। वह स्वर्गीय है यदि तुम कहना चाहो, पर यह निर्भर करता है उस स्वर्गपर जहांसे वह आती है!

यह बड़ी विचित्र बात है, क्योंकि....। हां, अचेतनाका यह मुहूर्त, चेतनाकी यह शिथिलता किसी ऐसी सत्ताके रूपमें रूपांतरित हो सकती है जो आंखोंके ऊपर अपना हाथ रख देती है।

जो असहनीय छोटी-छोटी सत्ताएं मनुष्यमें, भौतिक वातावरणमें होती हैं

और मनुष्योंका तिरस्कार करके अपना मनोरंजन करती हैं, उनकी एक अत्यंत सामान्य क्रिया यह है कि वे तुम्हें इस हदतक अंधा बना देती हैं कि जब तुम कोई चीज खोजते हो, और वह चीज ठीक तुम्हारी नजरोंके सामने होती है, तुम उसे नहीं देखते! यह चीज बहुत बार घटती है। तुम बेकार खोज करते हो, तुम प्रत्येक चीज उलट-पलट देते हो, तुम सभी संभवनीय कोनोंको छान डालते हो, पर वह चीज नहीं पाते। तब तुम समस्याको छोड़ देते हो और कुछ समय बाद (ठीक जब "आंखोंपरसे हाथ" हट जाता है) तुम उसी स्थानपर वापस आते हो और वह ठीक उसी स्थानपर होती है जहां तुमने खोजा था, चुपचाप वहीं पड़ी रहती है, वह वहांसे जरा भी नहीं हटती! केवल तुम अचेतन थे, तुमने उसे नहीं देखा था। इन सत्ताओंका यह एक बहुत, बहुत ही सामान्य हंसी-मजाक है। उन्हें वस्तुओंको हटा देनेमें भी बड़ा मजा मिलता है, फिर वे उन्हें वापस रख देती हैं, पर कभी-कभी वे उन्हें वापस नहीं भी रखतीं! वे उन्हें स्थानान्तरित कर देती हैं, निस्संदेह वे सभी प्रकारके छोटे-छोटे मनोरंजन करती हैं। वे बहुत असह्य होती हैं। मादाम ब्लैवत्सकी (Madame Blavatsky) ने उनका बहुत उपयोग किया था, पर मैं यह नहीं जानती कि उन्होंने उन्हें किस प्रकार इतना सौम्य बना लिया था, क्योंकि साधारणतया वे बिलकुल अप्रिय होती हैं।

मेरे पास एक उदाहरण — अनगिनत उदाहरणोंमेंसे एक उदाहरण — है, परंतु ठीक दो बहुत अद्भुत घटनाओंका, दो विपरीत वस्तुओंका उदाहरण है, केवल दोनोंमें ठीक एक ही प्रकारकी सत्ताएं नहीं थीं... कुछ परियोंकी जैसी छोटी-छोटी सत्ताएं होती हैं जो बहुत प्यारी-प्यारी, बहुत सुशील होती हैं, पर वे सर्वदा वहां नहीं होतीं, वे कभी-कभी वहां आती हैं जब वे पसंद करती हैं। मुझे उस समयकी याद है जब मैं श्रीअरविंदके लिये रसोई बनाया करती थी; मैं उसी समय और भी कई दूसरी चीजें किया करती थी, अतएव प्रायः ही ऐसा होता था कि मैं आगपर दूध चढ़ाकर छोड़ दिया करती थी और कोई दूसरा काम करनेके लिये या उनके पास कोई चीज देखनेके लिये, किसीसे बातचीत करनेके लिये चली जाया करती थी और, वास्तवमें सर्वदा समयके विषयमें सज्ञान नहीं रहती थी, आगपर रखे दूधकी बात भूल जाया करती थी। और जब कभी मैं आगपर रखे दूधको भूल जाती थी, मैं अचानक (उन दिनों मैं साड़ी पहना करती थी) अपनी साड़ीकी तहको पकड़े हुए और इस भांति उसे खींचते हुए एक छोटे-से हाथको अनुभव करती थी। फिर मैं तेजीसे दौड़ जाती थी और देखती थी कि दूध ठीक खौलकर गिरनेकी स्थितिमें पहुंच गया

है। यह बात बस एक बार ही नहीं, बल्कि अनेक बार घटित हुई, और बहुत स्पष्ट रूपमें, एक नन्हें बच्चेके हाथके जैसी चीज साड़ीको पकड़ती और खींचती थी।

दूसरी कहानी उन दिनोंकी है जब श्रीअरविंदको अपने कमरोंमें ही इस ओरसे उस ओर घूमनेकी आदत थी। वह उस तरह कई घंटोंतक घूमा करते थे, यह उनका ध्यान करनेका तरीका था। केवल, वह समय जानना चाहते थे, इसलिये प्रत्येक कमरेमें एक दीवाल-घड़ी लगा दी गयी थी ताकि किसी भी क्षण समय देख सकें। वहां ऐसी तीन घड़ियां लगी थीं। एक घड़ी उस कमरेमें थी जहां मैं काम किया करती थी; वही स्थान मानों उनका प्रारंभ-बिंदु था। एक दिन उन्होंने वहां आकर पूछा, "अभी क्या समय है?" उन्होंने देखा और घड़ी बन्द थी। वह यह कहते हुए दूसरे कमरेमें गये कि "मैं वहां समय देख लूंगा" — घड़ी बंद हो गयी थी। और वह ठीक उसी मिनटपर, जहां दूसरी बंद थी, बन्द हो गयी थी, समझे, बस अंतर कुछ सेकंडोंका था। वह तीसरे कमरेमें गये.... घड़ी बंद हो गयी थी। वह उसी तरह तीन बार टहलते रहे — सभी घड़ियां बंद पड़ी थीं! तब वह मेरे कमरेमें वापस आये और बोले — "पर यह असंभव बात है! यह बड़ा बुरा मजाक है!" और सभी घड़ियोंने एकके बाद एक काम करना शुरू कर दिया। इसे मैंने स्वयं देखा, समझे, यह बड़ी मजेदार घटना थी। वह रंज हुए और उन्होंने कहा, "यह बड़ा बुरा मजाक है!" और सभी घड़ियोंने फिरसे चलना आरंभ कर दिया!

यह कहा जाता है कि भौतिक जगत् अपनी अचेतनतामें भगवान्‌को भूल गया है। क्या वह एकदम प्रारंभसे ही उन्हें भूल गया है?

यह युगपत् स्थिति है। हम यह नहीं कह सकते कि पार्थिव जगत् अंधकार और अज्ञानका परिणाम है; हम यह भी नहीं कह सकते कि अंधकार और अज्ञान जड़तत्त्वके जगत्‌के परिणाम हैं; बल्कि ये दोनों सहगामी हैं; इस अर्थमें कि दोनोंका ठीक एक ही कारण है। जिसे हम भौतिक जगत् कहते हैं वह उसी समय अस्तित्वमें आया जब अंधकार और अज्ञान पैदा हुए, वे घनिष्ठ रूपमें परस्पर बद्ध हैं, पर उनके बीच कालक्रमके अर्थमें कार्य-कारणका कोई संबंध नहीं है। ये सहवर्ती हैं, दोनों ही चीजें अन्य कारणके सहगामी परिणाम हैं; जिस चीजने अंधकार और

अज्ञानको पैदा किया है उसीने एक ही ढंगसे और एक ही समयमें इस भौतिक जगत्को भी उत्पन्न किया है जैसा कि हम इसे जानते हैं।

५ अप्रैल, १९५१

"यहां सब कुछके पीछे विज्ञान रहता है; मनकी क्रियाओंके पीछे, उसी तरह प्राण और स्थूल-भौतिक क्रियाओंके पीछे भी, इतना ही नहीं, बल्कि विश्वकी समस्त लीलामें विज्ञान बहुत गहरी दिलचस्पी लेता है, पर वह दिलचस्पी एक दूसरे ही प्रकारकी होती है। मन और विज्ञानकी दिलचस्पियोंके भेदको कठ-पुतलीके खेलके दृष्टांतसे स्पष्ट किया जा सकता है। कठ-पुतलीके खेलमें एक तो उसकी दिलचस्पी होती है जो कठ-पुतलियोंकी डोरको अपने हाथमें रखता है और यह जानता है कि इन कठपुतलियोंको क्या करना है, उस इच्छाको जानता है जो उन्हें चलाती है और यह भी जानता है कि केवल उस इच्छाके अनुसार ही वे हिल-डुल सकती हैं, और दूसरी उसकी दिलचस्पी होती है जो इस खेलका दर्शक होता है, पर जो केवल क्षण-क्षण बदलनेवाली घटनाओंको ही देखता है और दूसरी कोई चीज नहीं जानता। जो व्यक्ति खेलका दर्शक होता है और उसके रहस्योंसे अनजान होता है, उसकी खेलमें घटनेवाली घटनाओंके प्रति जो दिलचस्पी होती है वह अधिक प्रबल, उत्सुकतापूर्ण और उत्कट होती है और वह उसकी अन-पेक्षित अथवा नाटकीय घटनाओंको उत्तेजनापूर्ण मनोयोगके साथ देखता है; किंतु दूसरा, जिसके हाथमें खेलकी डोर है और जो तमाशेका संचालक है, अचल-अटल और शांत रहता है। दिलचस्पीकी एक विशेष तीव्रता होती है जो अज्ञानसे आती है और वह भ्रम-भ्रांतिसे युक्त होती है, और अब तुम अज्ञानसे बाहर निकल आते हो तब उसे अवश्य दूर हो जाना चाहिये। वस्तुओंके प्रति मानव-प्राणियोंकी जो दिलचस्पी होती है वह भ्रम-भ्रांतिपर आधारित होती है; यदि उस भ्रमको हटा दिया जाय तो फिर उस लीलामें उनको एकदम कोई दिलचस्पी नहीं रह जायगी; उन्हें वह रूखी और नीरस मालूम

होगी। यही कारण है कि यह सब अज्ञान, यह सब भ्रम इतने दीर्घ कालसे टिका हुआ है; यह इसलिये टिका हुआ है कि मनुष्य इसे पसंद करते हैं, वे इससे और इसमें उन्हें जो एक विशिष्ट प्रकारका रस मिलता है उससे चिपके रहते हैं।"

—वार्तालाप (१९२९)

भला मनुष्यकी दिलचस्पी भूल-भ्रांतिपर कैसे आधारित हो सकती है?

तो तुम यह समझते हो कि तुम भ्रम-भ्रांतिमें नहीं हो? तुम्हारा ख्याल है कि तुम भ्रम-भ्रांतिसे बाहर हो? इस जगत्‌में, यह अभी जैसा है, सब कुछ भ्रम है। यह संभवतः एक प्रकारकी सुविधा है, पर तुम वस्तुओंका केवल ऊपरी तल, अधिक-से-अधिक एक बहुत छोटा-सा भाग ही देखते हो—तुम वस्तुओंके गहरे भागको नहीं देखते, तुम वस्तुओंके मर्मस्थलको नहीं देखते, तुम वस्तुओंका कारण नहीं देखते। क्या तुम जानते हो कल क्या घटित होने जा रहा है? .... तुम कम या अधिक अनुमान लगा सकते हो, तुम अपने-आपसे कह सकते हो कि वह आजके जैसा ही होगा पर तुम उसे जरा भी नहीं जानते। तुम नहीं जानते कि कल क्या घटित होने जा रहा है, इससे कम यह कि एक महीनेमें क्या होगा, और भी कम यह कि एक सालमें क्या होगा। और क्या तुम जानते हो कि तुम अपने जन्मसे पहले कहां थे? और क्या तुम जानते हो कि तुम्हारी मृत्युके बाद तुम्हारा क्या होगा? .... तुम जो कुछ ठीक अभी करते हो उसीमें दिलचस्पी लेते हो, क्योंकि तुम नहीं जानते कि क्या घटित होने जा रहा है। यदि तुम्हें पूर्ण रूपसे यह ज्ञात होता कि क्या घटित होने जा रहा है तो मुझे विश्वास है कि हजारमें ९९९ व्यक्ति चुपचाप बैठ जायेंगे और उस चीजके घटित होनेकी प्रतीक्षा करेंगे। यदि तुम ठीक-ठीक यह जान जाओ कि क्या होने जा रहा है तो तुम्हारा सारा उत्साह काफूर हो जायगा और अधिकांश विषयोंमें तुम कहोगे, "क्या मुझे वहांतक पहुंचनेके लिये ये सारी चीजें करनी होंगी? आह! नहीं, नहीं।"

तो क्या भ्रम-भ्रांति आवश्यक है?

मैं यह नहीं कहती कि यह आवश्यक है, मैं कहती हूं कि वह प्रत्यक्ष है, जो बिलकुल एक ही बात नहीं है। बस, आवश्यकता है परिवर्तित होनेकी।

सबसे बड़ी बात यह है कि ठीक उतनी ही दिलचस्पीके साथ, उतनी ही तीव्रताके साथ, उतनी ही शक्तिके साथ कोई कार्य करनेमें समर्थ हुआ जाय, जब कि यह पूर्णतः ज्ञात हो कि परिणाम क्या होगा और यहांतक कि यदि वह परिणाम हम जो कुछ प्रत्याशा करते प्रतीत होते हैं उसके विपरीत भी हो, तुम समझे? यह बात आसान नहीं है, पर फिर भी है यह अपरिहार्य ही।

मैं नहीं समझता कि यह अपरिहार्य क्यों है।

मैं कह रही हूं कि यह अपरिहार्य है उस अवस्थामें पहुंचनेके लिये जिसमें मनुष्य कार्य कर सकता है, कार्य करना जारी रख सकता है, यह पूर्णतः जानते हुए भी कि परिणाम क्या होगा और यहांतक कि जिस बातकी वह आशा करता है उसके विपरीत भी वह परिणाम होगा। वास्तवमें अनासक्तिकी यह अवस्था ही अपरिहार्य है — भ्रम-भ्रांतिमें होना नहीं!

> **(किसी व्यक्तिके यह पूछनेपर कि किसी रोगको दूर करनेके लिये क्या करना चाहिये, क्या हमें अपनी इच्छा-शक्तिका प्रयोग करना चाहिये या केवल इस विश्वासमें निवास करना चाहिये कि यह अच्छा हो जायगा या पूरी तरह दिव्य 'शक्ति' पर निर्भर करना चाहिये, श्रीमाताजीने उत्तर दिया) : "एक ही चीज करनेके ये इतने सारे तरीके हैं....। परंतु तुम जो कुछ चाहो और तुम्हारा प्रयास चाहे जो कुछ हो, तुम्हें, यथा-शक्ति प्रयत्न करते हुए, अपने ज्ञानका प्रयोग करते हुए या अपनी शक्तिको प्रयुक्त करते हुए भी, यह अनुभव करना चाहिये कि परिणाम 'भागवत कृपा' पर निर्भर करता है।"**
>
> (वही)

परंतु सबसे पहले तुम्हें इसकी इच्छा करनी होगी, मैं समझती हूं कि यह बहुत महत्त्वपूर्ण है! कोई एक पद्धति ऐसी नहीं है जिसका अनुसरण किया जाय...। मैं यह चीज पढ़ती हूं और साथ ही अपने-आपसे पूछती हूं कि कितने लोग इसे सुनकर संतुष्ट होंगे। संसारमें समस्त जड़वाद और प्रत्यक्षवाद ठीक इसी कारण निर्मित हुआ है कि लोग भागवत 'कृपा' को बिलकुल बीचमें आने देना नहीं चाहते। यदि वे निरोग हो जाते हैं तो वे यह कहना चाहते हैं कि "सच पूछो तो स्वयं मैंने अपने-

[illegible] रोगमुक्त किया है," यदि वे कोई प्रगति करते हैं, वे यह सोचना चाहते हैं कि "वास्तवमें स्वयं मैंने प्रगति की है", यदि वे किसी चीजका संगठन करते हैं, वे यह घोषणा करना चाहते हैं कि "यथार्थमें मैं स्वयं यह संगठन कर रहा हूं।" और बहुत, बहुत-से दूसरे लोग जो अन्य भावसे करनेकी कोशिश करते हैं, यदि वे अपने अंदर नजर दौड़ाते हैं तो, कितने कम अवसरोंपर सहज-स्वाभाविक रूपमें, सच्चाईके साथ देखते हैं (उस तरह नहीं जैसे व्यक्ति कोई बात इसलिये कहता है कि वह जानता है कि यह बात कहनी चाहिये अथवा जैसे व्यक्ति कोई बात इसलिये सोचता है कि उसी तरह सोचनेका फैशन हो गया है), सहज-स्वाभाविक रूपमें, सच्चाईके साथ, अपने पूरे हृदयसे, वे जानते हैं कि वास्तवमें स्वयं उन्होंने यह कार्य नहीं किया है, बल्कि दिव्य शक्तिने किया है। जब वे कुछ प्रगति कर लेते हैं, जब अपने अंदर किसी चीजको बदल लेते हैं, जब वे कुछ सीख लेते हैं, तब, जब वह सब हो जाता है, सहजभावसे, कोई इच्छा किये बिना, कुछ सोचे बिना, अपने-आपसे यह कहनेकी आवश्यकताके बिना कि "हमें इस प्रकार सोचना चाहिये", सहज-स्वाभाविक ढंगसे वे जानते हैं कि दिव्य शक्तिके बिना कुछ भी संपन्न न हुआ होता। अपने अंदर देखो, यह बहुत मजेदार बात है, बहुत मजेदार है, दिनमें कितनी बार तुम सोचते हो (अपने-आपसे यह कहे बिना), "मैंने यह किया है," "मैं उसे संपन्न करनेमें समर्थ हुआ हूं", "इस प्रयासमें मैंने सफलता पायी है", "उसमें मैं असफल हो गया हूं", और जब तुम कोई अच्छा प्रयास कर चुकते हो, जब तुम कोई परिणाम प्राप्त कर लेते हो, तुम्हें चिंतन करनेके लिये, या उससे भी अधिक, अपने-आपसे यह कहनेके लिये थोड़े-से समयकी आवश्यकता होती है कि "यदि दिव्य शक्तिने मुझे सहायता न की होती तो शायद इसे पूरा करनेमें मैं समर्थ न हुआ होता।" परंतु सहज-स्वाभाविक बात है, "ओह! मैंने सफलता पायी है," सच है न? वास्तवमें मनका एक भाग ऐसा है जिसने शिक्षा पायी है, जिसने सीखा है, चिंतन किया है, समझा है, जो स्वस्थ है और सचमुच यह अनुभव करता है कि यथार्थमें बात तो ऐसी ही है, पर यह मनका केवल एक भाग है, और यह सर्वदा सक्रिय नहीं होता, कभी-कभी इसे अवश्य बुलाना चाहिये, इसकी सलाह लेनी चाहिये, "तब सबसे उत्तम मनोभाव क्या है?" "मुझे क्या सोचना-विचारना चाहिये?" मैं समझती हूं कि जिन लोगोंने योगमार्ग ग्रहण किया है उन सबको, यदि वे सच्चे हैं, यदि वे एक क्षण विचार करते हैं, अपने-आपसे कहते हैं, "मुझे यह बात मालूम नहीं थी, पर मैंने यदि सफलता पायी है तो, संभवतः मैं इसी कारण सफल हुआ था कि मुझे सहायता

करनेके लिये वहां दिव्य शक्तियां मौजूद थीं, अन्यथा मैं सफलता पानेमें समर्थ नहीं हुआ होता।" यह अच्छी तरह जानी-समझी बात है। परंतु एक समय ऐसा आता है जब मनुष्य जानता है कि यदि ये शक्तियां न होतीं तो वह अपनी एक अंगुली भी न उठा पाया होता। यह अनुभव पीछे आता है....। परंतु प्रारंभमें कितनी बार, यदि मनुष्य सोचता है, यदि वह बिलकुल सरल ढंगसे अपने-आपको देखता है, वह अपने-आपको यह कहते हुए पकड़ लेता है, "इसे मैंने किया है!" और तब, वह कभी-कभी स्वयं अपने-आपको बधाई देता है, कहता है, "आखिरकार मैं भी कुछ कर सकता हूं, मुझमें भी क्षमता है!" मैं और आगे बढ़ रही हूं: कितने मनुष्य कोई काम करनेमें तनिक भी समर्थ होंगे, यदि महज अपने-आपसे यह कहनेका सुख उनसे छीन लिया जाय कि, "मैंने यह किया है, मैंने इसे सिद्ध किया है, मैंने प्रगति की है, कितने अच्छे ढंगसे मैंने एक खेल खेला है?" कितने लोग सच्चाईके साथ कोई कार्य करनेमें सक्षम हो सकते हैं यदि इस सुखसे वे वंचित कर दिये जायं? ऐसे व्यक्तियोंसे मैं परिचित थी जिनका मन सत्ताके बाकी अंगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक विकसित था, उन्होंने बहुत अच्छी तरह (लगभग आवश्यकतासे अधिक अच्छे रूपमें) समझ लिया था, वे ध्यान करनेके लिये बैठ जाते और उनकी समस्त शक्ति समाप्त हो जाती, समस्त प्राण-शक्ति एक प्रकारकी शांतिमें विलीन हो जाती, वह अप्रिय नहीं, बहुत अधिक निश्चल होती। उस स्थितिमें अब कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं होती। अब हिलने-डुलनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती, मनुष्य स्वप्न लेता है... पेड़के नीचे, हाथपर हाथ रखकर, मनुष्य अपने लिये सब कुछ करनेका भार, यहांतक कि यदि उसे खानेकी आवश्यकता हो तो उसे खिलानेका भार भी, भगवान्‌पर छोड़ देता है। यह शायद बहुत अच्छा है, पर यह सूचित करता है कि यंत्र अभी तैयार नहीं है; वह वास्तवमें अभी भगवान्‌की सेवामें नहीं नियुक्त है, वह अपने अहंकी सेवामें रत है, और जब अहंभाव हटा लिया जाता है तो वह उसके बाद कुछ भी नहीं करता। अतएव, जबतक मनुष्य अहंभावमें निवास करता है, यह भ्रम तुमसे कार्य करानेके लिये आवश्यक होता है; यह कार्यको जारी रखनेके लिये जरूरी होता है जबतक कि मनुष्य पूर्ण रूपसे रूपांतरित नहीं हो जाता, अथवा, हर हालतमें, जबतक कि सच्ची चेतना नहीं स्थापित हो जाती।

मैंने यह बात कही है और इसे फिर दुहरा रही हूं (श्रीमाताजी अपनी पुस्तक लेकर पढ़ती हैं): "तुम चाहे जो कुछ भी करो, चाहे जिस किसी प्रक्रियाका उपयोग करो, और चाहे उस प्रक्रियाके अंदर तुम्हें एक महान्

कौशल और शक्ति भी क्यों न प्राप्त हो गयी हो, तुम्हें उसका फल भगवान्‌के हाथोंमें ही छोड़ देना चाहिये। तुम सर्वदा ही कोशिश कर सकते हो पर तुम्हारे प्रयासका फल तुम्हें देना या न देना भगवान्‌पर निर्भर है। यहां आकर तुम्हारी व्यक्तिगत शक्ति समाप्त हो जाती है; यदि परिणाम प्राप्त होता है तो वास्तवमें उसे 'भागवती शक्ति' ले आती है न कि तुम्हारी शक्ति।"[1] हां, तो यही वह भावना है जो लगभग सभी धर्मोंमें सिखायी जाती रही है, जिसने मनुष्योंको नास्तिक बना दिया है, इतना अधिक इससे उनको क्रोध होता है — विद्रोहका क्रोध होता है: "क्या! यह सब करनेवाला मैं नहीं हूं!"

और यह "मैं", यदि तुम केवल यह जान जाते कि कितना बड़ा है यह! कैसे यह समस्त स्थान ही घेर रखता है ... बस, यही चीज है जो समस्त जड़वादका आधार है।

निश्चल-नीरव ध्यानके समय, क्या हमें अपने-आपको पूर्णतः शून्य नहीं बना देना चाहिये? परंतु उस स्थितिमें यह उस व्यक्तिपर कैसे निर्भर कर सकता है जो ध्यान करता है?

मैं समझती हूं कि मनकी निश्चल-नीरवता और सत्ताकी पूर्ण शून्यावस्थाके बीच कुछ भ्रम है, ये दोनों बहुत अलग-अलग चीजें हैं। इसके अलावा, मैं यह बहुत अच्छी तरह नहीं समझ पाती कि मनुष्य अपने-आपको पूर्णतः शून्य कैसे बना सकता है — उसके बाद तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा!

(श्रीमाताजी आगे पढ़ना आरंभ करती हैं): **"ध्यानके समय अपने-आपको शून्य बना देनेसे तुम्हारे अंदर एक आंतरिक निश्चल-नीरवता उत्पन्न होती है; इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम अस्तित्वहीन बन जाते हो अथवा एक मृत और जड़ स्तूप बन जाते हो। अपने-आपको एक खाली पात्र बनाकर तुम उस वस्तुका आवाहन करते हो जो उसे भर देगी। इसका तात्पर्य यह है कि तुम अपनी आंतरिक चेतनाके दबावको सिद्धि-की ओर प्रयुक्त करते हो। अब यह बात तुम्हारी चेतनाके**

---

[1] वार्तालाप (१९२९)

स्वरूप और उसके दबावकी मात्रापर निर्भर करती है कि तुम किन शक्तियोंको कार्यमें उतार लाओगे और वे तुम्हें सहायता करेंगी और कार्य पूरा करेंगी अथवा विफल होंगी या यहांतक कि हानि पहुंचायेंगी और बाधक होंगी।"

(वही)

"उसके दबावकी मात्रा" का क्या तात्पर्य है?

अभीप्सा और संकल्प सत्ताके अंदर एक प्रकारका दबाव उत्पन्न करते हैं। पर मैं कहती हूं "मात्रा", क्योंकि एक बिंदु भी वहां है जिसपर दबाव काम करता है। मैं कहती हूं कि "अपने-आपको शून्य बना देने"का तात्पर्य है अपनी चेतनाके दबावको सिद्धिकी ओर प्रयुक्त करना, उस लक्ष्यपर प्रयुक्त करना जिसे तुम सिद्ध करना चाहते हो। "दबाव" एक बिंदुपर पड़नेवाला चाप या भार है, जो बिंदुके ऊपर केंद्रित है और यह आग्रह करता है कि वह लक्ष्य पूरा हो। चेतना — सत्ताकी चेतना — व्यक्तिगत चेतना — बिंदुके ऊपर दबाव डालती है, समझे। हम अभी जिस बातकी चर्चा कर रहे थे उसे ही उदाहरणके रूपमें ले सकते हैं: तुम्हें कोई पुराना रोग है, शरीरमें कोई विकृति है, कोई शारीरिक दोष है। फिर तुम्हारी चेतना, अपनी अभीप्सा और संकल्पशक्तिके द्वारा, जिस कार्यको पूरा करना चाहती है, जो कुछ तुम दूर करना चाहते हो उसपर कम या अधिक अनवरत दबाव डालती है, हां, जब तुम ध्यानमें अपने-आपको अंदर खाली करते हो (यदि चाहो तो इसे ध्यानका एक प्रकार कह सकते हो), इसका अर्थ है कि तुम संकल्पशक्तिकी इस एकाग्रताको बंद कर देते हो: तुम्हारी चेतना उस समयके लिये तटस्थ बन जाती है। उसका दबाव इस बिंदुपर है (वह अन्य बिंदुओंपर, कम या अधिक मूर्त्त या अमूर्त्त वस्तुओंपर भी हो सकता है, परंतु दबाव एक बिंदुपर होता है) और जब तुम अपनेको खाली कर देते हो, तुम इस दबावको, इस चापको हटा लेते हो और एक खाली पृष्ठकी तरह बने रहते हो जिसपर कुछ भी लिखा हुआ नहीं होता। इसे ही मैं "अपने-आपको शून्य बनाना" कहती हूं, जिसका मतलब है एक या दूसरे बिंदुपर किसी सक्रिय संकल्पको केंद्रित न करना। और इसलिये, मैं कहती हूं कि जिस क्षण तुम अपने-आपको खाली बना लेते हो, वास्तवमें दबाव बंद हो जाता है, और फिर, अपनी नीरव अभीप्साके द्वारा तुम उन शक्तियोंके साथ संपर्क स्थापित करते हो जो इस दबावके द्वारा, जिसे तुम बराबर डालते हो, सामान्यतया जो विशिष्ट

प्रकारका दबाव तुम डालते हो, आकर्षित हुई हैं। यही कारण है कि मैंने इस बातपर जोर दिया है कि सब कुछ व्यक्तिपर निर्भर करता है, क्योंकि सब कुछ उसकी अभ्यासगत अभीप्सापर, जो चीज वह सामान्यतया सिद्ध करना चाहता है उसपर निर्भर करता है, क्योंकि वह स्वभावतया ही उन शक्तियोंके संपर्कमें है जो उसकी अभीप्साका उत्तर देंगी। अतएव, यदि एक विशेष मुहूर्त्तमें मनुष्य इस अभीप्साकी क्रियाको बंद कर देता है तथा चुपचाप ग्रहणशील, निष्क्रिय बना रहता है तो अभ्यासगत अभीप्साका प्रभाव बना रहता है और ठीक उन्हीं शक्तियोंको खींचता है जिन्हें उसका प्रत्युत्तर देना चाहिये।

आपने कहा है कि जगत् और अंधकार सहवर्ती हैं। इस सहवर्तिताका कारण क्या है?

कारण... प्रकाश है जो अंधकार बन गया है और चेतना है जो अचेतना बन गयी है! इन चीजोंके विषयमें आखिर बात कैसे की जाय? यदि तुम चाहो, यदि इससे तुम्हारे मनको संतोष हो, तुम इसे एक आकस्मिक घटना कह सकते हो। यह, आखिरकार, संभवतः, सर्वोत्तम चीज थी जो घटित हो सकती थी, कोई कह नहीं सकता। सब कुछ उस दृष्टिकोणपर निर्भर करता है जिसे हम अपनाते हैं। कोई एक चेतना अवश्य ही रही होगी जिसमें यह सब पूर्वदृष्ट रहा होगा, और यदि इस सबको टाला नहीं गया है तो इसका मतलब है कि यह कार्यक्रमका ही अंश है!... यह समस्याको मानवीय दृष्टिकोणसे देखना है, क्योंकि उन क्षेत्रोंमें चीजें बिलकुल उस ढंगसे नहीं घटित होतीं। हम उस संबंधमें एक कहानी भी सुना सकते हैं जो एक विषयका, एक सुन्दर नाटकका निर्माण कर सकती है, पर वह होगी एक कहानी ही, बात समझानेका एक तरीका ही।

कोई कहानी केवल उसी हदतक मूल्यवान् है जिस हदतक वह बातें समझनेमें तुम्हें सहायता करती है। आह! यह रहा एक मजेदार विषय... कोई कहानी, अर्थात् बातें समझानेका कोई तरीका केवल तभी उपयोगी होता है जब उससे वह बात तुम्हारी समझमें आ जाती है। कोई भाषा (जो कि एक प्रकारकी कहानी है) महज उसी हदतक कामकी होती है जिस हदतक वह तुम्हें 'सद्वस्तु'के संपर्कमें लानेमें समर्थ होती है। विज्ञान एक भाषा है, कला एक भाषा है — सभी क्रिया-कलाप एक प्रकारकी भाषा हैं, अर्थात् अभिव्यंजनाका एक तरीका है। और अभिव्यंजनाका ढंग केवल उसी अंशमें मूल्यवान् होता है जिस अंशमें वह तुम्हें उस वस्तुके

संपर्कमें ला देता है जिसे वह व्यक्त करना चाहता है। यह एक बहुत मजेदार सामान्य सिद्धांत है, क्योंकि तुम इसके अंदर उन सभी श्रेणियोंको ले आ सकते हो जिन्हें तुम चाहते हो और तुम देखोगे कि वह सही है।

यही बात सब चीजोंके लिये है। विश्व और वैश्व सत्यको जाननेका तरीका भी एक भाषा है और सब कुछ निर्भर करता है उस व्यक्तिपर जो उसका उपयोग करता है, उस व्यक्तिपर जिसे वह ज्ञान दिया जानेवाला है। कहनेका चाहे जो भी तरीका क्यों न हो, यदि तुम समझते हो तो बस आवश्यक बात वही है। यदि तुम नहीं समझते तो, यदि वह आश्चर्योंका आश्चर्य भी हो, सत्योंका सत्य भी हो, तुम्हारे लिये उसका कोई मूल्य नहीं होगा। यह विश्वसंबंधी एक आवश्यक व्यावहारिक दृष्टि-कोण है; वस्तुओंका मूल्य केवल उसी हदतक है जिस हदतक वे उस चीज-को उपलब्ध करती हैं जिसके लिये वे बनायी गयी हैं, और संसारके अत्यंत सुन्दर दर्शनशास्त्रोंका उन लोगोंके लिये कोई उपयोग नहीं जो उन्हें नहीं समझते। संसारकी अत्यंत मनोहर कलाकृतियां उन लोगोंके लिये एकदम व्यर्थ हैं जिन्हें वे 'सत्य'के मार्गपर नहीं लगा देतीं। और संसारका अत्यंत पूर्ण योग उन लोगोंके लिये निरुपयोगी है जिन्हें वह परम 'सिद्धि'तक नहीं ले जाता। और यदि तुम्हें सापेक्षताका यह बोध प्राप्त हो गया है तो तुमने सभी रूढ़िवादिताका, सभी सांप्रदायिकताका, उस प्रकारके सभी निरपेक्षवादका अंत कर दिया है जो सर्वदा मनुष्यको इस विचारतक पहुंचाता है कि जिस चीजसे हमारी भलाई हुई है वह सब ही "सत्य" है — वह हमारे लिये सत्य है, वह आवश्यक रूपसे हमारे पड़ोसीके लिये भी सत्य नहीं है। और जिस चीजको हमारा पड़ोसी अपने लिये सत्य समझता है, और जब तुम यह कहते हो कि "यह मूर्खतापूर्ण है, यह बिलकुल बेकार है," यदि वह चीज उसे सत्यकी प्राप्तिमें सहायता करती है, वह अत्युत्तम है; वही उसके लिये यथासंभव श्रेष्ठ वस्तु है। और प्रत्येक चीज, पृथ्वी-की प्रत्येक चीज इसी प्रकारकी है। और यदि तुम एकदम संकीर्ण नहीं होना चाहते, आंखोंपर पट्टी बांधना नहीं चाहते और अपनी नाककी नोकसे और आगे देखनेसे इनकार करना नहीं चाहते तो तुम्हें सबसे पहले यह बात समझनी होगी। तुम्हें यह बात अवश्य समझ लेनी चाहिये कि विश्व-की सभी वस्तुएं एक लक्ष्यकी ओर जा रही हैं और जिस हदतक वे उस लक्ष्यकी प्राप्तिमें सहायक होती हैं उसी हदतक उनका मूल्य है और यह मूल्य बिलकुल सापेक्ष है; और जो एकके लिये अच्छा है वह दूसरेके लिये वैसा नहीं भी हो सकता, जो एक समय अच्छा है वह दूसरे समय वैसा

भी हो सकता और, फलस्वरूप, प्रत्येक प्रकारकी रूढ़िवादिता एक भूलता है।

यह कहना बहुत आसान है कि "वह, वह सत्य है, अब मैं जानता हूं कि वह सत्य है और मैं अन्यथा नहीं सोचूंगा"; यह बहुत आसान है, और यथार्थमें, किसी चीजने अचानक तुम्हें ज्योतिके संपर्कमें ला दिया है, तुम्हें एक अनुभव प्राप्त हुआ है, तुम अपने विषयमें सचेतन हो गये हो, ऐसी चीजके विषयमें सचेतन हो गये हो जो तुम्हें अतिक्रांत करती है और तुम्हारी सत्ताका सत्य स्वरूप है, सो तुम्हारे लिये यह यथार्थ है। परंतु तुम यह मत मान बैठो कि तुम्हें द्वार-द्वार, नगर-नगर, देश-देश जाना चाहिये और लोगोंसे कहना चाहिये, "मैं 'सत्य' की घोषणा करता हूं", क्योंकि हो सकता है कि जो चीज तुम्हारे लिये सत्य है वह दूसरेके लिये बिलकुल ही उत्तम न हो। जो कुछ तुमने देखा है उसमें उसका सत्य है — प्रत्येक वस्तुमें उसका अपना सत्य है — परंतु इस सत्यके अस्तित्वका यथार्थ कारण यह है कि इसने तुम्हें अपने-आपको पानेमें, अपनी सत्ताके सत्यको पानेमें सहायता की है, और यह बिलकुल संभव है कि वह तुम्हारे पड़ोसीको सहायता न करे, जबतक कि तुममें उसे समझाने-बुझानेकी और तुमने स्वयं चीजोंको जिस रूपमें देखा है उसी रूपमें उन्हें देखनेके लिये उसे बाध्य करनेकी पर्याप्त शक्ति न हो, परंतु यह चीज अत्यधिक मूल्यवान् नहीं है।

जब तुम यह समझ लोगे, तुम फिर यह नहीं कहोगे कि "संसारमें ऐसी विषमता क्यों है, यह सब अनेकता क्यों है, यह सब अस्तव्यस्तता क्यों है, क्यों....?" यह महज इस कारण एक अस्तव्यस्तता है कि तुम इसे नहीं समझते और वस्तुएं अपने स्थानमें नहीं हैं। यदि वस्तुएं अपने स्थानमें होतीं तो कोई अव्यवस्था न होती। और हम इस निष्कर्षपर आ जाते हैं कि तुम विश्वको अव्यवस्थित किये बिना इस जगत्‌मेंसे एक परमाणुको भी निकाल नहीं सकते। जो कुछ भी है वह आवश्यक था — यदि यह आवश्यक न रहा होता तो उसका अस्तित्व ही न रहा होता। वस्तुओंका संपूर्ण समायोग 'भगवान्' की उपलब्धिके लिये अपरिहार्य है। यदि तुम उनमेंसे एक वस्तु निकाल लो तो उपलब्धिमें एक छिद्र हो जायगा। और मैं केवल स्थूल वस्तुओं, स्थूल विषयोंकी चर्चा नहीं कर रही हूं, बल्कि मैं संपूर्ण गहराईकी चर्चा कर रही हूं। अतएव जब तुम यह कहते हो, जैसा कि बहुत-से लोग कहते हैं, "आह! यदि यह चीज संसारमें न होती तो कितना सुन्दर यह जगत् हुआ होता", तो तुम अपने अज्ञानका ही प्रदर्शन करते हो।

जापानमें मेरी मुलाकात टॉल्स्टॉयके एक लड़केसे हुई; वह सारे संसारमें

घूमकर मानव-एकताका प्रचार कर रहा था। उसने यह भावना अपने पितासे ग्रहण की थी और संसारमें सर्वत्र घूम-घूमकर मानव-एकताका प्रचार कर रहा था। एक मित्रके घर उससे मेरी मुलाकात हुई और मैंने उससे पूछा, "तुम भला यह मानव-एकता कैसे प्राप्त करोगे?" जानते हो उसने मुझे क्या उत्तर दिया? "ओह! यह बहुत सरल बात है — यदि प्रत्येक व्यक्ति एक ही भाषा बोले, यदि प्रत्येक व्यक्ति एक ही ढंगसे कपड़ा पहने, यदि प्रत्येक व्यक्ति एक ही तरीकेसे जीवन बिताये तो समूचा जगत् संयुक्त हो जायगा!" तब मैंने उससे कहा, "तब तो वह एक ऐसा भद्दा जगत् होगा जो रहने योग्य नहीं होगा।" उसने मेरी बात नहीं समझी!

७ अप्रैल, १९५१

(श्रीमाताजी एक प्रश्न पढ़ती हैं जिसे कभी पहले एक अंगरेज शिष्याने पूछा था): **"यदि भगवान् ही, जो पूर्ण प्रेममय हैं, इस सृष्टिके मूल हैं तो फिर पृथ्वीपर जो ये सब बुराइयां भरी पड़ी हैं, वे कहांसे आयी हैं?"**

—वार्त्तालाप (१९२९)

बुराइयां कहांसे आती हैं? .... कौन व्यक्ति मुझे इसका उत्तर दे रहा है? दार्शनिक उत्तर, वैज्ञानिक उत्तर, मनोवैज्ञानिक उत्तर और काव्यात्मक उत्तर!

वे उसी मूलसे आती हैं जहांसे अज्ञान और अंधकार आते हैं।

यह रहस्यात्मक उत्तर, धार्मिक उत्तर है। ओह! तुममें कोई कल्पना-शक्ति नहीं है!

बुरी शक्तियां इसलिये भेजी गयी हैं कि पृथ्वीपर होनेवाला कार्य पूर्ण रूपसे संपन्न हो सके।

बुराई इसलिये भेजी गयी है कि मनुष्य अपने-आपको पूर्ण बना सके? तुम जो कुछ कह रहे हो वह बिलकुल समर्थनीय है, परंतु इससे उस

महिलाको बहुत भयानक चोट पहुंचती जिसने मुझसे यह प्रश्न पूछा था, उसने कहा होता, "भला उस ईश्वरने ऐसा कैसे किया होगा, जो सर्व-प्रेममय है? .... सृजन-कार्य भली-भांति नहीं हुआ!"

किसी व्यक्तिने 'जिनिसिस' (बाइबिलका प्रथम अध्याय) पढ़नेके बाद मुझसे कहा, "ईश्वरको यह सब करनेमें सात दिन लगे, फिर उन्होंने कहा कि यह अच्छा है! उनकी राय विचित्र है!"

एक खास समयपर, महान् टेरेसाको बहुत-सी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा। उसने ईश्वरसे शिकायत की, कहा, "भला ये चीजें मेरे साथ, जब कि मैं शुभेच्छासे पूर्ण हूं, क्यों घटित हो रही हैं?" तब ऐसा प्रतीत होता है, ईश्वरने उत्तर दिया, "सच पूछो तो मैं इसी तरह अपने मित्रोंके साथ व्यवहार करता हूं। यही कारण ह कि हमें इतना कम प्राप्त है!"

अब हम कठिनाईके मूलस्रोतको छू रहे हैं। मैं नहीं जानती कि तुमने इसे समझा है या नहीं, परंतु उस नारीके इस प्रश्नमें एक केंद्रीय दोष है, वह ईश्वर या भगवान्‌को उनकी सृष्टिसे एकदम स्वतंत्र एक व्यक्ति बना देती है। उसे कहना चाहिये था, "सृष्टि करनेकी क्षमता रखनेवाले किसी व्यक्तिने इस जगत्‌को ऐसा बना दिया है, और वास्तवमें, वह बड़ा क्रूर होगा," और उसकी बात सही हुई होती, होती न? .... प्रश्नको बुरी तरह रखा गया है, क्योंकि जिस भगवान्‌की बात यहां कही गयी है वह सच्चे भगवान् नहीं हैं, वह तो धर्मके — और एक विशेष प्रकारके धर्मके— भगवान् हैं, परंतु वह ऐसे भगवान् नहीं हैं जैसे कि वह वास्तवमें हैं।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं): **".... सब कुछ 'भगवान्' से आया है; परंतु उस 'एकमेव चैतन्य' ने, 'परमात्मा' ने जगत्‌को सीधे अपने-आपमेंसे नहीं रचा है; एक 'शक्ति' उसमेंसे निकली और वह अपनी क्रियावलीके क्रमशः अनेक स्तरोंमेंसे गुजरती हुई नीचे उतरी और वह बहुत-से एजेंटोंके भीतरसे गुजरी। सच पूछो तो बहुतेरे सृष्टिकर्त्ता या यों कहें कि "रूप-निर्माता" हैं जो जगत्‌के सृष्टि-कार्यके कर्ता-धर्ता थे। ये मध्यवर्ती प्रतिनिधि हैं और मैं उन्हें "सृष्टिकर्ता" नहीं, बल्कि "रूप-निर्माता" कहना अधिक पसंद करती हूं; क्योंकि उन्होंने जड़तत्त्वको केवल एक रूप, प्रवृत्ति और स्वभाव ही दिया है। ये रूप-निर्माता**

अनेक हुए हैं, और उनमेंसे कुछने सुसमंजस तथा कल्याणकारी वस्तुओंका निर्माण किया है और कुछने अनिष्टकारी तथा अशुभ वस्तुओंको आकार दिया है। और कुछ तो बनानेवालोंकी अपेक्षा अधिक बिगाड़नेवाले ही हुए हैं, कारण जिस चीजको दूसरोंने अच्छे रूपमें प्रारंभ किया था उसमें उन्होंने हस्तक्षेप किया और उसे भ्रष्ट कर दिया।"

—वार्त्तालाप (१९२९)

अब मैं इस ढंगसे उत्तर नहीं दूंगी, यह एकदम "प्रशासकीय" उत्तर है! बस, इसी तरह सरकारें सर्वदा उत्तर देती हैं; वे कहती हैं, "सच पूछो तो इसके लिये मैं उत्तरदायी नहीं हूं, उत्तरदायी तो मेरे प्रतिनिधि हैं।" यह सुन्दर ढंग नहीं है, यह कहीं अधिक अच्छा है कि जिम्मेदारी स्वयं अपने ऊपर ली जाय।

(श्रीमाताजी उसी श्रोताके एक प्रश्नके साथ अपना पढ़ना जारी करती हैं) : ("क्या यह ठीक है कि अनेकविध जगतोंके समूहसे बनी हुई जो यह सृष्टि है उसमें अपना यह अत्यंत स्थूल जगत् सबसे नीची श्रेणीका है?") "हमारा यह जगत् अत्यंत स्थूल है, पर यह आवश्यक रूपसे "नीची श्रेणीका" नहीं है, कम-से-कम, उस कारणसे तो नहीं ही है; यदि यह नीची श्रेणीका है तो इसका कारण यह है कि यह अंधकारपूर्ण और अज्ञानमय है, इस कारण नहीं कि यह स्थूल है। "जड़तत्त्व" को अंधकार और अज्ञानका पर्यायवाची मान लेना एक भूल है। और स्थूल जगत् ही एकमात्र जगत् नहीं है जिसमें हम निवास करते हैं; बल्कि यह उन अनेक जगतोंमेंसे एक है जिनमें हम युगपत् निवास करते हैं, और एक तरहसे तो यह उन सबमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण जगत् है। कारण, जड़तत्त्वका यह जगत् ही वह बिंदु है जहां अन्य सब जगत् संकेंद्रित होते हैं; यही वह क्षेत्र है जहां सभी जगत् ठोस रूप ग्रहण करते हैं; यही वह स्थान है जहां सभी जगतोंको अभिव्यक्त होना है। इस समय यह असामंजस्यपूर्ण और तमोग्रस्त अवश्य है; परंतु यह केवल एक दुर्घटना है, यह मानों दौड़का गलत प्रारंभ है। एक दिन यह मनोरम, छन्दोमय, ज्योतिपूर्ण बन जायगा; कारण यही उसकी परिपूर्णता है जिसके लिये यह निर्मित हुआ था।"

(वही)

इस महिलाके भगवान्‌संबंधी विचार निश्चित रूपसे एकदम कैल्डियन विचार थे। उसके अनुसार भगवान्‌ने शून्यमेंसे जगत्‌की सृष्टि की थी (जो कि बुरी तरह रचा गया है, मैं इसे स्वीकार करती हूं; यदि ऐसा ही बनाया गया है तो वास्तवमें यह बुरे ढंगसे बना है) और फिर वह भगवान् इसकी ओर देखते हैं और कहते हैं, "मैंने इसे एक उद्देश्यसे बनाया है", जो कि इस महिलाके आतंकको चरम शिखरपर पहुंचा देता है!

भला इस जगत्‌में इतना अधिक दुःख-संताप क्यों है? आओ, मैं तुमसे एक वैज्ञानिक, दार्शनिक, रहस्यात्मक, धार्मिक, काव्यात्मक उत्तर पूछती हूं....।

थोड़ी-सी विविधता ले आनेके लिये, नहीं तो यह (संसार) अत्यधिक नीरस हो जाता।

यह कोई काव्यात्मक उत्तर नहीं है — तुम्हें उसके लिये बहुत-से रूपकों और प्रतीकोंका व्यवहार करना होगा! तुम तो उस व्यक्तिके जैसे हो जिसने कहा था कि यदि कोई दुःखी न होता तो कोई सुखी भी न हो पाता, कारण कोई यह जानता ही नहीं कि सुखी होना है क्या! जैसे कि दूसरे कहते हैं, "यदि छाया न होती तो कोई प्रकाश ही न होता। कोई यह जानता ही नहीं कि प्रकाश क्या है यदि सब कुछ प्रकाश ही होता" ....आदि-आदि। तो तुम कहते हो कि दुःख-कष्टके बिना जगत्‌में कोई विविधता ही नहीं रहेगी? परंतु यह तो वरन् बड़ी कारुणिक विविधता है, है न?

यदि प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो तो जगत् सुखी होगा।

यदि प्रत्येक व्यक्ति आनन्ददायक स्थितिमें प्रवेश कर जाय तो जगत् आनंद-मय हो जायगा; तर्कके रूपमें यह बहुत अच्छा है। परंतु यह तो एक समाधान है, यह कोई कारण नहीं है। यहां तुमसे पूछा जाता है कि 'कारण' क्या है। यह दुःख-संताप कहांसे आया है यदि भगवान्‌से नहीं आया है — जो भगवान् कि, निस्संदेह, सर्वमंगलमय हैं और जो कभी ऐसी भयानक चीज नहीं उत्पन्न करेंगे!

जगत्‌का अस्तित्व ही नहीं है, यह तो हमारी मिथ्या चेतनाका एक भ्रम है।

आह! यह बात जरा ऐसे आदमीसे तो कहनेकी कोशिश करो जो, उदाहरणार्थ, कलेजेकी पीड़ासे दुःख भोग रहा हो!

किसीने कहा है, जगत्का निर्माण हुआ है गरीबोंको कष्ट उठाना और धनियोंको दान देना सिखानेके लिये।

बस, ठीक यही बात मैं कह रही थी, ठीक है न (हंसती हैं), कि यदि पृथ्वीपर कोई दुःख-दैन्य नहीं होता तो फिर लोकोपकारका क्या होता? ....यदि हम इसी तरह सभी क्षेत्रोंकी छान-बीन करें तो शायद अंतमें हम यह समझ जायेंगे कि सब कुछ आवश्यक था, अन्यथा जगत् उत्पन्न हुआ ही न होता। यह संभवतः एक निष्कर्ष है। नहीं, यह कोई निष्कर्ष नहीं है, क्योंकि यह तो जगत् जो कुछ है उसके अनिश्चित कालतक बने रहनेको उचित सिद्ध करेगा।

यदि जगत् वैसा ही है जैसा कि उसे होना चाहिये तो फिर यहां अपूर्णता क्यों है?

किसीने यह बात नहीं कही है, यदि ऐसी बात हो तो तब तो दूसरा कुछ करनेको ही नहीं रह जायगा, सिवा इसके कि हम बैठ जायं और अब जरा भी न हिलें-डुलें!

हमने तो पहले ही मान लिया है कि जगत् वैसा नहीं है जैसा कि उसे होना चाहिये और हम यहां कार्य करनेके लिये हैं जिसमें कि वह वैसा बन सके जैसा कि उसे होना चाहिये। परंतु यह जाननेके लिये हमें सबसे पहले यह जानना चाहिये कि इसे क्या होना चाहिये, ठीक है न? बस, यही है समस्या। जगत्को क्या होना चाहिये?

अ—इसे दिव्य चेतनाके विषयमें सज्ञान होना चाहिये।
ब—कोई दुःख-कष्ट जगत्में नहीं रहना चाहिये।

जब हम कुछ निर्णय करते हैं, हम यह कहकर आरंभ नहीं करते कि "मैं यह नहीं चाहता, मैं वह नहीं चाहता," नहीं तो हम अपनी चीज कभी निर्मित नहीं कर सकते। हमें तो यह कहना चाहिये कि उसे क्या होना चाहिये, न कि उसे क्या नहीं होना चाहिये। उसे क्या नहीं होना चाहिये इसे तो हम पहलेसे ही जानते हैं: वह तो वही है जो अभी है! हमें उसके

लिये बहुत दूर जानेकी आवश्यकता नहीं — जैसा कि वह है, हम उसे नहीं चाहते। सो, उसे क्या होना चाहिये?

एक पुष्प-वाटिका जहां हम भगवान्‌के साथ एक शाश्वत खेल खेलें।

यह सुननेमें बहुत सुन्दर है, यह बहुत अच्छा है — "भगवान् एक क्रीड़ा-रत बालक है," श्रीअरविंदने कहा है।[1] ऐसा लगता है कि इस बातने बहुतसे लोगोंको चोट पहुंचायी है। जब हमने इसे फ्रेंचमें अनूदित किया और इसे यूरोप भेजा तो वहां ऐसे लोग थे जिन्हें बड़ा धक्का पहुंचा और उन्होंने कहा, "हां, वह खेलता है हमारी कीमतपर!"

संसार प्रेम और ज्योतिसे भरा हुआ होना चाहिये।

किस ज्योतिसे? किस प्रेमसे?

भागवत ज्योतिसे।

जब तुम "भागवत ज्योति" कहते हो तब उससे तुम्हारा क्या मतलब होता है?

जगत्‌को ग्रहणशील होना चाहिये।

ग्रहणशील किस चीजके प्रति?

इसे भागवत 'संकल्प' की सतत अभिव्यक्ति होना चाहिये जहांसे कि यह पृथक् हुआ है।

सो, सचमुच यह जगत् भगवान्‌से पृथक् हुआ है। अब हम इस बातपर आते हैं: जगत् इस कारण दुःख-दैन्यसे ग्रस्त है कि यह भगवान्‌से पृथक् हो गया है। यह एक ऐसा उत्तर है जो न तो दार्शनिक है न काव्यमय,

---

[1] विचार और झांकियां।

न . . . । हम इसे एक व्यावहारिक उक्ति कहेंगे । और इसने भला भगवान्‌से पृथक् होनेकी व्यवस्था कैसे की, जब कि वह स्वयं भगवान् ही है ? . . . . अब यह बहुत जटिल प्रश्न हो जाता है। हम कहते हैं, कहते हैं न, कि जगत् दिव्य है और यह दुःखपूर्ण इसलिये है कि यह भगवान्‌से पृथक् हो गया है। यह कैसे पृथक् हुआ ?

अपने अज्ञानके द्वारा ।

हे भगवान् ! तब भला यह अज्ञान कहांसे आया है ? अज्ञान किस बातका ? स्वयं उसके अपने संबंधमें अज्ञान ?

उसके अपने मूल स्रोतका अज्ञान ।

हां, इसका अर्थ है स्वयं उसके अपने संबंधमें अज्ञान ! यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्तिसे यह कहा जाता है कि "अपने-आपको जानो" — इसे वैसा ही होना चाहिये !

वास्तवमें स्वयं जगत् अज्ञानपूर्ण है या हम लोग हैं ?

आह ! तब तो मुझे तुमसे यह पूछना होगा, "तुम किसे जगत् कहते हो ?" वह पृथ्वी है या विश्व ?

विश्व ।

तब, सारा विश्व अज्ञानपूर्ण नहीं है — विश्वके ऐसे भाग हैं जो अज्ञान-पूर्ण नहीं हैं। जब तुम "हम" कहते हो तब तुम अपने-आपको विश्वके साथ अथवा मनुष्यजातिके साथ एकात्म कर लेते हो ? क्योंकि यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। हम कहते हैं कि जगत् दुःखपूर्ण है क्योंकि यह अपने मूलस्रोतको, अर्थात् अपने दिव्य मूलस्रोतको भूल गया है। तुम कहते हो, कि हम लोग दुःखी हैं क्योंकि "हम" अज्ञानी हैं — यह "हम" मनुष्यमात्रके लिये है। परिणामस्वरूप, जगत्‌में दुःख-कष्ट मनुष्योंके साथ आया है — यहांपर कोई बात बड़ी गंभीर है ! वह है, मनुष्यके साथ पृथ्वीपर मन आया है, समझे, क्योंकि मनुष्य एक मनोमय प्राणी है, और मनके साथ ही आया है दुःख-दैन्य। मनमें वस्तुओंको अपनेसे पृथक्

रूपमें देखनेकी क्षमता है, और इसलिये उसे पता चलता है कि अमुक-अमुक वस्तु दुःखपूर्ण है — मनके बिना ऐसी कोई उपलब्धि नहीं होगी और न कोई दुःख-कष्ट होगा। अतएव, न तो पशुओंके लिये और न पेड़-पौधोंके लिये कोई दुःख-कष्ट है, और उससे भी कम पत्थरोंके लिये है। क्या हम इस बातपर एकमत हैं: पशुओं, पौधों और पत्थरोंके लिये कोई दुःख-कष्ट नहीं है? हम कहते हैं कि दुःख-कष्ट मनके साथ आया है जो उसके विषयमें सचेत हुआ है। ध्यान दो, मैं तुम्हें एक ऐसी बातकी ओर ले जानेकी कोशिश कर रही हूं जो इतनी मूर्खतापूर्ण नहीं है, क्योंकि प्राचीन उपदेशमें यह कहा गया था कि "अपनी चेतनाको बदल दो और जो कुछ तुम्हें दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता है वह फिर तुम्हें वैसा नहीं प्रतीत होगा।" बुद्धने शिक्षा दी कि यदि तुम कामनासे मुक्त हो जाओ तो जो चीजें तुम्हें दुःखपूर्ण प्रतीत होती हैं वे उसके बाद बिलकुल दुःखपूर्ण नहीं प्रतीत होंगी। अतएव, हम इस बातपर पहुंचते हैं कि, तुम किसी चीजके विषयमें जो विचार रखते हो वही तुम्हें इस या उस चीजको दुःख-पूर्ण समझनेकी प्रवृत्ति प्रदान करता है। यदि तुम किसी घटनाको सुख-पूर्ण समझो तो वह तुम्हारे लिये सुखपूर्ण बन जायगी; और वास्तव-में वह चीज वैसी ही है। अधिकतर विषयोंमें जब विचार यह स्वीकार कर लेता है कि किसी चीजको, चाहे जिस किसी कारण, सुखपूर्ण होना चाहिये, तो वह फिर दुःखपूर्ण नहीं रह जाती; जब विचार ऐसी बात नहीं स्वीकार करता तो वह उसे दुःखपूर्ण पाता है। सो, जबतक तुम भावावेगों, भावनाओं, और विचारोंके क्षेत्रमें रहते हो तबतक यह सब सत्य है। अर्थात् "दुःख-कष्ट" की धारणा यह समझनेकी क्षमताके साथ जगत्में आयी है कि वस्तुएं दुःख-कष्टपूर्ण हैं। तुम इस तर्कको समझते हो? इस तरह पेड़-पौधे कष्ट नहीं पाते क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे दुःख पाते हैं और पशु-पक्षी कष्ट नहीं भोगते क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे दुःख भोगते हैं। इस विषयमें तुम निस्संदिग्ध हो? नहीं हो?

हम उनकी आंखोंमें दर्दको व्यक्त होते हुए देखते हैं।

यह कहा जाता है कि तुम दूसरोंमें वही चीज देखते हो जो स्वयं तुम्हारे अंदर होती है!

देकार्त (Descartes) कहते हैं कि एक महिला अपने कुत्तेको मारती थी और कहती जाती थी, "इसे कष्ट नहीं होता, इसमें

आत्मा नहीं है, यह तो एक प्रतिबिंब है।" देकार्तका कहना है कि केवल मनुष्य ही अनुभव कर सकते हैं!

मैंने बराबर ही यह सुना है कि वह एक बुद्धिमान् व्यक्ति थे।

यदि दुःख-कष्ट विचारके साथ जगत्में आया तो फिर सुख-शांति भी आयी, ठीक है न?

आह! यह है तर्क! जब यहां दुख है तो फिर यहां सुख भी है... बिना दुःखके कोई सुख नहीं हो सकता। कितना कठिन यह दर्शन है!... क्या तुम्हारे मि० देकार्तने हमें यह बतलाया है कि मनुष्यकी अंतरात्मा कहांसे आयी है?

वह कहते हैं कि वह ईश्वरकी एक सृष्टि है।

जगत्का बाकी भाग ईश्वरकी सृष्टि नहीं है?

हां, वह भी है।

तब, एकाएक, उन्हें सूझ पड़ा कि अपनी सृष्टिमें एक ऐसी चीजको डाल देनेकी आवश्यकता है जिसे "अंतरात्मा" कहते हैं और उन्होंने उसे डालने-के लिये उस पशु — मानवको चुना। फिर उसके अंदरसे निकलना बड़ा कठिन है....। परंतु हम तो यह पता लगानेकी कोशिश कर रहे थे कि इस जगत्को क्या होना चाहिये। बस, इसीका पता लगाना होगा, और जिस क्षण हम जान जायें उसे क्या होना चाहिये, उसी क्षण हमें उसके लिये कार्य करना आरंभ कर देना होगा।

इसे उस दिव्य 'शक्ति' की ओर उद्घाटित होना चाहिये जो अभिव्यक्त होना चाहती है।

दुर्भाग्यकी बात है कि यह किन्हीं विशेष शक्तियोंकी ओर खुला हुआ है और उन्हें अभिव्यक्त करता है। वास्तवमें प्रधान बात यह है कि वह 'शक्ति' किस प्रकारकी है। यह जगत् अभी जैसा है, यह किन्हीं शक्तियों-को अभिव्यक्त करता है, शक्तियोंकी अभिव्यक्तिके बिना उसका अस्तित्व

ही नहीं होता; परंतु वह किन शक्तियोंको अभिव्यक्त करता है? वर्तमान समयमें ऐसा लगता है कि वह अंधकार, अज्ञान, असामंजस्य, दुःख-कष्ट आदि-आदिकी शक्तियोंको ही अभिव्यक्त करता है।

इसमें विवेक होना चाहिये।

तुम्हारा मतलब यह है कि जो शक्ति आवश्यक है उसका उसे चुनाव करना चाहिये? हां, परंतु यह जगत्का रूपांतर नहीं है, यह हमारे लिये है। सच पूछो तो हम लोगोंमें यह समझनेकी दूरदृष्टि होनी चाहिये कि हम कौन-सी शक्तिको अभिव्यक्त करना चाहते हैं, यह जानी-मानी बात है। परंतु अब हम अपने विषयपर आयें, तुम सब इस बातपर सहमत हो कि संसारमें जिसका हम निर्माण करने जा रहे हैं, कोई दुःख-कष्ट नहीं होना चाहिये? सहमत हो? .... तुम इस विषयमें एकदम निस्संदिग्ध नहीं हो? .... तो तुम दुःख-कष्टसे संतुष्ट हो? मैं नहीं जानती, शायद इसका भी कुछ उद्देश्य है। परंतु, देखो, जबतक मनुष्य किसी चीजसे संतुष्ट रहता है, तबतक ऐसी बहुत-सी संभावनाएं होती हैं जिनके कारण वह बनी रहती है। कम या अधिक धार्मिक ग्रंथोंमें यह कहा गया है कि दुःख-कष्ट अज्ञानसे आता है; अतएव तुम यदि दुःख-कष्टसे छुटकारा पानेकी बात नहीं सोचते तो इसका तात्पर्य है कि तुम अज्ञानको भी बनाये रखना चाहते हो? वह बड़ा कठिन हो जाता है। यह उस कलाकारकी तरह है जिससे किसीने कहा कि भावी जगत् संपूर्ण ज्योतिसे बना होगा, और तब कलाकारने कहा, "तब मैं फिर चित्रकारी नहीं कर सकूंगा" और वह बड़ा दुःखी हो गया! संभवतः, सचमुच, ऐसे बहुत-से लोग होते हैं जो अपने अज्ञानसे चिपके रहते हैं? ....

वास्तवमें दुःख ही हमें उच्चतर शक्तिके विषयमें सचेतन बनाता है।

यह सच है, बहुत-से प्रसंगोंमें बात ऐसी ही है और यही बात ऊपरी तौरपर दुःख-कष्टके औचित्यका समर्थन करती है। यदि मानव-प्राणी दुःख न भोगते तो शायद वे कभी कोई उन्नति न करते। जब मनुष्य पूर्ण रूपसे संतुष्ट होता है तो अभीप्सा बड़ी धीमी होती है।

लो, अब हम यहां आकर एकदम विभ्रांत हो गये हैं! हां, मानव-मनके काम करनेका ठीक यही नमूना है; और उसके बाद, ऐसे लोग हैं

जिन्होंने किसी चीजकी पूंछ पकड़ ली है और वे इस पूंछसे इतने अधिक संतुष्ट हैं कि वे कहते हैं, "मेरे पास सत्य है, और मैं जो कुछ तुमसे कहता हूं उसपर तुम्हें विश्वास करना चाहिये, नहीं तो तुम कभी इससे बाहर नहीं निकल सकोगे।" सच बात यह है कि उस क्षण तुम्हारे विचारकी ऐसी अवस्था होती है कि चाहे कोई भी व्यक्ति आकर तुमसे कह सकता है कि "मेरे पास सत्य है", और तुम प्रसन्नतापूर्वक अपनी अस्तव्यस्ततासे बाहर निकलनेके लिये उसे पकड़ सकते हो.... आओ देखें, हमारे पास दो मिनट हैं, और उन दो मिनटोंतक हम बातचीत नहीं करेंगे, और हमारी सारी अस्तव्यस्तता दूर हो जायगी। उसके बाद आजका कार्यक्रम समाप्त हो जायगा। सो, अब बात मत करो, दो मिनटतक यथासंभव नीरव रहनेकी कोशिश करो (उसके बाद ध्यान होता है)।

९ अप्रैल, १९५१

'बातचीत' (१९२९) से कला और योगके विषयमें एक लेखांश पढ़नेके बाद।

कला और योगमें क्या संबंध है? क्या कलाकार और योगीकी अंतःप्रेरणाका एक ही स्रोत हो सकता है? (श्रीमाताजी एक शिष्यकी ओर मुड़ती हैं): अमृत, क्या तुम हमें बताओगे कि कला और योगके बीच क्या संबंध है?

एक सुन्दर संबंध....। कला एक योग हो सकती है और योग एक कला है ही।

बहुत सुन्दर! मैं एक अमेरिकन महिलाको जानती थी; वह कहती थी कि आध्यात्मिकता सर्वोच्च सुरुचि है, संभ्रमनीय सर्वश्रेष्ठ सुरुचि है। यह बिलकुल वही बात है।

शास्त्रोंमें और स्वप्नोंमें सांपोंका क्या अर्थ होता है?

वह शास्त्रोंपर निर्भर करता है! वह स्वप्नोंपर निर्भर करता है! यदि

तुम मुझे स्वप्नका कोई उदाहरण बताओ तो मैं तुम्हें बताऊंगी कि तुम्हारे सांपका क्या स्वरूप था, यूं तो "सांप" अत्यंत अस्पष्ट है।

भला आधुनिक कला इतनी कुत्सित क्यों है?

मेरी समझमें मुख्य कारण यह है कि लोग अधिकाधिक आलसी होते जा रहे हैं और काम करना नहीं चाहते। सचमुच कुछ काम कर चुकनेसे पहले ही वे कुछ उत्पादन करना चाहते हैं, अध्ययन करनेसे पहले ही जान लेना चाहते हैं और कोई अच्छी चीज करनेसे पहले ही नाम कमाना चाहते हैं। जैसा कि हम देखते हैं, यही सब प्रकारकी चीजोंके लिये दरवाजा खोल देता है... स्वभावतः ही अपवाद भी हैं।

मैं ऐसे कलाकारोंको जानती हूं जो महान् कलाकार थे, जिन्होंने कठिन परिश्रम किया था और अपूर्व चीजें, उच्च कोटिकी, अर्थात् अति-आधुनिक नहीं, चीजें तैयार की थीं। परंतु लोग उन्हें पसंद नहीं करते थे क्योंकि, वास्तवमें, उन्हें उच्च कोटिका नहीं होना चाहिये था। जब किसी ऐसे आदमीके हाथमें तूलिका पकड़ायी गयी जिसने पहले कभी तूलिका नहीं छुई, जिसने कभी रंग-पट्टिकाको हाथ न लगाया था उसने रंग-पट्टिका-पर तूलिका लगायी, जिसने आजतक चित्र न बनाया था उसने अपने आगे चित्राधारपर कैन्वसका टुकड़ा पाया और बस यूं ही रंग पोतता गया, ऊट-पटांग ढंगसे रंग फेंकता गया और सभी चिल्ला उठे, "वाह, शाबाश!" "अद्भुत", "यह तो तुम्हारी आत्माकी अभिव्यक्ति है," "कितने सुन्दर रूपमें यह वस्तुओंका सत्य प्रकट कर रहा है," आदि-आदि! यही थी प्रचलित प्रथा और जो लोग कुछ नहीं जानते थे वे बहुत सफल कलाकार थे। जिन गरीब लोगोंने सचमुच काम किया था, जो अपनी कलाको भली-भांति जानते थे, उनके चित्रोंकी मांग नहीं रही; लोग कहा करते, "ओह! यह तो पुराने फैशनका है, तुम्हें ऐसी चीजोंके लिये कभी ग्राहक नहीं मिलेंगे।" परंतु आखिरकार, वे भूखे थे, उन्हें अपने मकानका किराया चुकाना था और अपने रंगोंका और बाकी सभी वस्तुओंका मूल्य चुकाना था और यह सब खर्चीला था। तब भला वे क्या कर सकते थे? जब उन्हें चित्र-विक्रेताओंसे झिड़की मिलती थी जो सब-के-सब उनसे एक ही बात कहते थे कि "परंतु आधुनिक होनेकी चेष्टा करो, मेरे मित्र, देखो, तुम समयसे पीछे हो," और चूंकि वे बहुत भूखे थे, वे भला क्या कर सकते थे?... मैं एक चित्रकारको जानती थी, वह गुस्ताव मोरो (Gustave Moreau) का शिष्य था; वह वास्तवमें बड़ा ऊंचा कलाकार था, वह अपने क...यमें

बहुत दक्ष था, और फिर भी..... वह भूखों मर रहा था, वह नहीं जानता था कि वह अपना खर्च कैसे चलाये और वह बराबर रोया करता था। एक दिन, उसे सहायता करनेकी अभिलाषासे एक मित्रने एक चित्र-विक्रेताको उससे मिलनेके लिये भेजा। जब उस व्यापारीने उसकी चित्रशालामें प्रवेश किया, तो इस गरीब कलाकारने मन-ही-मन कहा, "आखिरकार, यहां मेरे लिये एक अवसर है!" और उसने उसे अपने बनाये हुए सभी उत्तम चित्र दिखाये। चित्र-विक्रेताने एकदम गंभीर मुद्रा बना ली, चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, चीजोंको उलटा-पलटा और सभी कोनोंमें देखना-खोजना शुरू कर दिया। अचानक उसे मिल गया..... आह! मुझे तुम्हें यह बात समझा देनी चाहिये, तुम इन चीजोंसे परिचित नहीं हो। एक चित्रकार जब दिन भर काम करता है तो उसके बाद कभी-कभी उसकी रंग-पट्टिकापर कुछ मिले-जुले रंग शेष रह जाते हैं; वह उन्हें रख नहीं सकता, वे एक दिनमें सूख जाते हैं; इसलिये सर्वदा उसके पास कैन्वसके कुछ टुकड़े रहते हैं जो भलीभांति व्यवस्थित नहीं होते और जिनपर वह उन चीजोंको पोत देता है जिन्हें "रंग-पट्टिकाकी खुरचनें" कहते हैं (एक लचीली छुरीसे वह रंगकी तख्तीपरसे सभी रंगोंको खुरचता है और कैन्वसोंपर पोत देता है) और चूंकि उसमें बहुत-से रंग मिले होते हैं, उससे अप्रत्याशित आकार बन जाते हैं। वहां एक कोनेमें वैसा ही एक कैनवस पड़ा था जिसपर वह कलाकार अपनी तख्तीकी खुरचन पोत दिया करता था। व्यापारी अचानक उसपर टूट पड़ता है और चिल्ला पड़ता है, "यह रहा! मेरे मित्र, तुम बड़े प्रतिभाशाली हो, यह एक चमत्कार है, बस यह है जिसे तुम्हें दिखाना चाहिये! देखो यह रंगोंकी समृद्धि, आकारोंकी यह विविधता, और कैसी है यह कल्पना!" और यह गरीब आदमी, जो भूखों मर रहा था, लजाते हुए बोला, "परंतु महाशय, ये सब मेरी तख्तीकी खुरचनें हैं!" और चित्र-विक्रेताने उसे जोरसे पकड़कर कहा, "मूर्ख गावदी कहींके, यह कहनेकी बात नहीं है!" फिर उसने कहा, "यह मुझे दे दो, मैं इसे बेचनेका भार लेता हूं। इस तरहकी चाहे जितनी चीजें तुम मुझे दो; दस, बीस, तीस, प्रति मास, मैं तुम्हारे लिये उन सबको बेच दूंगा और मैं तुम्हें प्रसिद्ध बना दूंगा।" और तब, जैसा कि मैं तुमसे कह चुकी हूं, उसका पेट मांग कर रहा था; वह इस प्रस्तावसे बिलकुल प्रसन्न नहीं था, पर वह बोला, "ठीक है, इसे ले लीजिये, मैं देखूंगा।" उसके बाद आता है उसका मकान-मालिक और अपना भाड़ा मांगता है; रंगका व्यापारी आता है और अपने पुराने बिलोंका भुगतान चाहता है; परंतु पर्स बिलकुल खाली है, और तब क्या किया जाय? सो, उसने यद्यपि तख्तीकी खुरचनोंसे तस्वीरें नहीं बनायीं,

[illegible] कुछ ऐसी चीजें तैयार कीं जिन्होंने कल्पनाको खुलकर खेलनेका अवसर दिया, जिनमें आकार बहुत अधिक स्पष्ट नहीं थे, रंग सभी मिले-जुले और चमकदार थे, और मनुष्य जो कुछ देखता था उसे बहुत अधिक नहीं समझता था; और चूंकि लोगोंने जो कुछ देखा उसे बहुत अधिक नहीं समझा; जिन लोगोंने उसके विषयमें कुछ नहीं समझा उन्होंने चिल्लाना शुरू किया, "कितना सुन्दर है यह!" और उसने ऐसी ही चीजें अपने कला-विक्रेताको प्रदान कीं। उसने कभी अपनी सच्ची चित्रकारीके लिये नाम नहीं कमाया जो वास्तवमें बहुत सुन्दर होती थी (उसकी चित्रकारी सचमुच बहुत सुन्दर थी, वह बहुत अच्छा चित्रकार था), पर वह इन बीभत्स चित्रोंके कारण विश्वमें विख्यात हो गया! और यह बात है ठीक आधुनिक चित्रकलाके प्रारंभिक युगकी, यह उस समयकी बात है जब सन् १९०० में चित्रकलाकी विश्व-प्रदर्शनी हुई थी; यदि मैं तुम लोगोंको उसका नाम बता दूं तो तुम सब उसे जान जाओगे....। अब, निस्संदेह, वे उससे बहुत आगे बढ़ गये हैं, अब उन्होंने बहुत अधिक अच्छा कार्य किया है। परंतु उस व्यक्तिको सामंजस्य और सौंदर्यका बोध था और उसके रंग बहुत सुन्दर थे। परंतु आजकल, जैसे ही चित्रमें थोड़ा-सा सौंदर्य आ जाता है, वह बिलकुल नहीं चलता, उसे तो बेहद भद्दा होना चाहिये, यह लो, यही है आधुनिक-कला!

यह कहानी शुरू हुई थी.....उस आदमीसे जो जड़ पदार्थोंका चित्रण किया करता था और उसकी प्लेटें कभी गोल नहीं होती थीं...सेजान (Cézanne)! यही व्यक्ति था जिसने इसका प्रारंभ किया था; वह कहा करता था कि यदि प्लेटोंको गोल रखा जाय तो वे सजीव नहीं होंगी। जब कोई सहज ढंगसे चीजोंको देखता है तब वह कभी प्लेटोंको गोल नहीं देखता: वह उन्हें ऐसी (भंगिमा) देखता है। मैं नहीं जानती कि क्यों, पर वह कहा करता था कि वास्तवमें मन ही हमें प्लेटोंको गोल दिखा देता है, क्योंकि हम जानते हैं कि वे गोल हैं, अन्यथा मनुष्य उन्हें गोल नहीं देखता। यही वह व्यक्ति है जिसने आरंभ किया था.....वह जड़ पदार्थोंको चित्रित करता था जो वास्तवमें बहुत सुन्दर चीज होती थी, ध्यान दो; बहुत सुन्दर, रंग और आकारके चित्रणके साथ सचमुच आश्चर्यजनक (मैं एक दिन तुम्हें उनकी प्रतिकृतियां दिखा सकती हूं, वे मेरे पास अवश्य होंगी, परंतु दुर्भाग्यवश वे रंगीन प्रतिकृतियां नहीं हैं; सौंदर्य तो यथार्थमें रंगोंमें है)। परंतु, सचमुच उसकी प्लेट गोल नहीं होती थी। उसके कुछ मित्र थे जिन्होंने ठीक यह बात कही, "परंतु आखिरकार, तुम अपनी प्लेटको गोल क्यों नहीं बनाते?" उसने उत्तर दिया, "मेरे प्यारे दोस्तो, तुम

लोग एकदम मनप्रधान हो, तुम कलाकार नहीं हो, क्योंकि तुम चिंतन करते हो इसलिये तुम अपनी प्लेटें गोल बनाते हो; यदि तुम केवल देखो, तुम इसे इस तरह करोगे (भंगिमा)। सच पूछो तो मनके ऊपर जो छाप पड़ती है उसके अनुसार प्लेट चित्रित होनी चाहिये; यह तुमपर एक प्रकारका संघात करता है, तुम उस संघातको रूपांतरित करते हो, और यही चीज है जो वास्तवमें कलात्मक है। बस, इसी तरह आधुनिक कला प्रारंभ हुई। और इस बातपर ध्यान दो कि वह सही था। उसकी प्लेटें गोल नहीं थीं, पर वह सिद्धांततः सही था।

कलाको किस चीजने वैसा बनाया है जैसी कि वह है? क्या तुम चाहते हो कि मैं यह बात बताऊं, मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे?.....वह चीज है फोटोग्राफी। फोटोग्राफरोंको अपना काम मालूम नहीं था और उन्होंने वीभत्स चीजें दीं; भयंकर रूपसे कुत्सित, वह सब यांत्रिक था, उसमें कोई आत्मा नहीं थी, उसमें कोई कला नहीं थी, वह सब बड़ा घृणास्पद था। फोटोग्राफीके सभी प्रथम प्रयास तबतक.....बहुत अधिक दिन नहीं हुए, वैसे ही थे। लगभग पचास वर्ष हुए जब कि यह थोड़ी संतोषजनक होने लगी, और अब धीरे-धीरे समुन्नत होकर कुछ सुन्दर वस्तु बन गयी है। परंतु यह तो कहना ही होगा कि इसकी प्रक्रिया पूर्णतः भिन्न है। उन दिनों जब तुम्हारा चित्र बनाया जाता था, तुम एक आरामदेह कुरसीपर बैठ जाते थे, तुम्हें अच्छी तरह झुककर और काले कपड़ेसे ढकी एक भारी-भरकम वस्तुकी ओर मुख करके बैठ जाना होता था जो इस प्रकार तुम्हारी ओर खुल जाती थी। और फोटो लेनेवाला मनुष्य हुक्म देता, "हिलिये मत! स्थिर!" निस्संदेह, वह पुरानी चित्रकारीका अंतिम काल था। जब चित्रकार कोई जीवन-सदृश चीज तैयार करता, सच्चे जीवनकी जैसी तस्वीर बनाता तो उसके मित्र कहते, "ऐसे क्यों, यह तो फोटोग्राफी है!"

यह कहना ही होगा कि विगत शताब्दीके अंतकी कला, (फ्रांसकी) द्वितीय साम्राज्यकी कला, बुरी थी। वह व्यापारियोंका युग था, सबके ऊपर महाजनों, पूंजिपतियोंका युग था, और विश्वास करो, रुचि बहुत नीचे गिर गयी थी। मैं नहीं समझती कि व्यापारी लोग निश्चित रूपसे कलामें बहुत कुशल होते हैं, पर जब वे अपनी तस्वीर बनवाना चाहते थे, वे ठीक-ठीक अपना प्रतिरूप चाहते थे! चित्रकार छोटी-से-छोटी व्योरेकी बात भी नहीं छोड़ सकता था, वास्तवमें यह एकदम हास्यास्पद था: "परंतु, देखिये, मुझे यहां थोड़ी-सी झुर्री है, उसे आंकना मत भूलियेगा!" और वह महिला जिसने कहा था, "देखिये, आप मेरे कंधोंको बिलकुल गोल बनाइयेगा,"

आदि-आदि। सो, कलाकारोंने ऐसे व्यक्तिचित्र तैयार किये जो सचमुच फोटोग्राफी बन गये। वे बहुत निर्जीव, भावशून्य, आत्मासे रहित तथा सूक्ष्मदृष्टिसे रहित थे। मैं उस कालके बहुत-से कलाकारोंका नाम बता सकती हूं, यह सब वास्तवमें कलाके लिये शर्मकी बात थी। यह स्थिति विगत शताब्दीके करीब अंततक, लगभग सन् १८७५ तक बनी रही। उसके बाद, इसकी प्रतिक्रिया आरंभ हुई। फिर आया एकदम अत्यंत सुन्दर युग (यह बात मैं इसलिये नहीं कहती कि स्वयं मैं चित्रकारी करती थी), पर उन दिनोंमें मैं जितने कलकारोंसे परिचित थी वे सब-के-सब यथार्थतः कलाकार थे, वे सभी गंभीर थे और उन्होंने ऐसे प्रशंसनीय कार्य किये जो अब भी प्रशंसनीय बने हुए हैं। यह प्रभाववादियों (impressionists)का युग था; यह माने (Manet) का युग था, यह सुन्दर युग था, उन्होंने सुन्दर वस्तुएं तैयार कीं। परंतु लोग जैसे बुरी वस्तुओंसे थक जाते हैं वैसे ही सुन्दर वस्तुओंसे भी थक जाते हैं। सो, ऐसे लोग आये जिन्होंने "सालों दोतोम" (Salon d'Automne) की स्थापना करनी चाही। उन्होंने दूसरोंको अतिक्रांत करना, अधिक नवीनकी ओर जाना, यथार्थमें फोटोग्राफी जैसी पेंटिंगके विरुद्ध जाना चाहा। और, हे भगवान्! वे सीमासे कुछ परे चले गये (मेरी पसंदके अनुसार)। उन्होंने रैंब्रैं (Rembrandt) की निंदा करना आरंभ कर दिया — रैंब्रैं अनाड़ी चित्रकार था, टिटियन (Titian) अनाड़ी चित्रकार था, इटैलियन नवजागरणके सभी महान् चित्रकार अनाड़ी चित्रकार थे। राफेल (Raphael) का तो नाम ही नहीं लिया जा सकता था, वह तो शर्मकी बात थी। और इटैलियन नव जागरणका समस्त महान् काल, यहांतक कि लियोनार्दो दा विन्सी (Leanardo da Vinci) की कृतियोंका भी "बहुत अधिक मूल्य" नहीं था; लोग कहते, "जानते हो, उन्हें बस लेना और छोड़ देना चाहिये।" फिर वे थोड़ा-सा और आगे बढ़ गये; उन्होंने कोई संपूर्णतः नयी चीज करनी चाही, वे असंयत बन गये। और फिर, वहांसे बस एक ही पग और बाकी रह गया तख्तीकी खुरचनतक जानेमें और फिर चित्रकारीका अंत ही हो गया।

यही है कलाका इतिहास जैसा कि मैं जानती हूं।

अब, सच पूछो तो, हम फिरसे ऊपरकी ओर मुड़ रहे हैं। वास्तवमें, मैं समझती हूं, हम लोग असंगति, निरर्थकता, कदर्यताकी — कुत्सित और कुरूप, गंदी, गर्हितके प्रति अपनी रुचिकी गहराईतकमें पहुंच गये थे। मेरी समझमें हम एकदम तहतकमें पहुंच गये थे।

क्या वास्तवमें हम ऊपर जा रहे हैं?

मैं ऐसा ही समझती हूं। हालमें मैंने कुछ चित्र देखे जिनमें सचमुच कुछ ऐसी चीजें थीं जो कुरूपता और अश्लीलतासे भिन्न थीं। यह अभी भी कला नहीं है, सुन्दर होनेसे अभी बहुत दूर है, परंतु ऐसे लक्षण हैं कि हम फिरसे ऊपर जा रहे हैं। तुम देखोगे, आजसे पचास वर्ष बाद हमें शायद सुन्दर चीजें देखनेको मिलेंगी। कुछ दिन पहले मैंने यह अनुभव किया था कि हमने यथार्थतः अवनतिमुखी मोड़को पार कर लिया है — हम अभी भी बहुत नीचे हैं, पर हमने ऊपर चढ़ना आरंभ कर दिया है। लोगोंमें एक प्रकारकी वेदना है और अभी भी इस समझका पूरा-पूरा अभाव है कि सौंदर्य क्या हो सकता है और उसे क्या होना चाहिये, परंतु हम किसी ऐसी वस्तुकी ओर एक अभीप्सा देखते हैं जो कुत्सित रूपमें स्थूल नहीं होगी। एक समय कलाने, जिसे लोग "यथार्थवादी" कहते थे, वह बननेके लिये पंकमें लोटना चाहा था। उन्होंने एक ऐसा "यथार्थ" चुना था जो संसारमें सबसे अधिक वीभत्स, अत्यंत कुरूप था : वीं सब प्रकारकी विकृतियां, समस्त गंदगी, समस्त कुत्सितता, समस्त भयानक वस्तुएं, रंग और आकारकी समस्त असंबद्धता; हां, तो मैं समझती हूं कि यह सब अब हमारे पीछे है। इस बातका बहुत प्रबल अनुभव मुझे इन विगत कुछ दिनोंमें हुआ था (चित्रोंको देखकर नहीं, क्योंकि हमें यहां बहुत देखनेका अवसर नहीं मिलता, बल्कि "वातावरणका अनुभव करके")। और, यहांतक कि उनकी जो प्रतिलिपियां हमें दिखायी जाती हैं, उनमें भी किसी ऐसी वस्तुकी ओर थोड़ी अभीप्सा है जो कुछ उच्चतर होगी। इसके लिये लगभग पचास वर्षोंकी आवश्यकता होगी; फिर... यदि दूसरा युद्ध न हो, दूसरा संहार न हो; कारण, इसमें कोई संदेह नहीं कि कुत्सित वस्तुओंके प्रति इस रुचिके लिये, बहुत बड़ी हदतक, उत्तरदायी हैं युद्ध और युद्धकी विभीषिकाएं। लोग सब प्रकारकी सूक्ष्म संवेदनशीलताको, सामंजस्यके प्रेमको, सौंदर्यकी आवश्यकताको एक ओर रख देनेके लिये, बाध्य थे ताकि वे इस सबको सह सकें अन्यथा, मैं समझती हूं, वे विभीषिकाके कारण वास्तवमें मर ही गये होते। यह सब इतना अवर्णनीय रूपसे गर्हित था कि उसे सहन नहीं किया जा सकता था, अतएव उसने सर्वत्र मनुष्योंकी रुचिको विकृत कर दिया और जब युद्ध समाप्त हो गया (यदि यह मान लें कि वह किसी दिन समाप्त हुआ था), उन्होंने बस एक ही चीज चाही — भूल जाना, भूल जाना, भूल जाना। वे मनको बहलाना चाहते थे, जिस विभीषिकाको उन्होंने झेला था उस सबकी बात सोचना नहीं चाहते थे। ऐसी ही स्थितिमें मनुष्य बहुत नीचे चला जाता है। समूचा प्राणिक वातावरण पूर्णरूपसे कलुषित हो जाता है और मौतिक वातावरण भयानक रूपसे अंधकारपूर्ण हो जाता है।

अतएव यदि हम नये विश्व-युद्धसे बच सकें . . .। क्योंकि युद्ध तो है ही, वह कभी समाप्त नहीं हुआ है। वह लगभग इस शताब्दीके प्रारंभसे ही रहा है; वह आरंभ हुआ था चीन, तुर्की, ट्रिपोलीटानिया, मोरोक्को — समझ रहे हो न? बालकनसे, वह कभी समाप्त नहीं हुआ है, वह अधिकाधिक बुरा होता जा रहा है, पर जब-जब उसने विश्व-युद्धका रूप लिया है, उसने एकाएक निकृष्ट विस्तार ग्रहण कर लिया है। तुम सब मेरे बच्चो, तुम युद्धके बाद पैदा हुए हो (मैं प्रथम युद्धकी बात कह रही हूं), अतएव तुम उसके विषयमें बहुत अधिक नहीं जानते, और फिर तुम यहां, एक ऐसे देशमें पैदा हुए हो जिसे यथार्थमें विशेष सुविधा प्राप्त रही है। परंतु जो बच्चे यूरोपमें पैदा हुए, अभी हालमें, ये नन्हें-नन्हें बच्चे, जो युद्धकालीन बच्चे थे, अपने अंदर कुछ ऐसी चीजें लिये हुए हैं जिसे मिटा देना बहुत कठिन होगा — एक प्रकारकी भीति, एक प्रकारका आतंक। वास्तवमें उसके साथ उलझनेपर ही कोई यह जान सकता है कि भीति क्या चीज होती है! प्रथम युद्ध संभवतः द्वितीय युद्धसे कहीं बदतर था। दूसरा युद्ध इतना भीषण था कि सब कुछ नष्ट हो गया . . .। परंतु प्रथम, ओह! मैं नहीं जानती . . . जिन अंतिम महीनोंमें मैं पेरिसमें रही वे सचमुचमें बड़े अजीब महीने थे। और उनका वर्णन करना संभव नहीं। उदाहरणार्थ, खाइयोंका जीवन ऐसा है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। (उसे) नयी पीढ़ी नहीं जानती . . . . पर, जो बच्चे अब पैदा हुए हैं वे यह भी नहीं जानेंगे कि ये सब वीभत्स बातें जो उन्हें सुनायी जाती हैं सच हैं भी या नहीं। विजित देशोंमें, जेकोस्लोवाकियामें, पोलैंडमें, फ्रांसमें जो कुछ हुआ — भयानक, अविश्वसनीय, अचिंत्य बातें घटित हुईं — उसपर कोई विश्वास नहीं कर सकता जबतक कोई उसके बहुत समीप न रहा हो, देखा न हो, वह था . . .। मैं उस दिन कह रही थी कि वास्तवमें प्राणजगत् भयानक वस्तुओंका जगत् है; हां, प्राणमय जगत्की समस्त भयावह वस्तुएं पृथ्वीपर उतर आयी थीं, और पृथ्वीके ऊपर वे प्राणमय जगत्की अपेक्षा कहीं अधिक भयानक होती हैं, क्योंकि प्राणमय जगत्में, यदि तुम्हारे अंदर आंतरिक शक्ति हो, यदि तुम्हें ज्ञान हो, यदि तुममें शक्ति-सामर्थ्य हो, तुम उनपर क्रिया कर सकते हो — तुम क्रिया कर सकते हो, तुम उन्हें पराजित कर सकते हो, तुम अपनेको अधिक शक्तिशाली सिद्ध कर सकते हो। परंतु तुम्हारा सारा ज्ञान, तुम्हारी सारी शक्ति, तुम्हारा सारा बल, इस स्थूल जगत्में उस समय बिलकुल बेकार हो जाता है जब तुम किसी युद्धकी विभीषिकाओंके अधीन होते हो। और यह चीज पार्थिव वातावरणमें

ऐसे ढंगसे काम करती है कि उसे मिटाना बहुत, बहुत कठिन होता है।

स्वभावतः ही मनुष्य भूल जानेके लिये सर्वदा बहुत व्यग्र होते हैं। ऐसे लोग पहलेसे ही हैं, उन्होंने यह कहना प्रारंभ कर दिया है, "क्या तुम बिलकुल निस्संदिग्ध हो कि यह ऐसा ही था?" परंतु जो लोग उसमेंसे गुजरे हैं वे उसे विस्मृत होने देना नहीं चाहते; अतएव उत्पीड़न, हत्याके स्थानोंको,—ऐसे वीभत्स स्थानोंको जो उन सभी बुरी-से-बुरी अवस्थाओंको अतिक्रांत करते हैं जिनकी मानवीय कल्पना धारणा बना सकती है—, इनमेंसे कुछ स्थानोंको सुरक्षित रखा गया है। तुम आकर उन उत्पीड़न-कक्षोंका निरीक्षण कर सकते हो जिन्हें जर्मनोंने पेरिसमें बनाया था, और मेरी समझमें वे कभी नष्ट नहीं किये जायंगे, ताकि जो लोग आकर कहते हैं, "ओह! तुम जानते हो, ये चीजें अतिरंजित की गयी हैं" (क्योंकि लोग यह जानना नहीं पसंद करते कि ऐसी भयंकर बातें भी घटित हुई हैं), उन्हें हाथ पकड़कर वहां ले जाया जाय और कहा जाय, "आओ और देखो, यदि तुम भयभीत न होओ।"

यह चीज चरित्रका निर्माण करती है। यदि इसे समुचित ढंगसे लिया जाय (और मेरी समझमें ऐसे लोग हैं जिन्होंने इसे समुचित ढंगसे ग्रहण किया है), तो यह तुम्हें सीधे, बिलकुल सीधे योगतक ले जा सकती है। कहनेका मतलब, ऐसी अवस्थामें, जब मनुष्य संसारकी सभी वस्तुओंके प्रति इतनी गहरी अनासक्तिका, किसी अन्य वस्तुको पानेकी एक इतनी बड़ी आवश्यकता, कोई ऐसी चीज पानेकी एक अनिवार्य आवश्यकताका अनुभव करता है जो सचमुच सुन्दर, वास्तवमें नवीन, यथार्थमें शुभ हो.... तब, एकदम स्वाभाविक रूपमें, यह बात तुम्हें एक आध्यात्मिक अभीप्सातक ले जाती है। और इन विभीषिकाओंने मानो मानव वर्गको विभक्त कर दिया है: एक अल्पसंख्यक वर्ग था जो तैयार था और बहुत ऊंचा उठ गया; एक बहुसंख्यक वर्ग था जो तैयार नहीं था और बहुत नीचे गिर गया। यह वर्ग आजकल पंकमें लोट रहा है, और इसलिये, अभी कोई इसमेंसे बाहर नहीं निकलता; और यदि यह अवस्था जारी रही तो हम दूसरे युद्धकी ओर अग्रसर होंगे और इस बार वास्तवमें इस सभ्यताका अंत हो जायगा — मैं संसारका अंत नहीं कहती, क्योंकि संसारका अंत नहीं हो सकता, बल्कि इस सभ्यताका अंत होगा, अर्थात्, दूसरी सभ्यताका निर्माण करना होगा। तुम लोग शायद यह कहोगे कि यह तो बहुत अच्छा होगा, क्योंकि यह सभ्यता अपने ह्रासकी स्थितिमें है, यह विनष्ट होनेके योग्य है; परंतु आखिरकार, इसके अंदर बहुत-सी सुन्दर चीजें हैं, सुरक्षित रखे जानेके योग्य हैं, और यदि यह सब विलीन हो जाय तो यह बड़े

दुःखकी बात होगी। परंतु, यदि दूसरा युद्ध हो तो मैं तुमसे कह सकती हूं कि यह सब विलुप्त हो जायगा। कारण, मनुष्य बड़े बुद्धिमान् प्राणी हैं और उन्होंने प्रत्येक चीजको नष्ट कर देनेका उपाय ढूंढ निकाला है, और वे उसका प्रयोग करेंगे, क्योंकि कुछ विशेष बमोंको तैयार करनेमें अरबों खर्च करनेसे क्या लाभ, यदि उनका व्यवहार ही न किया जा सके? भला इस आविष्कारसे क्या लाभ कि मनुष्य कुछ मिनटोंमें एक शहरको धूलमें मिला सकता है, यदि वह उसे धूलमें मिलानेके लिये न हो! मनुष्य अपने प्रयासोंका परिणाम देखना चाहता है! यदि युद्ध हो तो बस यही चीज घटित होगी।

अच्छा, तो मैं तुमसे ऐसी बातें कह रही हूं जो बहुत सुखदायी नहीं हैं, परंतु ऐसा करना कभी-कभी अच्छा होता है ताकि मनुष्यके सोचनेके लिये उसके मस्तकमें थोड़ा-सा बोझ पड़ जाय।

१२ अप्रैल, १९५१

जापानी कला तथा दूसरे देशोंकी, उदाहरणार्थ, यूरोपके देशोंकी कलामें, क्या भेद है?

जापानकी कला भौतिक जीवनमें एक प्रकारकी सीधी मानसिक अभिव्यक्ति होती है। जापानी लोग प्राणमय जगत्का उपयोग बहुत कम करते हैं। उनकी कला अत्यंत मानसभावापन्न होती है; उनका जीवन अत्यंत मानस-भावापन्न होता है। उनका जीवन पूरे व्योरेके साथ एकदम ठीक-ठीक मानसिक रचनाओंको मूर्त्त करता है। केवल, भौतिक स्तरपर, उन्हें सहज-स्वाभाविक रूपसे सौंदर्य-बोध प्राप्त है। उदाहरणार्थ, एक वस्तु यूरोपमें हम बहुत कम देखते हैं पर उसे अनवरत, नित्यप्रति जापानमें देखते हैं: साधारण कोटिके लोग, श्रमजीवी वर्गके लोग या यहांतक कि किसान भी विश्राम करने या आनंद मनानेके लिये एक ऐसे स्थानपर जाते हैं जहां वे एक रमणीय प्राकृतिक दृश्य देख सकें। इससे उन्हें ताश खेलने या सभी प्रकारके मनबहलावोंमें व्यस्त रहनेकी अपेक्षा, जैसा कि लोग यूरोपके देशों-में करते हैं, बहुत अधिक आनंद मिलता है। कभी-कभी हम उन्हें दल बनाकर सड़कोंपर जाते हुए या कभी-कभी रेलगाड़ी अथवा ट्रामगाड़ीसे

एक विशेष स्थानतक जाकर, वहांसे एक ऐसे स्थानतक पैदल जाते हुए देखते हैं जहां उन्हें मनोहर दृश्य देखनेको मिलता है। फिर इस स्थानपर एक छोटा-सा घर होता है जो वहांके प्राकृतिक दृश्यमें बहुत अच्छी तरह जड़ा होता है; वहां एक प्रकारका छोटा-सा चबूतरा होता है जिसपर लोग बैठ सकते हैं: फिर लोग एक प्याला चाय लेते हैं और साथ-ही-साथ प्राकृतिक दृश्य देखते हैं। उनके लिये यह सबसे बड़ा आनन्दोपभोग है; उनके लिये इससे अधिक सुखदायी कोई दूसरी वस्तु नहीं होती। यह बात यदि कलाकारों, शिक्षित लोगों, एकदम विद्वान् लोगोंमें होती तो हम इसे समझ सकते, परंतु मैं अत्यंत साधारण लोगोंकी, गरीब लोगोंकी बात कह रही हूं जो घरपर आराम करने या आमोद-प्रमोद करनेसे कहीं अधिक इस चीजको पसंद करते हैं। उनके लिये यह सबसे बड़ा आनंद होता है।

और उस देशमें, प्रत्येक ऋतुके लिये कुछ परिचित स्थान हैं। उदाहरणार्थ, शरद् ऋतुमें पत्तियां लाल हो जाती हैं; उनके यहां बहुत अधिक संख्यामें मैपिल वृक्ष होते हैं (मैपिलकी पत्तियां शरद् ऋतुमें अत्यंत स्पष्ट लाल रंगकी सभी आभाओंमें बदल जाती हैं, वह सर्वथा अद्‌भुत होता है), अतएव वे किसी मंदिरके पास, उदाहरणके लिये, पहाड़के शिखरपर एक स्थानकी व्यवस्था करते हैं; और समूचा पहाड़ मैपिल वृक्षोंसे भरा होता है। वहां एक सोपान-पथ बना होता है जो सीधे ऊपर, लगभग एक सीढ़ीकी तरह, निचले तलसे शिखरतक, जाता है, और वह इतना सीधा होता है कि मनुष्य यह नहीं देख सकता कि शिखरपर क्या है, मनुष्यको यह अनुभव होता है कि सीढ़ी आसमानमें जा रही है — वह पत्थरका बना हुआ सोपान-पथ होता है, बहुत अच्छी तरह बना होता है, सीधे ऊपर उठता हुआ होता है और लगता है कि वह आसमानमें जाकर खो जाता है — बादल आते-जाते हैं, और पहाड़के दोनों पार्श्व मैपिलसे ढके रहते हैं, और इन मैपिल पेड़ोंमें अत्यंत भव्य रंग होते हैं जिनकी तुम कल्पना नहीं कर सकते। हां, वहां यदि कोई कलाकार जाय तो उसे अत्यंत असामान्य, अद्‌भुत सौंदर्यके भावका अनुभव होगा। लेकिन वहां तो हम बहुत छोटे-छोटे बच्चोंको, यहांतक कि कंधेपर छोटे बच्चेको उठाए परिवारोंको देखते हैं जो दल बनाकर वहां जाते हैं। शरद् ऋतुमें वे वहां जाते हैं, वसंत ऋतुमें कहीं और।

टोकियोके बिलकुल नजदीक एक बगीचा है जिसमें केसरके पौधे लगाये जाते हैं। उस बगीचेमें बहुत छोटी-छोटी नदियां हैं, और नदियोंके किनारे-किनारे केसर — सभी संभव रंगोंके केसर — लगे होते हैं और वे रंगके अनुसार सज्जित होते हैं, ऐसे ढंगसे सजे होते हैं कि वहां घुसते ही मनुष्य

बाँधिया जाता है, वहां सीधे खड़े इन सब फूलोंसे रंगकी लपट निकलती है; और वहां फूलोंके अम्बार-के-अम्बार होते हैं, जहांतक आंखें पहुंच सकती हैं। दूसरे समय, ठीक वसंतके प्रारंभमें (वहां बसंत कुछ शीघ्र आता है), प्रथम चेरी वृक्ष होते हैं। ये चेरी वृक्ष कभी फल नहीं देते, उन्हें केवल फूलोंके लिये लगाया जाता है। वे श्वेतसे लेकर गुलाबीतक, वरन् गहरे गुलाबी रंगतकके पाये जाते हैं। वहां लंबी-लंबी चौड़ी सड़कें होती हैं जिनके दोनों ओर चेरी पेड़, सब गुलाबी रंगके लगे होते हैं। वे पेड़ बहुत बड़े-बड़े होते हैं जो संपूर्ण गुलाबी हो उठते हैं। समूचे-के-समूचे पहाड़ इन चेरी वृक्षोंसे ढके होते हैं, छोटी-छोटी नदियोंके ऊपर पुल बना दिये गये हैं और वे भी बिलकुल लाल होते हैं; तुम लाल रोगनसे पुते इन पुलोंको गुलाबी फूलोंके बीच देखते और, नीचे देखते हो एक बहती हुई बड़ी नदी और एक पहाड़ जो आसमानको छूता हुआ प्रतीत होता है, और वे लोग बसंत कालमें इस स्थानपर जाते हैं...। प्रत्येक ऋतुके अलग-अलग फूल हैं और प्रत्येक फूलके लिये अलग-अलग फुलवारियां हैं।

और लोग रेलगाड़ीसे उतनी ही आसानीके साथ यात्रा करते हैं जितनी आसानीसे मनुष्य एक मकानसे दूसरे मकान जाता है; उनके पास एक ऐसा छोटा-सा पैकेट होता है जिसे वे लिये रहते हैं; उसमें दूसरी बार पहननेके कपड़े होते हैं, बस, वह उनके लिये पर्याप्त होता है; वे पैरोंमें रस्सी या धागेसे बने चप्पल पहनते हैं; जब वे घिस जाते हैं तो वे उन्हें फेंक देते हैं और दूसरे ले लेते हैं, क्योंकि उसका मूल्य प्रायः कुछ नहीं होता। उनका सारा जीवन बस ऐसा ही है। वे कागजके रूमाल रखते हैं, जब वे उनका व्यवहार कर लेते हैं तो उनको छुट्टी दे देते हैं आदि-आदि — वे किसी चीजका बोझा अपने ऊपर नहीं रखते। जब वे रेलगाड़ीसे जाते हैं, स्टेशनोंपर बक्सोंके अंदर हलका भोजन बिकता है (वह एकदम साफ-सुथरा, बिलकुल शुद्ध होता है), सफेद काठके बक्सोंमें हल्का-सा भोजन होता है और उसके साथ खानेके लिये छोटी-छोटी लकड़ियाँ होती हैं; फिर, चूंकि इन सब चीजोंका कोई मूल्य नहीं है, जब लोग खाना खा चुकते हैं, उन चीजोंको दूर हटा देते हैं, उनके लिये बहुत परेशान नहीं होते या अपनेको भाराक्रांत नहीं करते। वे बस ऐसे ही जीवन बिताते हैं। जब उनके पास कोई बगीचा या उद्यान होता है तो वे पेड़ लगाते हैं, और वे उन्हें ठीक ऐसी जगहपर लगाते हैं जहां वे बड़े होनेपर एक लैंडस्केप (भूदृश्य) का निर्माण करें, एक भूदृश्यके अंदर ठीक-ठीक बैठ जायं। और जब वे चाहते हैं कि कोई वृक्ष एक विशेष आकार ग्रहण करे तो वे उसे छांट देते हैं, काट देते हैं, वे जो आकार देना चाहते हैं

उसके लिये सब उपाय करते हैं। वहां तुम्हें वृक्षोंके चित्र-विचित्र रूप देखनेको मिलेंगे; वे अनावश्यक डालोंको काट देते हैं, दूसरोंको पालते-बढ़ाते हैं, चीजें जैसी चाहते हैं वैसी योजना बना लेते हैं। फिर तुम एक स्थानपर आते हो और एक मकान देखते हो जो वहांके भूदृश्यका एकदम एक अंग प्रतीत होता है; उसका ठीक वही रंग होता है जो होना चाहिये, वह समुचित पदार्थोंसे बना होता है; वह तुम्हारे मुंहपर एक थप्पड़की तरह नहीं होता जैसे कि वे सब यूरोपियन मकान जो सारे भू-दृश्यको ही नष्ट कर देते हैं। वह ठीक वहीं होता है जहां उसे होना चाहिये, पेड़ोंके बीच छिपा हुआ; फिर तुम एक लता देखते हो और एका-एक एक अद्‌भुत वृक्ष सामने आता है जो अपने उचित स्थानपर है, जिसका आकार वैसा ही है जैसा होना चाहिये। मुझे जापानमें प्रत्येक चीज सीखनी पड़ी थी। चार वर्षोंतक, कलात्मक दृष्टिकोणसे, मैं वहां लगातार आश्चर्यके बाद आश्चर्यका अनुभव करती रही।

और शहरोंमें, उदाहरणार्थ, टोकियो जैसे शहरमें, जो संसारका सबसे बड़ा शहर है, लंदनसे भी बड़ा है, और जो बहुत दूरतक फैला है, दूर (अब मकान आधुनिक ढंगके बन गये हैं, नगरका समूचा केंद्र बहुत भद्दा हो गया है, पर जब मैं वहां थी, वह तब भी सुन्दर था), नगरके बाहरके भागोंमें, उन भागोंमें जहां व्यापारिक केंद्र नहीं होते, प्रत्येक मकानमें अधिक-से-अधिक दो मंजिलें होती हैं और एक बगीचा — वहां हमेशा ही एक बगीचा होता है जिसमें सर्वदा दो बहुत सुन्दर पेड़ होते हैं। और फिर, तुम यदि टहलने निकलो....टोकियोमें अपने रास्तेका पता लगाना बड़ा कठिन होता है; वहां सीधी सड़कें नहीं हैं जिनके दोनों ओर संख्याके अनुसार मकान बने हों, और तुम सहज ही भटक जाते हो। तब तुम इधर-उधर घूमने लगते हो — बराबर ही उस देशमें मनुष्य यों ही इधर-उधर घूमता रहता है — तुम घूमते हुए जा रहे हो और अचानक एक सड़कके कोनेपर मुड़ जाते हो और एक प्रकारके स्वर्गमें पहुंच जाते हो: वहां बड़े शानदार वृक्ष लगे हैं, एक मंदिर है जो उतना ही सुन्दर है जितनी सुन्दर वहांकी अन्य चीजें हैं, अब तुम वहां शहरकी कोई चीज नहीं देखते, अब न कोई यातायात है, न कोई ट्रामगाड़ी; एक कोना है, मनोहर रंगोंवाले पेड़ोंका एक कोना, और यह सुन्दर है, अन्य प्रत्येक वस्तुकी तरह सुन्दर है। तुम नहीं जानते कि तुम वहां कैसे पहुंच गये, लगता है कि तुम वहां भाग्यवश ही पहुंच गये हो। उसके बाद तुम मुड़ते हो, अपना रास्ता खोजते हो, तुम फिर इधर-उधर भटकते हो और अन्यत्र पहुंच जाते हो। फिर कुछ दिनों बाद तुम ठीक इसी स्थानपर आना चाहते

हो, पर ऐसा करना असंभव हो जाता है, ऐसा लगता है मानों वह स्थान अदृश्य हो गया हो। और यह बात इतनी अधिक बार घटित होती है, यह इतनी सच है कि ऐसी कहानियोंकी चर्चा जापानमें बराबर होती रहती है। उनका साहित्य परी-विद्यासे भरा हुआ है। वे तुम्हें एक कहानी सुनाते हैं जिसमें कहानीका नायक अचानक एक मायापुरीमें पहुंच जाता है; वह परियोंको देखता है, वह अद्‌भुत प्राणियोंको देखता है, वह फूलोंके बीच, संगीतके बीच बड़े आनन्दका समय बिताता है; सब कुछ परम सुन्दर होता है। दूसरे दिन उसे वहांसे चले जाना पड़ता है; यही उस स्थानका विधान है, वह चला जाता है। वह फिरसे वापस आनेकी कोशिश करता है, पर कभी वापस नहीं आता। वह फिर दूसरी बार उस स्थानको नहीं पा सकता: वह वहां था, वह अदृश्य हो गया है! ....और प्रत्येक वस्तु इस नगरमें, इस देशमें, आदिसे अंततक, तुम्हारे मनपर अस्थायित्वकी, अप्रत्याशितकी, असामान्यताकी छाप डालती है। तुम सर्वदा ही ऐसी वस्तुओंके सम्मुख उपस्थित होते हो जिनकी तुम्हें कोई आशा नहीं थी; तुम उन्हें फिरसे पाना चाहते हो और वे सब गुम हो गयी हैं — उन्होंने कोई दूसरी ही चीज बनायी है जो उतनी ही आकर्षक है। कलात्मक दृष्टिसे, सौंदर्यके दृष्टिकोणसे, मैं नहीं समझती कि संसारमें कोई भी देश उतना सुन्दर है जितना कि जापान।

अब, अपने चित्रको पूरा कर देनेके लिये, मुझे यह भी बता देना चाहिये कि जिन चार वर्षोंतक मैं वहां रही, मैंने वहां आध्यात्मिकताका यथासंभव पूर्ण अभाव देखा। जापानी लोगोंमें एक अद्‌भुत नैतिकता है, वे बिलकुल कठोर नैतिक नियमोंके अनुसार जीवन बिताते हैं, उन्होंने जीवनके छोटे-से-छोटे व्योरोंमें भी एक प्रकारका मानसिक नियम बना रखा है; व्यक्तिको एक विशेष ढंगसे ही खाना होगा और किसी दूसरे ढंगसे नहीं, उसे एक विशेष ढंगसे ही नमस्कार करना चाहिये, किसी दूसरे ढंगसे नहीं, उसे किन्हीं विशेष शब्दोंका उच्चारण करना चाहिये पर सभी शब्दोंका नहीं; जब किन्हीं विशेष लोगोंको संबोधित करना हो तो उसे एक विशेष प्रकारसे ही बोलना चाहिये; जब दूसरोंसे बातें करनी हो तो उसे एक दूसरे प्रकारसे बोलना चाहिये। यदि तुम किसी दुकानमें कुछ खरीदने जाओ तो तुम्हें एक विशिष्ट वाक्य बोलना चाहिये; यदि तुम वह वाक्य न बोलो तो तुम्हारी ओर ध्यान नहीं दिया जायगा: वे तुम्हारी ओर मजाकभरी दृष्टिसे ताकेंगे और जरा भी नहीं हिलेंगे! परंतु तुम यदि वह वाक्य कहो तो वे पूरी सावधानी और तत्परताके साथ तुम्हारी सेवामें जुट जायेंगे और, यदि आवश्यक हो तो, तुम्हारे बैठनेके लिये एक गद्दा ले आयेंगे और पीनेके

लिये एक प्याली चाय। बस, प्रत्येक बात इसी तरहकी है। तथापि, तुम्हें एक बार भी ऐसा नहीं लगेगा कि तुम अद्‌भुत ढंगसे व्यवस्थित मानसिक-भौतिक राज्यसे भिन्न अन्य किसी दूसरे राज्यके संपर्कमें हो। और उन लोगोंमें कितनी शक्ति है! उनकी समूची प्राण-सत्ता शक्ति-स्फूर्तिमें बदल गयी है। उनमें एक प्रकारकी असाधारण सहनशक्ति है, पर कोई प्रत्यक्ष अभीप्सा नहीं है: बस, उन्हें नियमका पालन करना चाहिये, इसके लिये वे बाध्य हैं। यदि कोई व्यक्ति वहां नियमोंकी अधीनता नहीं मानता तो वह यूरोपियनोंकी तरह रह सकता है जिन्हें वे लोग बर्बर मानते हैं और जिनसे देशमें बलात् घुस आनेवालोंकी तरह घृणा करते हैं, परंतु तुम यदि जापानियोंके बीच जापानी जीवन बिताना चाहो तो तुम्हें ठीक उन्हींकी तरह आचरण करना होगा, अन्यथा तुम उन्हें इतना दुःखी बना दोगे कि तुम उनके साथ कोई संबंध भी नहीं रख सकोगे। उनके घरमें तुम्हें एक विशेष तरीकेसे रहना होगा, जब तुम उनसे मिलो तो तुम्हें एक विशिष्ट ढंगसे उन्हें नमस्कार करना होगा....। मैं समझती हूं कि मैं तुम्हें उस जापानीकी कहानी पहले बता चुकी हूं जो हमारा एक घनिष्ठ मित्र था, और जिसे मैंने उसकी अंतरात्माके संपर्कमें आनेमें सहायता की थी — और जो भाग गया था। वह हम लोगोंके साथ देहातमें था और मैंने उसका संपर्क उसके चैत्य पुरुषके साथ करा दिया था; उसे अनुभव प्राप्त हुआ था, ज्ञानोदय हुआ था, संपर्क, चौंधिया देनेवाला आंतरिक संपर्क प्राप्त हुआ था। और दूसरे दिन सवेरे वह वहां नहीं था; वह वहांसे भाग गया था! पीछे, छुट्टियोंके बाद जब मैं शहरमें उससे फिर मिली तो मैंने उससे पूछा, "पर तुम्हें हो क्या गया था, तुम भाग क्यों गये?"—"ओह! आप तो समझती ही हैं कि मैंने अपनी अंतरात्माको पा लिया और देखा कि अपने देश और मिकाडो (राजा) के प्रति जो मेरी श्रद्धा है उससे कहीं अधिक वह शक्तिशाली है; मुझे अपनी अंतरात्माकी आज्ञाका अनुसरण करना पड़ता और फिर मैं अपने सम्राट्‌की एक राजभक्त प्रजा न रह जाता। मुझे भागना पड़ा।" बस, यही बात है! यह सब यथार्थतः सत्य है।

बड़े-बड़े कलाकार एक ही कालमें और एक ही देशमें क्यों जन्म ग्रहण करते हैं?

इसका उत्तर इसपर निर्भर करता है कि तुम किस व्यक्तिसे यह प्रश्न करते हो। जिस व्यक्तिसे तुम प्रश्न पूछते हो उसीके अनुसार व्याख्या भी अलग होगी। मेरा ख्याल है क्रम-विकासके दृष्टिकोणसे, श्रीअरविंदने "मानव

चक्र" नामक ग्रंथमें इस बातको बहुत स्पष्ट रूपमें समझाया है। कम-विकास, अर्थात्, संस्कृति और सभ्यता, पृथ्वीभरमें कम या अधिक नियमित रूपसे चक्राकार गतिसे आगे बढ़ती है, और यह कहा जा सकता है कि एक सभ्यताके परिणाम धीरे-धीरे दूसरी सभ्यताका निर्माण करते हैं; फिर, जब सर्वांगीण विकास सुसमंजस होता है तो वह एक साथ ही कर्म-क्षेत्र और कार्यकर्ताओंको उत्पन्न करता है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि कलाके महान् युगोंमें सारी अवस्थाएं कलाके विकासके लिये अनुकूल होती हैं, और स्वभावतः ही सभी परिस्थितियोंके अनुकूल होनेके इस तथ्यने ही उन लोगोंको आकर्षित किया जो उनका व्यवहार कर सकते थे। इस प्रकारकी ठोस क्रियावलियां हो चुकी हैं, दो महान् युग, जैसे इटैलियन पुनर्जागरण या फ्रांसमें उसी तरहके काल लगभग एक ही समय आ चुके हैं, जब कि सभी देशोंके कलाकार उसी एक स्थानपर एकत्रित हो गये थे क्योंकि उनकी कलाके विकासके लिये अवस्थाएं अनुकूल थीं। यही सभ्यताओंके निर्माणका एक कारण — मानों बाह्य कारण है।

एक दूसरा कारण है, वह यह है कि गुह्य दृष्टिकोणसे लगभग सर्वदा वे ही शक्तियां और वे ही सत्ताएं होती हैं जो पृथ्वीके सभी कलात्मक सौंदर्यके युगोंमें अवतरित होती हैं और, गुह्यविदोंके अनुसार पुनर्जन्मके युगचक्र होते हैं: सत्ताएं वापस आती हैं और जन्म लेते समय अपने आंतरिक सादृश्यके अनुसार अपने समूहोंका निर्माण कर लेती हैं; इस प्रकार ऐसा घटित होता है कि नियमित रूपसे, प्रायः सब सत्ताएं एक ही प्रकारके कार्यके लिये एक संग आती हैं। कुछ गुह्यविद्याविशारदोंने इस प्रश्नका अध्ययन किया है और बहुत सही संख्याएं दी हैं जो पृथ्वीकी प्रगतिके यथार्थ तथ्योंपर आधारित हैं। उन्होंने बताया है कि सौ वर्षोंमें एक बार, हजार वर्षोंमें एक बार, पांच हजार वर्षोंमें एक बार आदि-आदि, कुछ कालचक्र पुनरावर्तित हुए हैं; कोई-कोई महान् सभ्यताएं प्रत्येक पांच हजार वर्षपर प्रकट हुई हैं, और (उनके विशिष्ट ज्ञानके अनुसार) वास्तवमें वे ही लोग वापस आये हैं। यह बात पूरी तरह ठीक नहीं है, यही कारण है कि मैं इस बातके ब्योरेमें नहीं जा रही हूं, परंतु एक अर्थमें यह सही है: वास्तवमें वही शक्तियां हैं जो कार्यरत होती हैं। यथार्थमें यही शक्तियां अपने आंतरिक साम्यके अनुसार इकट्ठी होती हैं और, किसी कारण जो बिलकुल पार्थिव हो सकता है अथवा जो मानसिक या युग-चक्रसे संबंधित हो सकता है, वे एक विशेष स्थानमें पुनः एकत्र होती हैं, और उस स्थानपर एक नवीन सभ्यता होती है अथवा किसी सभ्यताके अंदर कोई विशिष्ट प्रगति होती है अथवा सौंदर्यका एक प्रकारका उबाल, विकास, पुष्पण होता

है, जैसा कि यूनान, मिस्र, भारत, इटली, स्पेन आदि देशोंके महान् युगोंमें हुआ था....। सर्वत्र, संसारके सभी देशोंमें कम या अधिक सौंदर्यपूर्ण काल आये हैं।

यदि तुम यह प्रश्न ज्योतिषियोंके सामने रखो तो वे नक्षत्रोंकी विपरीत स्थितिके अनुसार तुमको इसकी व्याख्या देंगे; वे कहेंगे कि तारोंकी विशिष्ट स्थितियोंका पृथ्वीपर एक विशिष्ट प्रभाव पड़ता है। परंतु जैसा कि मैंने तुमसे कहा है, ये सब चीजें "भाषाएं" हैं, कहनेका एक तरीका, अपनी बात समझानेका एक प्रकार है; सत्य अधिक गभीर है, वह अधिक जटिल, अधिक पूर्ण है।

क्या सामान्य भारतीय आध्यात्मिक दृष्टिसे दूसरे देशोंके, — यूरोपीय देशों जैसे देशोंके — सामान्य मनुष्यकी अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत होता है?

एक मौलिक विभेद है, सामान्यतया यदि वह यूरोपीय जड़वादसे कलुषित न हुआ हो तो, जब उससे कोई आध्यात्मिक वस्तुओंके विषयमें चर्चा करता है, वह खुला होता है, वह समझता है। पश्चिमके देशोंमें, यदि तुम औसत मानवके संपर्कमें हो और आध्यात्मिक वस्तुओंकी चर्चा उससे करते हो तो वह पूर्णतः बंद होता है और, उससे आगे, यदि तुम उससे चेतनाकी उच्चतर अवस्थाओंके साथ संबंध स्थापित करनेकी संभावनाकी बात कहो तो वह तुम्हारी ओर इस प्रकार ताकता है मानों तुम पागल होओ! यदि कोई व्यक्ति साधनाका जीवन बितानेके लिये साधारण जीवनका त्याग कर देता है तो वे समझते हैं कि उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है!

उनमेंसे कुछ थोड़े-से लोग ऐसे हैं जिन्होंने धार्मिक परंपराओंको बनाये रखा है, वे समझते हैं पर समझते हैं केवल धार्मिक ढंगपर। तात्पर्य, यदि कोई मठमें प्रवेश करता है तो वे उसे कम या अधिक समझते हैं। परंतु सामान्य मनुष्यके लिये (मैं सुसंस्कृत लोगोंकी बात नहीं कहती), यदि कोई समस्त धर्मसे स्वतंत्र कोई आध्यात्मिक जीवन यापन करना चाहता है, महज किसी उच्चतर सत्यकी व्यक्तिगत खोजमें निकल पड़ता है तो निश्चय ही वह किसी पागलखानेमें भर्ती कर दिये जानेके लिये तैयार होता है! उसकी चर्चा न करना कहीं अधिक अच्छा होगा। परंतु वहां कुछ ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने थोड़ा अध्ययन किया है, जो शिक्षित हैं, जो तुम्हें थोड़ा-सा सनकी समझ सकते हैं, पर फिर भी, वे यह समझते हैं कि उसका अर्थ क्या है। परंतु साधारण मनुष्य, नहीं समझता। मैं अवश्य ही पचास

वर्ष पहलेकी बात कह रही हूं; अब, द्वितीय महायुद्धके बाद, मैं नहीं जानती, मैं नहीं कह सकती कि यह अवस्था बदलने लगी है या नहीं। पर स्पष्ट ही, यूरोपके शिक्षित वर्ग अब किसी उच्चतर वस्तुकी खोज करने लगे हैं, क्योंकि उनका जीवन इतना दुःखद हो गया है कि उन्हें किसी अन्य वस्तुपर अवलंबित होनेकी आवश्यकता महसूस होती है। और संभवतः उनका प्रयास, एक अर्थमें, संक्रामक है, यह संभव है कि हम जितना समझते हैं उससे कहीं अधिक लोग हैं जो खोज रहे हैं — परंतु पचास वर्ष पहले बात ऐसी नहीं थी। जब कि यहां, सामान्य लोगोंमें, "निम्नतर" वर्गोंके लोगोंमें संभवतः कोई विवेक-शक्ति नहीं होती, शायद वे पाखंडी व्यक्ति और सच्चे व्यक्तिके बीच विभेद नहीं कर सकते, पर यह मानी हुई बात है कि यदि कोई गेरुए वस्त्रमें और भिक्षापात्रके साथ आ उपस्थित होता है तो उसे कुछ-न-कुछ दिया जाता है, उसे लात मारकर भगा नहीं दिया जाता। यदि कोई मनुष्य यूरोपमें ऐसा करे (स्वभावतः ही वहां गेरुए वस्त्रका कोई प्रश्न ही नहीं है), परंतु वह यदि गंदे कपड़ोंमें आये तो तुरत उसे पहले पुलिस थानेपर ले जाया जायगा और वह अपनी दीनावस्थाके कारण कैद कर लिया जायगा। यह मानी हुई बात है कि तथाकथित सभ्य देशोंमें, यदि तुम्हारी जेबमें कम-से-कम जो चाहिये उतना भी पैसा नहीं है तो तुम एक आवारा हो और आवारेको सड़कोंपर आनेका कोई अधिकार नहीं है, उसे आवारागर्दीके लिये जेलमें ठूंस दिया जाता है। यही है विभेद।

क्या कुछ कलाएं अन्योंकी अपेक्षा अधिक सत्यको अभिव्यक्त करती हैं?

यह तो अल्पाधिक मानसिक व्यायाम है!

कुछ लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि कुछ कलाएं भौतिक होती हैं। यदि तुम्हारा कलाकारोंसे, चित्रकारोंसे मेल-जोल हो तो वे तुमसे कहेंगे कि मूर्त्ति-कला, ओह! वह तो श्रमसाध्य है, कारण मूर्त्तिकार एकदम जड़तत्त्वके ऊपर कार्य करता है, और संगीतज्ञ शायद चित्रकलाको कोई बहुत अधिक बौद्धिक कला नहीं मानेगा। सत्य तो यह है कि सभी कलाओंमें प्रत्येक बात निर्भर करती है कलाकारपर, और जो कुछ वह संपन्न करता है वह निर्भर करता है चेतनाकी उस स्थितिपर जिसमें वह होता है। कोई मूर्त्तिकार अत्यधिक आध्यात्मिक पुरुष हो सकता है और उसकी कलाकृति भी अत्यंत आध्यात्मिक हो सकती है, यदि वह जानता हो कि उसे अपने अनुभव-

को कैसे व्यक्त करना चाहिये। और एक कवि बिलकुल घटिया जड़-वादी हो सकता है यदि वह अपनी अंतःप्रेरणा किसी उच्चतर स्तरसे न ग्रहण करता हो। वास्तवमें हमारा मन ही छोटी-छोटी श्रेणियां बनाता है, यह उसके लिये विशेष सुविधाजनक होता है, पर वह सत्यके साथ बहुत अधिक नहीं मिलता-जुलता।

आपने कहा है कि वाग्नर (Wagner) को गुह्यजगत्से अंतर्ज्ञान प्राप्त होता था और आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको कामुकतापर अवश्य विजय प्राप्त करनी चाहिये। सचमुचमें वाग्नरको यह अंतर्ज्ञान प्राप्त था कि यह विजय प्राप्त करनी चाहिये, क्योंकि "द रिंग ऑफ द निबेलंग्स" (The Ring of the Nibelungs) में एक नदीके तलमें एक खजानेके गड़े होनेकी बात कही गयी है। तीन अप्सराएं उस खजानेपर पहरा दे रही हैं और उसे प्राप्त करनेके लिये मनुष्य-को प्रेम और नारीके प्रति समस्त कामनाका त्याग करना होगा।

यह नॉर्डिक देशोंकी एक पुरानी अनुश्रुति है। परंतु उसकी कहानीमें उसका बुरी तरह अंत हो जाता है: जिस व्यक्तिने नारी-प्रेमका त्याग कर दिया था वह तो डूब गया और कहानी समाप्त होती है देवताओंके संध्यालोकसे।

१४ अप्रैल, १९५१

"क्या समर्पण वही चीज नहीं है जो बलिदान है?"
—वार्त्तालाप (१९२९)

कौन उत्तर देगा? क्या अंतर है?

समर्पण सहज-स्वाभाविक रूपमें होता है।

मैं उन लोगोंको बधाई देती हूं जिनका समर्पण सहज-स्वाभाविक रूपसे होता है! वह इतना आसान नहीं है। ना, दोनोंमें यह अंतर नहीं है।

बलिदान सत्ताका ह्रास करता है।

यह सच है, पर क्यों? बात बहुत सरल, बहुत ही सरल है — उस शब्दका अर्थ ही इसे बता रहा है। बलिदान करनेका अर्थ है कोई ऐसी चीज दे देना जिससे मनुष्य चिपका रहता है। अपने जीवनका बलिदान कर देनेका अर्थ है अपने जीवनको दे देना जिससे मनुष्य चिपका रहता है; अन्यथा वह बलिदान होगा ही नहीं, वह तो एक भेंट या उपहार हो जायगा। यदि तुम "बलिदान" शब्दका प्रयोग करते हो तो इसका मतलब होता है कोई ऐसी चीज जिसे छोड़नेमें तुम्हें कष्ट होता है। "बलिदान" शब्दका प्रयोग यों ही बिना समझे-बूझे होता रहता है, यह जानी हुई बात है, पर मैं उसके सही अर्थकी चर्चा कर रही हूं। हम केवल उसी वस्तुका बलिदान करते हैं जिसे हम प्रिय समझते हैं। यदि कोई उससे चिपका न हो तो फिर उसे बलिदान नहीं कह सकते, वह तो फिर एक ऐसा दान है जिसके साथ देनेका समस्त हर्ष लगा रहता है। समर्पणका कोई मूल्य नहीं यदि वह दुःखपूर्ण हो, अगर वह बलिदान हो। समर्पण सच्चे रूपमें एक आनंदपूर्ण दान होना चाहिये। समर्पणमें मनुष्य कोई चीज देता है, अपने-आपको समर्पित करता है, पर बलिदानकी भावना-के बिना।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं) : **"हमारे योगमें बलिदानके लिये कोई स्थान नहीं है। परंतु सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि तुम बलिदान शब्दका क्या अर्थ लगाते हो। इसका जो विशुद्ध भाव है उसके अनुसार उसका अर्थ है उत्सर्गीकृत दान, भगवदर्पण करना। परंतु आजकल उसका जो प्रचलित अर्थ है उसके अनुसार बलिदान कुछ ऐसी वस्तु है जो विनाशके लिये कार्य करती है; वह अपने साथ एक अभावात्मक वातावरण वहन करती है। इस प्रकारका बलिदान आत्मपरिपूर्णता नहीं है; यह तो एक आत्मवंचना है, एक आत्मविलोपन है।.... जब कभी तुम कोई कार्य अपनी सत्ताके संपीडनके भावके साथ करो, तुम निश्चित रूपसे जानो कि तुम उसे गलत तरीकेसे कर रहे हो।"**

(वही)

धर्ममें बलिदानको इतना बड़ा मूल्य क्यों दिया गया है?

बहुत-से धर्म बलिदानकी भावनापर ही स्थापित हैं; उदाहरणार्थ, सभी काल्डियन धर्म ऐसे ही हैं। इस्लाम धर्मके सुधारोंके पीछे भी बलिदानकी बहुत प्रबल प्रवृत्ति थी। सभी प्रथम आचार्यों, प्रथम अनुयायियोंको अपना धर्म बदलनेका मूल्य अपना जीवन देकर चुकाना पड़ा। फारसमें उनपर इतना जुल्म किया गया जिसका वर्णन करना असंभव है। वहां बहुत-से ऐसे लेखतक हैं जिनमें बलिदानके आनन्दोंकी बहुत अधिक प्रशंसा की गयी है — वह एक काल्डियन भावना है। परंतु तुम्हें सावधान रहना चाहिये; सब कुछ निर्भर करता है इस बातपर कि तुम उस शब्दको क्या अर्थ प्रदान करते हो। यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति खुशीसे अपना बलिदान करता है, अर्थात्, जो स्वेच्छापूर्वक और प्रसन्नताके साथ अपना जीवन दे देता है उसके लिये, हमने उस शब्दकी जो परिभाषा दी है ठीक उसीके अनुसार, अब वह कोई बलिदान नहीं होता।

हम भगवान्‌के "बलिदान" की भी चर्चा करते हैं। परंतु मैंने देखा है कि इसको तब "बलिदान" कहा जाता है जब हम यह समझते हैं कि यदि स्वयं हमें उसे करनेके लिये बाध्य किया जाय तो उसे करना बड़ा कठिन होगा! उससे तुम्हें बहुत कष्ट होगा, उसे करना बहुत दुःखदायी होगा (हंसती हैं), इसलिये हम बलिदानकी बात कहते हैं, पर यह संभव है कि भगवान्‌के लिये वह दुःखदायी नहीं था और उन्होंने उसे अपनी इच्छा-से, आत्मदानके संपूर्ण आनंदके साथ किया था।

मैं अब्दुल बाहासे बहुत अच्छी तरह परिचित थी जो बहाई धर्मके संस्थापक बाहा उल्लाहके उत्तराधिकारी थे। अब्दुल बाहा उनके पुत्र थे। वह कारागारमें पैदा हुए थे और मैं समझती हूं, चालीस वर्षकी उम्रतक कारागारमें ही रहे। जब वह जेलसे बाहर आये उनके पिता मर चुके थे और उन्होंने अपने पिताके धर्मका प्रचार करना आरंभ किया। उन्होंने मुझे अपनी कहानी सुनायी और यह बताया कि उस धर्मके प्रारंभिक काल-में फारसमें क्या-क्या घटित हुआ था। और मुझे याद है कि उन्होंने मुझे बताया था कि कितने तीव्र हर्षके साथ, दिव्य उपस्थिति, दिव्य शक्तिके किस बोधके साथ वे लोग बलिवेदीपर चढ़ गये — उसे "बलिदान" नहीं कहा जा सकता, वह तो उनके जीवनका एक बड़ा ही हर्षपूर्ण दान था...। वह सर्वदा ही किसी एक व्यक्तिकी बात मुझे बताया करते थे जो, शायद, एक बहुत बड़ा कवि था और जिसे एक धर्मद्रोहीके रूपमें गिरफ्तार किया गया था क्योंकि वह बहाई धर्मका अनुसरण करता था। वे उसे मार डालनेके लिये — अथवा जला देनेके लिये अथवा फांसी देनेके लिये या सूलीपर चढ़ानेके लिये, मुझे पता नहीं किसलिये, उन दिनों मृत्युदंडकी जो

विधि प्रचलित थी उसके लिये — ले जाना चाहते थे और, चूंकि उसने अपना विश्वास व्यक्त किया और कहा कि अपने धर्म और अपने ईश्वरके लिये कोई भी कष्ट झेलनेसे उसे प्रसन्नता होगी, लोगोंने यह उपाय निकाला कि छोटी-छोटी जलती हुई मोमबत्तियोंको उसके शरीरपर, उसकी बाहोंपर, उसके कंधोंपर चिपका दिया जाय। स्वभावतः ही मोमबत्तियोंसे गल-गलकर गर्म मोम उसके सारे शरीरपर फैल गयी और अंतमें बत्तियोंसे उसका चमड़ा जल गया। ऐसा लगता है कि अब्दुल बाहा उस समय वहां मौजूद थे जब उस व्यक्तिको सताया जा रहा था और जैसे ही वे लोग उस स्थानपर आये जहां उसकी हत्या होनेवाली थी, अब्दुल बाहा उसके पास स्नेहपूर्ण दो बातें करनेके लिये गये — और वह हर्षातिरेकसे अभिभूत था। अब्दुल बाहाने उससे उसके कष्टोंकी बात की; उसने उत्तर दिया, "कष्ट! यह तो मेरे जीवनका एक अत्यंत सुन्दर समय है"....। इसे बलिदान नहीं कहा जा सकता, कहा जा सकता है?

सामान्यतया, जिन लोगोंने अपनी श्रद्धाके लिये, अर्थात् अपने उच्चतम विचार, अपने अत्यंत उच्च आदर्शके लिये यातनाएं सही हैं, उन्होंने सर्वदा यह अनुभव किया है कि एक प्रकारकी भागवत कृपा-शक्ति उन्हें सहायता कर रही है और यातनासे उनकी रक्षा कर रही है। निस्संदेह, बाहरी लोग इसे "बलिदान" कहते हैं (यह तो मानी हुई बात है कि उन्होंने अपने जीवनका बलिदान कर दिया है), पर हम उस चीजके लिये इस शब्दका व्यवहार नहीं कर सकते जो व्यक्तिगत रूपसे उनसे संबंध रखती है, क्योंकि उनके लिये वह कोई बलिदान नहीं था, वह एक प्रकारका आनंद था। सब कुछ आंतरिक मनोभावपर निर्भर करता है। अब, यदि यातना-के बीच महज एक क्षणके लिये भी उनमें जरा-सा भी यह विचार आया होता कि "क्यों मुझे सताया जा रहा है?", तो फिर उन्हें असह्य वेदना हुई होती। मात्र एक आकस्मिक विचार ही इसके लिये काफी होता है।

सच पूछो तो लगभग सभी घटनाओंको — मानव जीवनकी कम-से-कम सभी महत्त्वपूर्ण परिस्थितियोंको — दो ओरसे देखा जा सकता है: नीचेसे या ऊपरसे। यदि तुम उन्हें नीचेसे देखो, साधारण मनुष्यकी भावनासे देखो तो जिन सब लोगोंने किसी नये धर्मका उपदेश दिया है या मानव-जातिके सामने कोई उदाहरण रखनेकी इच्छा की है, उनकी यातनाकी मात्रा देखकर तुम भयभीत हो जाओगे — उन सब लोगोंने यातना सही है, अर्थात् मनुष्योंने उन सबको बेहद पीड़ा पहुंचायी है। साधारण तौरपर कहें तो, बहुत थोड़े-से अपवादोंको छोड़कर, जो कुछ मनुष्योंसे श्रेष्ठ होता

है उसे वे पसंद नहीं करते, और जब वे किसी ऐसे व्यक्तिसे मिलते हैं जो उनसे बहुत ऊपर होता है (मैं कुछ अपवादोंको छोड़कर यह बात कह रही हूं), तो वे बड़े क्रुद्ध हो जाते हैं। वे जो कुछ हैं उससे इतने अनंत रूपसे उच्चतर किसी चीजको देखते ही उनके अंदर लगभग अजेय खीझ उत्पन्न हो जाती है। बस, उनके पास एक ही विचार होता है, इसे नष्ट कर दो, और वास्तवमें बस यही कार्य उन्होंने किया है। समस्त मानव इतिहासके अंदर यही बात होती रही है। जो लोग विशिष्ट योग्यताएं लेकर, विशिष्ट कृपा-शक्तिके साथ आये हैं और जिन्होंने मनुष्योंको उनकी साधारण लीकसे बाहर निकालनेकी कोशिश की है, उन सबपर न्यूनाधिक जुल्म ढाया गया है, उन्हें कतल किया गया है, जीवित जलाया गया है, सूलीपर चढ़ा दिया गया है....। अब परिस्थिति बाहरसे देखनेमें थोड़ी अधिक अच्छी है, क्योंकि मनुष्योंको जलानेके लिये अब पुराने समयोंके कारणोंकी अपेक्षा जरा अधिक न्यायसंगत कारणोंकी आवश्यकता होती है— वैसा करनेकी अब आदत नहीं रही — परंतु भावनाएं बहुत भिन्न नहीं हैं। मनुष्य-जातिमें, साधारण रूपमें, उसको अतिक्रम करनेवाली चीजके प्रति एक प्रकारका विद्वेष होता है; वह अपनेको अपमानित अनुभव करती है, और मनुष्य अपमानित होना पसंद नहीं करते।

कभी-कभी, जगनेपर, हम सब कुछ भूल जाते हैं, कहां हैं यह भूल जाते हैं। ऐसा क्यों होता है?

इसका कारण यह है कि तुम निश्चेतनामें चले गये होते हो और अपनी चेतनाके साथ सारा संबंध खो चुके होते हो, और उसे फिरसे स्थापित करनेमें थोड़ा समय लगता है। निस्सन्देह, यह हो सकता है कि तुम निश्चेतनामें जानेके बदले अतिचेतनामें जाओ, पर ऐसा अधिकतर होता नहीं। और भावना भी ठीक वही नहीं होती क्योंकि, तुम कौन हो या कहां हो या कौन-सी चीज क्या है आदि न जाननेकी यह अभावात्मक धारणा प्राप्त करनेके स्थानमें तुम्हें इस बातका सुस्पष्ट अनुभव होता है कि तुम अपने साधारण जीवनसे भिन्न किसी चीजमें ऊपर उठ गये हो, तुम अब ठीक वही व्यक्ति नहीं हो। परंतु जब मनुष्य अपनी सामान्य चेतनाका संपर्क पूर्णतः खो देता है तो मुख्यतया उसका कारण यह होता है कि वह नींदमें निश्चेतनामें चला गया और वहीं दीर्घ कालतक बना रहा। उस समय सत्ता छिन्न-भिन्न हो जाती है, वह इस निश्चेतनाके द्वारा सोख ली जाती है और सभी टुकड़ोंको फिरसे एकत्र करना पड़ता है। स्वभावतः

ही, यह कार्य जीवनके प्रारंभ-कालमें जैसे हुआ था उससे बहुत अधिक तेजी-के साथ करना होता है, पर चैतन्य-तत्त्वोंको पुनः एकत्र करना होता है और फिरसे उनका एक सुसंबद्ध रूप बनाना होता है ताकि मनुष्य एक बार फिर यह जानना आरंभ कर दे कि वह कौन है।

कभी-कभी स्वप्नोंमें मनुष्य ऐसे-ऐसे मकानों, सड़कों, स्थानोंमें जाता है जिन्हें उसने कभी नहीं देखा है। इसका क्या तात्पर्य है?

इसके बहुत-से कारण हो सकते हैं। संभवतः यह एक प्रकारसे शरीरसे बाहर निकलना है: मनुष्य शरीरसे बाहर आ जाता है और भ्रमण करने चला जाता है। वे पूर्व-जीवनोंकी स्मृतियां भी हो सकती हैं। ऐसा भी हो सकता है कि किसी दूसरे व्यक्तिकी चेतनाके साथ तादात्म्य हो गया हो और इस दूसरे व्यक्तिकी स्मृतियां आ गयी हों। हो सकता है कि यह कोई पूर्वाभास हो (यह अत्यंत विरल बात है, पर ऐसा हो सकता है): मनुष्य कुछ दिन बाद जो देखेगा उसे वह पहले ही देख लेता है।

उस दिन मैंने तुम लोगोंसे जापानके जिन भू-दृश्योंकी चर्चा की थी; उनमेंसे लगभग सभीको — अत्यंत सुन्दर, अत्यंत आकर्षक भू-दृश्योंको — मैंने फ्रांसमें अपने अतर्दर्शनमें देखा था; और उस समयतक, मैंने कभी जापानका कोई चित्र या फोटोग्राफ नहीं देखा था, मैं जापानके विषयमें कुछ भी नहीं जानती थी। और मैंने इन भू-दृश्योंको बिना मनुष्योंके देखा था, दृश्यके सिवा और कुछ नहीं था, बिलकुल शुद्ध, वैसा ही, और मुझे ऐसा प्रतीत हुआ था कि ये भौतिक जगत्से भिन्न किसी दूसरे जगत्के सूक्ष्म-दर्शन हैं; ये मुझे भौतिक जगत्के लिये हदसे ज्यादा सुन्दर, हदसे ज्यादा पूर्ण रूपमें सुन्दर प्रतीत हुए। विशेष रूपसे, मैं बहुत अधिक बार उन सोपानोंको देखा करती थी जो सीधे आसमानमें चले गये थे; अपने सूक्ष्म-दर्शनमें मुझे सीधे ऊपर, सीधे ऊपरकी ओर चढ़ते जानेकी धारणा होती थी और ऐसा लगता था मानों हम ऊपर-ही-ऊपर, ऊपर-ही-ऊपर, ऊपर-ही-ऊपर चढ़ते जा सकते हैं....। उसने मेरे मनपर गहरी छाप डाली थी, और प्रथम बार जब मैंने इसे यहां नीचे प्रकृतिके अंदर देखा तो मैं समझ गयी कि जापानके विषयमें कुछ भी जाननेसे पहले ही मैंने इसे फ्रांसमें देखा था।

इन सब बातोंकी बहुत-सी व्याख्याएं देना सदा संभव है और किसी अन्य व्यक्तिके स्वप्नोंकी व्याख्या करना अत्यंत कठिन है। स्वयं अपने लिये, यदि कोई बहुत सावधानीके साथ अपने स्वप्नों तथा रातकी क्रियावलियोंका

अध्ययन करे, वह बहुत सूक्ष्म भेद कर सकता है। मैं कह रही थी कि मैंने समझा था कि मुझे दूसरे जगत्के सूक्ष्म-दर्शन होते हैं — मैं जानती थी कि ये ऐसी चीजें हैं जिनका अस्तित्व है, पर मैं यह कल्पना नहीं कर सकी कि कोई देश ऐसा है जहां ये विद्यमान हैं, यह मुझे एकदम असंभव लगा; वे इतने सुन्दर थे! वहां मेरे सक्रिय मनने हस्तक्षेप किया था। परंतु मैं जानती थी कि जो कुछ मैं देख रही हूं वह वास्तवमें विद्यमान है और सच पूछो तो जब मैंने इन भू-दृश्योंको भौतिक रूपमें देखा केवल तभी मैंने वास्तवमें यह अनुभव किया कि मैंने ऐसी चीज देखी थी जो वास्तवमें थी, परंतु मैंने उसे भौतिक रूपमें देखनेसे पहले आंतरिक नेत्रोंसे (सूक्ष्म-भौतिक स्तरपर) देखा था। प्रत्येक व्यक्तिको कुछ बहुत छोटे-से संकेत मिलते हैं, परंतु उसके लिये व्यक्तिको अपने निरीक्षणमें बहुत, बहुत अधिक नियमानुगत, बहुत सूक्ष्मदर्शी, बहुत सावधान होना चाहिये और छोटे-से-छोटे चिह्नोंकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये, और सर्वोपरि, जो अनुभूतियां प्राप्त हों उनकी कोई अनुकूल मानसिक व्याख्या नहीं देनी चाहिये। क्योंकि यदि कोई स्वयं अपने लिये भी (मैं दूसरोंके सामने व्याख्या करनेकी चर्चा ही नहीं करती) व्याख्या करना चाहे, यदि कोई अपने लाभके लिये, संतोष प्राप्त करनेके लिये अनुभूतिकी व्याख्या करना चाहे तो फिर वह कोई चीज नहीं समझता। कहनेका तात्पर्य, वह चिह्नोंको एक साथ मिला-जुला दे सकता है और उसे इस बातका ध्यान भी नहीं रहेगा कि वह उन्हें मिला रहा है। उदाहरणार्थ, जब कोई किसी व्यक्तिको स्वप्नमें देखता है (मैं उन स्वप्नोंकी चर्चा नहीं कर रही हूं जिनमें तुम किसी अपरिचित व्यक्तिको देखते हो, बल्कि उनकी चर्चा कर रही हूं जिनमें तुम किसी ऐसे व्यक्तिको देखते हो जिसे तुम जानते हो, जो तुमसे मिलनेके लिये आता है), तो उसकी सभी प्रकारकी व्याख्याएं देना संभव होता है। यदि वह ऐसा व्यक्ति है जो तुमसे बहुत दूर, दूसरे देशमें रहता है तो शायद उस व्यक्तिने तुम्हें कोई पत्र लिखा है, और पत्र रास्तेमें आ रहा है, अतएव तुम उस व्यक्तिको देखते हो, क्योंकि उसने अपने पत्रमें स्वयं अपना एक रूप, एक प्रकारकी एकाग्रताको रख दिया है; तुम उस व्यक्तिको देखते हो और दूसरे दिन सबेरे तुम्हें वह पत्र मिलता है। यह बहुत अधिक बार घटित होनेवाली एक घटना है। यदि वह मनुष्य ऐसा हो जिसमें बहुत प्रबल विचार-शक्ति हो तो वह तुम्हारे विषयमें बहुत दूरसे, अपने निजी देशसे सोच सकता है और अपने विचारको एकाग्र कर सकता है, और यह एकाग्रता तुम्हारी चेतनामें उस व्यक्तिका आकार ले लेती है। शायद बात ऐसी हो कि वह व्यक्ति किसी उद्देश्यसे तुम्हें पुकार रहा हो; यदि वह

खतरेमें है, यदि वह बीमार है तो वह जान-बूझकर तुमसे कुछ कहनेके लिये अथवा तुम्हें कोई संकेत देनेके लिये आता है। मान लो, कोई महत्त्वपूर्ण बात उसे तुमसे कहनी है, वह एकाग्र होना आरंभ करता है (वह जानता है कि उसे कैसे किया जाता है जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति नहीं जानता) और वह तुम्हारे वातावरणमें प्रवेश करता है, तुमसे कुछ विशेष बात कहनेके लिये आता है। अब, तुम यदि निष्क्रिय और सचेत हो, तुम संवादको ग्रहण करते हो। और फिर, दो और भी उदाहरण ले सकते हैं: कोई व्यक्ति अपनी नींदमें अल्पाधिक स्थूल रूपमें अपने शरीरसे बाहर निकल आया है और तुमसे मिलनेके लिये आया है। और तुम इस व्यक्तिके विषयमें सचेतन हो जाते हो क्योंकि (प्रायः चमत्कारिक ढंगसे) तुम भी चेतनाकी एक मिलती-जुलती स्थितिमें आ गये हो। और अंतमें, एक अंतिम उदाहरण दें, यह व्यक्ति संभव है मर गया हो और अपनी मृत्युके बाद तुमसे मिलने आया हो (उसका एक भाग अथवा उसकी प्रायः समूची सत्ता — उसके संग तुम्हारे संबंधके अनुसार)। परिणामतः, जो व्यक्ति बहुत, बहुत अधिक सावधान न हो उसके लिये इन विभेदोंको समझना बहुत कठिन, बहुत अधिक कठिन है। दूसरी ओर, कल्पनाशील लोग एकदम बार-बार तुमसे कहेंगे, "ओह! मैंने इस व्यक्तिको देखा है — वह तो मर गया है।" मैंने न मालूम कितनी अधिक बार यह बात सुनी है। ये ऐसे लोग होते हैं जिनकी कल्पना मुक्त भावसे दौड़ती है। यह संभव है कि वह व्यक्ति मर गया हो, पर इसलिये नहीं कि वह तुम्हारे सामने प्रकट हुआ है! .....चीजें जो बाह्य आकार ग्रहण करती हैं उस विषयमें मनुष्यको बहुत अधिक ध्यान रखना चाहिये। उनमें इतने सूक्ष्म भेद होते हैं कि उन्हें पहचानना कठिन होता है, व्यक्तिको बहुत, बहुत अधिक सतर्क होना चाहिये। स्वयं अपने लिये, यदि कोई इस सबका अध्ययन करनेका अभ्यासी हो तो वह इन विभेदोंको समझ सकता है, परंतु दूसरेके अनुभवोंका अर्थ लगाना बहुत कठिन है, जबतक कि वह बहुत ध्योरेके साथ वह सब चीजें न बता दे जो स्वप्नको, सूक्ष्मदर्शनको घेरे रहती हैं: जैसे, पहले उसके क्या विचार थे, बादमें उसकी भावनाएं क्या थीं, उसका स्वास्थ्य कैसा था, सोते समय उसकी क्या भावनाएं थीं, उससे पहले दिन उसने क्या-क्या कार्य किये आदि, यथार्थतः सभी प्रकारकी बातें। जो लोग तुमसे यह कहते हैं कि "ओह! मुझे यह सूक्ष्म-दर्शन हुआ था, मुझे इसका अर्थ समझा दीजिये!", यह बचकानापन है, — जबतक कि वह ऐसा व्यक्ति न हो जिसको तुमने बहुत सावधानतापूर्वक समझा है, जिसको तुमने स्वयं विभिन्न स्तरोंको पहचानना सिखाया है और जिसकी आदतों, जिसकी प्रतिक्रियाओंको

तुम जानते हो; अन्यथा समझाना असंभव है, क्योंकि मात्र एक ही वस्तुकी अनगिनत व्याख्याएं हो सकती हैं।

शरीरसे बाहर निकलनेके कई बहुत ही असाधारण उदाहरण हैं। मैं तुम्हें बिल्लियोंकी दो घटनाएं सुनाने जा रही हूं जो फ्रांसमें अति दीर्घकाल पहले घटित हुई थीं। एक घटना तो बहुत अधिक पुरानी है, युद्धसे भी बहुत पहलेकी। हम लोग प्रति सप्ताह छोटी-सी बैठकोंमें एकत्र हुआ करते थे — बिलकुल थोड़े-से मित्र, तीन या चार आते थे जो दर्शन, आध्यात्मिक अनुभव आदि-आदि विषयोंपर विचार-विमर्श किया करते थे। उनमें एक नवजवान लड़का था, कवि, पर वह एक ऐसा व्यक्ति था जो प्रायः प्रसन्न-चित्त रहता था; वह बहुत मेधावी था, वह पेरिसका एक विद्यार्थी था। वह इन बैठकोंमें (वे बुधवारकी शामको हुआ करती थीं) नियमित रूपसे आया करता था और एक दिन शामको वह नहीं आया। हमें बहुत आश्चर्य हुआ; कुछ दिन पहले वह हमसे मिला था और उसने कहा था कि वह आयेगा — पर वह नहीं आया। हमने काफी देरतक उसका इन्तजार किया, बैठक खतम हो गयी और जब लोगोंके बाहर जानेके समय मैंने दरवाजा खोला (मेरे मकानपर ही ये बैठकें हुआ करती थीं), मैंने दरवाजा खोला और वहां दरवाजेके सामने एक बड़ी-सी गहरे भूरे रंगकी बिल्ली बैठी थी और वह पागलकी तरह दौड़कर मेरे कमरेमें घुस आयी और मेरे ऊपर, इस भांति, कूद पड़ी तथा निरुपायभावसे "म्याऊं-म्याऊं" करने लगी। मैंने उसकी आंखोंमें झांका और अपने-आपसे कहा, "अरे हां, ये तो अमुक व्यक्तिकी आंखें हैं" (जो व्यक्ति आनेवाला था उसकी)। मैंने कहा, "निश्चय ही कोई बात उसके साथ घटित हो गयी है।" और दूसरे दिन हमें पता चला कि उस रात उसकी हत्या कर दी गयी थी; दूसरे दिन सवेरे वह अपने बिस्तरेपर मरा पाया गया। यही है पहली कहानी। दूसरी उसके बहुत दिनों बाद, युद्धके समय घटित हुई — पहले युद्धके समय, दूसरे युद्धके समय नहीं — वह खाइयोंका युद्ध था। एक नवयुवक था जिसे मैं अच्छी तरह जानती थी; वह कवि और कलाकार था (उसके विषयमें मैंने पहले भी चर्चा की है), वह युद्धमें गया था। वह मर्ती हो गया था; वह बहुत कम उम्रका था; वह एक अफसर था। उसने मुझे अपना फोटो दिया था (वह लड़का संस्कृतका विद्यार्थी था और संस्कृत बहुत अच्छी तरह जानता था, वह बौद्ध धर्मको बहुत पसंद करता था; सचमुच उसे आत्मासंबंधी बातोंमें बहुत दिलचस्पी थी, वह कोई साधारण बालक नहीं था, वह उच्चकोटिका था), उसने मुझे अपना फोटो दिया था जिसपर उसके अपने हाथोंसे लिखा एक संस्कृतका वाक्य था, बड़े सुन्दर अक्षरोंमें

लिखा था। मैंने उस तस्वीरको बंधा लिया था और उसे एक प्रकारके लिखनेके डेस्क (कई खानोंवाले कुछ ऊंचे डेस्क) के ऊपर रख दिया था; हां, ठीक उसके ऊपर इस तस्वीरको लटका दिया था। उन दिनों समाचारोंका मिलना बहुत कठिन था, कोई यह भली-भांति नहीं जानता था कि क्या हो रहा है। कभी-कभी हमें उसके पत्र मिल जाते थे, परंतु बहुत अधिक दिनोंसे कोई पत्र नहीं आया था, जब एक दिन मैं अपने कमरेमें आयी और ज्योंही प्रवेश किया, बिना किसी बाहरी कारण-के फोटोग्राफ, दीवालपर जहां लटका था वहांसे, नीचे गिर गया और शीशा झनझनाकर चकनाचूर हो गया। मुझे थोड़ी चिंता हो गयी, मैंने कहा, "जरूर कोई बुरी बात हो गयी है।" परंतु हमें कोई समाचार नहीं मिला था। दो या तीन दिन बाद (यह पहली मंजिलपर घटित हुआ; मैं एक ऐसे मकानमें रहती थी जिसमें एक कमरा तो दूसरी मंजिलपर था, बाकी सब नीचेकी मंजिलमें और एक सीढ़ी थी जो बगीचेमें जानेके लिये थी) मैंने कमरेमें घुसनेका दरवाजा खोला और एक बड़ी, भूरे रंगकी बिल्ली तेजीसे भीतर घुस आयी — इस बार रंग हल्का भूरा था — बड़ी सुन्दर बिल्ली थी, और ठीक दूसरीने जैसा किया था वैसे ही, वह मेरे ऊपर इस प्रकार कूद पड़ी और "म्याऊं-म्याऊं" करने लगी। मैंने उसकी आंखोंमें झांका — इसकी आंखें . . . उस लड़केकी आंखें थीं। और यह बिल्ली मेरे चारों ओर चक्कर लगाने लगी और बराबर मेरा कपड़ा खींचने लगी, तथा "म्याऊं-म्याऊं" करने लगी। मैं उसे बाहर निकालना चाहती थी, पर वह बाहर नहीं जाती थी, वह वहीं बैठ गयी और वहांसे हिलना नहीं चाहती थी। दूसरे दिन पत्रोंमें यह प्रकाशित हुआ कि वह लड़का दो खाइयोंके बीच मरा पाया गया, वह तीन दिनसे मरा पड़ा था। तात्पर्य, जिस समय वह मरा होगा उसी समय उसका फोटो गिरा था। उसकी चेतनाने पूरी तरह शरीर छोड़ दिया होगा; वह वहां परित्यक्त पड़ा रहा, क्योंकि लोग सर्वदा यह देखनेके लिये नहीं जाते थे कि खाइयों-के बीचमें क्या घटित हुआ है; वे नहीं जा सकते थे, समझे न; उसे लोगोंने दो या तीन दिन बाद वहां देखा; उस समय संभवतः वह अपने शरीर-से पूर्णतः बाहर चला गया था और उसने निश्चित रूपसे मुझे यह बताना चाहा था कि क्या घटित हुआ है और उसे वह बिल्ली मिल गयी। क्योंकि बिल्लियां प्राण-सत्तामें निवास करती हैं; उनमें बहुत अधिक विकसित प्राण-चेतना होती है और प्राणिक शक्तियां उनपर आसानीसे अधिकार जमा सकती हैं।

परंतु ये दोनों उदाहरण एकदम असाधारण हैं क्योंकि वे दोनों लगभग

एक ही ढंगसे घटित हुए और इन दोनों दृष्टांतोंमें उन बिल्लियोंकी आंखें पूर्ण रूपसे बदल गयी थीं — वे मानवीय आंखें बन गयी थीं।

१७ अप्रैल, १९५१

"आध्यात्मिक जीवन सबमें विद्यमान एक सारतत्त्वको प्रदर्शित करता है, पर उसकी अनंत विभिन्नताको भी प्रदर्शित करता है; वह एकतामें विविधताके लिये और फिर उस विविधतामें पूर्णता लानेके लिये प्रयत्न करता है।"

—वार्तालाप (१९२९)

विश्वकी सृष्टिका बस यही यथार्थ उद्देश्य है, अर्थात् सब एक हैं, सब अपने मूलमें एक हैं, पर प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक तत्त्व, प्रत्येक सत्ताका यह दैवनिर्दिष्ट कार्य है कि वह अपने सम्मुख इस एकत्वके एक भागको प्रकट करे और यही विशेषता है जिसे प्रत्येकके अंदर विकसित होना चाहिये, और उसके साथ-ही-साथ मूल एकत्वका बोध भी जाग्रत् होना चाहिये। यही है "विविधताके अंदर एकत्वकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करना।" और इस विविधतामें पूर्णता तभी आ सकती है जब प्रत्येक पूर्ण रूपसे वही बन जायगा जो उसे बनना चाहिये।

आपने कहा है: "मनुष्योंको ऐसा लगता है कि उनकी कामनाएं उनके अपने अंदर उत्पन्न होती हैं; उन्हें ऐसा अनुभव होता ह मानों वे या तो अपने-आपमेंसे पैदा होती हैं या उनके अपने अंदर उठती हैं; किंतु यह एक भ्रांत धारणा है। कामनाएं अंधकारग्रस्त निम्न प्रकृतिके विशाल समुद्रकी लहरें हैं और ये एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तिमें जाती रहती हैं। मनुष्य स्वयं अपने-आपमेंसे किसी कामनाको नहीं पैदा करते, बल्कि ये लहरें उनपर आक्रमण किया करती हैं; जो कोई इनके प्रति खुला हुआ और अरक्षित होता है वह इनकी पकड़में आ जाता है और इधर-उधर उछाला जाता है।"

(वही)

क्या संरक्षक आवरण भी कामनाकी लहरों तथा दूसरोंसे आने-वाले आवेगों आदिको अनुभव कर सकता है ?

क्या तुम्हारा मतलब यह है कि संरक्षक आवरण, जिसकी चर्चा मैंने भौतिक दृष्टिकोणसे की थी, नैतिक, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे भी उपयोगी हो सकता है या नहीं? यह वही आवरण नहीं है, यह दूसरा क्षेत्र है। मनुष्यका यह सूक्ष्म-भौतिक आवरण एकदम अक्षत हो सकता है और सभी बीमारियों और दुर्घटनाओंसे उसे बचानेके लिये अद्‌भुत ढंगसे कार्य कर सकता है, और फिर भी उसके साथ-ही-साथ, वह मनुष्य कामनाओंसे भरपूर हो सकता है, कारण कामनाएं दूसरे क्षेत्रकी चीजें हैं। कामना कोई भौतिक चीज नहीं है, कामना एक प्राणिक वस्तु है, और यह आवरण प्राणकी अपेक्षा अधिक स्थूल है। यह प्राणको प्राणिक जगत्‌के संपर्कमें आने तथा वहांसे उसके समस्त आवेगोंको ग्रहण करनेसे नहीं रोक सकता। स्वभावतः ही, जिस व्यक्तिने आत्मविजय कर ली है, जिसने अपने चैत्य पुरुषको पा लिया है, जो निरंतर इस चैत्य पुरुषकी चेतनामें निवास करता है, जिसने अन्तरस्थ दिव्य 'उपस्थिति'के साथ एक प्रकारका पूर्ण संबंध अथवा कम-से-कम एक प्रकारका सतत संबंध स्थापित कर लिया है वह ज्ञान, ज्योति, सौन्दर्य, पवित्रताके एक वातावरणसे आवृत्त होता है, जो कामनाओंसे बचाने-वाला सबसे श्रेष्ठ संरक्षण है, परंतु फिर भी यह संभव है कि यदि मनुष्य सर्वदा सावधान न रहे तो कामना भीतर घुस आ सकती है, क्योंकि हम कहते हैं कि वह बाहरसे आती है। हो सकता है कि मनुष्यने अपने अंदर किसी कामनाको जीत लिया हो, पर फिर भी वह एक छूतकी बीमारीकी तरह बाहरसे आ सकती है; परंतु ज्योति, ज्ञान और पवित्रताके इस आवरणके भीतरसे आनेपर कामना अपनी शक्ति खो देती है और वह एक अंध और तात्कालिक प्रत्युत्तर जगानेवाली क्रियाके रूपमें नहीं आती, उस समय मनुष्य यह देखता है कि क्या घटित हो रहा है, उस शक्तिके विषयमें सचेतन हो जाता है जो घुसना चाहती है, और वह चुपचाप — जब वह अभीप्सित नहीं होती— एक आंतरिक क्रिया कर सकता और अंदर आनेवाली कामनाका त्याग कर सकता है। बस, यही एकमात्र सच्चा संरक्षण है: एक जाग्रत् चेतना, शुद्ध और सतर्क, अर्थात्, जो सोती नहीं, सचेतन हुए बिना चीजोंको भीतर नहीं घुसने देती। सबसे बुरी बात यह है कि लोग बिलकुल अचेतन होते हैं और संक्रामक चीजके भीतर घुस आनेके बाद ही उसे वे देखते हैं, और प्रतिक्रिया करनेमें थोड़ी देर हो जाती है। पर ऐसा करना असंभव नहीं है, परंतु है कुछ अधिक कठिन कि जब मनुष्य उसे आते हुए देखे—

यदि चारों ओरके वातावरणमें वह एक प्रकारके छोटे-से काले धब्बेका आकार लेती हुई आती है,—तो जैसे वह किसी अप्रिय वस्तुको दूर हटा देता है वैसे ही उसे निकाल बाहर कर सकता है। परंतु भौतिक स्तरके संरक्षक आवरणका इस अवस्थामें कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

यह वास्तवमें बड़ी मजेदार चीज है....। मैंने देखा है कि भौतिक चीजें अभी ऐसे ढंगसे व्यवस्थित हैं कि मनुष्य चाहे किसी भी क्षेत्रमें अपने भौतिक यंत्रकी परिपूर्णताकी एक उच्च मात्राको प्राप्त हो सकता है, भले ही उसके आंतरिक या चैत्य विकासकी मात्रा चाहे जो भी क्यों न हो। यही बात मैंने कल शामको सवाक् चित्रोंके विषयमें सोची थी। स्पष्ट ही, चलचित्रण-कलामें यह एक महान् प्रगति है और यह नहीं कहा जा सकता कि यह अपने-आपमें बुरी या अच्छी है। बात यह थी कि मैंने सर्वदा केवल मूर्खतापूर्ण, भद्दी और अश्लील कहानियोंके ही चित्रचित्र देखे थे, वास्तवमें सामान्यतया सभी प्रकारकी मूर्खताएं सिनेमामें दिखायी जाती हैं, और यंत्रकी इस परिपूर्णताने अशिष्टताको और भी अधिक अशिष्ट, मूर्खताको और भी अधिक मूढ़, और पतनकारी इस धारणाको और भी अधिक प्रबल बना दिया है। परंतु कल, जब हमने वह वृत्तचित्र देखा जिसमें सुन्दर पक्षी गान कर रहे थे....। जिन लोगोंने यह फिल्म बनायी है उन्होंने बहुत कष्ट उठाया है; कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि चिड़ियों-की फिल्म उनके घोंसलोंमें और उन्हें जरा भी परेशान किये बिना बनानेमें, फिर उनके शब्दोंको इतने अधिक सही-सही रूपमें ध्वन्यांकित करनेमें ताकि उन्हें बढ़ाया जा सके और सबके लिये सुस्पष्ट बनाया जा सके, कितने अधिक प्रयास और कार्यकी आवश्यकता होती है। यह एक बहुत बड़ा काम है जिसे उन्होंने इस क्षेत्रमें किया है। और यह उसी यंत्रकी वही पूर्णता है जिसने एक ओर तो उस आनंददायी वस्तुके निर्माणमें सहायता की जिसे हमने कल देखा था और दूसरी ओर उस हीन वस्तुके निर्माणमें भी सहायता की जिसे हमने कुछ दिन पहले देखा था....। यह चीज हमें भौतिक वस्तुओंपर बड़ी गहराईसे विचार करनेके लिये बाध्य करती है।

भौतिक पूर्णता यह बिलकुल सिद्ध नहीं करती, जरा भी नहीं, कि हमने आध्यात्मिकताकी ओर एक पग भी आगे बढ़ाया है। भौतिक पूर्णताका अर्थ यह है कि वह यंत्र जिसका शक्ति उपयोग करेगी — चाहे कोई शक्ति — इतना अधिक पूर्ण होगा कि वह असाधारण रूपमें शक्तिको अभिव्यक्त करेगा। परंतु महत्त्वपूर्ण वस्तु, मौलिक वस्तु है वह शक्ति जो यंत्रका व्यवहार करेगी, और यथार्थमें वही चीज है जिसके लिये चुनाव आवश्यक

है। यदि तुम अपने शरीरको पूर्ण बनाओ और उसे एक अपूर्व यंत्र बना दो तो तुम्हें जरा भी यह नहीं सोचना चाहिये कि उसके कारण तुम आध्यात्मिक जीवनके अधिक नजदीक पहुंच गये हो। तुम एक अपूर्व यंत्र तैयार करते हो ताकि यह आध्यात्मिक जीवन उसमें अभिव्यक्त हो, यदि यह अभिव्यक्त होना चाहे। परंतु यथार्थमें वह चुनाव करना सर्वदा तुम्हारा काम है कि क्या अभिव्यक्त होगा। कुछ ऐसे लोग हैं जो अपने शरीरको पूर्ण बनाते हैं, जो एक बलशाली, ठोस, कर्मठ, फुर्तीला, सुयोग्य शरीर बनाते हैं और यह सब महज इसलिये करते हैं कि वे अपने अहंकार और अपने अहंकारकी शक्तिको और भी अच्छी तरह प्रदर्शित कर सकें। दूसरे इस विषयमें निस्संदिग्ध होनेके लिये शरीरको तैयार कर सकते हैं कि जब आध्यात्मिक ज्योति प्रकट हो तब उसे एक ऐसा यंत्र मिले जो उससे जो कुछ चाहा जाय उसे पूरा करनेके योग्य हो। जो कार्य भी यंत्रसे लेनेकी आवश्यकता हो, उसे इतना पूर्ण बना दिया जायगा कि वह उसे आसानीसे, सहज-स्वाभाविक भावसे, तत्काल करनेमें समर्थ हो ...। यह सब मैं उस अत्यंत महत्त्वपूर्ण बातकी ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करनेके लिये कह रही हूं और वह है उस शक्तिका चुनाव जिसे तुम अपने शरीरमें अभिव्यक्त होने दोगे। अपने शरीरको पूर्ण बनाओ, उसे एक अद्‌भुत यंत्र बनाओ, पर यह कभी मत भूलो कि तुम्हें एक चुनाव भी करना है और यह चुनाव निरंतर होते रहना चाहिये — तुम उसे एक बारमें ही सदाके लिये नहीं कर सकते, उसे तुम्हें सर्वदा, बार-बार नये रूपमें करना होगा। कारण, सर्वांगपूर्ण एकत्व प्राप्त करनेसे पहले, सर्वांगीण अभिव्यक्ति हो जानेसे पहले, बाह्य वस्तुओंका यह आक्रमण अनवरत होता रहेगा जो तुम्हारे अंदर प्रवेश करने और समस्त कार्यको नष्ट कर देनेका प्रयास करेंगी। अतएव, आवश्यक अनिवार्य शर्त्त है सतत जागरूक रहना। इस बहाने संतुष्ट होकर सो मत जाओ कि तुमने एक बार अपना यह चुनाव कर लिया है: "ओह! अब सब कुछ ठीक है, प्रत्येक चीज बिलकुल ठीक है।" सिद्धांततः प्रत्येक चीज बिलकुल ठीक है; तुम्हारे चुनावकी सच्चाईपर उसके स्थायित्वकी गारंटी निर्भर करती है। परंतु सच्चाई एकदम पूर्ण हो और चुनाव एकदम अचल-अटल, इसके लिये तुम्हें सर्वदा सजग रहना चाहिये, कभी सो नहीं जाना चाहिये — मेरा मतलब यह नहीं है कि तुम्हें भौतिक रूपमें सोना नहीं चाहिये, मेरा मतलब है कि तुम्हारी चेतना कभी सोनी नहीं चाहिये! और यह एक तरहसे उस चीजकी भूमिका है जिसे मैं अगली बार तुम्हें पढ़कर सुनाऊंगी, वह है एक पत्र जिसे श्रीअरविंदने बहुत, बहुत दिन आगे लिखा था; यदि मुझे

ठीक-ठीक याद हो तो, वह सन् १९२८ में, अक्तूबर सन् १९२८ में लिखा गया था। तुम देखोगे चीजें बहुत तेजीसे नहीं बदलतीं।

मनुष्य अपनी सत्ताकी विशेषताको किस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है?

तुम्हें उसे जीना होगा, कहनेका तात्पर्य, अपनी सत्ताके आंतरिक विधानके, सत्यके अनुसार जीवन यापन करना होगा। मैंने इस बातको "जीवन-विज्ञान" में कुछ विस्तारके साथ समझाया है, मैंने कहा है कि सत्ताका यह सत्य ही यथार्थमें प्रत्येक व्यक्तिका विशेषत्व है।

परंतु प्रत्येक व्यक्तिके लिये यह अलग-अलग होता है, होता है न?

प्रत्येक सत्ताका विधान अलग है, हां, अन्यथा उनमें विभेद कैसे किया जाता? — ऊपरसे नीचेतक, प्रकृति, आकार, क्रिया सब कुछ एक जैसा ही होता। यदि केवल एक ही विधान होता, तब केवल एक ही विधान होता और प्रत्येक व्यक्ति एक ही चीज दुहराता। तब किसी विश्वको प्रकट करनेकी बिलकुल ही कोई आवश्यकता न होती, क्योंकि तब केवल एक ही विधान रहा होता। विश्वका यथार्थ विशेषत्व ही है विधानोंका एक अनन्त बहुत्व जो सर्वशः, अपनी समष्टिमें, 'एकमेव' को पुनः प्रकट करता है। और वास्तवमें यही चीज है जो भौतिक जगत्में (मनुष्यमें और भौतिक जगत्में, क्योंकि यह पार्थिव सत्ताओंकी अपनी विशेषता है,) विशेष रूपसे अद्भुत है; यहां प्रत्येक सत्ता असंख्य सत्ताओंमेंसे एक है जो अपनी समग्रतामें 'एकमेव' को उत्पन्न करती हैं और फिर साथ-ही-साथ 'एकमेव'के साथ एक व्यक्तिगत संबंध रखती हैं — अर्थात्, अपने अंदर 'एकमेव' की चेतना और 'एकमेव' के साथ संबंध बनाये रखती हैं, और उसके साथ ही समग्रके अंदर एक तत्त्व बनी रहती हैं। परंतु, यदि 'एकमेव' के विषयमें सचेतन होने तथा उसके साथ तादात्म्य प्राप्त करनेके तथ्यके कारण ही कोई सत्ता विशिष्ट होना बंद कर दे तो फिर मनुष्य एक व्यक्तित्वके रूपमें विद्यमान रहना बन्द कर देगा। ठीक यही बात है जिसे बौद्ध धर्मवाले और शंकरके शिष्य उपलब्ध करनेकी कोशिश करते हैं; वे अपने व्यक्तित्वको, अपने व्यष्टिभावको पूर्णतः समाप्त कर देना चाहते हैं, अपनी सत्ताके सत्यको, अपनी सत्ताके विशेष विधानको समाप्त

कर देना चाहते हैं। इसी चीजको वे भगवान्‌के साथ घुल-मिल जाना समझते हैं। परंतु यह इस सृष्टिका प्रत्याख्यान है। और जैसा कि मैं कह रही थी, इस सृष्टिका चमत्कार, जहांतक कि पार्थिव व्यक्तित्व जाता है, यह है कि हम 'परात्पर' के साथ, 'एकमेव' के साथ इस एकत्वको, इस पूर्ण तादात्म्यको प्राप्त कर सकें, और इसके साथ-ही-साथ अपनी पृथक्ताकी, अपने जिस विशिष्ट विधानको हमें अभिव्यक्त करना है उसकी चेतनाको भी बनाये रख सकें। यह अधिक कठिन है पर अनंत रूपमें अधिक पूर्ण है, और यही इस विश्वका यथार्थ सत्य है। यह विश्व इसके सिवा और किसी चीजके लिये सृष्ट नहीं हुआ है अर्थात् इसका एकमात्र कार्य है चेतनाके इन दो ध्रुवोंको, दो चरम सीमाओंको जोड़ना। और जब ये दोनों युक्त हो जाते हैं, मनुष्य यह समझ जाता है कि ये दोनों सीमाएं वस्तुतः एक ही चीज हैं — एक समग्र वस्तु, जो एक साथ ही एक और अनेक है।

परंतु मनुष्य अपनेको दूसरोंसे बहुत भिन्न अनुभव करता है!

बाह्य रूपमें यह बहुत स्पष्ट है।

यह अज्ञान है।

नहीं, अज्ञान है मौलिक ऐक्यको, एक मूल स्रोतको अस्वीकार करना। और मैं अभिव्यक्तिके बाहरी विभेदोंको अस्वीकार करनेकी प्रवृत्तिको एक अज्ञानपूर्ण विवेकहीनता मानती हूं। तब भला अभिव्यक्ति होनी ही क्यों चाहिये? कौन-सा उद्देश्य इससे सिद्ध होगा? इसका तो अर्थ होगा कि सृष्टिके प्रारंभमें ही कोई विवेकहीनता रही होगी। यदि यह सृष्टि योजना-पूर्वक नहीं बनायी गयी थी तो इसका अर्थ होगा कि किसी उद्देश्यवश इस जगत्‌की सृष्टि नहीं हुई थी अथवा भगवान्‌ने एक भूल कर दी है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने यह समझा ही नहीं कि वह क्या बनाना चाहते थे! उन्होंने सोची तो एक चीज बनानेकी बात और बना डाली एक दूसरी ही चीज! इसके अतिरिक्त, मैं शीघ्र ही तुमसे यह कह देना चाहती हूं कि यदि विश्व ऐसा होता, सभी तत्त्व एक जैसे होते तो सचमुच मनुष्य तुरत यह पूछ बैठता कि आखिर इसका अस्तित्व ही क्यों है। यदि मेरे सामने बैठे हुए तुम सब लोग, सब-के-सब, एक जैसे ही होते,

एक ही ढंगसे बातें करते, एक ही ढंगसे सोचते-विचारते, एक ही ढंगसे प्रतिक्रिया करते तो मैं समझती हूं कि मैं तुरत यहांसे भाग जाती !

आपने कहा है कि यदि तीसरा विश्वयुद्ध हो तो फिर "वर्तमान" सभ्यताका अंत हो जायगा। इससे पार्थिव अवस्थापर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा या प्रतिकूल ?

सुनो। क्या तुम मुझसे यह पूछोगे कि कोई सांघातिक रोग स्वास्थ्यके अनुकूल है या नहीं ? यह बात ठीक-ठीक ऐसी ही है। कोई सभ्यता— चाहे वह जो भी हो — अपने-आपके, 'प्रकृति' के विषयमें सचेतन होने तथा इस 'प्रकृति' पर अधिकार करने एवं उससे यथासंभव सर्वोत्तम लाभ उठानेके बहुत लंबे प्रयासोंका फल होती है। कुछ देर पहले हम कह रहे थे कि भौतिक सत्ताको प्रशिक्षित करनेका तात्पर्य है एक यंत्रको तैयार करना ताकि भगवान् अपने-आपको अभिव्यक्त कर सकें। सभ्यता एक यंत्रको तैयार करती है ताकि भगवान् उस यंत्रमें अभिव्यक्त हो सकें। जितना अधिक धीरे-धीरे, सावधानीके साथ, सूक्ष्मतापूर्वक सभ्यता-का निर्माण किया जाता है और वह 'प्रकृति' के नियमोंपर विजय पानेमें सफल होती है, भगवान्‌की अभिव्यक्तिके लिये यंत्र भी उतना ही अधिक उपयुक्त होता है। यही कारण है कि हमने भी जीवनको दीर्घस्थायी बनानेका यह आदर्श अपने सामने रखा है, इसका उद्देश्य यही है कि हम यंत्रको पूर्ण बनानेमें समर्थ हों ताकि जो दिव्य 'शक्ति' अभिव्यक्त होना चाहती है वह अभिव्यक्त हो सके। अन्यथा, यह स्पष्ट ही बहुत अधिक आसान हो जायगा कि जैसे ही शरीर थोड़ा बीमार हो जाय या जरा बूढ़ा हो जाय या जैसी जवानीमें करता था वैसी प्रतिक्रिया करनेमें असमर्थ हो जाय तो उसके साथ वैसा ही किया जाय जैसा कि हम पुराने फटे कपड़ोंके साथ करते हैं — हम उसे फेंक देते हैं और दूसरा ले लेते हैं। दुर्भाग्यवश, बात ऐसी नहीं है। कार्यका समस्त फल, सचेतन होनेका समस्त संचित प्रयास नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि यह सभ्यता जिसे हमने बनाया है, जिसने एक तरहसे 'प्रकृति'की शक्तियोंको इतनी अधिक मात्रामें अधिकृत किया है, जिसने एकदम अनोखे प्रकारके नियमोंको समझनेमें सफलता पायी है, और आत्मबोध तथा आत्माभिव्यक्तिकी स्थितितक पहुंचनेके लिये सभी प्रकारके इतने अधिक अनुभवोंको एकत्र किया है, यदि यह सब विलुप्त हो जाय तो स्वभावतः ही सब कुछ फिरसे आरंभ करनेकी आवश्यकता होगी और तब, एक नवजात

बच्चेको कितने वर्षोंतक धार्मी और नीरस शिक्षा पानेकी आवश्यकता होती है ताकि उसका मस्तिष्क महज एक सरल सामान्य भावनाको ही अभिव्यक्त करनेके लिये प्रस्तुत हो जाय, उसके संपूर्णतः अचेतन होनेके स्थानमें सचेतन होनेकी उसकी क्रियाएं होने लगें, कितने वर्षों-तक! और एक सभ्यताको, जो कुछ नष्ट हो गया है महज उसे ही फिरसे प्राप्त करनेके लिये कितने वर्षोंकी आवश्यकता होगी? पृथ्वी-पर अबतक बहुत-सी सभ्यताएं हुई हैं, कुछ वैज्ञानिकगण यह पता लगानेकी कोशिश कर रहे हैं कि क्या-क्या हुआ है, पर कोई भी निश्चित रूपसे यह नहीं कह सकता कि ठीक-ठीक क्या हो चुका है: इन सभ्यताओंका अधिकतर भाग पूर्ण रूपसे विनष्ट हो गया है (मैं उन सभ्यताओंकी चर्चा कर रही हूं जो इस सभ्यतासे ठीक पहले थीं जो हमारे लिये ऐतिहासिक है)। हां, यदि दूसरीको आरंभ करनेके लिय हजारों वर्षोंकी आवश्यकता हो तो स्पष्ट ही ...। जो हो, हमारी बाहरी मानव चेतनाके लिये यह समयकी एक क्षति है। परंतु हमसे कहा गया है कि जो 'कार्य' करनेको है, जिस 'सिद्धि' को देनेकी प्रतिज्ञा की गयी है वह अब संपन्न होने जा रही है। वह अभी संपन्न होने जा रही है क्योंकि इस सभ्यताका ढांचा नये निर्माणके लिये एक मंच या आधारके रूपमें अनुकूल प्रतीत होता है। परंतु यदि यह सभ्यता विनष्ट हो जाय तो किस चीजके ऊपर हम निर्माण करने जा रहे हैं? सबसे पहले आधारस्वरूप एक मंच तैयार करना होगा ताकि निर्माण करना संभव हो। यदि इस मंचको बनानेके लिये पांच या दस हजार वर्ष और आवश्यक हों तो इससे यह सिद्ध होता है कि वास्तवमें चीजें अभी संपन्न नहीं होंगी — वे संपन्न होंगी, यह तो अच्छी तरह जानी हुई बात है, वे संपन्न होंगी, पर ...। तुम सबने कितने जीवन बिताये हैं? तुम्हें अपने विगत जीवनोंकी कितनी-सी बातें याद हैं? तुमने अपने पूर्वजीवनोंमें अपने-आपको पूर्ण बनानेके लिये, अपने-आपको समझने-जाननेके लिये, अपने ऊपर थोड़ा-सा प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये, जो यंत्र तुम्हें दिया गया है उसका महज उपयोग करनेके लिये जो सब प्रयास किये हैं उनका क्या लाभ है? उनका कितना-सा भाग तुम्हारे पास बचा हुआ है? क्या तुम मुझे बताओगे? यहां विद्यमान कौन व्यक्ति मुझे यह बता सकता है कि वह अपने पूर्वजीवनोंके अनुभवोंसे ज्ञानपूर्वक लाभ उठा रहा है — अचेतन रूपमें कुछ चीज बची रहती है पर बहुत नहीं — पर सचेतन रूपमें? ... कोई भी व्यक्ति उत्तर नहीं देगा?

नहीं, ठीक-ठीक रूपमें कहा जाय तो, मनुष्यको ऐसा लगता है

कि इतने लंबे समयतक जीनेके बाद वह केवल बहुत थोड़ा-सा ही जानना आरंभ कर रहा है।

हां, बिलकुल ठीक, बात ठीक ऐसी ही है। इसका कारण यह है कि जितने ही आगे मनुष्य जाता है उतने ही अधिक वह अनुभव करता है कि अभी सब कुछ जानना और सब कुछ सीखना बाकी है। और फलस्वरूप यदि किसीके पास प्रायः साठ वर्ष हों तो वह कुछ भी नहीं है। हम चाहेंगे कि कार्य करनेके लिये हमारे पास सैकड़ों और सैकड़ों वर्ष हों। ऐसी ही बात है, तुम सब छोटे-छोटे बच्चे हो, तुम देखते हो, तुम्हें साल इतने लंबे मालूम होते हैं, क्योंकि तुमने अभी अधिक जीवन नहीं बिताया है; परंतु तुम देखोगे कि जितना ही अधिक मनुष्य आगे बढ़ता है, उतना ही अधिक वह अनुभव करता है कि सामने अभी लंबी, बहुत लंबी सड़क पड़ी है, और वह फिर दुबारा आरंभ करना नहीं पसंद करेगा, क्योंकि इससे कितना अधिक समय नष्ट हो जाता है।

१९ अप्रैल, १९५१

"इस योगको केवल वे ही लोग अंततक कर सकते हैं जो इसे करनेके लिये संपूर्णतः उद्यत हैं तथा अपने-आपको भगवान्‌के अंदर ले जानेके लिये अपने तुच्छ मानवीय अहं और उसकी मांगोंको निश्चिह्न करनेके लिये तैयार हैं। यह हलकेपन या ढीलेपनके भावके साथ नहीं किया जा सकता; यह कार्य अत्यंत ऊंचा और कठिन है। फिर निम्नतर प्रकृतिकी विरोधी शक्तियां बस जरा-सी अनुमति या छोटे-से-छोटे उद्‌घाटनका लाभ उठाने-के लिये अत्यधिक तत्पर रहती हैं। इसके लिये अत्यंत सतत और तीव्र अभीप्सा तथा तपस्याकी आवश्यकता है। यदि मानव-मनके विचार धृष्टतापूर्वक अपने-आपको प्रस्थापित करनेकी चेष्टा करें या सत्ताके निम्नतम भाग अपनी मांगों, सहजप्रवृत्तियों और स्वत्वोंकी स्वेच्छापूर्वक तुष्टि करना चाहें जिनका लोग मानव-स्वभावके नामसे सामान्यतया समर्थन किया करते हैं तो फिर यह योग नहीं किया जा सकता।"

[श्रीअरविंदके पत्र, तृतीय भाग (शताब्दी संस्करण), पृष्ठ २५१]

प्रत्येक व्यक्ति इसे जानता है; जो लोग काम करनेके अपने तरीकेको या रहनेके अपने ढंगको बदलना नहीं चाहते वे सर्वदा कहते हैं, "ओह! तुम भला क्या आशा करते हो, यह मनुष्य-स्वभाव है।" यही चीज है जिसे "स्वेच्छापूर्वक तुष्टि करना" कहते हैं। अर्थात्, यह सचेतन होनेके स्थानपर कि ये कमजोरियां और मार्गकी कठिनाइयां हैं, लोग इन चीजोंका समर्थन करते हैं, कहते हैं, "ओह! इसका कोई चारा नहीं, यह मानव-स्वभाव है।" मनुष्य जो कुछ कर रहा होता है, बस, उसे ही, बिना बदले, करते रहना चाहता है, वह अपनी मांगोंको स्वेच्छापूर्वक तुष्ट करनेमें तल्लीन रहता है। क्योंकि मनुष्यकी निम्नतर प्रकृति वस्तुएं मांगती रहती है; वह कहती है, "ये आवश्यकताएं हैं, ये जरूरी चीजें हैं, इनके बिना, मेरा काम नहीं चल सकता।" फिर, सहज-प्रवृत्तियां होती हैं — अपनी निजी सतुष्टिके लिये एक प्रकारकी सहज-प्रवृत्तियां होती हैं — और होते हैं झूठे दावे: निम्नतर सत्ता दावा करती है कि उसका अपना बहुत बड़ा महत्त्व है और जो कुछ उसके लिये आवश्यक है वह उसे अवश्य दिया जाना चाहिये, अन्यथा उसके लिये जीना संभव नहीं होगा; वह बल-पूर्वक घोषणा करती है कि एकमात्र वही सबसे प्रमुख है आदि-आदि। यही सब चीजें हैं जो बाधाएं उत्पन्न करती हैं, ये ही सब अंध, अज्ञ गतियां, सत्ताके पुराने तरीकोंका समर्थन: वे लोग जो क्रोधसे आग-बबूला हो उठते हैं और कहते हैं, "तुम भला क्या आशा करते हो, इसका कोई उपाय नहीं," और प्रत्येक चीज जिसे मनुष्य यह कहते हुए कहता है कि, "ओह! यह मानव-स्वभाव है," प्रत्येक चीज जिसका समर्थन मनुष्य यह कहते हुए करता है कि "क्या किया जा सकता है, लोग ऐसे ही हैं, इस विषयमें कुछ भी नहीं किया जा सकता।" यह पुराना विचार है कि हम एक विशेष स्वभाव लेकर पैदा हुए हैं और हमें उसके साथ मेल बैठाना होगा, क्योंकि हम उसे बदल नहीं सकते।

अतएव श्रीअरविंद हमसे कहते हैं कि यदि हम स्वभावको नहीं बदल सकते तो फिर योग करनेका कष्ट उठानेसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि योग यथार्थतः स्वभावको बदलनेके लिये ही किया जाता है, अन्यथा इसका कोई अर्थ नहीं।

जब तुच्छ अहं निश्चिह्न हो जाता है, तब क्या ऐसा नहीं हो सकता कि व्यक्ति सीधे "अपने-आपको भगवान्‌के अंदर ही उपस्थित पाये?"

परंतु हम अपने तुच्छ अहंकारको पूरी तरह निश्चिह्न करनेसे पहले भी

अपने-आपको भगवान्‌के अंदर पा सकते हैं, क्योंकि, अपने तुच्छ अहंको विलीन करना कोई मामूली बात नहीं है!

परंतु इसे कैसे किया जा सकता है?

इसे कैसे किया जा सकता है? अहंको कैसे विलीन किया जाय?—सर्वप्रथम, तुम्हें उसे करनेकी चाह होनी चाहिये, और ऐसे बहुत कम लोग हैं जो इसे करना चाहते हैं। और ठीक-ठीक यही बात है जो वे कहते हैं, यही है जीवन-यापनके उनके तरीकेका औचित्य समर्थन, "इसी ढंगसे मैं बना हूं, मैं अन्यथा कर ही नहीं सकता। और फिर, यदि मैं इसे बदल दूं, यदि मैं उसे बदल दूं या यदि मैं इस चीजके बिना काम करूं अथवा यदि मैं उस चीजसे रहित हो जाऊं तो फिर मेरा अस्तित्व ही नहीं रहेगा!" और यदि कोई इसे खुले रूपमें नहीं भी कहता तो वह सोचता यही है। और ये सब छोटी-छोटी कामनाएं, ये छोटी-छोटी तुष्टियां, ये नन्हीं-नन्हीं प्रतिक्रियाएं, जीवनके ये सब सामान्य तरीके, मनुष्य उनसे चिपक जाता है, कठोरतापूर्वक चिपक जाता है — मनुष्य उनसे चिपक जाता है, मनुष्य उन्हें छोड़ना नहीं चाहता। मैंने सैकड़ों उदाहरण देखे हैं जहां किसीकी कठिनाइयां दूर कर दी गयी थीं (किसी विशेष शक्तिके द्वारा, एक विशेष कठिनाई दूर कर दी गयी थी), परंतु कुछ दिन बाद वह उसे उत्साहके साथ वापस ले आया! उसने कहा, "परंतु उसके बिना तो अब मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं है!" मैं ऐसे लोगोंको जानती हूं जिन्हें लगभग स्वाभाविक ढंगसे मानसिक नीरवता दे दी गयी थी और जो, एक या दो दिन बाद भयभीत स्थितिमें वापस आये: "क्या मैं मूर्ख बन गया हूं?"—क्योंकि मनोमय यंत्र सर्वदा काम नहीं कर रहा था...। तुम यह कल्पना नहीं कर सकते, तुम नहीं जानते कि इस तुच्छ अहंसे अपनेको पृथक् करना कितना अधिक कठिन है; यद्यपि यह इतना छोटा है फिर भी कितना अधिक रास्तेमें आता है। यह इतना सूक्ष्म होनेपर भी इतना अधिक स्थान घेर लेता है। यह बहुत कठिन है। मनुष्य इसे किन्हीं बहुत स्पष्ट वस्तुओंमें दूर धकेल देता है; उदाहरणार्थ, यदि कोई अच्छी चीज है और कोई व्यक्ति निश्चित रूपमें उसे सबसे पहले लेनेके लिये तेजीसे आगे दौड़ पड़ता है, अपने पासके व्यक्तिको धक्का भी मार देता है (साधारण जीवनमें यह चीज बहुत अधिक बार घटित होती है), तो वह बिलकुल सचेतन हो जाता है कि यह बात बहुत, बहुत सुन्दर नहीं है, अतएव वह इस प्रकारकी अशिष्टताओंको दबाना आरंभ करता है, वह बहुत

बड़ा प्रयास करता है — और फिर वह अत्यधिक आत्मतुष्ट हो जाता है: "मैं स्वार्थी नहीं हूं, जो कुछ अच्छा है वह मैं दूसरोंको दे देता हूं, मैं उसे अपने लिये नहीं रखता," और वह फूलकर कुप्पा होने लगता है। और इस तरह वह नैतिक अहंकारसे भर जाता है जो भौतिक अहंकारसे बहुत अधिक बुरा है, क्योंकि वह अपनी श्रेष्ठताके विषयमें सचेतन होता है। और फिर ऐसे लोग हैं जो सब कुछ छोड़ चुके हैं, सब कुछ त्याग चुके हैं, जो अपना परिवार छोड़ चुके हैं, अपनी संपत्ति बांट चुके हैं, एकांतमें चले गये हैं, जो संन्यासी-जीवन बिताते हैं, और जो अपनी श्रेष्ठताके बारेमें भयानक रूपसे सज्ञान होते हैं, जो अपने आध्यात्मिक उत्कर्षकी ऊंचाईसे बिचारी मानवजातिकी ओर नीचे ताकते हैं — और उनमें, उन लोगोंमें, एक ऐसा प्रबल अहंकार होता है कि जबतक वह छोटे-छोटे टुकड़ों-में भंग नहीं हो जाता तबतक वे कभी, कभी भी भगवान्‌को नहीं देख सकते। अतएव यह कोई इतना आसान कार्य नहीं है। इसमें बहुत अधिक समय लगता है। और मुझे यह भी बता देना चाहिये कि जब यह कार्य हो भी जाता है तो इसे बराबर ही फिरसे आरंभ करना पड़ता है।

भौतिक रूपमें, हम अपने जीवनके लिये भोजनपर निर्भर करते हैं — दुर्भाग्यवश। क्योंकि भोजनके साथ-साथ हम नित्य और निरंतर अचेतनता, तमस्, भारीपन, जड़ताकी एक बहुत बड़ी मात्राको ग्रहण करते रहते हैं। हम अन्यथा कर ही नहीं सकते — जबतक कि हम सतत, बिना विच्छेदके पूर्णतः सज्ञान न बने रहें और, ज्यों ही कोई तत्त्व हमारे शरीरमें प्रविष्ट हो, हम तुरत उससे केवल ज्योति ही प्राप्त करनेके लिये उसपर क्रिया न करें और जो कुछ हमारी चेतनाको अंधकारमय बनानेवाला हो उस सबका परित्याग न कर दें। अपना भोजन खानेसे पहले भगवान्‌को समर्पित करनेकी जो धार्मिक प्रथा है उसका मूल स्रोत और युक्तिसंगत व्याख्या यही है। भोजन करते समय मनुष्य यह अभीप्सा करता है कि यह आहार तुच्छ मानव-अहंके लिये न ग्रहण किया जाय बल्कि अपने अंदर विद्यमान दिव्य चेतनाकी पूजाके रूपमें लिया जाय। सभी योगोंमें, सभी धर्मोंमें इसे प्रोत्साहित किया जाता है। यही उस प्रथाका, पीछे विद्यमान चेतनाके साथ संबंध स्थापित करनेका मूल कारण है ताकि निश्चित रूपसे अचेतनताको आत्मसात् करना यथासंभव अधिक-से-अधिक कम कर दिया जाय जो हमारे बिना जाने दिन-प्रति-दिन, निरंतर बढ़ती रहती है।

प्राणिक रूपसे, यह वही बात है। प्राणिक रूपमें तुम प्राणमय जगत्‌में रहते हो और प्राणिक शक्तिकी सभी धाराएं तुम्हारी चेतनाके अंदर आती-जाती रहती हैं, एक-दूसरीसे मिलती-जुलती और एक-दूसरीका विरोध करती

रहती हैं, परस्पर झगड़ती और परस्पर ग्रथित होती रहती हैं, और यहां-तक कि यदि तुमने अपनी प्राण-चेतनाको शुद्ध करने, उसमें विद्यमान कामना-पुरुष और तुच्छ मानव-अहंको जीतनेका व्यक्तिगत प्रयास किया भी होता है, तुम अपने साथ रहनेवाले लोगोंसे आनेवाले सब प्रकारके विपरीत प्रकंपनोंको सर्वदा आत्मसात् करनेके लिये एक प्रकारसे विवश होते हो। तुम अपने-आपको किसी निर्जन स्थानमें बन्द नहीं कर सकते, भौतिक रूपसे ऐसा करनेकी अपेक्षा प्राणिक रूपमें करना और भी अधिक कठिन होता है और तुम सब प्रकारकी वस्तुएं अपने अंदर ग्रहण करते हो; जबतक तुम सतत सचेत नहीं रहते, निरंतर अपने ऊपर चौकसी नहीं रखते, और जो कुछ प्रवेश करता है उसपर बिलकुल पूर्ण नियंत्रण नहीं रखते ताकि अपनी चेतनाके अंदर अवांछित तत्त्वोंको घुसने न दो, तुम सभी प्रकारकी कामनाओं, सभी प्रकारकी निम्नतर क्रियाओं, सभी तुच्छ अंधकारपूर्ण प्रति-क्रियाओं, अपने आसपासके लोगोंसे आनेवाले सभी अवांछित प्रकंपनोंकी छूतको अनवरत ग्रहण करते रहते हो।

मानसिक रूपमें यह और भी अधिक बुरा है। मनुष्यका मन एक सार्वजनिक स्थान है जो चारों ओरसे खुला है और इस सार्वजनिक स्थानमें चीजें आती हैं, जाती हैं, सभी दिशाओंसे आर-पार गुजरती हैं; और कुछ वहां जम जाती हैं और ये सर्वदा सर्वोत्तम नहीं होतीं। और वहां, उस भीड़के ऊपर संयम प्राप्त करना सभी संयमोंमें सबसे अधिक कठिन है। अपने मनमें आनेवाले विचारको संयमित करनेका प्रयत्न करो और तुम देखोगे। तुम ठीक-ठीक समझ जाओगे कि तुम्हें एक संतरीकी तरह, अपने मनकी आंखोंको पूरा खोलकर, कितनी अधिक मात्रामें चौकसी रखनी पड़ती है, फिर उन भावनाओंके विषयमें अत्यंत स्पष्ट दृष्टि रखनी पड़ती है जो तुम्हारी अभीप्साके साथ मेल खाती हैं और जो मेल नहीं खातीं। और उस सार्वजनिक स्थानपर जहां सभी ओरसे सड़कें आकर मिलती हैं, तुम्हें प्रतिक्षण पुलिस तैनात रखनी पड़ती है ताकि सभी पथिक एक साथ भीतर न घुस आयें। यह बहुत कठिन कार्य है। फिर, तुम यह समझ जाओगे कि यदि तुमने सच्चे प्रयत्न किये हैं तो भी तुम इन सब कठिनाइयोंके अंततक एक दिनमें, एक महीनेमें, एक वर्षमें नहीं पहुंच जाओगे। जब तुम आरंभ करते हो तब तुम्हें अटूट धैर्यके साथ ही आरंभ करना चाहिये। तुम्हें यह कहना होगा कि "मैं जो कुछ पूरा करना चाहता हूं उसमें यदि पचास वर्ष भी लग जायं, सौ वर्ष भी लग जायं, कई जीवन भी लग जायं तो भी मैं उसे अवश्य पूरा करूंगा।"

एक बार यदि तुमने इसका निश्चय कर लिया है, एक बार यदि तुम

बिलकुल सज्ञान हो चुके हो कि ये बातें ऐसी ही हैं और इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये सतत और स्थायी रूपसे प्रयत्न करनेका कष्ट उठाना लाभदायी है तो तुम आरंभ कर सकते हो। अन्यथा, कुछ समय बाद तुम्हारी आशा भंग हो जायगी; तुम निरुत्साहित हो जाओगे, तुम अपने-आपसे कहोगे, "ओह! यह बड़ा कठिन है — मैं इसे करता हूं और यह चौपट हो जाता है, मैं फिर करता हूं और यह फिर चौपट हो जाता है, और फिर मैं इसे दुबारा करता हूं और यह हमेशा ही चौपट हो जाता है....। फिर क्या किया जाय? कब मैं वहां पहुंचूंगा?" अतएव मनुष्यमें बहुत अधिक धैर्य होना चाहिये। यह कार्य सौ बार चौपट हो सकता है, और तुम इसे फिरसे एक सौ एकवीं बार करोगे; यह हजार बार चौपट हो सकता है और तुम फिरसे इसे एक हजार एकवीं बार करोगे जबतक कि अंतिम रूपसे यह चौपट नहीं होता। और अंतमें यह चौपट नहीं होता।

बस, यदि तुम्हारी समस्त सत्ता एक टुकड़ेसे बनी होती तो यह कार्य बहुत आसान होता, पर तुम बहुत-से टुकड़ोंसे बने हो, फिर तुम्हारे अंदर एक टुकड़ा ऐसा है जो आगे है, जिसने कठिन परिश्रम किया है, जो बहुत सचेतन, एकदम जाग्रत् है, और जब वह विद्यमान होता है तो सब कुछ ठीक चलता है, तुम किसी चीजको अपने अंदर नहीं घुसने देते, तुम अपने ऊपर निगरानी रखते हो और फिर... तुम सोने चले जाते हो और दूसरे दिन जब तुम जागते हो वहां दूसरा भाग उपस्थित होता है और तुम अपने-आपसे कहते हो, "परंतु अब कहां है वह सब कार्य जिसे मैंने किया था?...." और फिर तुम्हें सब कुछ नये सिरेसे आरंभ करना पड़ता है। फिर नये सिरेसे सब कुछ आरंभ करना पड़ता है जबतक कि सभी भाग, एकके बाद एक, चेतनाके क्षेत्रके अंदर घुस नहीं आते और प्रत्येकका रूपांतर नहीं हो जाता। और जब तुम अपनी पहुंचकी सीमापर चले जाते हो, एक परिवर्तन आता है, तुम एक प्रगति कर लेते हो — उसके बाद, तुम्हें दूसरी प्रगति करनी होगी, पर तभी जब पहली हो चुकी हो। परंतु पूरी प्रगति केवल तभी होती है जब कि सत्ताके सभी भाग इस प्रकार एकके बाद एक, सामने ले आये जाते हैं और उन सबपर तुम, बिना किसी अपवादके, चेतना, ज्योति, संकल्प और लक्ष्यकी छाप इस ढंगसे डाल देते हो कि सब कुछ परिवर्तित हो जाता है।

मैं यह सब तुम्हें निरुत्साहित करनेके लिये नहीं, बल्कि तुम्हें सावधान करनेके लिये कह रही हूं। मैं नहीं चाहती कि तुम बादमें यह कहो, "ओह! यदि मुझे मालूम होता कि यह इतना कठिन है तो मैंने शुरू ही

न किया होता।" तुम्हें यह जानना चाहिये कि यह कार्य अत्यंत कठिन है और इसे महान् दृढ़ताके साथ शुरू करना चाहिये और अंततक जारी रखना चाहिये, यहांतक कि यदि अंत बहुत दूर भी हो — बहुत-सी चीजें अभी और करनेको बाकी भी हों। अब, मैं तुम्हें यह भी कह दूं कि यदि तुम इसे सच्चे दिलसे करो, परिश्रम और सावधानीके साथ करो, यह अत्यंत दिलचस्प कार्य है। जिन लोगोंका जीवन बड़ा ही एकरस-सा है, रुचिकर नहीं है (हां, ऐसे बिचारे लोग होते हैं जिन्हें एकदम नीरस कार्य करने पड़ते हैं और सर्वदा उन्हीं कार्योंको, और सर्वदा उन्हीं परिस्थितियोंमें करना पड़ता है, और जिनका मन चाहे जिस किसी चीजमें रस प्राप्त करनेके लिये पर्याप्त रूपसे प्रबुद्ध नहीं होता) ऐसे लोग भी, जब अपने ऊपर इस छोटे-से कार्यको करना आरंभ करते हैं, संयम करने, बहिष्कार करनेका कार्य आरंभ करते हैं, कहनेका तात्पर्य, जब प्रत्येक तत्त्व अपने अज्ञान, अपनी अचेतनता, अपने अहंभावके साथ आता है, उसे बदलनेके लिये संकल्प-शक्तिके सामने रख दिया जाता है और मनुष्य जाग्रत् बना रहता है, उनकी तुलना करता है, निरीक्षण करता है, अध्ययन करता है और धीरे-धीरे कार्य करता है, वह असीम रूपसे दिलचस्प बन जाता है, मनुष्य अद्भुत और एकदम अप्रत्याशित चीजें खोज निकालता है। मनुष्यको अपने अंदर बहुत सारी छोटी-छोटी गुप्त तहें, छोटी-छोटी चीजें मिलती हैं जो प्रारंभमें नहीं दिखायी देती थीं; मनुष्य एक प्रकारका आंतरिक शिकार शुरू कर देता है, छोटे-छोटे अंधकारपूर्ण कोनोंमें शिकार खोजने लगता है और अपने-आपसे कहता है: "क्या, मैं ऐसा था! यह चीज मेरे अंदर थी, मैंने इस नन्हीं चीजको पोस रखा है!" — कभी-कभी तो वह इतनी गंदी, इतनी नीच, इतनी घिनौनी होती है! और एक बार जब उसका पता लग जाता है, कितना आश्चर्यजनक लगता है! फिर मनुष्य उसपर ज्योतिकी किरण डालता है और वह विलीन हो जाती है! और फिर उसके बाद तुममें वह प्रतिक्रियाएं नहीं होतीं जो पहले तुम्हें इतना उदास — दुःखी बना दिया करती थीं, जब तुम कहा करते थे, "ओह! मैं वहां कभी पहुंच नहीं सकता।" उदाहरणार्थ, तुम एक बहुत साधारण-सा संकल्प (ऊपरसे देखनेमें बहुत साधारण) करते हो: "मैं अब कभी कोई झूठी बात नहीं कहूंगा।" और अकस्मात्, तुम्हारे बिना जाने कि क्यों और कैसे, झूठी बात बिलकुल अपने-आप निकल पड़ती है और तुम उसे तब देखते-जानते हो जब वह मुंहसे निकल चुकती है। तुम कहते हो: "यह तो सही बात नहीं है — जो मैंने अभी कहा है; मेरा मतलब तो कोई और ही बात कहनेका था।" अतएव तुम खोजते हो, खोजते हो.... "यह कैसे

घटित हुआ? मैंने कैसे उस ढंगसे सोचा और वैसा कह दिया? कौन-सी चीज मेरे अंदरसे बोली, किसने मुझे धक्का दे दिया? ...." तुम स्वयं बिलकुल संतोषजनक व्याख्या दे सकते और कह सकते हो, "यह चीज बाहरसे आयी थी" अथवा "यह अचेतनताका एक क्षण था," और इस विषयमें और कोई बात न सोचो। और दूसरी बार फिर यह बात घटित होती है। उसके स्थानमें, तुम इस प्रकार खोजते हो, "उस व्यक्तिका क्या उद्देश्य हो सकता है जो झूठ बोलता है? ..." और तुम आगे बढ़ते हो — और आगे बढ़ते हो और एकाएक तुम एक छोटे-से कोनेमें एक ऐसी चीज-को खोज निकालते हो जो अपने-आपको सत्य सिद्ध करना चाहती है, बल-पूर्वक स्वयं आगे बढ़ जाना चाहती है अथवा देखनेके अपने निजी तरीकेको स्थापित करना चाहती है (चाहे जो भी हो उससे कुछ आता-जाता नहीं, उसके कई कारण हो सकते हैं), अपने-आपको उससे थोड़ा भिन्न रूपमें दिखाना चाहती है जो वह है, ताकि लोग तुम्हारे विषयमें थोड़ी अच्छी राय बनायें और यह समझें कि तुम कोई बहुत विशिष्ट व्यक्ति हो... बस, यही चीज थी जो तुम्हारे अंदर बोल पड़ी थी — तुम्हारी सक्रिय चेतना नहीं, बल्कि वही चीज जो वहां थी और जिसने तुम्हारी चेतनाको पीछेसे धकेल दिया था। जब तुम एकदम सावधान नहीं थे, इसने तुम्हारे मुंहका, तुम्हारी जीभका उपयोग कर लिया, और तब तुम सचेत हुए! झूठ निकल पड़ा। मैं तुम्हें यह उदाहरण दे रही हूं — लाखों दूसरे उदा-हरण हैं और यह सब अत्यंत मजेदार है। और जिस हदतक मनुष्य अपने अंदर इस चीजकी खोज करता है और सच्चाईके साथ कहता है, "इसे अवश्य बदलना चाहिये," वह देखता है कि वह एक प्रकारकी आंत-रिक सूक्ष्मदर्शन-शक्ति प्राप्त कर रहा है, वह क्रमशः इस विषयमें सचेतन होता जा रहा है कि दूसरोंमें क्या घटित हो रहा है, और जब वे बिलकुल वैसे नहीं होते जैसा कि वह उन्हें देखना चाहता है तो वह क्रोधसे आग-बबूला होनेके बदले यह समझना आरंभ कर देता है कि चीजें कैसे घटित होती हैं, क्या कारण है कि मनुष्य "इस प्रकारका" है, प्रतिक्रियाएं कैसे उत्पन्न होती हैं! ... तब, ज्ञानसे संतुष्ट होकर वह मुस्कराता है। वह अब कठोरतापूर्वक किसीका विचार नहीं करता, वह अपने अंदरकी या दूसरोंके अंदरकी कठिनाइयोंको, चाहे उनकी अभिव्यक्तिका केंद्र कुछ भी क्यों न हो, दिव्य 'चैतन्य' को समर्पित कर देता है, और उसका रूपांतर करनेकी प्रार्थना करता है।

८ जून, सन् १९६६ को, इस वार्तालापके प्रकाशित होनेके समय, श्रीमाताजीने अपने वर्तमान अनुभवके संदर्भमें इसी प्रश्नपर बोलना शुरू किया जो अनुभव "शरीरके योग" का आधार है।

ठीक यही चीज मैं विगत दो दिनोंसे करती रही हूं। विगत दो दिनोंको मैंने इन्हीं सब संचित चीजोंको देखनेमें बिताया है, ओह! छोटी-छोटी गंदी चीजोंके ढेरोंको जिन्हें मनुष्य निरंतर जीता है, बहुत नन्हीं गंदी चीजोंको। और इसलिये केवल एक ही तरीका है — केवल एक ही तरीका है — सर्वदा वही एक तरीका: (भगवान्‌को) अर्पित कर देना।

सचमुच बात लगभग ऐसी होती है मानों 'परम चैतन्य' बहुत दिन पहलेकी मूली चीजोंके संपर्कमें तुम्हें ला देता है, जो भूतकालकी होती हैं, जो पूर्ण रूपसे मिट गयी हैं या मिट गयी थीं या मिट गयी प्रतीत होती थीं, जिनके साथ अब तुम्हारा कोई संबंध नहीं है, सभी प्रकारकी तुच्छ परिस्थितियां हैं, जो अभी भी नयी चेतनाके अंदर, अपने सच्चे स्थानमें, दिखायी देती हैं, और जो सारे जीवनको, समूचे सामान्य मानव-जीवनको एक दीन, दुःखी, हीन, घृण्य वस्तु बना देती हैं। और इसलिये, इस सबको रूपांतरके लिये, रूपांतरणके लिये समर्पित कर देना एक ज्योतिर्मय आनंद है।

अब कोषाणुओंकी चेतनाकी ठीक यही क्रिया बन गयी है। सभी दुर्बलताएं, विरोधी सूचनाओंके प्रति सभी प्रतिक्रियाएं (अर्थात् कोषोंमें प्रति क्षण होनेवाली अत्यंत तुच्छ क्रियाएं) अर्पणकी उसी क्रियाके अंदर ली जाती हैं (और ये चीजें कभी-कभी लहरोंके रूपमें आती हैं, इतने अधिक परिमाणमें आती हैं कि शरीरको लगता है कि उनके इस आक्रमणके कारण वह मूर्छित हो जायगा), और तब आती है एक ज्योति, इतनी ऊष्ण, इतनी गहरी, इतनी शक्तिमान्, जो सभी चीजोंको फिरसे क्रममें रख देती है, उनके अपने-अपने स्थानमें, और रूपांतरका पथ खोल देती है।

ये काल शारीरिक जीवनके लिये बहुत कठिन काल होते हैं; मनुष्य अनुभव करता है कि अब केवल एक ही चीज रह गयी है जो निर्णय करती है और वह है 'परात्पर संकल्प-शक्ति'। अब कोई सहारा नहीं है — कोई सहारा, अभ्यासके सहारेसे लेकर ज्ञान और संकल्पके सहारेतक, कोई सहारा नहीं है, सभी प्रकारके सहारे विलीन हो गये हैं — बस, अब एकमात्र है 'परात्पर प्रभु'।

(मौन)

कोषाणुओंकी चेतनामें है आत्मदानकी पूर्ण सच्चाईकी अभीप्सा।

और यह अनुभव जो जीवनमें आ चुका है — तीव्र रूपमें जीवनमें आ चुका है — कि वास्तवमें आत्मदानकी यह अखंड सच्चाई ही एकमात्र वह चीज है जो जीवनको बने रहने देती है।

थोड़े-से-थोड़ा दिखावापन भी विघटन और मृत्युकी शक्तियोंके साथ मित्रता स्थापित करना है।

हां, यह कोषोंके एक गीतके जैसा है — परंतु अपने-आपको इस प्रकार करते हुए देखनेकी असच्चाई भी उनमें नहीं होनी चाहिये — कोषोंका गान है: "तेरी इच्छा, हे प्रभु, तेरी इच्छा।"

और दूसरोंकी इच्छापर, दूसरोंकी चेतनापर, दूसरोंकी (दूसरोंकी और सभी वस्तुओंकी) प्रतिक्रियाओंपर निर्भर करनेकी बहुत बड़ी आदतके स्थानमें, इस प्रकारके विश्वव्यापी नाटकके स्थानमें जिसमें सभी सबके साथ खेलते हैं और सभी चीजें सब चीजोंके साथ खेलती हैं, आ जानी चाहिये आत्मदानकी अखण्ड, सहजस्फूर्त सच्चाई।

यह स्पष्ट है कि सच्चाईकी इस पूर्णताका होना केवल चेतनाके अत्यंत स्थूल भागमें ही संभव है।

सच पूछा जाय तो एकमात्र उसी भागमें मनुष्य पूर्ण सच्चाईके साथ होने, जीने, करनेमें, अपने-आपको निरीक्षण किये बिना होने, अपने-आपको निरीक्षण किये बिना जीने, अपने-आपको निरीक्षण किये बिना करनेमें सफल हो सकता है।

२१ अप्रैल, १९५१

"यदि तुम 'अज्ञान' की इन निम्नतम चीजोंको दिव्य 'सत्य' के साथ अथवा पथपर स्वीकार्य किसी निम्न कोटिके सत्यके साथ भी एकरूप माननेका हठ करो तो यह योग नहीं किया जा सकता। यदि तुम अपने पूर्व-स्वरूपसे तथा उसकी पुरानी मानसिक, प्राणिक और भौतिक रचनाओं तथा अभ्यासोंसे चिपके रहो तो यह योग नहीं किया जा सकता; इसके लिये तो मनुष्य-

को निरंतर अपने पुराने स्वरूपोंको पीछे छोड़ते जाना होता है और सर्वदा उच्च-से-उच्चतर चेतनामय स्तरोंसे देखना, कर्म करना तथा जीवन यापन करना होता है। यदि तुम अपने मानव मन और प्राणिक अहंकारकी "स्वतंत्रता" के लिये आग्रह करो तो यह योग नहीं किया जा सकता। जबतक मनुष्य साधारण जीवन यापन करता है तबतक, यदि वह ऐसा करना पसंद करे तो, उसकी सत्ताके सभी अंगोंको यह अधिकार है कि वे अपने-आपको अपने निजी तरीकेसे और अपने निजी खतरों और विपत्तियोंका सामना करते हुए अभिव्यक्त करें। परंतु योगके मार्गमें प्रवेश करनेकी इच्छा रखनेवालेकी बात दूसरी है। योगका संपूर्ण उद्देश्य है इन मानवीय चीजोंके स्थानमें किसी महत्तर 'सत्य'के विधान और शक्तिको ला बैठाना और उसकी पद्धतिका संपूर्ण सार है भगवती 'शक्ति' के प्रति आत्मसमर्पण करना। ऐसा न कर यदि वह इस तथाकथित स्वतंत्रताकी मांग करने लगे — यह तो किन्हीं अज्ञानपूर्ण विश्व शक्तियोंकी अधीनतासे अधिक और कुछ नहीं है, — तो इसका मतलब है कि वह आंख मूंदकर एक विपरीत जीवन बिताना चाहता है और (साधारण तथा आध्यात्मिक जीवनका मिला-जुला) एक द्विविध जीवन बितानेका अधिकार मांगता है। और फिर, यदि कोई यह घोषित करे कि वह इस योगका साधक है, और सर्वदा 'अज्ञान' की उन शक्तियोंका केंद्र, यंत्र या मुख-पात्र बना रहे जो इसके सिद्धांत और उद्देश्यका विरोध करती हैं, उन्हें अस्वीकार करती हैं तथा उनकी खिल्ली उड़ाती हैं तो उसके लिये यह योग करनेकी और भी कम संभावना है।..."

(श्रीअरविंद : श्रीअरविंदके पत्र, भाग तीन, पृष्ठ २५१-२५२)

क्या इस प्रकार सचेतन होना कि प्रकृतिका अवश्य परिवर्तन हो और अपनी सत्ताके विभिन्न भागोंपर प्रभुत्व स्थापित करना — ये दोनों एक ही बात हैं, एक ही कार्य हैं?

एक दूसरीकी पूर्ववर्त्ती है। सबसे पहले हमें सचेतन होना होगा, फिर संयम स्थापित करना होगा और लगातार संयमके बने रहनेपर हम अपने स्वभावको परिवर्तित करते हैं। स्वभावका परिवर्तन सबसे अंतमें आता है। हमें

अपनी बुरी आदतोंपर, पुरानी आदतोंपर संयम प्राप्त करना होता है, इतने दीर्घकालतक संयम रखना पड़ता है कि वे सब विलुप्त हो जायं और स्वभाव बदल जाय।

हम किसी ऐसे आदमीका उदाहरण ले सकते हैं, जो बार-बार अवसन्न हो जाता है। जब चीजें ठीक वैसी नहीं होतीं जैसी कि वह उन्हें चाहता है तो वह अवसन्न हो जाता है। सो, प्रारंभ करनेके लिये, उसे अपने अवसादके विषयमें सचेतन होना होगा — केवल अवसादके विषयमें ही नहीं बल्कि अवसादके कारणोंके विषयमें भी सचेतन होना होगा कि क्यों वह इतनी आसानीसे अवसन्न हो जाता है। उसके बाद, जब एक बार, वह सचेतन हो गया है, उसे अपने अवसादोंपर प्रभुत्व प्राप्त करना होगा, जब अवसादका कारण उपस्थित हो तो भी उसे अवसन्न होना बंद कर देना होगा — उसे अपने अवसादपर विजय प्राप्त करनी होगी, उसका आना रोक देना होगा। और अंतमें, इस कार्यके लंबे समयतक होते रहनेके बाद, उसकी प्रकृति अवसन्न होनेकी आदत खो देती है और उसके बाद अब उसी ढंगसे प्रतिक्रिया नहीं करती, उसकी प्रकृति बदल जाती है।

"'अज्ञान'की शक्तियोंका मुखपात्र" होनेका क्या तात्पर्य है?

'अज्ञान'की शक्तियां इस वर्तमान जगत्‌में सर्वदा उन लोगोंको खोजा करती हैं जो उनके अज्ञानको इस जगत्‌में अभिव्यक्त कर सकें। यह कठिन नहीं है! ऐसे बहुत-से लोग हैं जो अज्ञानपूर्ण बातें कहनेके लिये तैयार रहते हैं, अर्थात् जो सभी आध्यात्मिक अनुभवोंको अस्वीकार करनेके लिये, प्रगति करनेकी क्षमताको अस्वीकार करनेके लिये, इस वर्तमान जीवनसे भिन्न दूसरा जीवन प्राप्त करनेकी संभावनाको अस्वीकार करनेके लिये, मानवस्वभावके परिवर्तित होनेकी बात आदि-आदिको अस्वीकार करनेके लिये तैयार रहते हैं; अथवा यदि तुम कहना चाहो, जोरदार शब्दोंमें यह घोषित करनेको तैयार रहते हैं कि बीमारीसे बचना असंभव है, मृत्युसे बचना असंभव है, समझना असंभव है; यह बलपूर्वक घोषित करनेको तैयार रहते हैं कि 'ज्योति' और 'ज्ञान' को कभी नहीं प्राप्त किया जा सकता आदि-आदि। जो लोग ऐसी बातें कहते हैं वे 'अज्ञान' के मुखपात्र हैं। 'ज्योति' और 'ज्ञान' की शक्तियोंको अभिव्यक्त करनेके स्थानमें वे 'अज्ञान' की शक्तियोंको अभिव्यक्त करनेका काम करते हैं — क्या यह स्पष्ट है?

श्रीअरविंद यहां कहते हैं, "अत्यंत सतत . . . . अभीप्सा और तपस्याकी आवश्यकता है . . . ."

हां, यदि कोई योगको गंभीरतापूर्वक न ले तो वह इसे नहीं कर सकता। मनुष्यको सतत अभीप्सा बनाये रखने तथा तपस्या करनेके लिये बहुत गंभीर होना चाहिये। यदि कोई गंभीर न हो तो वह पांच मिनटतक तो अभीप्सा करता है और दस घंटोंतक नहीं करता; एक दिन तो उसमें महान् वेग होता है और एक महीनेतक कुछ नहीं रहता इत्यादि-इत्यादि। हां, इन अवस्थाओंमें मनुष्य योग नहीं कर सकता। सच पूछो तो यह एक अखंड, सतत चीज होनी चाहिये जो मंद नहीं होती। यदि कोई भूल जाय या ढीला पड़ जाय तो वह योग नहीं कर सकता।

क्या यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य एक महान् अभीप्सा लेकर जन्म ग्रहण करे?

नहीं, अभीप्सा ऐसी चीज है जिसे सत्ताकी सभी क्रियाओंकी तरह विकसित, प्रशिक्षित किया जाता है। मनुष्य बहुत धीमी अभीप्सा लेकर पैदा हो सकता है और उसे इतना अधिक विकसित कर सकता है कि वह बहुत तीव्र हो जाय। कोई बहुत दुर्बल संकल्प लेकर जन्म ले सकता और उसे विकसित कर सकता तथा प्रबल बना सकता है। यह विश्वास करना एक हास्यास्पद भावना है कि चीजें तुम्हारे पास इसी प्रकार, एक प्रकारकी कृपाके द्वारा आती हैं, कि यदि तुम्हें अभीप्सा नहीं दी गयी है तो वह तुममें नहीं हो सकती — यह बात सच नहीं है। बिलकुल यही बात है जिसपर श्रीअरविंदने अपने पत्रमें और जो अंश मैं अभी एक मिनटमें तुम्हारे सामने पढ़ने जा रही हूं उसमें बल दिया है। वह कहते हैं कि तुम्हें चुनाव करना होगा, और चुनावका अवसर निरंतर तुम्हारे सामने रखा जायगा और निरंतर तुम्हें चुनाव करना होगा, और यदि तुम चुनाव नहीं करोगे तो, हां, तुम प्रगति नहीं कर सकोगे। तुम्हें ही चुनाव करना होगा; कोई दूसरी "ऐसी शक्ति" नहीं है जो तुम्हारे लिये चुनाव करे, या कोई दैव योग या भाग्य या अदृष्ट नहीं है — यह सच नहीं है। तुम्हारी इच्छा स्वतंत्र है, वह जान-बूझकर स्वतंत्र छोड़ दी गयी है और तुम्हें ही चुनाव करना है। सच पूछो तो तुम्हीं यह निर्णय करते हो कि 'ज्योति' की खोज करनी है या नहीं, आया 'सत्य' का सेवक होना है या नहीं — तुम्हीं करते हो। अथवा, अभीप्सा रखनी है या नहीं, यह तुम्हीं चुनाव करते

हो। और जब तुमसे यह कहा भी जाता है कि "अपने समर्पणको पूर्ण बनाओ और तुम्हारे लिये कार्य कर दिया जायगा," यह बिलकुल ठीक है, परंतु अपने समर्पणको संपूर्ण बनानेके लिये, प्रत्येक दिन और प्रत्येक मुहूर्त्त तुम्हें अपने समर्पणको पूर्ण बनानेका चुनाव करना होगा, अन्यथा तुम उसे नहीं कर सकोगे, वह स्वयं अपने-आप नहीं हो जायगा। बस, तुम्हें ही उसे करनेकी इच्छा करनी होगी। जब वह हो जाता है, सब कुछ ठीक चलता है, जब तुम्हें 'ज्ञान' भी प्राप्त हो जाता है, सब कुछ ठीक चलता है, और जब तुम भगवान् के साथ एकात्म हो जाते हो तो सब कुछ और भी अच्छी तरह चलता है, पर तबतक तुम्हें इच्छा करनी होगी, चुनाव करना होगा, और निर्णय करना होगा। आलस्यवश यह कहते हुए सो मत जाओ कि "ओह! मेरे लिये कार्य कर दिया जायगा, मुझे कुछ नहीं करना है, सिवा इसके कि मैं अपनेको धाराके साथ बहने दूं।" इसके अलावा, यह सच नहीं है, कार्य अपने-आप नहीं संपन्न हो जाता, क्योंकि कोई अत्यंत छोटी-सी वस्तु भी यदि तुम्हारी नन्हीं इच्छाको पलट देती है तो वह कहती है, "नहीं, वह नहीं!" ... फिर?

"पथपर स्वीकार्य निम्नतर सत्य" क्या चीज है?

कोई व्यक्ति पहली छलांगमें ही, तुरंत, परम 'सत्य' को नहीं प्राप्त कर सकता। पथपर ऐसी चीजें हैं जो उन चीजोंसे कहीं अधिक सत्य हैं जिन्हें तुम जानते हो पर जो यथार्थ **"सत्य"** नहीं हैं, और ये चीजें उन आविष्कारोंके जैसी हैं जिन्हें मनुष्य पा लेता है: एकाएक मनुष्यके सामने एक प्रकारका प्रकाश चमक उठता है, मनुष्य एक नियमका पता पा जाता है, एक उत्तोलक पा लेता है, अपने सामने खुलता हुआ एक मार्ग देख लेता है; यह परात्पर 'सत्य' नहीं होता, चरम अनुभव नहीं होता, यह वह चीज नहीं जो भगवान्के साथ तादात्म्य होनेपर आती है, परंतु यह किसी ऐसी चीजके जैसा है जो वहांसे नीचे गिरी है और तुम्हारे अंदर प्रविष्ट हो गयी है, और तुम्हें एक प्रकारका आंशिक प्रकाश प्रदान करती है। ये ही आंशिक ज्योतियां हैं ठीक जिन्हें वह "निम्नतर सत्य" कहते हैं।

'तपस्या' का सच्चा अर्थ क्या है?

तपस्या वह अनुशासन है जिसे मनुष्य भगवान्को खोज निकालनेके लिये स्वयं अपने ऊपर लागू करता है।

क्या तपस्या और अभीप्सा एक ही चीज हैं?

ना, तुम अभीप्साके बिना तपस्या नहीं कर सकते। अभीप्सा है कोई वस्तु प्राप्त करनेका सर्वप्रथम संकल्प। तपस्या है उसकी पद्धति — निश्चय ही उसकी एक प्रक्रिया, एक पद्धति है।

क्या अपने अंदर चलनेवाले कार्यके विषयमें निम्नतर प्राण सज्ञान नहीं होता?

तब तो, यदि वह विचारशील और सदाशय हो, उसे भगवान्‌की उपस्थितिको स्वीकार करना चाहिये। समझते हो न, यह एक प्रकारका दुर्वृत्त है, यह नहीं चाहता कि भगवान् यहां हों और यह उन्हें अस्वीकार करता है, क्योंकि यह इस बातसे बहुत परेशान रहता है कि यहां यह अनुशासन है जो इसे परिवर्तित होनेके लिये, इसे संयमित करनेके लिये, इसकी कामनाओंको रोकनेके लिये, और निरंतर विरोध करनेके बजाय इसे सिर झुकानेके लिये बाध्य करेगा, अतएव यह चिल्लाकर कहता है, "यहां कोई भगवान् नहीं है।" परंतु यह, साथ-ही-साथ भली प्रकार जान सकता है कि कार्य आरंभ हो गया है और, फलतः, इसे इस बातका सबूत मिल सकता है कि यहां भगवान् हैं। परंतु फिर भी यह उन्हें अस्वीकार करेगा, यह बदनीयत है, यह प्रयास करनेसे बचनेके लिये जान-बूझकर इस तर्कका उपयोग करता है।

यहां श्रीअरविंद "पुरानी आदतों" और "पुरानी रचनाओं" की चर्चा करते हैं, इन दोनोंमें क्या भेद है?

ये दोनों लगभग एक ही चीज हैं। उदाहरणार्थ, तुम्हारे शरीरमें शीतलता, ऊष्णता, भूखके प्रति विशेष प्रतिक्रियाएं होती हैं, और तुम्हें इन प्रतिक्रियाओंकी आदत पड़ गयी है, और इस आदतने तुम्हारी भौतिक प्रकृतिमें एक प्रकारकी रचना कर डाली है, अर्थात्, तुम्हारे शरीरमें एक प्रकारकी सिकुड़न, पक्की सिकुड़न बन गयी है और यह "इस तरह" की चीज है। रचनाएं आदतोंका परिणाम हैं। इसी भांति, स्वभावकी "रचनाएं" भी हैं; जैसे, यदि तुम्हें उस समय क्रोधित हो जानेका अभ्यास पड़ गया है जब चीजें तुम्हें पसंद नहीं आतीं, तो इस आदतके कारण तुम्हारी प्रकृतिमें एक प्रकारकी आंतरिक शिकन बन जाती है, और हर बार जब

कोई बात तुम्हें पसंद नहीं होती, अपने-आप, बिना किसी संयमके, तुम क्रोधित हो उठते हो। बस, यही चीज है जिसे "रचना" कहा जाता है, ये वे अभ्यास हैं जो तुम्हारे स्वभावके एक अंगके जैसे बन गये हैं।

यदि कोई योगमें अत्यंत गंभीर होता है तो क्या इस कार्यकी कठिनाईके द्वारा वह अभिभूत नहीं हो जाता ?

एक सीमा रखनेकी आवश्यकता होती है! ... परंतु कोई यदि अपने अभिभूत हो जानेकी स्थितिको अच्छे ढंगसे चुने तो वह बहुत उपयोगी हो सकती है, क्योंकि तब ऐसा करनेके बाद ठीक अभिभूत होनेकी स्थिति नहीं रह जायगी। उदाहरणके लिये, किसी व्यक्तिने अपने अंदर भगवान्‌को प्राप्त करनेका निश्चय कर लिया है, और अनवरत, प्रत्येक परिस्थितिमें, चाहे जो कुछ घटित हो अथवा चाहे जो कुछ वह करे, वह अंतरस्थ भगवान्‌के साथ संपर्क स्थापित करनेके लिये ही एकाग्र होता है। स्वभावतः, सबसे पहले उसमें वह चीज होनी चाहिये जिसकी चर्चा श्रीअरविंद करते हैं, वह "निम्नतर सत्य" होना चाहिये जो यह जानता है कि कोई भगवान् हमारे अंदर विद्यमान हैं (यह "निम्नतर सत्य" का एक बहुत अच्छा उदाहरण है) और एक बार जब उसे इस बात-पर विश्वास हो गया और उन्हें पानेकी अभीप्सा जग गयी, यदि वह अभीप्सा सतत बन गयी और उन्हें प्राप्त करनेका प्रयास अविच्छिन्न हो गया तो दूसरोंकी आखोंको वह एक प्रकारसे आविष्ट होना दीखता है, पर इस प्रकार आविष्ट होना बुरा नहीं है। यह केवल तभी बुरा बन जाता है जब मनुष्य अपना संतुलन खो बैठता है। परंतु यह बात बिलकुल स्पष्ट कर देनी चाहिये कि जो लोग उस आवेशके कारण अपना संतुलन खो देते हैं वे केवल वे ही लोग होते हैं जो अपना संतुलन खोनेके लिये एकदम तैयार होते हैं; चाहे जो कोई परिस्थिति होती उससे वही परिणाम उत्पन्न होता और उसके कारण वे अपना संतुलन खो देते — यह उनकी मानसिक रचनाका एक दोष है, यह उस आवेशका कोई दोष नहीं है। और स्वभावतः ही, जो व्यक्ति किसी कामनाको एक आवेशमें बदल देता है वह निस्संदेह सीधा असंतुलनकी ओर जाता है। यही कारण है कि मैं यह कहती हूं कि आवेशके उद्देश्यको जानना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

किसीने कहा है कि जो व्यक्ति अपनी निश्चित भावनाको

पागलपनके हदतक धकेल ले जानेमें समर्थ है उसे ही ज्योति दिखायी देगी।

यदि तुम किसी भावनापर काफी आग्रहके साथ एकाग्र होओ तो तुम "कार्य संपन्न" करोगे, जैसा कि गुह्यवादियोंने कहा है, और जिस भावनापर तुम एकाग्र होओगे उसके पीछे तुम ज्योति देखोगे। परंतु यह थोड़ा खतरनाक है।

इसका मतलब है कि जो व्यक्ति इस प्रकारकी एकाग्रता कर सकता है उसे ज्योति दिखायी देगी।

अवश्य ही। इसमें कोई संदेह नहीं। यदि किसीमें इस प्रकारकी एकाग्रता करनेकी क्षमता है तो यह बहुत अच्छा है, परंतु उसे यह जानना चाहिये कि किस चीजपर एकाग्र होना चाहिये। यह महत्त्वपूर्ण बात है।

मनुष्य यह कैसे जान सकता है कि समर्पण पूर्ण है या नहीं?

मुझे यह जानना कठिन नहीं प्रतीत होता। हम थोड़ा-सा अभ्यास करनेकी कोशिश कर सकते हैं। हम कह सकते हैं, "अच्छा देखूं, मैं भगवान्‌को समर्पण करता हूं, मैं चाहता हूं कि मेरे जीवनमें प्रत्येक बातका निर्णय वही करें।" यही तुम्हारा प्रारंभ-बिंदु है। अब थोड़ा अभ्यास करें: भगवान् यह निर्णय करने जा रहे हैं कि अमुक-अमुक चीज घटित हो, ठीक ऐसी चीज जो तुम्हारी भावनाके विपरीत है। तब तुम अपने-आपसे कहते हो, "बहुत अच्छा, और, यदि भगवान् मुझसे कहते हैं कि 'तुम इसे छोड़ने जा रहे हो'," — तुम बहुत आसानीसे, तुरंत, देखोगे कि प्रतिक्रिया होती है; यदि वह चीज, इस भांति, तुम्हारे अंदर थोड़ी चुभती है तुम अपने-आपसे कह सकते हो, "समर्पण पूर्ण नहीं" — वह चुभती है, वह चुभती है ...।

(श्रीमाताजी पत्रको और आगे पढ़ती हैं): **"एक ओर तो है अतिमानसिक सिद्धि, अतिमानसिक भगवान्‌के ऊपर छायी हुई और अवतरित होती हुई शक्ति, पृथ्वीपर अबतक उपलब्ध किसी भी सत्यसे अति महान् परम 'सत्य' की ज्योति और शक्ति, अतएव एक ऐसी वस्तु जो तुच्छ मानव मन और बुद्धिके परे है**

अथवा अपने अयोग्य उपकरणोंके द्वारा देख-समझ नहीं सकती अथवा अपने तुच्छ मानदंडोंसे विचार नहीं कर सकती; समस्त बाधा-विरोधके होते हुए भी यह अतिमानसिक शक्ति भौतिक चेतना और स्थूल भौतिक जीवनमें अभिव्यक्त होनेके लिये नीचेकी ओर दबाव डाल रही है। और दूसरी ओर है यह निम्नतर प्राणिक प्रकृति और उसका समस्त झूठा अहंकार, अज्ञान, अंधता, जड़ता या अक्षम उत्तेजना। यह प्राणिक प्रकृति अपने-आपको बनाये रखनेके लिये डटी हुई है, अवतरणको बाधा दे रही है; यह अतिमानसिक या अतिमानवीय चेतना और सृष्टिकी किसी यथार्थ सत्यता या सच्ची संभावनामें विश्वास करना अस्वीकार करती है, अथवा, इससे भी कहीं अधिक बुरी बात यह है कि, वह यह मांग करती है कि, यदि अतिमानसिक शक्तिका कुछ भी अस्तित्व है, तो, उसे इसीके तुच्छ मानदंडोंका समर्थन करना चाहिये; यह ऐसी प्रत्येक चीजको आतुरताके साथ पकड़ लेती है जो उसका खंडन करती हुई प्रतीत होती है; यह भगवान्‌की उपस्थितिको अस्वीकार करती है — क्योंकि यह जानती है कि उस उपस्थितिके बिना यह काम असंभव है — यह चिल्ला-चिल्लाकर अपने ही विचारों, निर्णयों, कामनाओं, सहज-वृत्तियों आदिको प्रस्थापित करती है और यदि इन सबका खंडन किया जाता है तो संदेह, अस्वीकृति, निंदात्मक आलोचना, विद्रोह तथा अस्त-व्यस्तता आदिको विस्तृत रूपसे फेंककर उसका प्रति-कार करती है। आज हमारे सामने ये दो चीजें हैं जिनमेंसे प्रत्येक मनुष्यको चुनाव करना होगा। "क्योंकि भागवत 'सत्य'के विरुद्ध उठनेवाला यह विरोध, यह निस्सार अटकाव और घेराव सदा नहीं टिक सकता। प्रत्येक मनुष्यको अंतमें इस ओर या उस ओर, दिव्य 'सत्य' के पक्षमें या उसके विपक्षमें अवश्य आ जाना पड़ेगा। यह संभव नहीं कि निम्नतर 'अज्ञान' एक ओर बना रहे और उसके साथ-ही-साथ अतिमानसिक सिद्धि भी बनी रहे। द्विविध प्रकृतिके अंदर प्राप्त सतत संतुष्टिके साथ इस सिद्धिका कोई मेल नहीं बैठ सकता।"

(वही)

यदि निम्नतर प्रकृति पूर्णतः अज्ञ है तो वह "चुनाव" कैसे कर सकती है?

यह पूर्णतः अज्ञ नहीं है। चीजें इतनी पूर्ण नहीं होतीं। वह अनुभव कर सकती है कि किसी वस्तुका अभाव है। सब कुछ इसीपर निर्भर करता है। स्वभावतः ही, जो लोग अपने-आपसे, जैसा कि वे हैं उससे बिलकुल संतुष्ट हैं, — उनको बदलनेकी कोशिश करनेका कष्ट उठानेसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि वे इसे नहीं चाहते। परंतु, सच पूछो तो, निम्नतर प्रकृतिमें भी, इस प्रकारकी एक भावनाका होना संभव है कि बातें और अच्छी हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, एक आदमीको ले लो जिसका स्वास्थ्य खराब है या जो कमजोर है, जिसमें कामनाएं हैं पर वह उन्हें संतुष्ट करनेके लिये अत्यंत दुर्बल है, जिसमें महत्त्वाकांक्षाएं हैं पर क्षमता नहीं है; ऐसा व्यक्ति शायद अपने-आपसे कहेगा, "ओह! यदि मैं जो कुछ हूं उससे थोड़ा और अच्छा होता, यदि मैं थोड़ा अधिक जानता, यदि मैं थोड़ा और बलशाली होता, यदि मैं थोड़ा-सा यह जानता कि क्या करना चाहिये . . .।" अथवा, मान लो, उदाहरणके रूपमें, साधारण जीवनमें, किसी व्यक्तिको अपनी रोजी कमानेकी आवश्यकता है और उसे एक परिस्थितिका चुनाव करना है, और जो परिस्थिति उसके सामने उपस्थित है वह उसके बहुत अनुकूल नहीं है; वह इस दुविधामें फंस गया है: या तो खानेको कुछ नहीं मिलेगा या फिर इस अप्रिय परिस्थितिको स्वीकार करना होगा; वह इस समस्याको अपने सामने उपस्थित देखता है और कहता है, "मुझे क्या करना चाहिये?" वह नहीं जानता, वह नहीं समझता; परंतु अपनी मूर्खताके बावजूद भी उसके अंदर एक प्रकारकी ऐसी धारणा उत्पन्न होगी कि यदि वह जरा अधिक स्पष्ट रूपमें देख पाता, तनिक अधिक अच्छे ढंगसे जान पाता, उसके अंदर भविष्यदर्शनकी कोई शक्ति होती तो बहुत अच्छा होता। उसके बाद बस यही चीज प्रगति करनेकी एक क्षीण अभीप्सा जाग्रत् करती है — यही चुनाव करनेका प्रारंभ-बिंदु है। किसीने कहा है कि यदि कुत्तोंको काटनेके लिये उनके बदनमें अंठई न होती तो वे सर्वदा तमस्-की एक स्थितिमें पड़े रहते, जमीनपर हाथ-पैर फैलाकर निश्चेष्ट पड़े रहते। परंतु, अब, ये उन्हें सताती हैं, वे खुजाते हैं, हिलते-डुलते हैं और यह चीज उन्हें तमस् से थोड़ा जगा देती है। मनुष्यके विषयमें भी बस यही बात है। जब उनमें कोई छोटी-सी कामना होती है जिसे वे पूरी नहीं कर सकते तो वे थोड़ा-सा हिचकोला खाते हैं; वे अपने तमस्से बाहर निकल आते हैं और अपनी समस्याका समाधान पानेकी कोशिश करते हैं। बस, यह इसी तरहकी बात है। पूर्ण अचेतनता नामकी कोई चीज नहीं है — नितांत अज्ञान जैसी, निपट रात जैसी कोई चीज नहीं। समस्त अचेतनताके पीछे, समस्त अज्ञानके पीछे, रात्रिके पीछे सर्वदा

ही परम 'ज्योति' विद्यमान है जो सर्वत्र है। अत्यंत छोटी-सी चीज भी संपर्क स्थापित करनेका प्रारंभ करनेके लिये पर्याप्त है।

इस पत्रके प्रारंभमें श्रीअरविंद लिखते हैं कि "पुरानी विफलताके किसी नये संस्करणको अपनी अनुमति देनेकी मेरी कोई मन्शा नहीं है।"

(वही)

क्या "विफलता" शब्द किसी विशेष या सामान्य बातकी ओर संकेत करता है?

यह उन सभी 'गुरुओं' की ओर संकेत करता है जो संसारमें आ चुके हैं। एकने कहा, "मैं 'प्रेम' ला रहा हूं," दूसरेने कहा, "मैं 'शांति' ला रहा हूं," फिर तीसरेने कहा, "मैं 'मुक्ति' ला रहा हूं," और फिर, थोड़ा-सा भीतर परिवर्तन हुआ, मनुष्योंकी चेतनाकी गहराइयोंमें कोई चीज जाग्रत् हुई, पर बाहरी रूपमें प्रत्येक चीज ठीक ज्यों-की-त्यों वही बनी हुई है। यही चीज है जिसने उसे एक विफलतामें परिणत कर दिया है।

क्या आंतरिक सिद्धि और अनुभव बाहरी परिवर्तनमें सहायता नहीं करते?

आवश्यक रूपसे नहीं। वे केवल तभी सहायता करते हैं जब मनुष्य उसे चाहता है। नहीं तो, उसके विपरीत, मनुष्य बाहरी प्रकृतिसे अपने-आपको अधिकाधिक पृथक् करता जाता है। बस, यही चीज उन सब लोगोंके साथ घटित होती है जो मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं; वे अपनी बाह्य प्रकृतिको उसके स्वभाव तथा अभ्यासोंके साथ इस प्रकार त्याग देते हैं मानों वह कोई एकदम घृण्य वस्तु हो जिसके साथ मनुष्यको संलग्न नहीं रहना चाहिये; वे अपनी सभी कर्म-शक्तियोंको, चेतनाकी सभी शक्तियोंको ऊंचाइयोंकी ओर ऊपर उठा लेते हैं, और यदि वे इसे पर्याप्त पूर्णताके साथ करते हैं तो सामान्यतया वे अपने शरीरको सदाके लिये छोड़ देते हैं। लेकिन बहुत अधिक संख्यामें ऐसे लोग यह कार्य अंशतः ही करते हैं, और, जब वे ध्यान-धारणासे या अपनी समाधिसे बाहर आते हैं तो वे साधारणतया दूसरोंसे भी अधिक बुरे हो जाते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी बाह्य प्रकृतिपर एकदम कोई कार्य किये बिना ही उसे अलग छोड़ दिया

है। साधारण लोग भी, जब उनके दोष तनिक अधिक प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उन्हें सुधारनेकी, या उनपर इस प्रकार थोड़ा-सा संयम स्थापित करनेकी चेष्टा करते हैं ताकि जीवनमें उन्हें बहुत अधिक कष्ट न हो, जब कि ये लोग, जो यह समझते हैं कि उचित मनोभाव है अपने शरीर तथा अपनी बाहरी चेतनाको पूर्ण रूपसे त्याग देना तथा संपूर्ण रूपमें "आध्यात्मिक ऊंचाइयों" पर ऊपर उठ जाना, उसके साथ पुराने कोटकी तरह व्यवहार करते हैं जिसे मनुष्य अलग फेंक देता और उसकी मरम्मत नहीं करता— और जब उसे फिरसे ग्रहण किया जाता है तो वह छिद्रों और दागोंसे भरा होता है।

उससे कोई सहायता नहीं मिलती। उससे केवल तभी सहायता मिलती है जब मनुष्यमें बदलनेकी सच्ची इच्छा होती है; यदि किसी व्यक्तिमें सच्चे रूपमें परिवर्तित होनेकी इच्छा हो तो वह चीज एक शक्तिशाली सहायता बन जाती है क्योंकि तब वह परिवर्तन ले आनेकी शक्ति, परिवर्तन साधित करनेका आधार तुम्हें प्रदान करती है। परंतु हमें सच्चाईके साथ परिवर्तित होनेकी इच्छा करनी होगी।

२३ अप्रैल, १९५१

श्रीअरविंदका लेख "दिव्य अतिमानव" पढ़नेके बाद।

श्रीअरविंद कहते हैं, "तुम्हें अपने निजी शिखरपर पहुंचना होगा।" क्या शिखर प्रत्येक व्यक्तिके लिये एक ही होता है अथवा प्रत्येक व्यक्तिका अपना विशिष्ट शिखर होता है?

अंतिम विश्लेषण करनेपर, वह सर्वदा एक ही शिखर होता है — दिव्य एकत्व जो सभी वस्तुओंके पीछे विद्यमान है — परंतु हर एक अपने निजी शिखरपर पहुंचेगा, अर्थात्, अपनी निजी प्रकृतिद्वारा और दिव्य एकत्वको अभिव्यक्त करनेके अपने निजी तरीकेसे पहुंचेगा। यही बात है जिसे हम उस दिन कह रहे थे: प्रत्येक व्यक्ति भगवान्‌के साथ संबंध रखने तथा भगवान्‌को अभिव्यक्त करनेकी एक विशेष पद्धतिका प्रतिनिधित्व करता

है। तुम्हें दूसरेके मार्गका अनुसरण करनेकी आवश्यकता नहीं होती! तुम्हें अपने निजी मार्गका ही अनुसरण करना चाहिये और बस इसी मार्गसे तुम शिखरपर पहुंच जाओगे जो 'एक' है, पर तुम पहुंचोगे अपने निजी रास्तेसे। परम लक्ष्य शिखरोंसे परे है — वह लक्ष्य एक ही है और शिखरोंसे परे है — परंतु प्रत्येक मनुष्य इस शिखरको अपने निजी पथसे, अपने निजी पर्वतपर चढ़कर प्राप्त होगा, न कि दूसरेके पर्वतपर चढ़कर।

श्रीमाताजी श्रीअरविंदके लेख "पथ" से
कुछ अंश पढ़ती हैं:

> **"यह कल्पना मत करो कि पथ आसान है; पथ लंबा है, दुर्गम, संकटपूर्ण, कठिन है। प्रत्येक पगपर (शत्रुके छिपनेके लिये) एक निभृत स्थान है, प्रत्येक मोड़पर एक अंधकूप है। एक हजार दृश्य या अदृश्य शत्रु तुम्हारे विरुद्ध कूच कर देंगे, तुम्हारे अज्ञानके मुकाबले वे अपनी धूर्त्ततामें भयानक और तुम्हारी दुर्बलताके मुकाबले अपनी शक्तिमें अजेय होंगे। और जब तुम कष्टके साथ उन्हें विनष्ट कर दोगे तो उनका स्थान ग्रहण करनेके लिये दूसरे हजारों उमड़ पड़ेंगे।"**

यह बात तुम्हें साहस देनेके लिये, कार्य करनेका साहस देनेके लिये कही गयी है। तुम्हें जाग्रत् रहना होगा, अपना संकल्प बनाये रखना होगा, चाहे जो भी क्यों न घटित हो। यदि तुम दोनों चीजोंको एक साथ, छोरसे-छोर जोड़ दो तो तुम्हें पूर्ण वस्तु मिल जायगी।

मनुष्य अचेतनताके बीच सचेतन कैसे बना रह सकता है?

मनुष्यको जाग्रत् रहना होगा।

और जब सोया हुआ हो?

मनुष्य नींदमें सचेतन रह सकता है, हम इसे पहले ही समझा चुके हैं! मनुष्यको प्रयत्न करना चाहिये।

तब मनुष्य सो नहीं सकता!

बिलकुल ऐसी बात नहीं है, मनुष्य अधिक अच्छे रूपमें सोता है, उसे अशांत निद्राकी जगह शांत निद्रा होती है। अधिकतर लोग अपनी नींदमें इतनी अधिक चीजें करते हैं कि वे पहलेकी अपेक्षा अधिक थककर जागते हैं। हमने एक बार पहले इसकी चर्चा की थी। स्वभावतः ही, यदि तुम अपनेको सोने नहीं दोगे तो तुम नहीं सोओगे। मैं बराबर उन लोगोंसे, जो सो न सकनेकी शिकायत करते हैं, कहती हूं, "तब ध्यान करो और अंतमें तुम सो जाओगे।" "उस ढंगसे", सोनेके बजाय, जब कि मनुष्य बिखरा हुआ और छितरा हुआ हो और यह भी न जानता हो कि वह कहां है, एकाग्रता करते हुए सोना अधिक अच्छा है।

अच्छी तरह सोनेके लिये मनुष्यको यह सीखना चाहिये कि कैसे सोया जाता है।

यदि कोई शरीरसे बहुत थका हुआ हो तो यह अधिक अच्छा है कि वह तुरत न सो जाय, अन्यथा वह निश्चेतनामें जा पड़ेगा। यदि कोई बहुत थका हो, उसे बिछौनेपर हाथ-पैर फैलाकर लेट जाना चाहिये, अपने-आपको शिथिल कर देना चाहिये, सभी नसोंको एक-के-बाद एक ढीला कर देना चाहिये जबतक कि मनुष्य बिछौनेपर पड़े हुए एक कपड़ेकी तरह न बन जाय, मानों उसमें न तो हड्डियां हों और न मांसपेशियां। जब मनुष्य यह कर चुके, यही चीज फिर मनमें भी करनी चाहिये। शिथिल छोड़ दो, किसी विचारपर एकाग्र मत होओ या कोई समस्या हल करनेकी कोशिश मत करो या दिनमें प्राप्त धारणाओं, संवेदनों या भावावेगोंकी जुगाली मत करो। उस सबको चुपचाप अपने मनसे झड़ जाने देना चाहिये: तुम अपने-आपको छोड़ देते हो, तुम सचमुच एक चिथड़ेके जैसे बन जाते हो। जब तुम ऐसा करनेमें सफलता प्राप्त कर लेते हो, वहां बराबर एक नन्हीं-सी लौ विद्यमान होती है, वहां — वह लौ कभी बुझती नहीं और तुम जब इस शिथिलीकरणको करनेमें सफल हो जाते हो, इस लौके विषयमें सचेतन हो जाते हो। और एकदम अचानक यह नन्हीं लौ धीरे-धीरे दिव्य जीवनकी, सत्यकी, भगवान्‌की चेतना प्राप्त करनेकी, आंतर सत्ताके साथ एकत्व प्राप्त करनेकी अभीप्साके साथ ऊपर उठती है, यह क्रमशः ऊपरकी ओर उठती है, यह, इस प्रकार, बहुत धीरे-धीरे ऊपर, ऊपर-ही-ऊपर उठती जाती है। तब सब कुछ वहां एकत्र हो जाता है, और यदि उस क्षण तुम सो जाते हो तो तुम्हें यथासंभव सबसे अच्छी नींद आती है। मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि यदि तुम इसे सावधानीके साथ करो तो तुम्हें निस्संदेह नींद आ जायगी, और फिर तुम एक अंधी खाईमें गिर पड़नेके बदले प्रकाशमें सोओगे, और जब सवेरे उठोगे तो अपने-

को ताजा, तन्दुरुस्त, संतुष्ट, प्रसन्न तथा दिनभरके लिये स्फूर्तिसे भरपूर अनुभव करोगे।

जब मनुष्य नींदमें सचेतन रहता है तो मस्तिष्क सोता है या नहीं?

मस्तिष्क भला कब सोता है? कब वह सोता है? यह सभी बातोंमें सबसे अधिक कठिन है। यदि तुम अपने मस्तिष्कको सुला देनेमें सफल हो जाओ तो यह अद्‌भुत बात होगी। कैसे यह दौड़ा करता है! वह तो आवारागर्दी है। जब मैंने मस्तिष्कमें शिथिलीकरणकी चर्चा की थी तब मेरा मतलब इसी बातसे था। यदि तुम इसे सचमुच अच्छे ढंगसे करो तो तुम्हारा मस्तिष्क एक नीरव विश्रांतिके अंदर प्रवेश कर जाता है और यह बड़ी अद्‌भुत चीज है; जब तुम इसे प्राप्त कर लेते हो, उसमें पांच मिनट रह जाते हो तो तुम उसके बाद एकदम तरोताजा हो जाते हो, तुम अनगिनत समस्याओंका समाधान कर सकते हो।

यदि मस्तिष्क सर्वदा काम करता रहता है तो रात भरमें जो कुछ घटित होता है वह हमें क्यों नहीं याद रहता?

क्योंकि चेतना जब काम कर रही थी तब उसे तुमने नहीं पकड़ा। और फिर शायद इस कारण कि जो कुछ तुम्हारे मस्तिष्कमें उस समय हो रहा था उसे यदि तुम याद रखते तो तुम बहुत भयभीत हो जाते! वास्तवमें वह सब पागलखानेके जैसा है, ये सब विचार जो संघर्ष करते हैं, मस्तकमें राजसी नृत्य करते रहते हैं! यह सब ऐसा है मानों तुम एक साथ सभी दिशाओंमें गेंद फेंक रहे होओ। सो, तुम यदि उसे देखते तो उससे थोड़ा घबड़ा जाते।

श्रीअरविंद यहां लिखते हैं: "'प्रकाश' की जो 'शक्तियां' सहायता करना चाहती हैं अथवा जिन्हें इसके लिये अनुमति दी गयी है, वे बहुत थोड़ी हैं और अल्प समयके लिये ही आती हैं।" ऐसा क्यों?

तुम्हें जाकर उन्हींसे पूछना चाहिये! परंतु वहां एक निष्कर्ष है, अंतिम वाक्य बहुत स्पष्ट व्याख्या देते हैं। वहां कहा गया है: "नहीं तो, क्या अमरता

कोई खिलौना है जो बिना सोचे किसी बच्चेको दे दिया जाय, अथवा क्या दिव्य जीवन कोई पुरस्कार है जो बिना प्रयास किये प्राप्त हो या ऐसा मुकुट है जो किसी निर्बल मनुष्यके लिये अभिप्रेत हो?"...यहां हम इस प्रश्नपर वापस आ जाते हैं कि विरोधी शक्तियोंको हस्तक्षेप करनेका, तुम्हें परेशान करनेका अधिकार क्यों दिया गया है। परंतु यथार्थमें यह परीक्षा है जो तुम्हारी सच्चाईकी जांच करनेके लिये आवश्यक है। यदि पथ बहुत सुगम होता तो प्रत्येक व्यक्ति पथपर चल पड़ता, और यदि बिना किसी बाधा और बिना किसी प्रयासके लक्ष्यतक पहुंचना संभव होता तो प्रत्येक व्यक्ति लक्ष्यतक पहुंच जाता, और जब मनुष्य अंततक पहुंच जाता तो परिस्थिति ठीक वैसी-की-वैसी ही रहती जैसी कि वह प्रारंभ करनेके समय थी, जरा भी परिवर्तन नहीं होता। इसका मतलब है कि नवीन जगत् ठीक वैसा ही होता जैसा कि पुराना जगत् अबतक रहा है। पर वास्तवमें यह चीज इस योग्य नहीं कि इसके लिये कष्ट उठाया जाय! स्पष्ट ही बहिष्करणकी एक प्रक्रियाकी आवश्यकता है जिसमें कि बस वही चीज रह जाय जो नवीन जीवनको अभिव्यक्त करनेमें समर्थ है। कारण यही है, कोई और नहीं, यही सर्वोत्तम कारण है। और, हां, यह एक प्रकारका अनुकूलीकरण है, यह अग्नि-परीक्षा है, जो वस्तु इस परीक्षामें टिकी रह सकती है केवल वही पूर्णतः शुद्ध होती है; जब सब कुछ जलकर राख हो जाता है तो वहां बना रहता है केवल शुद्ध सोनेका एक नन्हा-सा डला। और यह सब ठीक ऐसा ही है। इन सब चीजोंमें जो बहुत कुछ जोड़ देता है वह है दोष-त्रुटि, पाप, उद्धार आदिका धार्मिक विचार। परंतु सच पूछा जाय तो इसमें कोई मनमाना निर्णय नहीं है! इसके विपरीत, प्रत्येक व्यक्तिको सर्वोत्तम तथा अत्यंत अनुकूल परिस्थितियां ही प्रदान की गयी हैं। उस दिन हम कह रहे थे कि वास्तवमें केवल अपने सुहृदोंके साथ ही भगवान् कठोरतापूर्वक व्यवहार करते हैं; तुमने समझा था कि यह एक मजाक है, पर यह वास्तवमें सच है। सच पूछो तो जो लोग आशासे भरे होते हैं, जो इस पावन लौके भीतरसे गुजरेंगे, केवल उन्हींको अधिक-से-अधिक फल प्राप्त करनेके लिये परिस्थितियां दी जाती हैं। और मनुष्यका मन इस प्रकारका बना हुआ है कि तुम इसकी परीक्षा कर सकते हो; जब कोई अत्यंत दुःखद घटना तुम्हारे साथ घटती है तो तुम स्वयं अपने-आपसे कह सकते हो, "हां, इससे यह सिद्ध होता है कि मैं इस योग्य हूं कि मुझे यह कठिनाई देनेका कष्ट उठाया जाय, इससे सिद्ध होता है कि मेरे अंदर कोई ऐसी चीज है जो इस कठिनाईका मुकाबला कर सकती है," और तुम देखोगे कि शोकसंतप्त होनेकी जगह तुम प्रफुल्लित होगे—

तुम इतने प्रसन्न और शक्तिशाली हो जाओगे कि अत्यंत कष्टकर चीजें भी तुम्हें अतीव मनोहर प्रतीत होंगी! यह परीक्षण करना बहुत आसान है। चाहे जो भी परिस्थिति हो, यदि तुम्हारा मन उसे किसी अनुकूल वस्तुके रूपमें देखनेका अभ्यासी हो तो वह तुम्हारे लिये जरा भी कष्टदायी नहीं रहेगी। यह बिलकुल सुपरिचित बात है; जबतक मन किसी चीजको स्वीकार करनेसे इंकार करता है, उससे संघर्ष करता है, उसे बाधा पहुंचानेकी कोशिश करता है, तबतक मनुष्यके अंदर यंत्रणाएं, कठिनाइयां, तूफान, आंतरिक संघर्ष तथा समस्त दुःख-क्लेश रहते ही हैं। परंतु जिस क्षण मन यह कहता है, "बहुत अच्छा, यही चीज है जिसे आना था, बस, इसी तरह इसे घटित होना था," जो कुछ होता है उससे तुम संतुष्ट रहते हो। ऐसे लोग हैं जिन्होंने अपने शरीरपर अपने मनका ऐसा संयम प्राप्त कर लिया है कि वे कुछ भी अनुभव नहीं करते; उस दिन मैंने कतिपय गुह्यवादियोंके विषयमें यही बात कही थी; यदि वे यह समझते हैं कि जो यातना उन्हें पहुंचायी जा रही है वह उन्हें एक क्षणमें अपनी चेतनाके वर्तमान स्तरोंको पार करनेमें और 'सिद्धि' प्राप्त करने, अपने सामने रखे हुए लक्ष्यको प्राप्त करने, भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करनेके लिये उन्नतिके एक साधनके रूपमें सहायता करेगी तो फिर वे बिलकुल ही यातनाका अनुभव नहीं करते। ऐसा लगता है मानों उनके शरीरपर मानसिक विचारकी कलई चढ़ गयी हो। ऐसी बात बहुत बार घटित हो चुकी है; यह उन लोगोंका बहुत सामान्य अनुभव रहा है जिनमें वास्तवमें तीव्र धर्मानुराग रहा है। और आखिरकार, यदि मनुष्यको किसी-न-किसी कारण अपना शरीर छोड़ना और नया शरीर लेना ही हो तो क्या यह अधिक अच्छा नहीं है कि मृत्युको कोई वीभत्स पराजय बनानेकी जगह कोई भव्य, हर्षयुक्त और उत्साहपूर्ण वस्तु बना दिया जाय? जो लोग जीवनसे चिपके रहते हैं, जो एक या दो क्षण भी अपना अंत रोक रखनेके लिये प्रत्येक संभवनीय उपायसे चेष्टा करते हैं, जो तुम्हारे सामने भीषण वेदनाका उदाहरण रखते हैं, वे यह साबित करते हैं कि वे अपनी अंतरात्माके विषयमें सचेतन नहीं हैं... । तो भी, यह शायद एक साधन है, है न? मनुष्य इस घटनाको एक साधनमें बदल सकता है; यदि मनुष्य सचेतन हो तो वह, प्रत्येक चीजकी तरह, इसे एक सुन्दर वस्तु, बहुत सुन्दर वस्तु बना सकता है। और ध्यान दो, जो लोग इससे नहीं डरते, जो बेचैन नहीं होते, जो बिना किसी मलिनताके मर सकते हैं, वे ऐसे लोग होते हैं जो कभी मृत्युकी बात नहीं सोचते, अपने सम्मुख उपस्थित इस "संत्रास" से बराबर घिरे नहीं रहते जिससे कि उन्हें अवश्य बचना है और जिसे वे

अपनेसे जितनी दूर संभव हो उतनी दूर धकेलनेकी कोशिश भी करते हैं। ऐसे लोग जब अवसर उपस्थित होता है, अपना मस्तक उठा सकते और हंसते हुए कह सकते हैं कि "मैं यहां हूं।"

बस, ये ही लोग हैं जिनमें अपने जीवनका यथासंभव सर्वोत्तम उपयोग करनेका संकल्प होता है, ये ही लोग हैं जो कहते हैं, "जबतक आवश्यक है, तबतक उसके अंतिम क्षणतक, मैं यहां बना रहूंगा और मैं अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिये एक क्षण भी नहीं खोऊंगा;" ये ही लोग, जब आवश्यकता पड़ती है, सर्वोत्तम दृश्य उपस्थित करते हैं। क्यों? — यह बहुत सरल है, क्योंकि वे अपने आदर्शमें निवास करते हैं, अपने आदर्शके सत्यमें रहते हैं; क्योंकि उनके लिये वही सच्ची वस्तु होती है, उनकी सत्ताका एकदम कारण होती है, और सभी वस्तुओंमें वे इस आदर्शको, सत्ताके इस कारणको देख सकते हैं, और वे कभी भी स्थूल जीवनकी गंदगीमें नीचे नहीं उतरते।

अतएव, निष्कर्ष यह रहा:

कभी मृत्युकी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

कभी मरनेका संकल्प नहीं करना चाहिये।

कभी मरनेसे भयभीत नहीं होना चाहिये।

और सभी परिस्थितियोंमें अपने-आपको अतिक्रम करनेका संकल्प बनाये रखना चाहिये।

२६ अप्रैल, १९५१

"...इस मिथ्या और आलस्यपूर्ण आशाको भी त्याग दो कि भागवती 'शक्ति' तुम्हारे लिये समर्पण भी कर देंगी। भगवान् भागवती 'शक्ति'के प्रति तुम्हारा समर्पण चाहते तो हैं, परंतु किसीसे जबर्दस्ती आत्मसमर्पण नहीं कराते: जबतक अपरिवर्तनीय रूपांतर नहीं हो जाता तबतक तुम भगवान् को अस्वीकार करने और त्याग देनेके लिये अथवा अपने आत्मदानको वापस लेनेके लिये प्रत्येक क्षण स्वतंत्र हो, यदि तुम उसका आध्यात्मिक फल भोगनेको तैयार हो।"

—श्रीअरविंद: 'माता'

"अपरिवर्तनीय रूपांतर" का क्या अर्थ है?

रूपांतर उस समय अपरिवर्तनीय हो जाता है जब तुम्हारी चेतना इस ढंगसे रूपांतरित हो जाती है कि अब तुम अपनी पुरानी स्थितिमें कभी वापस नहीं जा सकते। एक ऐसा क्षण आता है जब परिवर्तन इतना पूर्ण हो जाता है कि जो कुछ मनुष्य पहले था वह फिर कभी वैसा बन जाना असंभव हो जाता है।

क्या स्वयं रूपांतरका ही यह मतलब नहीं होता कि वह अपरिवर्तनीय होता है?

रूपांतर आंशिक भी हो सकता है। श्रीअरविंद यहां जिस रूपांतरकी चर्चा करते हैं वह चेतनाका उलट जाना है: अहंकारपूर्ण होने और व्यक्तिगत संतुष्टिकी ओर मुड़ी होनेके बदले, चेतना समर्पणभावमें भगवान्‌की ओर मुड़ी होती है। और उन्होंने स्पष्ट रूपमें यह समझाया है कि प्रारंभमें समर्पण आंशिक हो सकता है — सत्तामें ऐसे भाग होते हैं जो समर्पण करते हैं और ऐसे भाग भी होते हैं जो समर्पण नहीं करते। अतएव जब समूची सत्ता, सर्वांग रूपसे, अपनी सभी गतिविधियोंमें अपना समर्पण कर देती है केवल तभी वह समर्पण अपरिवर्तनीय होता है। यह मनोभावका अपरिवर्तनीय रूपांतर होता है।

भागवती 'शक्ति' और दिव्य 'शक्ति' (Power) में क्या अंतर है?

दिव्य 'शक्ति' भागवती 'शक्ति' का केवल एक अंश है; दिव्य 'शक्ति' भागवती 'शक्ति' का एक गुण है। श्रीअरविंद यहां भागवती 'शक्ति' शब्दका व्यवहार चित्-तपस्‌के, सृजनकारी शक्ति, सृजनात्मिका चेतनाके अर्थमें कर रहे हैं; फलतः दिव्य 'शक्ति' भागवती 'शक्ति' का केवल एक अंश है।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं): "**....प्रायः यह भूल हुआ करती है कि तामसिक निष्चेष्टताको वास्तविक समर्पण समझ लिया जाता है, पर तामसिक निश्चेष्टतासे किसी भी सत्य और शक्तिशाली पदार्थका उद्‌भव नहीं हो सकता। अपनी तामसिक**

निश्चेष्टताके कारण ही भौतिक प्रकृति प्रत्येक तामस या आसुरिक प्रभावका शिकार बना करती है। भागवती 'शक्ति'के कार्य करनेके लिये साधकमें उसके प्रति ऐसा आत्मदान होना चाहिये जो प्रसन्न, प्रबल और सहायक हो....।"

(वही)

"प्रसन्न, प्रबल, और सहायक आत्मदान" से क्या तात्पर्य है?

तुम जानते हो कि प्रसन्न होनेका क्या मतलब है? तुम जानते हो कि बलशाली होनेका क्या मतलब है? तुम जानते हो कि सहायक होनेका क्या मतलब है? हां तो, समर्पण अर्थात् भगवान्‌के प्रति आत्मदान प्रसन्न, हर्षयुक्त होना चाहिये, उल्लासके साथ किया जाना चाहिये; उसे प्रबल होना चाहिये, हमें अपने-आपको दुर्बलता और अशक्ततताके वश नहीं देना चाहिये बल्कि सक्रिय और शक्तिशाली संकल्पके साथ देना चाहिये। और फिर आत्मसमर्पणको एकदम निश्चेष्ट नहीं होना चाहिये: यह भाव नहीं होना चाहिये कि "मैंने आत्मसमर्पण कर दिया है, मुझे जीवनमें अब इससे अधिक कुछ नहीं करना है, मुझे बस शांत-स्थिर बने रहना है, मेरा समर्पण तो हो ही गया है।" इसे सहायक होना चाहिये, तात्पर्य उसे सक्रिय होना चाहिये — उसे सत्ताका रूपांतर करनेका भार लेना चाहिये अथवा कोई उपयोगी कार्य करना चाहिये।

"तुम्हारा समर्पण किसी सजीव सत्ताका समर्पण होना चाहिये, किसी जड़ कठपुतली या परवश यंत्रका-सा नहीं।"

(वही)

तुम, उदाहरणार्थ, अपनी घड़ीके समर्पणकी बात कह सकते हो: तुम उसमें चाभी दे देते हो और वह चलती रहती है, परंतु यह कोई सचेतन सहयोगिताका प्रत्युत्तर नहीं है।

"रूपांतर होना चाहिये सर्वांगीण, और इसलिये जो कुछ उस रूपांतरमें बाधक है उसका त्याग भी होना चाहिये सर्वांगीण।"

यह अच्छी तरह जानी हुई बात है। केवल भावात्मक क्रियाका होना ही

पर्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ परित्यागकी अभावात्मक क्रिया भी अवश्य होनी चाहिये। कारण, जबतक तुम अपनी सत्तामें ऐसे तत्त्वोंको आश्रय देते हो जो रूपांतरणका विरोध करते हैं, तबतक तुम स्थायी रूपांतरण नहीं सिद्ध कर सकते। यदि तुम अपने अंदर अंधकारपूर्ण चीजोंको आश्रय प्रदान करो, वे कुछ समय नीरव और निश्चल बनी रह सकती हैं, इतनी अच्छी तरह रह सकती हैं कि तुम उन्हें कोई महत्त्व ही न दो, और एक दिन वे फिरसे जाग्रत् हो जायंगी और तुम्हारा रूपांतर उनका प्रतिरोध करनेमें समर्थ नहीं होगा। केवल आत्मदानकी भावात्मक क्रिया ही नहीं, बल्कि इस आत्मदानका विरोध करनेवाली अपने अंदरकी प्रत्येक चीजके परित्याग-की अभावात्मक क्रिया भी आवश्यक है। तुम्हें चीजोंको "इसी तरह", कहींपर गड़ी हुई, इस रूपमें नहीं छोड़ देना चाहिये कि प्रथम अवसर पाते ही वे जाग पड़ें और तुम्हारे सारे कार्यको व्यर्थ कर दें। सत्ताके कुछ भाग ऐसे हैं जो यह भली प्रकार जानते हैं कि इसे कैसे किया जाता है; प्राणके कुछ अंश ऐसे हैं जो इस दृष्टिकोणसे असाधारण हैं; वे शांत पड़े रहते हैं, एक कोनेमें छिपे रहते हैं, इतने पूर्ण रूपसे नीरव और निश्चल बने रहते हैं कि तुम समझते हो कि वे हैं ही नहीं; अतएव तुम अब बिलकुल सावधान नहीं रहते, तुम अपने रूपांतरण और समर्पणसे संतुष्ट रहते हो, तुम समझते हो कि सब कुछ अच्छी तरह चल रहा है, और तब, अचानक, एक दिन, चेतावनी दिये बिना, वह चीज स्प्रिंगदार खिलौनेकी तरह उछल पड़ती है और तुमसे सब प्रकारकी मूर्खताएं करवाती है। और दबी — दबी, और एक कोनेमें जोरसे बंद — रहनेके कारण अधिक शक्ति-शाली होती है, वह इस भांति बनी रही है मानों गाड़ दी गयी हो जिसमें कि वह तुम्हारा ध्यान आकर्षित न करे, वह बहुत, बहुत अधिक चुपचाप बनी रही है, और जिस क्षण तुम इस बातकी कोई आशा नहीं करते हो, वह उछल पड़ती है और तुम अपने-आपसे कहते हो, "ओह! मेरे समस्त रूपांतरणका आखिर क्या लाभ हुआ?" वह चीज बनी रही, और इसलिये ऐसा घटित हुआ। यह सब ठीक ऐसा ही होता है, ये चीजें वहां बनी रहती हैं और इतनी अच्छी तरह छिपी रहती हैं कि यदि तुम एक सुप्रका-शित दीपकके साथ उनकी खोज करने न जाओ तो तुम उस दिनतक यह नहीं जानोगे कि वे यहां हैं, जिस दिनतक कि ये एक मुहूर्त्तमें तुम्हारा सारा कार्य बर्बाद कर देनेके लिये बाहर नहीं निकल आतीं।

क्या ऐसा तब भी घटित होता है जब कि मनुष्यमें महान् अभीप्सा होती है?

अभीप्सा बहुत जाग्रत् होनी चाहिये।

मैं ऐसे लोगोंको (बहुत लोगोंको) केवल थोड़े लोगोंको नहीं, मेरा मतलब ऐसे लोगोंसे है जो योग करते हैं) जानती हूं, मैं ऐसे बहुत-से लोगोंको जानती हूं जिनमें प्रत्येक बार एक सुन्दर अभीप्सा होती थी, और उनकी अभीप्सा बहुत प्रबल होती थी, और उन्हें इस अभीप्साका उत्तर भी मिलता था, और प्रत्येक बार, ठीक उसी दिन अथवा देर-से-देर दूसरे दिन, उनकी चेतना पूरी तरह उलट जाती और वे अपनी अभीप्साके ठीक उलटी चीजके सम्मुखीन हो जाते थे। ऐसी चीजें प्रायः अतर्कित घटित होती हैं। हां, ऐसे लोग केवल भावात्मक पक्षको ही विकसित करते हैं। वे एक प्रकारसे अभीप्सा करनेका नियम बना लेते हैं, सहायताकी प्रार्थना करते हैं, उच्चतर शक्तियोंके संपर्कमें आनेकी कोशिश करते हैं, वे इसमें सफल होते हैं, उन्हें अनुभव प्राप्त होते हैं; परंतु वे अपने कमरेकी सफाईकी पूर्ण उपेक्षा करते हैं; वह सदाकी तरह ही गंदा बना रहता है, और इसलिये, स्वभावतः ही, जब अनुभव आकर चला जाता है, यह गंदगी पहलेसे भी और अधिक वीभत्स बन जाती है।

अपने कमरेकी सफाईकी कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिये, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। आंतरिक स्वच्छता कम-से-कम उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कि बाहरी स्वच्छता।

विवेकानंदने लिखा है (मुझे मूलका पता नहीं, मैंने केवल फ्रेंच अनुवाद पढ़ा था: "मनुष्यको रोज सवेरे अपनी आत्मा और अपने शरीरको साफ करना चाहिये, पर यदि तुम्हें दोनोंके लिये समय न हो तो शरीरको साफ करनेकी अपेक्षा आत्माको साफ करना कहीं अधिक अच्छा है।"

हम यह कैसे जान सकते हैं कि "नन्हीं गन्दगियां" छिपी पड़ी हैं या बाहर निकल गयी हैं?

मनुष्य सर्वदा ही छोटे-छोटे परीक्षण करनेका प्रयत्न कर सकता है। मैंने कहा है कि मनुष्यको एक मशालका, एक तीव्र प्रकाशका उपयोग करना चाहिये: फिर अपनी सत्ताके अंदर चारों ओर चक्कर लगाना चाहिये। यदि मनुष्य बहुत सावधान हो तो वह बहुत आसानीसे इन कुत्सित कोनोंको खोज सकता है। मान लो, तुम्हें एक सुंदर अनुभव प्राप्त हुआ है, तुम्हारी अभीप्साके उत्तरमें एकाएक एक महान् ज्योति आ गयी है; तुम अपनी समस्त सत्तामें हर्ष, शक्ति, ज्योति, सौंदर्यकी बाढ़ अनुभव करते हो, और तुम्हें ऐसी धारणा होती है कि तुम रूपांतरित होनेकी ठीक स्थितिमें आ

गये हो..... और उसके बाद, वह स्थिति चली जाती है — वह सदाके लिए ही चली जाती है, चली जाती है न? विशेषकर प्रारंभमें — अचानक, वह (अनुभव) बंद हो जाता है। तब तुम, जब तुम सर्तक नहीं होते, अपने-आपसे कहते हो, "देखो, वह चीज आयी और चली गयी! मैं अभागा हूं! वह आयी और चली गयी, उसने बस उस चीजका एक स्वादभर दिया और फिर मुझे उसी स्थितिमें गिर जाने दिया।" परंतु यह मूर्खता है। तुम्हें अपने-आपसे कहना यह चाहिये कि "देखो, मैं इसे रख नहीं सका, और मैं इसे रखनेमें असमर्थ क्यों रहा?" तो, तुम अपना दीप अपने हाथमें लो और अपने अंदर चक्कर लगाना शुरू करो और चेतनाके परिवर्तन तथा अनुभवके बंद होनेके साथ लगी क्रियाओंके बीच क्या घनिष्ठ संबंध है इसे ढूंढ़ निकालनेकी कोशिश करो। और तुम यदि बहुत, बहुत सतर्क होओ, और अत्यंत सावधानीके साथ चक्कर लगाओ तो तुम देखोगे कि सहसा प्राणका कोई भाग या मनका अथवा शरीरका कोई भाग, कोई वस्तु आ गयी जिसने उसे अब रहने नहीं दिया। इस अर्थमें कि मानसिक रूपमें, निश्चल और सजग रहनेके बदले, किसी चीजने यह पूछना आरंभ कर दिया कि "जरा ठहरो, यह अनुभव है क्या चीज? इसका तात्पर्य क्या है?....." उसने कोई व्याख्या खोजनेकी, जिसे वह "समझना-बूझना" कहती है, चेष्टा करना आरंभ कर दिया। अथवा हो सकता है कि प्राणके अंदर किसी चीजने उस अनुभवका उपयोग करना आरंभ कर दिया हो: "कितना सुखद है यह, मैं कितना चाहती हूं कि यह और भी अधिक हो, कितना अच्छा हो यदि यह सतत बना रहे.....!" अथवा शरीरके अंदर किसी चीजने कहा हो, "ओह! इसे बर्दाश्त करना थोड़ा कठिन है, कितनी देरतक मैं इसे बनाये रख सकूंगा?" संभवतः बात उतनी स्पष्ट नहीं है; पर वह एक नन्हा-सा टुकड़ा होता है जो उस प्रकार, कहींपर छिपा होता है। तुम सर्वदा इन तीन चीजोंमेंसे कोई एक, अथवा मिलती-जुलती चीज पाओगे। फिर वहां दीपककी आवश्यकता होती है: कहां है वह दुर्बल स्थान? कहां है अहंकार? कहां है कामना? कहां है वह पुरानी गंदगी जिसे अब हम नहीं चाहते? कहां है वह वस्तु जो अपने-आपको दे देने, अपनेको खोल देने, अपने-आपको खो देनेके बदले स्वयं अपनी ओर ही वापस मुड़ जाती है, जो स्वयं अपनी ओर ही वापस मुड़ जाती है, जो कुछ चल्लि हुआ है उसका लाभ उठानेकी कोशिश करती है, अनुभवका फल स्वयं अपने उपयोगमें लाना चाहती है; अथवा जो अनुभूतिकी क्रियाका अनुसरण करनेमें अत्यंत असमर्थ, अत्यंत कठोर, अत्यंत अनम्य है?..... बस, यही बात है, अब तुम रास्तेपर हो, तुमने जो प्रकाश अभी पाया है उसे

ठीक-ठीक उसके ऊपर डालना आरंभ करो, बस, यही चीज तुम्हें करनी होगी, उसके ऊपर प्रकाशको फोकस करना होगा, प्रकाशको इस प्रकारसे घुमाना होगा कि वह चीज उसे सहन न कर सके।

एकदम पहले ही दिन तुम इसमें सफलता नहीं प्राप्त कर सकोगे, परंतु तुम्हें इसे निरंतर करते रहना होगा और धीरे-धीरे या शायद एक दिन वह विलीन हो जायगी। तब तुम कुछ समय बाद यह देखोगे कि तुम अब दूसरे व्यक्ति हो।

परंतु तुम यदि वैसा मनोभाव ग्रहण करो जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुकी हूं और 'भगवत्कृपा' और 'ज्योति'पर दोषारोपण करो, यदि तुम अपने-आपसे कहो, "देखो, वह अनुभव चला गया और मुझे मझधारमें छोड़ गया," तुम विश्वास रखो कि अबसे तीस, चालीस, पचास वर्षोंके बाद भी तुम ठीक उसी स्थानपर बने रहोगे, तुम जरा भी परिवर्तित नहीं होगे। तुम्हारे अंदर सदा ही कोई ऐसी चीज बनी रहेगी जो एकाएक उठ खड़ी होगी और तुम्हारे अनुभवको निगल जायगी। और तब, प्रगति करनेके बदले, तुम वहीं चिपके रहोगे और पैर पटकते रहोगे क्योंकि तुम आगे नहीं बढ़ सकोगे। परंतु तुम यदि तुरत अवसरको ग्रहण करो.....। ध्यान रखो, कभी-कभी इससे थोड़ी पीड़ा हो सकती है, यदि तुम जाकर उस वस्तुपर निर्दयतापूर्वक ज्योति डालो जो अनुभवका उपयोग करना चाहती है या ज्ञान पाना या मानसिक समझके द्वारा अनुभवपर अधिकार पाना चाहती है, या अनुभवको ग्रहण करने और उसे धारण करने अथवा यथेष्ट तेजीसे परिवर्तित होनेके लिये आवश्यक प्रयास करनेमें अत्यधिक आलसी है, यदि तुम उस चीजपर अपनी चेतनाकी ज्योतिके साथ दृढ़तापूर्वक संकल्पका प्रयोग करो तो उससे थोड़ा-सा कष्ट हो सकता है। और तुम अपने-आपसे कहो, "ओह! इतनी तेजीसे नहीं! मुझे आरामकी जरूरत है, मैंने निरर्थक अपने-आपको थका दिया।" तब प्रत्येक चीज पूरी-की-पूरी तुम्हें फिरसे आरंभ करनी होगी। उस अनुभवके वापस आये बिना कभी-कभी तो कई दिन, यहांतक कि कई महीने, कभी-कभी कई वर्ष निकल जायंगे। कभी-कभी, यदि तुम अपनी अभीप्सामें थोड़ा अधिक सक्रिय और तीव्र होओ, वह शीघ्र वापस आयेगा। परंतु तुम यदि फिर उसी मूर्खताको दुहराओ तो वही बात घटित होगी — और तुम यदि, तुरत, बहुत सावधान हो जाओ और जब मन यह समझनेके लिये चारों ओर खोजना आरंभ करे कि क्या घटित हो रहा है तो तुम उससे कहो, "चुप, शांत रहो", तब अनुभव बना रह सकता है। जब प्राण यह कहना आरंभ करता है, "मैं और और, अधिक और अधिक चाहता हूं.....," तो तुम कहो, "चुप, चुप, जरा भी

हिलो मत, शांत बने रहो, उत्तेजित मत होओ।" अथवा जब भौतिक सत्ता यह कहेती है, "ओह! मैं तो चूर-चूर हो जाऊंगी....," तुम कहो, "कृपया जरा-सा सहन करो; तुम बड़ी कायर हो, तुम नहीं जानती कि परीक्षाके समय कैसे टिके रहना चाहिये।" यदि तुम ठीक समयपर, आवश्यक शांतिके साथ, आवश्यक निश्चय और संकल्पके साथ ऐसा कर सको तो तुम कुछ-न-कुछ प्राप्त कर लोगे। परंतु तुम यदि उस तरह करो, निष्क्रिय, निष्क्षम, भाग्यवादी बने रहो, और अपने-आपसे कहो, "अब मैंने अपनेको समर्पित कर दिया है, जो कुछ होना हो वह हो, हम देखेंगे कि क्या होने जा रहा है, बस," तब, समझे, मैं विश्वास दिलाती हूं, पचास वर्षोंमें तुम एक रत्ती भी नहीं बदलोगे।

पिछले पाठके समय मैंने तुम लोगोंसे कहा था कि यह इतना आसान नहीं है....। यदि तुम इसे करना चाहो तो तुम्हें इसे यथार्थ रूपमें करना चाहिये, नहीं तो इसके लिये कष्ट उठाना उचित नहीं; अधूरे रूपमें कोई काम करना निरर्थक है, हमें उसे अच्छी तरह करना चाहिये।

निस्संदेह, दूसरे मार्ग भी हैं। हो सकता है मनुष्य अपने-आपको पूर्ण बनानेकी कोशिश ही न करे। वह अधिकाधिक तल्लीनकारी कार्योंके अंदर अपने-आपको भूलनेका प्रयास कर सकता है; अर्थात् जिस कामको वह कर रहा है उसीको भगवदर्पित बुद्धिसे, पूर्णतः निःस्वार्थभावसे करता है, परंतु करता है परिपूर्णता, आत्मदान, संपूर्ण आत्मविस्मरणके साथ: वह अब और अपने विषयमें नहीं सोचता, बल्कि जो कुछ करता है उसके विषयमें सोचता है। तुम यह बात जानते हो, मैंने तुमसे पहले भी यह बात कही है: यदि तुम कोई कार्य सुचारु रूपसे करना चाहते हो, वह कार्य चाहे जो भी क्यों न हो, किसी प्रकारका क्यों न हो, चाहे जितना छोटा हो, कोई खेल खेलना हो, कोई पुस्तक लिखनेका कार्य हो, चित्रकारी या संगीतसंबंधी कार्य हो, किसी दौड़में भाग लेना हो, कोई भी चीज क्यों न हो, यदि तुम उसे अच्छे रूपमें करना चाहते हो तो तुम्हें बस वही बन जाना होगा जो तुम कर रहे हो और एक तुच्छ व्यक्ति नहीं बने रहना होगा जो उसे करते हुए अपने-आपको देख रहा हो; क्योंकि यदि कोई अपने-आपको कार्य करते हुए देखता है तो वह.... वह अभी भी अहं-कारको साथ सहभागी होता है। यदि, अपने अंदर, वह वही चीज बन जानेमें सफल होता है जिसे वह करता है तो यह एक महान् प्रगति है। कार्यके छोटे-से-छोटे ब्योरेमें भी हमें ऐसा करना सीखना होगा। एक बहुत मजेदार उदाहरण लें: तुम किसी बोतलसे कोई चीज दूसरी बोतलमें भरना चाहते हो; तुम एकाग्र होते हो (तुम एक अनुशासनके रूपमें,

एक अभ्यासके रूपमें इसे करनेकी चेष्टा कर सकते हो); हाँ तो, जबतक तुम भरी जानेवाली बोतल, जिससे तुम ढालते हो वह बोतल और ढालनेकी क्रिया बने रहते हो, जबतक तुम केवल वही सब बने रहते हो, सारा कार्य ठीक चलता है। परंतु दुर्भाग्यवश, यदि तुम किसी मुहूर्त्त यह सोचते हो: "आह! यह सब ठीक चल रहा है, मैं अच्छी तरह इसे कर रहा हूँ," दूसरे ही क्षण वह चीज बाहर ढरक जाती है! बस, यही बात प्रत्येक चीजके लिये, प्रत्येक चीजके लिये है। इसी कारण कर्म अनुशासनका एक अच्छा साधन है, क्योंकि यदि तुम उचित ढंगसे कार्य करना चाहो तो तुम्हें कार्य करनेवाला कोई व्यक्ति बने रहनेकी जगह स्वयं वह कार्य ही बन जाना होगा, अन्यथा तुम उसे कभी भली-भांति नहीं कर सकोगे। यदि तुम "काम करनेवाला कोई व्यक्ति" बने रहो और, इसके साथ ही, तुम्हारे विचार इधर-उधर भटकते रहें तो तुम निश्चित रूपसे यह मान सकते हो कि यदि भंगुर वस्तुओंके साथ तुम व्यवहार करते हो तो वे अवश्य टूट जायंगी, यदि तुम भोजन बना रहे हो तो तुम कोई चीज जला दोगे, अथवा यदि तुम कोई खेल खेल रहे हो तो सभी गेंदें तुम्हारे हाथसे निकल जायंगी! बस, यहींपर, इसी विषयमें, कार्य एक बहुत बड़ा अनुशासन है। कारण, तुम यदि सचमुच उसे अच्छे ढंगसे करना चाहते हो तो उसे करनेका केवल यही तरीका है।

उदाहरणके लिये किसी व्यक्तिको ले लो जो एक पुस्तक लिख रहा है! यदि वह पुस्तक लिखते समय अपनी ओर दृष्टि लगाये तो तुम अनुमान नहीं लगा सकते कि कितनी नीरस वह पुस्तक बन जायगी; उसमें तुरत तुच्छ मानवीय व्यक्तित्वकी गंध आती है जो उसमें होती है और उसके कारण वह पुस्तक अपना समस्त मूल्य खो देती है। जब कोई चित्रकार कोई चित्र आंकता है तब वह यदि चित्र बनाते समय अपनी ओर नजर रखे तो वह चित्र कभी अच्छा नहीं होगा, उसमें बराबर ही चित्रकारके व्यक्तित्वका एक प्रकारका प्रक्षेप आ जायगा; वह चित्र जीवनहीन, शक्तिरहित, सौंदर्यविहीन होगा। परंतु यदि, अचानक, वह वही चीज बन जाय जिसे वह व्यक्त करना चाहता है, यदि वह ब्रश, चित्रांकन, कैन्वस, विषय, आकार, रंग, छायालोक, समस्त वस्तु बन जाय, पूर्णतः उसीके अंदर पैठ जाय और वही उसका जीवन बन जाय तो वह कोई उत्कृष्ट वस्तु तैयार कर लेगा।

प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक वस्तुके लिये बस यही बात है। कोई ऐसी चीज नहीं जो यौगिक साधना न बन सके यदि उसे यथार्थ रूपमें किया जाय। और यदि यथार्थ रूपमें न किया जाय तो तपस्याका भी कोई लाभ

नहा हागा और वह तुम्हें कहीं नहीं ले जायगी। क्योंकि यहां भी बात वही है, यदि तुम अपनी तपस्या करो और सर्वदा उसे करते हुए अपनेको देखते रहो और अपने-आपसे कहते रहो, "क्या मैं कोई प्रगति कर रहा हूं, क्या यह अधिक अच्छा हो रहा है, क्या मैं सफल होऊंगा? ...." तो इसका तात्पर्य है कि वास्तवमें तुम्हारा अहं, समझे न, अधिकाधिक विशाल होता जा रहा है और समस्त स्थानको घेरता जा रहा है, और वहां दूसरी किसी चीजके लिये कोई स्थान नहीं है। और उस दिन हमने बताया था कि आध्यात्मिक अहंकार सबसे अधिक बुरा है, क्योंकि यह अपनी हीनताके विषयमें एकदम अचेतन होता है, उसे पूरा विश्वास होता है कि वह कोई बहुत उच्च कोटिकी वस्तु है, भले ही वह पूर्णतः दिव्य न हो!

अब अपनी बात लें। जब तुम स्कूलमें पढ़ते हो, तुम्हें एक ऐसी एकाग्रतामें डूब जाना होगा जो यह पकड़नेकी चेष्टा करती है कि अध्यापक क्या कह रहे हैं, अथवा वह विचार बन जाना होगा जो तुम्हारे भीतर घुसता है अथवा वह ज्ञान बन जाना होगा जो तुम्हें दिया जा रहा है। बस, वही तुम्हें बन जाना होगा। तुम्हें अपने विषयमें नहीं, बल्कि जो कुछ सीखना चाहते हो केवल उसके विषयमें विचार करना चाहिये। और तुम देखोगे कि तुम्हारी क्षमताएं तुरत दुगुनी बढ़ गयी हैं।

जो चीज सबसे अधिक हीनताकी, सीमितताकी, तुच्छताकी, निःशक्तताकी भावना देती है वह बराबर यही चीज होती है — अपनी ओर अपने-आपको मोड़ लेना, अपने-आपको अतिसूक्ष्म अहंकी सीमाओंमें बंद कर लेना। तुम्हें अपने-आपको विस्तारित करना, दरवाजोंको खोलना होगा। और सबसे उत्तम तरीका है स्वयं अपने ऊपर एकाग्र होनेके बदले जो कुछ किया जाय उसपर एकाग्र होनेमें सक्षम होना।

२८ अप्रैल, १९५१

"परंतु जबतक निम्न प्रकृति सक्रिय है तबतक साधकके वैयक्तिक प्रयत्नकी आवश्यकता रहती ही है।"

—श्रीअरविंद : 'माता'

बाहरी रूपमें, मनष्य अपने निजी व्यक्तित्व और अपने निजी प्रयत्नपर

विश्वास करता है। जबतक तुम व्यक्तिगत यत्नपर विश्वास करते हो, तुम्हें अवश्य व्यक्तिगत प्रयास करना चाहिये।

सत्ताका एक भाग ऐसा है जिसे भगवान्‌का एक अंश होनेका बिलकुल ज्ञान नहीं है। समूची बाह्य सत्ताको यह विश्वास है कि वह कोई पृथक्, स्वतंत्र और केवल अपने-आपसे संबंधित वस्तु है। सत्ताके इस भागको अवश्यमेव व्यक्तिगत प्रयत्न करना चाहिये। उससे यह नहीं कहा जा सकता कि "भगवान् तुम्हारे लिये साधना करते हैं," क्योंकि वह भाग कभी कुछ नहीं करेगा, वह कभी परिवर्तित नहीं होगा। जब कोई किसीसे कुछ कहता है तो उसे उसकी भाषाका ही प्रयोग करना चाहिये[1], चाहिये न?

"भौतिक तमस्" क्या चीज है?

तुम उसे नहीं जानते, नहीं जानते? तब, तुम्हें बधाई है! उदाहरणार्थ, क्या कभी तुम्हारे साथ ऐसा नहीं घटित होता कि जब तुम बैठे होते हो तो तुम्हें उठनेकी इच्छा नहीं होती? जब तुम्हें कुछ करना होता है तो तुम कहते हो, "ओह! मुझे यह सब करना होगा ...?"

क्या यह वही चीज है जिसे आलस्य कहते हैं?

पूरी तरह नहीं। निस्संदेह, आलस्य एक प्रकारका तमस् है, पर आलस्यमें एक प्रकारकी कु-इच्छा है, प्रयास करनेकी अस्वीकृति है — जब कि तमस् जड़ता है: मनुष्य कुछ करना चाहता है, पर कर नहीं पाता।

मुझे याद है, बहुत समय आगे, कुछ युवकोंके साथ मैं रहा करती थी।

---

[1]इस वार्तालापको प्रकाशित करनेके समय श्रीमाताजीने निम्नांकित टिप्पणी की: "यह सच नहीं है। यह सच नहीं है क्योंकि यह अत्यंत निरपेक्ष है। हमें बाह्य सत्ताकी भाषाका व्यवहार नहीं करना चाहिये क्योंकि इसकी भाषा पूरी तरह मिथ्या है, बल्कि एक ऐसे ढंगसे बातें कहनी चाहियें कि वह उन्हें समझ सके — यह दूसरी बात है। परंतु ठीक-ठीक ढंगसे बातें कहनेमें बहुत लंबा समय लगता है, यही कारण है कि श्रीअरविंद सर्वदा लंबे वाक्योंका प्रयोग करते हैं और इस ढंगसे कहते हैं कि वे दीर्घ "व्याख्याएं" प्रतीत होते हैं; वे व्याख्याएं नहीं हैं: उनका व्यवहार करनेका उद्देश्य है बातको अधिक सही रूपमें कहना।

एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि जब आप खड़े होनेका निर्णय करती हैं तो आप एक झटकेमें, बिना किसी कठिनाईके, खड़ी हो जाती हैं। उन्होंने मुझसे पूछा, "आप कैसे ऐसा करती हैं? हम लोग जब खड़े होना चाहते हैं, हमें इसे करनेके लिये अपने संकल्प-का प्रयोग करना पड़ता है।" वे इतने आश्चर्यचकित थे और मैं, मैं भी विपरीत बातपर चकित थी। मैं अपने-आपसे पूछा करती, "ऐसा कैसे होता है? जब कोई खड़े होनेका निर्णय कर लेता है तो वह खड़ा हो जाता है।" नहीं, शरीर वहां था, इस भांति, और उसके अंदर इच्छा उत्पन्न करने, उसको खड़ा होने और कार्य करनेके लिये धक्का देनेकी आवश्यकता थी। बस, बात यही है, यही तमस् है। तमस् विशुद्धतः भौतिक वस्तु है; प्राणिक या मानसिक तमस्का होना बहुत विरल है (ऐसा हो सकता है, पर छूतके द्वारा), मेरी समझमें यह प्राणिक या मानसिक तमस् होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक स्नायुओं या मस्तिष्कका तमस् होता है। परंतु आलस्य सर्वत्र है, शरीर, प्राण और मनमें भी। सामान्यतया आलसी लोग सर्वदा अलसी नहीं होते, सब बातोंमें नहीं होते। यदि तुम उनसे ऐसा कार्य करनेको कहो जिसे वे पसंद करते हैं, जिससे वे खुश होते हैं तो वे प्रयास करनेके लिये बिलकुल तैयार होते हैं। आलस्य-में बहुत अधिक कु-इच्छा होती है।

> श्रीअरविंद "भौतिक चेतना और प्रकृतिको उद्घाटित करने और नमनीय बनानेके संकल्प" की बात कहते हैं....।
>
> (वही)

क्योंकि भौतिक चेतना और प्रकृति बंद और कठोर हैं — वे अपनी आदतोंमें बंद हैं, वे परिवर्त्तित होना नहीं चाहतीं, वे केवल एक ही नियमित परिपाटीको स्वीकार करती हैं। शरीरकी अपेक्षा अधिक परिपाटी-बद्ध दूसरी कोई चीज नहीं है। यदि तनिक भी उसकी आदतोंको बदल दो तो वह बिलकुल व्यग्र हो जाता है, उसके बाद उसकी समझमें ही नहीं आता कि क्या करे, वह कहता है, "मुझे क्षमा करो, मुझे क्षमा करो। पर जीवित रहनेका यह कोई तरीका नहीं है।"

जिन लोगोंका प्राण-पुरुष बहुत सक्रिय और सबल होता है वे शरीरको जगानेमें सफल हो सकते हैं, और यदि उनमें साहसिकताकी भावना हो (जैसा कि अधिकांश मानव प्राणि होता है, क्योंकि प्राण-पुरुष साहसिक होता है), शरीर अनुसरण करता है, वह अंतःप्रेरणाका, आंतरिक

आज्ञाका पालन करता है, तब वह परिवर्तनके लिये, नवीनताके लिये अनुमति देता है, परंतु यह उसके लिये एक प्रयत्न होता है। परंतु भौतिक चेतना और भौतिक सत्ताको, दिव्य अंतःप्रेरणा प्राप्त करनेके योग्य तैयार होनेके लिये, अत्यधिक नमनीय होना चाहिये, क्योंकि प्राण जोर-जबर्दस्तीका प्रयोग करता है, वह अपनी इच्छा लादता है, और बेचारे शरीरको उसकी बात माननेके सिवा और कोई चारा नहीं होता, जब कि भगवान् बस ज्योति दिखा भर देते हैं, चैतन्य प्रदान कर देते हैं, और इसलिये सज्ञानता और स्वेच्छाके साथ उसका अनुसरण करना होता है — यहां सहयोगिताका प्रश्न है, जोर-जबर्दस्तीका प्रश्न नहीं। भौतिक सत्ता और भौतिक चेतनाको समस्त आवश्यक परिवर्तनोंके अनुकूल बन जाने-के लिये बहुत अधिक नमनीय होना चाहिये, जिसमें कि वह एक दिन एक प्रकारका होता जाय और दूसरे दिन दूसरे प्रकारका आदि-आदि।

श्रीअरविंद यहां "'ज्योति', 'शक्ति', 'आनंदके' स्थायित्व" की बात कहते हैं।

(वही)

परंतु क्या शक्ति सर्वदा क्रियाशील नहीं होती?

सुनो, एक निष्क्रिय शक्ति भी होती है। इसे तुम्हें कैसे समझाया जाय? देखो, निष्क्रिय शक्ति और सक्रिय शक्तिके बीच वही भेद है जो रक्षात्मक खेल और आक्रमणात्मक खेलके बीच है; समझे? यह ठीक वही बात है। निष्क्रिय शक्ति एक ऐसी वस्तु है जो प्रत्येक वस्तुका सामना कर सकती है, कोई वस्तु उसपर क्रिया नहीं कर सकती, कोई चीज उसे छू नहीं सकती, कोई चीज उसे हिला नहीं सकती — वह अचल-अटल होती है, पर अजेय होती है। सक्रिय शक्ति वह चीज होती है जो कर्मरत होती है, जो कभी-कभी आगे बढ़ती है और कभी-कभी आघात ग्रहण कर सकती है। अर्थात्, यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारी सक्रिय शक्ति सर्वदा विजयी हो तो उसे प्रचुर निष्क्रिय शक्तिका सहारा, अटल आधार प्राप्त होना चाहिये।

तुम जो कहना चाहते हो, मैं समझती हूं.... कि मनुष्य किसी शक्तिके विषयमें केवल तभी सज्ञान होता है जब वह सक्रिय होती है; मनुष्य उसके कार्य किये बिना उसे शक्ति नहीं मानता; यदि वह कार्य नहीं करती तो उसकी ओर उसकी दृष्टि भी नहीं जाती, वह उस महान् शक्तिका अनुभव नहीं करता जो इस निष्क्रियताके पीछे विद्यमान रहती है — कभी-कभी,

यहांतक कि बहुधा कार्य करनेवाली शक्तिकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल शक्ति वहां विद्यमान रहती है। परंतु तुम स्वयं अपने अंदर इसकी परीक्षा करके देख सकते हो, तुम देखोगे कि किसी अधिक अप्रिय चीजके सामने — चाहे वह तुम्हारे विरुद्ध प्रयुक्त शब्द हो या कार्य,— शांत, अचल-अटल, अडिग बने रहना बहुत अधिक कठिन है, उसी उग्रताके साथ उत्तर देनेकी अपेक्षा अनंतगुना अधिक कठिन है। मान लो, कोई आदमी तुम्हारा अपमान करता है; यदि इन अपमानोंके सम्मुख, (केवल बाहरी रूपमें नहीं, मेरा मतलब है सर्वांग रूपसे), किसी प्रकार उनसे ~~प्रकंपित या स्पृष्ट~~ हुए बिना, तुम निश्चल बने रहो: तुम वहां एक ऐसी शक्तिके रूपमें बने रहो जिसके विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता और तुम उत्तर न दो, कोई भी भाव व्यक्त न करो, एक भी शब्द न बोलो, अपने ऊपर निक्षिप्त सभी अपमानोंसे तुम, भीतर और बाहर, पूर्ण रूपसे ~~अस्पृष्ट~~ बने रहो; तुम अपने हृदयके स्पंदनोंको एकदम शांत-स्थिर बनाये रखो, अपने मस्तिष्कमें विचारोंको बिलकुल निश्चल और शांत बनाये रखो और उन्हें जरा भी विक्षुब्ध न होने दो, अर्थात्, तुम्हारा मस्तिष्क तुरत उसी प्रकारके प्रकंपनोंके द्वारा उत्तर न दे और तुम्हारी नाड़ियां अपनी शांतिके लिये बदलेमें कुछ थप्पड़ देनेकी आवश्यकतासे तन न गयी हों; यदि तुम इस प्रकारके बन सको तो कहा जा सकता है कि तुम्हारे अंदर निष्क्रिय शक्ति है, और यह उस प्रकारकी शक्तिसे अनंतगुना अधिक बलशाली है जो तुम्हें अपमानका अपमानके द्वारा, प्रहारका प्रहारके द्वारा और उत्तेजनाका उत्तेजनाके द्वारा उत्तर देनेको बाध्य करती है।

श्रीअरविंद "मूढ़ता, संदेह, अविश्वासके परित्याग" की बात कहते हैं।

(वही)

यदि कोई "मूढ़ताका त्याग करे" तो क्या वह बुद्धिमान् बन सकता है?

तुम्हारा मतलब है कि क्या कोई अपनी मूढ़तासे मुक्त हो सकता है? हां, उसका एक तरीका है। यह आसान नहीं है, पर इसके लिये एक तरीका है। मैं ऐसे लोगोंसे परिचित थी जो अत्यंत मूढ़ थे, सचमुच मूढ़ थे; पर हां, ऐसे लोगोंको अभीप्साके द्वारा सफलता मिली थी — ऐसी अभीप्साके द्वारा जिसका कोई रूप नहीं था, जिसमें अपने-आपको शब्दोंमें व्यक्त करनेकी शक्ति भी नहीं थी — सफलता मिली अपने चैत्य पुरुषके

साथ संपर्क स्थापित करनेसे। . . . वह सतत संपर्क नहीं था, वह क्षणस्थायी था, कभी-कभी बहुत शीघ्र टूट जाता था। परंतु जब वे अपने चैत्य पुरुषके संपर्कमें होते थे, वे अत्यधिक बुद्धिमान् बन जाते थे, वे बहुत अद्भुत बातें बोल जाते थे। मैं एक लड़कीको जानती थी जिसकी कोई शिक्षा नहीं हुई थी, बिलकुल नहीं, जो सचमुच मूर्ख थी; लोग कहते, "इसके लिये कुछ भी नहीं किया जा सकता, कुछ भी करना संभव नहीं।" परंतु जब वह अपने चैत्य पुरुषके संपर्कमें आ जाती वह अत्यंत गंभीर बातोंको समझ लेती और आश्चर्यजनक टिप्पणियां करती। परंतु जब संपर्क टूट जाता वह फिरसे मूर्ख बन जाती। वह कोई स्थायी चीज नहीं होती, केवल वह संपर्क ही उसकी मूर्खताको दूर हटा देता। सो, यह एक कठिन उपचार है, मनुष्यको अपने चैत्य पुरुषके साथ संपर्क स्थापित करना होगा और उसे सर्वदा बनाये रखना होगा।

ऐसी ही मुसलमानोंकी एक पुरानी कहानी ईसाके विषयमें प्रसिद्ध है। तुम यह कहानी जानते ही हो: ईसा बीमारोंको निरोग कर देते थे, लंगड़ोंको चला देते थे, अंधोंको आंखें दे देते थे और यहांतक कि मृतकोंको जिला देते थे। इन सब चमत्कारोंको देखकर कोई व्यक्ति ईसाके पास गया और बोला, "ओह! मेरे पास एक विशेष प्रकारका रोगी है जिसे मैं आपके सामने पेश करना चाहता हूं . . . । हां, मेरा एक लड़का है जो मूर्ख है।" ईसाने अपनी आंखें उठायीं और वह भाग खड़े हुए! मालूम होता है वही एक ऐसी चीज थी जिसे वह नहीं कर सकते थे! निस्संदेह, यह एक मजाक है, यह चीज कठिन है, पर वह संभव है।

> भगवान् समस्त कर्मके पीछे विद्यमान रहते हैं पर वह अपनी योग-मायासे आवृत होते हैं।"
>
> (वही)

हां, वह स्थूल 'प्रकृति' की चेतनासे ढके हुए हैं। अपने मूल रूपमें चेतना ऐसी चीज है जो भगवान्‌को आच्छादित नहीं करती बल्कि उन्हें अभिव्यक्त करती है। अपने बाहरी रूपमें चेतना ऐसी चीज है जो उन्हें छिपा देती है। कुछ लोग कहते हैं कि यह इच्छाकृत है, इसका उद्देश्य है लीलाको अभिनीत होने देना; भगवान् स्थूल 'प्रकृति'के पीछे अपने-आपको इसलिये छिपा देते हैं ताकि वह अपने-आपको ढूंढ़नेके लिये समस्त सचेतन प्राणियोंको बाध्य करें। यहां एक मत है . . . । लोग बहुत-सी बातें कहते हैं।

अधिकतर दर्शन-शास्त्रोंकी एक सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उन्होंने सत्ताके विभिन्न स्तरोंको, व्यक्ति-सत्ताके विभिन्न क्षेत्रोंको न तो कभी स्वीकार किया है और न उनका अध्ययन किया है। उनके लिये एक तो है 'परात्पर भगवान्' और फिर है 'सृष्टि' और फिर इतना ही, दोनोंके बीच कुछ भी नहीं। यह बात व्याख्याओंको बहुत कठिन बना देती है....। सभी व्याख्याएं, अंतिम विश्लेषणमें, महज कहनेके ढंग हैं — कुछ ढंग ऐसे हैं जो समझना अधिक आसान बना देते हैं और दूसरे ऐसे हैं जो उसे अधिक कठिन बना देते हैं। और इनमेंसे कुछ सिद्धांत चीजोंको समझना बहुत कठिन बना देते हैं — जब कि तुम यदि अत्यंत स्थूल 'प्रकृति' और 'चरम मूलस्रोत' के बीचकी विभिन्न मध्यवर्ती स्थितियोंको मान लो और उनकी गवेषणा करो और उनके विषयमें सचेतन हो जाओ, यदि तुम मध्यवर्ती सभी क्षेत्रोंको, सत्ताकी सभी आंतरिक स्थितियों और सभी बाहरी क्षेत्रोंको स्वीकार करो और उनका ज्ञान प्राप्त करो तो उससे बहुत-सी समस्याओंका समाधान हो सकता है। हम लोगोंने इससे पूर्व नियतिके प्रसंगमें इस विषयका अध्ययन किया है। यदि तुम कहो कि नियति नित्य है और बनी रहती है, तो तुम कुछ नहीं समझते; यह बिलकुल स्पष्ट है कि जीवनकी सभी घटनाएं तुम्हें झुठलाती हैं; अथवा यों कहें कि समस्या इतनी जटिल है कि वह तुम्हारी पकड़में नहीं आ सकती। परंतु तुम यदि यह समझ जाओ कि बहुत सारी नियतियां हैं जो एक-दूसरीपर कार्य करती हैं, एक-दूसरीमें प्रविष्ट हो जाती हैं, एक नियतिका कार्य दूसरीके कार्यद्वारा बदल जाता है, तो समस्या बोधगम्य हो जाती है। यही बात विश्वगत भगवान्‌के कार्यकी व्याख्याके विषयमें भी लागू होती है। यदि तुम एक केंद्रीय सृजनात्मिका 'शक्ति' या एक केंद्रीय सृजनात्मिका 'चेतना' या एक केंद्रीय अचलायमान 'साक्षी' को, और फिर विश्वको लो, केवल इतना ही, दोनोंके बीच किसी चीजको न लो तो तुम नहीं समझ सकते। ऐसे लोग हैं जिन्होंने इसका व्यवहार ऐसे ही भोले-भाले ढंगसे किया है! उन्होंने एक 'स्रष्टा ईश्वर' को बनाया है और फिर उनके जीवोंको। अतएव सभी समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। 'ईश्वर' ने जगत् बनाया है, किस चीजसे? कुछ कहते हैं कि यह बना है धूलसे, पर यह धूल क्या है? जगत् बनानेके लिये व्यवहृत होनेसे पूर्व यह धूल क्या कर रही थी?... अथवा शून्यसे बनाया! विश्व शून्यके भीतरसे सृष्ट हुआ — यह मूर्खताकी बात है! यह तार्किक मनके लिये बहुत निरर्थक बात है। और इन सब बातोंके अतिरिक्त तुमसे यह कहा जाता है कि उन्होंने ऐसा ज्ञानपूर्वक, समझ-बूझकर किया, और जब उन्होंने इसे पूरा कर लिया, तब कहा,

"देखो, यह बहुत अच्छा है।" तब, जो लोग विश्वमें हैं वे उत्तर देते हैं, "हम इसे उतना अच्छा नहीं अनुभव करते। संभवतः यह तुम्हारे लिये बहुत अच्छा है पर हमारे लिये नहीं।" ये सब सीधी-सादी धारणाएं हैं। ये निरी अज्ञ और सरल धारणाएं हैं जो विश्वकी समस्याको पूर्णतः अबोध्य बना देती हैं। और ये सब व्याख्याएं उस मनके लिये अग्राह्य हैं जो वास्तवमें थोड़ा-सा भी जाग्रत् है। यही कारण है कि तुमसे यह कहा जाता है, "समझनेकी कोशिश मत करो, तुम कभी नहीं समझोगे।" परंतु यह मानसिक आलस्य है, यह मनकी दुर्भावना है। देखो, मनुष्य अपने अंदर यह अनुभव करता है कि चूंकि मनुष्यमें इस प्रकारकी जो यह विचार-क्रियाकी-शक्ति है, ज्योतिको, समाधानको ढूंढ़ निकालनेकी इस प्रकारकी जो यह अभीप्सा है वह अवश्य किसी चीजसे मिलती-जुलती होगी, अन्यथा.... अन्यथा, सचमुच, (मेरा ख्याल है मैंने यह बात कहींपर लिखी है) यदि विश्वको उस सीधी धारणातक ही परिसीमित कर दिया जाय तो, हां, यह परिहासोंमें एक अत्यंत कुटिल परिहास होगा और तब मैं उन लोगोंको बहुत अच्छी तरह समझ जाऊंगी जिन्होंने यह घोषित किया है, "भागो, जितनी तेजीसे संभव हो उतनी तेजीसे इससे बाहर भाग जाओ।" दुर्भाग्य-वश, मैं नहीं देख पाती कि वे किस प्रकार इससे बाहर निकलनेमें समर्थ होंगे, क्योंकि अन्य कोई चीज है ही नहीं — भला ऐसी किसी वस्तुसे बाहर तुम कैसे निकल सकते हो जो अकेली ही अस्तित्व रखती है? सो, मनुष्य एक कुचक्रमें फंस जाता है, वह चारों ओर घूमता रहता और घूमता ही रहता है और यह चीज बिलकुल स्वाभाविक रूपमें मानसिक निराशाकी ओर ले जाती है। परंतु मनुष्यके पास जब चाभी होती है — इसकी एक या दो चाभियां हैं, परंतु उनमें एक ऐसी है जो सभी द्वारोंको खोल देती है — जब मनुष्यके पास चाभी होती है, वह अपने पथपर चलने लगता है और धीरे-धीरे 'मुख्य वस्तु' को समझने लगता है।

चेतना और भौतिक 'प्रकृति' में क्या भेद है?

बताओ तो मुझे, क्या तुम्हारा शरीर पूर्णतः सचेतन, अपने विषयमें सचेतन, अपनी क्रियावलियोंके विषयमें सचेतन है? नहीं, फिर क्या है यह? तब यह केवल भौतिक 'प्रकृति' हो सकता है। और, यदि कोई भौतिक 'प्रकृति' है जो सचेतन नहीं है तो इसका मतलब है कि भौतिक 'प्रकृति' और चेतना एक ही चीज नहीं है। भौतिक 'प्रकृति'में सभी चीजें आ जाती हैं जो भौतिक हैं; तुम्हारा शरीर भौतिक 'प्रकृति'का अंग है, पर्वत, पत्थर,

आकाश, जल, अग्नि . . . यह सब भौतिक 'प्रकृति'से संबंध रखती है। परंतु तुम्हारी भौतिक 'प्रकृति'में एक चेतना अंतर्भूत है, यह एक चेतनाके द्वारा अनुप्राणित होती है, यद्यपि यह संपूर्णतः सचेतन नहीं है। और क्योंकि यह पूरी तरह सचेतन नहीं है इसीलिये यह जड़, तामसिक, "अचेतन" हो सकती है। अन्यथा सभी चीजें सचेतन होंगी, पत्थर भी सचेतन होंगे (मैं नहीं जानती कि किस हदतक वे वैसे हैं, पर मानवचेतनाकी तुलनामें वे बहुत कम मात्रामें सचेतन हैं)।

क्या एक उत्तम सेवककी तरह अपना कर्म निवेदित करना समर्पण नहीं कहलाता?

कर्म एक अच्छी साधना है। परंतु यह वह भावना नहीं है, वह कोई निष्क्रिय, अचेतन और प्रायः अनैच्छिक अधीनताकी भावना नहीं है। यह वह चीज नहीं है। यह चीज केवल कर्ममें नहीं पायी जाती।

अत्यंत महत्त्वपूर्ण समर्पण है तुम्हारे चरित्रका, तुम्हारी जीवन-विधिका समर्पण ताकि वह बदल सके। तुम्हारी जो एकदम अपनी प्रकृति है यदि तुम उसका समर्पण न करो तो यह प्रकृति कभी परिवर्तित नहीं होगी। बस, यही चीज है जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। तुम किन्हीं विशेष तरीकोंसे समझते हो, विशेष ढंगोंसे प्रतिक्रिया करते हो, विशेष रूपोंमें अनुभव करते हो, लगभग विशेष रीतियोंसे प्रगति करते हो, और सबसे बढ़कर, एक विशेष दृष्टिसे जीवनकी ओर देखते हो और उससे विशेष वस्तुओंकी आशा करती हो — हां, बस इसे ही तुम्हें समर्पित करना होगा। कहनेका मतलब, यदि तुम वास्तवमें दिव्य 'ज्योति' पाना और रूपांतरित होना चाहते हो तो तुम्हें अपनी सत्ता और जीवनके पूरे तौर-तरीकेको अर्पित कर देना होगा — उसे उन्मुक्त करके, यथासाध्य अधिक-से-अधिक ग्रहणशील बनाकर अर्पित करना होगा ताकि दिव्य चेतना जो यह देखती है कि तुम्हें कैसा होना चाहिये, सीधे रूपमें कार्य कर सके और इन समस्त क्रियाओंको अधिक सत्य क्रियाओंमें, तुम्हारे यथार्थ सत्यके साथ अधिक संगत क्रियाओंमें परिवर्तित कर सके। यह बात अपने कर्मोंको समर्पित करनेकी अपेक्षा अनंत-गुना अधिक आवश्यक है। सच पूछा जाय तो मनुष्य जो कुछ करता है (वह जो कुछ करता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है यह तो स्पष्ट ही है) वह नहीं, बल्कि अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह क्या है। कार्य-कलाप चाहे जो हो, वास्तवमें कार्य जिस तरह किया जाता है वह नहीं, बल्कि चेतनाकी जिस स्थितिमें वह किया जाता है वह महत्त्वपूर्ण है। तुम काम

कर सकते हो, व्यक्तिगत लाभकी किसी भावनासे रहित होकर निष्काम कर्म कर सकते हो, कार्य करनेके आनंदके लिये कार्य कर सकते हो, परंतु यदि तुम उसके साथ-ही-साथ उस कर्मको छोड़नेके लिये, कर्मको बदलनेके लिये अथवा कर्मकी विधिको बदलनेके लिये तैयार न होओ, यदि तुम अपनी ही कर्म-पद्धतिसे चिपके रहो, तो तुम्हारा समर्पण पूर्ण नहीं है। तुम्हें एक ऐसी स्थितिमें आना होगा जिसमें प्रत्येक चीज इसलिये की जाती है कि तुम अपने भीतर, बहुत स्पष्ट रूपमें, अधिकाधिक अत्यावश्यक रूपसे यह अनुभव करो कि बस यही चीज है जो की जानी चाहिये और इसी विशिष्ट पद्धतिसे की जानी चाहिये और तुम उसे केवल उसके कारण ही करते हो। तुम किसी आदत, आसक्ति या पसंदगीके कारण, या यहांतक कि किसी धारणाके वश, यहांतक कि इस भावनाकी वरीयताके वश कि बस यही करने योग्य सबसे उत्तम चीज है, उसे नहीं करते,— अन्यथा तुम्हारा समर्पण सर्वांगपूर्ण नहीं है। जबतक तुम किसी चीजसे चिपके रहते हो, जबतक तुम्हारे अंदर कोई चीज ऐसी है जो कहती है, "यह परिवर्तित हो सकता है, वह परिवर्तित हो सकता है, पर यह, वह परिवर्तित नहीं होगा" जबतक तुम एकदम किसी भी वस्तुके लिये यह कहते हो, "वह नहीं परिवर्तित होगी" (इसलिये नहीं कि वह परिवर्तित होनेसे इंकार करती है, बल्कि इसलिये कि तुम उसके परिवर्तनकी बात सोच ही नहीं सकते), तुम्हारा समर्पण पूर्ण नहीं है।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यदि अपने कार्योंमें, अपने कर्ममें, तुम्हें तनिक भी यह अनुभव होता है कि "मैं इसे इसलिये कर रहा हूं कि इसे करनेके लिये मुझसे कहा गया है," और उसमें तुम्हारी सत्ताकी पूर्ण निष्ठा नहीं है, और तुम उस कार्यको इसलिये नहीं करते कि तुम अनुभव करते हो कि उसे करना ही चाहिये और तुम उसे करना पसंद करते हो; यदि कोई चीज पीछे रह जाती है, अलग, पृथक् खड़ी हो जाती है और कहती है: "मुझसे कहा गया था कि इसे इस भांति करना होगा इसलिये मैंने इसे इस भांति किया," इसका मतलब है कि तुम्हारे और तुम्हारे समर्पणके बीच एक बहुत बड़ी खाई है। सच्चे समर्पणका तात्पर्य है यह अनुभव करना कि इस पूर्ण आंतरिक समर्थनको तुम चाहते हो, तुम अपने अंदर बनाये हुए हो, जो कुछ तुम्हें करनेको दिया गया है उसके सिवा तुम और कुछ नहीं कर सकते, और जो कुछ तुम्हें करनेके लिये नहीं दिया गया है उसे तुम कर ही नहीं सकते। परंतु दूसरे ही क्षण काम बदल सकता है, किसी भी मुहूर्त वह कोई दूसरी ही चीज हो सकता है, यदि यह निश्चय किया गया हो कि वह कोई अन्य चीज हो। बस, यहीं-

पर आती है नमनीयताकी बात। उससे बहुत बड़ा अंतर आ जाता है। यह खूब परिचित बात है कि जो काम करते हैं उनसे कहा जाता है, "हां, कर्म करो, वही तुम्हारे समर्पणका पथ है," पर यह प्रारंभमात्र है। इस पथको क्रमवर्द्धमान होना होगा। यह केवल प्रारंभ है, तुम्हें समझे?

३ मई, १९५१

"धन एक विश्वजनीन शक्तिका दृश्यचिह्न है। यह शक्ति भू-लोकमें प्रकट होकर प्राणिक और भौतिक क्षेत्रोंमें कार्य करती है। यह बाह्य जीवनकी परिपूर्णताके लिये अनिवार्य है। इसके मूल और इसके वास्तविक कर्मको देखते हुए, यह शक्ति भगवान्‌की है। परंतु भगवान्‌की अन्यान्य शक्तियोंकी तरह यह शक्ति भी यहां दूसरोंको सौंप दी गयी है और इस कारण निम्नतर 'प्रकृति'के अज्ञानांधकारमें इसका अहंकारके काममें अपहरण हो सकता है अथवा असुरोंके प्रभावमें आकर और विकृत होकर यह उनके काम आ सकती है। मानव अहंकार और असुर जिन तीन शक्तियोंसे सबसे अधिक आकर्षित होते हैं और जो प्रायः अनधिकारियोंके हाथोंमें पड़ जाती हैं तथा वे अनधिकारी जिनका दुरुपयोग ही करते हैं, उन्हीं आधिपत्य, धन और काम, इन तीन शक्तियोंमेंसे एक शक्ति है धन....। इसी कारण प्रायः सभी आध्यात्मिक साधना-मार्गोंमें....दरिद्रता और अपरिग्रहको होना ही आध्यात्मिक अवस्था माना जाता है। पर यह एक भूल है; इससे यह शक्ति विरोधी शक्तियोंके हाथोंमें ही रह जाती है। इसका भगवान्‌के लिये पुनरुद्धार करना क्योंकि यह भगवान्‌का है और भागवत जीवनके लिये भागवत भावसे इसका उपयोग करना साधकका विकासमूलक मार्ग है।"

—श्रीअरविंद: 'माता'

मनुष्य यह कैसे जान सकता है कि धनका उपयोग करनेका उसका तरीका भागवत 'संकल्प' के साथ मेल खाता है या नहीं?

मनुष्यको सबसे पहले यह जानना होगा कि भागवत 'संकल्प' क्या है। परंतु एक अधिक अचूक पथ है — धनको भागवत कर्मके लिये समर्पित कर देना, यदि मनुष्य स्वयं अपने विषयमें असंदिग्ध न हो। "भागवत भावसे" का तात्पर्य है भगवान्‌की सेवामें — इसका अर्थ है अपनी व्यक्तिगत संतुष्टिके लिये धनका उपयोग न करना बल्कि उसे भगवान्‌की सेवामें सौंप देना।

श्रीअरविंद "धन रखनेके कारण उत्पन्न आदतोंके दुर्बलतापूर्ण बंधन" की चर्चा करते हैं।

(वही)

जब तुम समृद्ध होते हो और तुम्हारे पास खर्च करनेके लिये बहुत सारा धन होता है, सामान्यतया तुम उसे ऐसी चीजोंपर खर्च करते हो जो तुम्हारे लिये सुखद होती हैं, और तुम उन चीजोंके अभ्यासी बन जाते हो, उन चीजोंसे आसक्त हो जाते हो, और यदि एक दिन धन चला जाता है, तुम उसका अभाव अनुभव करते हो, तुम खिन्न हो जाते हो, तुम दुःखी हो जाते हो और ऐसा अनुभव करते हो कि तुमने सब कुछ खो दिया है, क्योंकि अब तुम्हारे पास वे सब चीजें नहीं होतीं जिन्हें रखनेका तुम्हें अभ्यास था। यह एक प्रकारका बंधन है, एक तरहकी दुर्बलतापूर्ण आसक्ति है। जो व्यक्ति बिलकुल अनासक्त होता है वह जब इन सब चीजोंके बीच रहता है, तब यह सब उसके लिये ठीक होता है, और जब ये चीजें उसके पास नहीं होतीं तब भी ठीक ही होता है; वह इन दोनों अवस्थाओंके प्रति पूर्णतः उदासीन होता है। यही है समुचित मनोभाव; जब चीजें होती हैं तो वह उनका उपयोग करता है, जब नहीं रहतीं तो वह उनके बिना काम चला लेता है। और उसकी आंतरिक चेतनामें इससे कोई अंतर नहीं आता। यह सुनकर तुम्हें आश्चर्य होता है, पर बात ऐसी ही है।

यदि किसी मनुष्यमें बहुत अधिक धन कमानेकी शक्ति होती है तो क्या उसका यह अर्थ होता है कि उसे पार्थिव शक्तियोंपर एक विशेष प्रकारका संयम प्राप्त है?

यह इस बातपर निर्भर करता है कि मनुष्य किस प्रकार उसे कमाता है। यदि तुम उसे निकृष्ट पद्धतियोंसे प्राप्त करते हो तो इसका यह अर्थ नहीं कि

तुम्हें नियंत्रण प्राप्त है। परंतु कोई व्यक्ति यदि अति सतर्कताके साथ अपने कर्तव्यका पालन करते हुए, देखता है कि धन उसके पास आ रहा है तो स्पष्ट ही इसका कारण यह है कि उसे इन शक्तियोंपर एक प्रकारका वशित्व प्राप्त है। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो धनको आकर्षित करनेकी शक्ति रखते हैं और उन्हें उसे प्राप्त करनेके लिये बेईमानी करनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। दूसरोंको, कुछ कौड़ियाँ पानेके लिये भी, सभी प्रकारके उचित और अनुचित जोड़-तोड़ करने पड़ते हैं। अतएव हम नहीं कह सकते ...। हम एक धनवान्‌को देखते हैं और सोचते हैं कि उसे अवश्य ही धनकी शक्तियोंपर अधिकार प्राप्त है — नहीं, आवश्यक रूपसे नहीं। परंतु कोई मनुष्य यदि पूर्णतः ईमानदार होता है और जिसे वह अपना कर्तव्य समझता है, उसे, धन कमानेकी कोई परवाह न करके करता है, और फिर भी रुपया उसके पास आता है तो स्पष्ट ही उसका उन शक्तियोंके साथ एक प्रकारका संपर्क है।

यह कहा जाता है कि "गढ़ा खोदे बिना कोई अंबार नहीं खड़ा कर सकता," मनुष्य किसी दूसरेको दरिद्र बनाये बिना स्वयं समृद्ध नहीं बन सकता। क्या यह सच है?

यह एकदम सत्य नहीं है। यदि कोई किसी चीजका उत्पादन करता है तो वह दरिद्रता उत्पन्न करनेके बदले एक प्रकारसे समृद्धि लाता है; उस समय वह कोई दूसरी वस्तु संसारमें वितरित होनेके लिये रख देता है जिसका मूल्य रुपयेके मूल्यके समान होता है। परंतु यह कहना कि गढ़ा खोदे बिना कोई अंबार नहीं खड़ा कर सकता, उन लोगोंके लिये बिलकुल ठीक है जो सट्टा करते हैं, जो शेयर बाजार या पूंजी लगानेका व्यवसाय करते हैं — वहाँ यह बात सच है। विशुद्ध सट्टेके व्यापारोंमें दूसरेके लिये हानिकारक हुए बिना आर्थिक सफलता प्राप्त करना असंभव है। पर यह चीज यहींतक सीमित है। वैसे यदि कोई उत्पादक अपनी उत्पादित वस्तुके बदलेमें धनका अंबार खड़ा करता है तो वह कोई गढ़ा नहीं खोदता। अवश्य ही यहां प्रश्न उत्पादनके मूल्यका, परंतु उत्पादन यदि सचमुच सामान्य मानवकी समृद्धिके लिये कोई उपार्जन हो, वह गढ़ा नहीं खोदता, वह इस समृद्धिको बढ़ाता है। और दूसरे ढंगसे, न केवल भौतिक क्षेत्रमें, बल्कि कला, साहित्य या विज्ञानके लिये, वस्तुतः किसी भी उत्पादनके लिये यही बात लागू होती है।

जब मैं व्यवसाय (आयात-निर्यात) करता था, मुझे सर्वदा यह अनुभव होता था कि मैं अपने पड़ोसीको लूट रहा हूं।

यह दूसरोंके मूल्यपर जीवन बसर करना है, क्योंकि इससे आढ़तियोंकी वृद्धि होती है। स्वभावतः हाँ, यह शायद सुविधाजनक, व्यावहारिक है, परंतु सामान्य दृष्टिकोणसे, और सबसे बढ़कर, जिस ढंगसे इसका प्रचलन है उसमें, यह उत्पादक और उपभोक्ताओंके मूल्यपर जीवन बिताना है। मनुष्य एजेंट बन जाता है, बिलकुल इस भावनाके साथ, नहीं कि वह सेवा करेगा (क्योंकि लाखोंमें एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं है जिसमें यह भावना हो), बल्कि इसलिये कि यह बिना किसी प्रयासके धनोपार्जनका एक आसान मार्ग है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि बिना किसी प्रयासके पैसे कमानेके तरीकोंमें ऐसे दूसरे बहुत-से तरीके हैं जो इससे कहीं अधिक बुरे हैं! ऐसे तरीके अनगिनत हैं।

बाहर रहनेवाले मित्र प्रायः मुझसे यह प्रश्न पूछते हैं: "जब मनुष्य अपनी जीविकाका उपार्जन करनेके लिये बाध्य है तब क्या उसे ईमानदारीके ठीक सामान्य नियमका ही अनुसरण करना चाहिये या उसे थोड़ा और अधिक कठोर होना चाहिये?"

यह उस मनोभावपर निर्भर करता है जिसे तुम्हारे मित्रने जीवनमें ग्रहण किया है। यदि वह एक साधक होना चाहता है तो अनिवार्य रूपसे साधारण नैतिकताके नियमोंका उसके लिये कोई मूल्य नहीं है। अब, यदि वह सामान्य जीवन बितानेवाला एक सामान्य जन है तो यह एक नितांत व्यावहारिक प्रश्न है, है न? उसे समस्त परेशानियोंसे बचनेके लिये उस देशके नियमोंका अनुसरण करना चाहिये जिसमें वह रहता है! परंतु ये सभी चीजें, जिनका साधारण जीवनमें एक बहुत सापेक्षिक मूल्य होता है और जिनकी ओर एक प्रकारकी विशेष तृप्तिके साथ ताका जा सकता है, उसी क्षण बदल जाती हैं जिस क्षण मनुष्य योग करने और दिव्य जीवनमें प्रवेश करनेका निश्चय करता है। तब सभी मूल्य पूर्ण रूपसे बदल जाते हैं; जो साधारण जीवनमें ईमानदारी है, वह अब तुम्हारे लिये बिलकुल ही ईमानदारी नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त, मूल्योंमें इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि हम अब उसी सामान्य भाषाका प्रयोग नहीं कर सकते। यदि कोई दिव्य जीवनके प्रति अपने-आपको उत्सर्ग कर देना चाहता हो तो उसे सच्चे रूपमें इसे करना चाहिये, अर्थात् अपने-आपको संपूर्ण रूपसे दे

देना चाहिये, अब कभी कोई काम अपने व्यक्तिगत हितके लिये नहीं करना चाहिये। ऐकांतिक भावसे उसी भागवत 'शक्ति'पर निर्भर करना चाहिये जिसके हाथोंमें वह अपने-आपको सौंपता है। प्रत्येक चीज पूरी तरह बदल जाती है, बदल जाती है न? — प्रत्येक चीज, प्रत्येक चीज। यह एक प्रकारका उलट-फेर होता है। मैंने अभी इस पुस्तकसे जो कुछ पढ़ा है वह पूरी तरह केवल उन लोगोंपर लागू होता है जो योग करना चाहते हैं; दूसरोंके लिये इसका कोई अर्थ नहीं है, यह एक निरर्थक शब्दावली है जिसका कोई अर्थ नहीं, पर जो लोग योग करना चाहते हैं उनके लिये यह अनिवार्य है। वही बात सर्वदा उन सब विषयोंमें भी है जिन्हें हमने अभी हाल ही में पढ़ा है : मनुष्यको खूब सावधान रहना चाहिये कि वह एक पग एक ओर और दूसरा दूसरी ओर न रखे, एक ही साथ दो नावोंपर नहीं चढ़ना चाहिये जो दोनों अपने-अपने पथपर जा रही हों। बस, यही बात श्रीअरविंदने कही थी : मनुष्यको "द्विविध जीवन" का अनुसरण नहीं करना चाहिये। उसे एक या दूसरी चीजका अवश्य त्याग कर देना चाहिये — मनुष्य दोनोंका अनुसरण नहीं कर सकता।

परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि हम अपने जीवनकी परिस्थितियोंसे बाहर निकलनेके लिये बाध्य हैं : सच पूछा जाय तो आंतरिक मनोभाव वह चीज है जिसे पूर्णतः परिवर्त्तित हो जाना चाहिये। हमें जो कुछ करनेका अभ्यास है उसे हम कर तो सकते हैं, परंतु करना होगा एक बिलकुल भिन्न मनोभावके साथ। मैं नहीं कहती कि योग करनेके लिये जीवनकी सभी चीजोंको छोड़ देना और एकांतमें आवश्यक रूपसे किसी आश्रममें चला जाना जरूरी है। अभी यह सच है कि यदि कोई संसारमें और सांसारिक परिस्थितियोंमें योग करे तो यह अधिक कठिन है, पर यह अधिक पूर्ण भी है। कारण, प्रत्येक क्षण उसके सामने ऐसी समस्याएं उपस्थित होंगी जो उस व्यक्तिके सामने नहीं उपस्थित होतीं जो सब कुछ छोड़कर एकांतमें चला गया है; वैसे मनुष्यके लिये ये समस्याएं घटकर अल्पतम हो जाती हैं — जब कि जीवनमें मनुष्यके सामने सभी प्रकारकी कठिनाइयां आती हैं जिसका प्रारंभ उन लोगोंके अज्ञानसे ही हो जाता है जो उसके चारों ओर होते हैं और जिनके साथ उसे व्यवहार करना पड़ता है; उसे इसके लिये तैयार रहना होगा, बहुत धैर्य और महान् उदासीन भावसे लैस रहना होगा। परंतु योगमें मनुष्यको कभी इस बातकी परवाह नहीं करनी चाहिये कि लोग क्या सोचते या कहते हैं; यह एक पूर्णतः अनिवार्य प्रारंभ-बिंदु है। संसार जो कुछ तुम्हारे विषयमें कहता या सोचता है और जिस ढंगसे वह तुम्हारे साथ व्यवहार करता है उस सबसे तुम्हें पूर्ण

रूपसे अछूता रहना चाहिये। लोगोंकी समझ ऐसी चीज होनी चाहिये जो तुम्हारे लिये बिलकुल निस्सार है और जिससे तुम्हें जरा भी स्पृष्ट नहीं होना चाहिये। यही कारण है कि साधारण तौरपर सब कुछ छोड़कर एकांतमें चले जानेसे अपने पुराने परिपार्श्वमें बने रहना और योग करना बहुत अधिक कठिन होता है; यह बहुत अधिक कठिन होता है, पर हम यहां आसान काम करनेके लिये नहीं हैं — आसान काम तो हम उन लोगोंके लिये छोड़ रहे हैं जो रूपांतरकी कोई बात नहीं सोचते।

यदि किसीने अनुचित तरीकोंसे बहुत-सा धन प्राप्त किया हो तो क्या उसमेंसे कुछ भगवान्‌के लिये मांगा जा सकता है?

श्रीअरविन्दने इस प्रश्नका उत्तर दिया है। वह कहते हैं कि धन अपने-आपमें एक निर्व्यक्तिक शक्ति है। जिस तरीकेसे तुम धन अर्जन करते हो उसका संबंध व्यक्तिगत रूपसे केवल तुम्हारे साथ होता है। यह चीज तुम्हें बहुत हानि पहुंचा सकती है, यह दूसरोंको भी हानि पहुंचा सकती है, पर यह किसी भी भांति धनके स्वरूपमें परिवर्तन नहीं ला सकती जो एक बिलकुल निर्व्यक्तिक शक्ति है: धनका न कोई रंग है, न कोई स्वाद, न कोई मानसिक चेतना। यह एक शक्ति है। यह ठीक यह कहनेके समान है कि किसी सच्चरित्र व्यक्तिके द्वारा सांससे छोड़ी हुई हवाकी अपेक्षा किसी नीचद्वारा सांससे छोड़ी हुई हवा अधिक दूषित होती है — मैं ऐसा नहीं समझती। मेरी समझमें परिणाम एक ही होता है। मनुष्य किन्हीं व्यावहारिक प्रकारके कारणोंसे चोरी किये हुए धनको अस्वीकार कर सकता है, पर वह बात एकदम व्यावहारिक कारणोंके लिये है, वह भागवत कारणोंकी दृष्टिसे नहीं है। यह एक बिलकुल मानवीय भावना है। हम किसी व्यावहारिक दृष्टिकोणसे कह सकते हैं, "आह! नहीं, तुमने जिस ढंगसे यह धन कमाया है वह घृणात्मक है और इसलिये मैं इसे भगवान्‌को अर्पित करना नहीं चाहता।" क्योंकि हमारे अंदर एक मानवीय चेतना है। परंतु तुम यदि किसी ऐसे व्यक्तिको लो (आओ, किसी अत्यंत बुरे व्यक्तिको ले लें) जिसने हत्या की है और हत्या करके धन प्राप्त किया है; यदि अचानक वह भीषण नैतिक संकोच और पश्चात्तापसे आक्रांत हो जाय और अपने-आपसे कहे, "मुझे इस धनसे केवल एक ही काम करना है, इसे वहां दे देना है जहां इसका उपयोग सर्वोत्तम कार्यके लिये, अत्यंत निर्व्यक्तिक ढंगसे हो सकता है," मुझे ऐसा लगता है कि यह कार्य अपनी निजी संतुष्टिके लिये उसका उपयोग करनेकी अपेक्षा अधिक उत्तम है। मैंने कहा है

कि अन्यायपूर्वक उपार्जित धन ग्रहण करनेसे रोकनेवाले कारण विशुद्धतः व्यावहारिक प्रकारके कारण हो सकते हैं, पर और भी गभीर कारण हो सकते हैं, तपस्याकी दृष्टिसे, आध्यात्मिक प्रकारके (मैं नैतिक प्रकारके नहीं कहना चाहती) हो सकते हैं; किसीसे यह कहा जा सकता है, "ना, तुम इतने भयंकर पथसे प्राप्त इस संपदासे वस्तुतः श्रेय नहीं प्राप्त कर सकते; बस, तुम यही कर सकते हो कि उसे वापस लौटा दो;" उदाहरणार्थ, मनुष्य यह अनुभव कर सकता है कि धनको चाहे जिस काममें लगा देनेकी अपेक्षा वापस कर देना प्रगतिमें कहीं अधिक सहायता कर सकता है। हम इस प्रकार वस्तुओंको देख सकते हैं — हम इसके लिये नियम नहीं बना सकते। यही बात है जिसे कहना मैं कभी बंद नहीं करती: नियम बनाना असंभव है। प्रत्येक प्रसंगमें बात भिन्न प्रकारकी होती है; परंतु तुम्हें यह नहीं समझना चाहिये कि धन प्रभावित होता है; धन चूंकि एक पार्थिव शक्ति है वह उस तरीकेसे प्रभावित नहीं होता जिससे वह प्राप्त किया जाता है, वह उसे किसी प्रकार प्रभावित नहीं कर सकता। धन वह-का-वही बना रहता है, तुम्हारा नोट वह-का-वही बना रहता है, तुम्हारा सोना वही बना रहता है, और चूंकि वह अपनी शक्ति अपने अंदर वहन करता है, इसलिये उसकी शक्ति भी वही बनी रहती है। यह बस उसी व्यक्तिको हानि पहुंचाता है जिसने अधर्म किया है, यह स्पष्ट है। तब यह प्रश्न बना रहता है: मनकी किस अवस्थामें और किन कारणोंसे तुम्हारा अधर्मी आदमी अपना धन उस कार्य-में लगाना चाहता है जिसे वह दिव्य समझता है? वह सुरक्षाके एक उपायके रूपमें, विवेक-विचारसे प्रेरित होकर, या अपने हृदयको शांति देनेके लिये ऐसा करना चाहता है? स्पष्ट ही यह कोई बहुत अच्छा हेतु नहीं है और इसे प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता, परंतु उसने जो कुछ किया है उसके लिये यदि वह एक प्रकारका पश्चात्ताप और खेद अनुभव करता है और उसमें यह भावना है कि बस एक ही चीज करने लायक है और वह ठीक-ठीक यह है कि उसने जो कुछ अन्यायपूर्वक उपार्जित किया है उसको वह अपने पास न रखे और यथासंभव सार्वजनिक हितके लिये उसका उपयोग करे, तब उसके विरुद्ध कहनेके लिये कुछ नहीं रह जाता। इसे किसी सामान्य नियमके द्वारा नहीं निश्चित किया जा सकता — यह निर्भर करता है उस विशेष प्रसंगपर। हां, मैंने यदि अच्छी तरह समझा है कि तुम्हारा क्या मतलब है, यदि हम यह जानते हैं कि किसी मनुष्यने अत्यंत अकथ्य साधनोंसे धन कमाया है तो स्पष्ट ही उसके पास जाकर किसी भाग-वत कार्यके लिये धन मांगना अच्छा नहीं होगा, क्योंकि उसका अर्थ धन कमानेके उसके तरीकेको पुनः प्रतिष्ठित करनेके जैसा होगा। हम उससे

जाय नहीं सकते, यह असंभव है। यदि, अपने-आप, किसी कारणवश, वह उसे देता है, तो उससे इन्कार करनेका कोई कारण नहीं है। परंतु उसके पास जाकर उससे धन मांगना एकदम असंभव है, क्योंकि यह कार्य ऐसा होगा मानों हमने उसके धन कमानेके ढंगको न्यायसंगत सिद्ध कर दिया। इस बातसे बहुत अंतर पड़ जाता है।

और सामान्य तौरपर, ऐसे प्रसंगोंमें, जो लोग स्वयं जाकर दुष्ट लोगोंसे धन मांगते हैं वे डराने-धमकानेवाले उपायोंका प्रयोग करते हैं: वे उन्हें डराते हैं, भौतिक रूपमें नहीं बल्कि उनके भावी जीवनके विषयमें, उनपर क्या बीतेगी इस विषयमें, वे उन्हें आतंकित करते हैं। यह बहुत अच्छा नहीं है। ये ऐसी पद्धतियां हैं जिनका व्यवहार नहीं करना चाहिये।

धनके अलावा, और दूसरी कौन-सी दिव्य शक्तियां हैं जो यहां पृथ्वीपर "भेजी गयी हैं"?

सभी। सभी दिव्य शक्तियां यहां अभिव्यक्त हैं और यहां विकृत हो गयी हैं — ज्योति, जीवन, प्रेम, शक्ति — सभी — सामंजस्य, आनंद — सभी, सभी, ऐसी कोई चीज नहीं जो अपने मूलमें दिव्य न हो और जो यहां पूर्णतः विकृत, उपहासात्मक रूपमें विद्यमान न हो। उस दिन हमने बहुत विस्तारके साथ यह बतलाया था कि किस भांति भागवत 'प्रेम' यहां अपनी अभिव्यक्तिमें विकृत हो गया है, बस, वही बात है।

श्रीमांके लिये धनको कैसे पुनः जीता जा सकता है?

आह! ..... यहांपर एक संकेत है। तीन वस्तुएं एक-दूसरीपर निर्भर हैं (श्रीअरविन्द यहां कहते हैं): आधिपत्य, धन और काम। मैं समझती हूं कि ये तीनों परस्पराश्रित हैं और इनमेंसे किसी एकको सुनिश्चित रूपमें जीतनेके लिये इन तीनोंको जीतना होगा — जब तुम एकको जीतना चाहते हो तो तुम्हें दूसरी दोनोंको भी जीतना होगा। जबतक मनुष्य इन तीनों चीजोंको — आधिपत्य पानेकी कामना, धनकी कामना और काम-तृप्तिकी वासनाको वशमें नहीं कर लेता, तबतक कोई सचमुच इनमेंसे किसीको दृढ़तापूर्वक और सुनिश्चित रूपमें अधिकृत नहीं कर सकता। सच पूछा जाय तो संसारमें, जैसा कि वह आजकल है, धनको इतना अधिक महत्त्व जो चीज देती है वह इतना अधिक स्वयं धन नहीं है; हम उन थोड़े-से मूर्खोंकी बात छोड़ दें जो धनको एकत्र करते और इसलिये खुश होते हैं

कि वे उसका ढेर लगा सकते और उसे गिन सकते हैं; साधारणतया लोग धनसे प्राप्त सुख-संतोषोंके लिये ही धनकी इच्छा करते और उसे प्राप्त करते हैं। वास्तवमें इनमें लगभग एक प्रकारका पारस्परिक संबंध है। इन तीनों चीजोंमेंसे प्रत्येकका कामनाओंके जगत्‌में न केवल अपना निजी मूल्य है बल्कि वह अन्य दोनोंपर टिकी होती है। मैंने तुमसे अपने उस सूक्ष्मदर्शनका वर्णन किया है, उस विराट् काले सर्पका जो संसारके धनागार-पर, पार्थिव धन-संपत्तिपर पहरा दे रहा था—उसने कामावेगपर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी मांग की थी। कारण, कुछ सिद्धांतोंके अनुसार, आधिपत्यकी यथार्थ आवश्यकता इसी तृप्तिमें जाकर समाप्त हो जाती है, और यदि कोई उसपर संयम पा जाय, यदि उसे मानव चेतनासे दूर कर दे तो आधिपत्यकी आवश्यकता तथा धनकी कामना बहुत कुछ अपने-आप विलीन हो जायगी। स्पष्ट ही, पार्थिव मानव जीवनकी ये ही तीन महान् बाधाएं हैं और जबतक इनपर विजय नहीं मिल जाती तबतक मानव जातिके परिवर्त्तित होनेकी शायद ही कोई संभावना हो।

क्या कामनापर व्यक्तिगत प्रभुत्व प्राप्त करना पर्याप्त है या सार्वजनीन, समष्टिगत प्रभुत्व प्राप्त करना आवश्यक है?

आह! खूब रही...। क्या तबतक पूर्ण व्यक्तिगत रूपांतर साधित करना संभव है जबतक समष्टिके अंदर भी कम-से-कम कोई मिलता-जुलता परिवर्तन नहीं हो जाता? ...मुझे यह संभव नहीं प्रतीत होता। व्यष्टि और समष्टिके बीच एक ऐसा अन्योन्य संबंध है कि जबतक मनुष्य वैसा नहीं करता जैसा कि संन्यासी उपदेश देते हैं, अर्थात्, संसारसे पलायन नहीं करता, पूर्णतः इससे बाहर नहीं चला जाता, जहां-का-तहां छोड़कर, स्वार्थभावसे सारा काम दूसरोंपर छोड़कर भाग नहीं जाता, जबतक ऐसा नहीं करता...। और तब भी मुझे संदेह है। जबतक समष्टिका कम-से-कम कुछ मात्रामें रूपांतर सिद्ध नहीं हो जाता तबतक क्या किसी व्यक्तिके लिये अपनी सत्ताका पूर्ण रूपांतर साधित करना संभव है? मैं ऐसा नहीं समझती। मानवीय स्वभाव ज्यों-का-त्यों बना रहता है—व्यक्ति चेतनामें एक महान् परिवर्तन सिद्ध कर सकता है, हां, ऐसा कर सकता है, वह अपनी चेतनाको शुद्ध कर सकता है, पर सर्वांगीण विजय, स्थूल-भौतिक रूपांतर निश्चित रूपसे, बहुत हदतक, निर्भर करता है कुछ मात्रामें समष्टिकी प्रगतिके संपन्न होनेपर। बुद्धने समझ-दारीके साथ ही यह कहा था कि जबतक तुम्हारे अंदर कामनाका

एक भी प्रकंपन है, यह प्रकंपन सारे जगत्‌में फैल जायगा और जो उसे ग्रहण करनेके लिये तैयार हैं वे सब उसे ग्रहण करेंगे। उसी तरह तुम्हारे अंदर यदि कामनाके प्रकंपनके लिये जरा-सी भी ग्रहणशीलता है तो तुम कामनाके उन सभी प्रकंपनोंकी ओर खुले रहोगे जो संसारमें निरंतर चक्कर लगाते रहते हैं। और यही कारण है कि उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला : इस भ्रमसे बाहर निकल जाओ, पूर्णतः अलग हो जाओ और तुम मुक्त हो जाओगे। मैं इसे अपेक्षाकृत बहुत स्वार्थपूर्ण समझती हूं, पर आखिरकार, यही एकमात्र पथ था जिसे उन्होंने जाना था। एक दूसरा भी है : भागवत 'शक्ति' के साथ इतनी अच्छी तरह एकात्म हो जाना ताकि संसारमें चक्कर लगानेवाले सभी प्रकंपनोंपर निरंतर और ज्ञानपूर्वक क्रिया करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाय। वैसी स्थितिमें अवांछित प्रकंपनोंका तुम्हारे ऊपर अब कोई प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि तुम्हारा प्रभाव उनपर पड़ता है, अर्थात् कोई अवांछित प्रकंपन ऐसा नहीं होता जो तुम्हारे देखे बिना तुम्हारे अंदर घुस जाय और वहां अपना कार्य करे, बल्कि उसके बदले तुम उसे देखते हो और तुरत उसके आते ही उसे रूपांतरित करनेके लिये उसपर कार्य करते हो और वह रूपांतरित होकर अपना हितकारी कार्य करने तथा दूसरोंको उसी रूपांतरके लिये तैयार करनेके लिये जगत्‌में वापस लौट जाता है। बस, श्रीअरविंद ठीक यही चीज करनेका प्रस्ताव कर रहे हैं और, अधिक स्पष्ट रूपमें, यही करनेके लिये तुमसे कह रहे हैं, वह यही चाहते हैं कि इसे हम करें।

(संसारसे) दूर भागनेके बदले हम अपने अंदर उस 'शक्ति' को ले आयें जो विजय प्राप्त कर सके।

ध्यान रखो कि चीजें इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि यदि महत्त्वाकांक्षाका एक अत्यंत/ नन्हा-सा कण भी बना रहा और हममें इस 'शक्ति'को अपनी व्यक्तिगत संतुष्टिके लिये चाहत हो तो इसे हम कभी नहीं प्राप्त कर सकेंगे, वह 'शक्ति' कभी नहीं आयेगी। उसकी विकृत सीमित शक्तियां; जैसी कि प्राणमय और भौतिक जगत्‌में देखी जाती हैं, उन्हें हां, उन्हें हम प्राप्त कर सकते हैं, और ऐसे बहुतेरे लोग हैं जिन्होंने उन्हें पाया है; पर सच्ची शक्तिको, उस 'शक्ति' को जिसे श्रीअरविंद "अतिमानसिक" कहते हैं, जबतक हम समस्त अहंभावसे और उसके सभी रूपोंसे पूरी तरह मुक्त नहीं हो जाते, हम कभी अभिव्यक्त नहीं कर सकेंगे। अतएव उसके दुरुपयोगका कोई खतरा नहीं है। वह सिवा उस व्यक्तिके माध्यमसे जिसने पूर्ण आंतरिक अनासक्तिकी सिद्धि प्राप्त कर ली है, कभी अभिव्यक्त नहीं होगी। मैंने तुमसे कहा है, यही चीज है जिसे करनेकी आशा

श्रीअरविंद हमसे करते हैं — तुम मुझसे कह सकते हो कि यह कठिन है, पर मैं दुहरा रही हूं कि हम यहां इसलिये नहीं है कि आसान काम करें, हम यहां कठिन काम करनेके लिये ही हैं।

५ मई, १९५९

"यदि तुम भागवत कर्मके सच्चे कर्मी बनना चाहते हो तो तुम्हारा पहला लक्ष्य यही होना चाहिये कि तुम वासनामात्रसे तथा अपने-आपको ही सर्वस्व माननेवाले अहंकारसे सर्वथा विनिर्मुक्त हो जाओ।"

—श्रीअरविंद : 'माता'

कभी-कभी हम लोग अपनी चीजें खरीदनेके लिये बाजार जाया करते हैं। क्या यह अच्छा है?

इसके लिये कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। यह उस मनोभावपर निर्भर करता है जिससे तुम खरीद करते हो। यह कहा जाता है कि तुम्हें कामनाएं नहीं रखनी चाहियें — यदि उसमें कोई कामना न हो तो वह ठीक है। देखो, ऐसी कोई क्रिया नहीं, कोई कर्म नहीं जो अपने-आपमें अच्छा या बुरा हो; यह पूर्णतः निर्भर करता है उस मनोभावपर जिससे वह किया जाता है। उदाहरणार्थ, तुम्हारे पास क्या है और क्या नहीं है इस विषयमें तुम पूरी उदासीनताकी स्थितिमें हो (यह एक ऐसी स्थिति है जिसे पाना थोड़ा कठिन है, पर अंततोगत्वा मनुष्य उसे सिद्ध कर सकता है — अनासक्तिकी एक अवस्था : "यदि वह मेरे पास है तो है; यदि नहीं है तो नहीं है"), तो फिर एक ऐसा क्षण आता है जब, यदि तुम्हारी स्थिति बिलकुल सच्ची है और तुम्हें सचमुच किसी चीजकी आवश्यकता है (वह कोई कल्पना या कामना या मनमौजीपन नहीं होना चाहिये बल्कि एक यथार्थ आवश्यकता होनी चाहिये), तो वह अपने-आप तुम्हारे पास आती है। जबसे मैं यहां हूं — बहुत दिन हो गये, हो गये न? — मैं ऐसे लोगोंको जानती हूं जिन्होंने (कभी) मुझसे कोई चीज नहीं मांगी; मैं यह भी समझती हूं (स्वभावतः ही मानवप्रकृति-

में सर्वदा दुर्बलताएं रहती हैं), परंतु मैं यह भी नहीं समझती कि उनमें कभी किसी चीजके लिये कोई तीव्र कामना नहीं उठी हो, परंतु जब किसी चीजकी आवश्यकता हुई, अपने-आप ही वह चीज उन्हें प्राप्त हो गयी। अचानक यह भावना मेरे अंदर आती, "आह! यह चीज अमुक-अमुक व्यक्तिको अवश्य मिलनी चाहिये," और यदि सीधे मुझसे नहीं तो किसी भी तरह, एकदम आशातीत ढंगसे, वह वस्तु उनके पास आ जाती। दूसरी ओर, यदि कोई अपनी आवश्यकताकी बात सोचनेमें ही व्यस्त हो (मैं यहां कामनाओंकी बात ही नहीं करना चाहती, क्योंकि वह एकदम दूसरी ही बात है), पर यदि कोई अपनी आवश्यकताकी ही चिंता करता रहे, उनकी ही बात सोचता रहे और अपने-आपसे कहे, "सचमुच यह चीज मुझे मिलनी ही चाहिये," तो प्रायः ही वह चीज नहीं मिलती; अतएव अपनी तृप्तिके लिये तुम्हें कुछ करनेके लिये विवश होना पड़ता है और, यदि तुम्हारे पास साधन हैं तो, तुम बाजार जाते और उसे खरीदते हो। अब, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो बराबर अपनी कामनाओंको ही अपनी आवश्यकता समझते हैं,.... हम इन लोगोंकी बात नहीं करते, वे बहुत बड़ी संख्यामें हैं। उन्हें पूरा विश्वास होता है कि इस या उसके बिना वे नहीं जी सकते: "यह असंभव है, हम उसके बिना नहीं जी सकते... मैं बीमार पड़ जाऊंगा या कोई बहुत दुःखदायी बात मेरे साथ हो जायगी या मैं अपना कार्य नहीं कर सकूंगा। यह असंभव है, यदि मुझे यह चीज न मिले तो मैं अपना काम नहीं चला सकता।" सो, इन लोगोंके लिये पहला पग है एक छोटा-सा परीक्षण ~~करनेका प्रयास करना~~ (यदि वे सच्चे हों): "अच्छा, मैं वह वस्तु नहीं लेता, देखें क्या होता है।" यह बड़ा मजेदार परीक्षण है। और मैं तुम्हें विश्वास दिला सकती हूं कि एक हजारमेंसे ९९९ बार, कुछ दिनोंके बाद मनुष्य अपने-आपसे पूछता है, "परंतु मुझ अभागेने ऐसा क्यों सोचा था कि मुझे इस चीजकी इतनी बड़ी आवश्यकता है, मैं भली-भांति इसके बिना काम चला सकता हूं!" बस, यही बात है। और इस तरह, थोड़ा-थोड़ा करके, मनुष्य आगे बढ़ता है।

यह प्रशिक्षणका — अपने-आपको शिक्षित करनेका प्रश्न है। और जितना ही शीघ्र आरंभ किया जाय उतना ही आसान होता है। जब मनुष्य एकदम छोटी उम्रमें आरंभ करता है तो यह बहुत आसान हो जाता है, क्योंकि तब मनुष्य अपनी आंतरिक प्रतिक्रियाओंका अभ्यासी बन जाता है और इसलिये बुद्धिमानी और विवेकके साथ कार्य कर सकता है — इसके विपरीत, जो लोग बचपनसे ही अपनी सभी कामनाओंको आवश्यकताएं या अत्यावश्यक वस्तुएं माननेके अभ्यस्त हैं, और जिन्होंने अपने-आपको

तीव्र उत्साहके साथ उनके अंदर डुबो दिया है, उनके लिये रास्ता बहुत अधिक कठिन है, क्योंकि सबसे पहले उन्हें विवेक-शक्ति/~~भक्ति~~ करनी होगी और कामनाको जो कामना नहीं है उससे पृथक् करना होगा; और कभी-कभी ऐसा करना बड़ा कठिन होता है, वह इतनी मिली-जुली होती है कि ~~वह~~ मुश्किलसे दिखायी पड़ती है।

परंतु आखिरकार मैं समझती हूं कि मनुष्यकी आवश्यकता बहुत अधिक नहीं होती। मुझे याद है, एक बार हम चार व्यक्ति फ्रांसमें एक यात्रापर गये थे जिसमें एक पर्वतको पार करना था। हम एक शहरसे रवाना हुए थे और दूसरे शहरमें हमें पहुंचना था। यह पर्वतके इस पारसे उस पारतक प्रायः आठ या दस दिनोंकी यात्रा थी। स्वभावतः ही, हममेंसे प्रत्येकने अपनी पीठपर एक थैला लटका लिया, क्योंकि कुछ चीजोंकी जरूरत तो होती ही है। परंतु उस समय, रवाना होनेसे पहले हमने यह जाननेके लिये थोड़ी-सी परस्पर चर्चा की कि किन चीजोंकी हमें वास्तवमें आवश्यकता है, कौन-सी चीजें बिलकुल अनिवार्य हैं। और सर्वदा हम इस बातपर पहुंचे : "देखें, इस चीजकी व्यवस्था हम इस प्रकार कर सकते हैं।" और अंतमें सब कुछ घटाकर इतना कम कर दिया गया था....। मैं डेनमार्कके एक चित्रकारको जानती थी जो बराबर कहा करता था, "जानते हैं, जब मैं यात्रा करता हूं तो मुझे केवल एक चीजकी आवश्यकता होती है, टूथ-ब्रशकी!" किसीने उत्तर दिया, "नहीं! यदि तुम्हारे पास ब्रश न हो तो तुम अपनी अंगुलीसे दांत साफ कर सकते हो!"

कोई काम हाथमें लेनेसे पहले हम यह जाननेकी कोशिश करते हैं कि इसकी प्रेरणा श्रीमांसे आती है या नहीं, परंतु सामान्य तौरपर इसे जाननेके लिये हमारे पास पर्याप्त विवेक-शक्ति नहीं होती और फिर भी हम कार्य करते हैं। क्या हम कार्यके परिणामसे यह जान सकते हैं कि वह श्रीमाताजीसे आया है या नहीं?

मनुष्यके पास विवेकशक्ति इसलिये नहीं होती कि वह उसे प्राप्त करनेकी परवाह नहीं करता! सुनो, मैं नहीं समझती कि कोई एक भी उदाहरण ऐसा है जिसमें हम अपने अंदर कोई बहुत स्पष्ट चीज नहीं अनुभव करते, परंतु हमें सच्चाईके साथ उसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये — हम निरंतर ~~बस~~ उसी बातपर वापस आते हैं — हमें सच्चाईके साथ उसकी इच्छा करनी चाहिये। पहली शर्त यह है कि उस विषयपर सोचना नहीं आरंभ करना

चाहिये और न सब प्रकारकी भावना ही बनाना आरंभ करना चाहिये : विरोधी भावनाओं, संभावनाओंको न तो बनाना चाहिये और न किसी प्रबल मानसिक क्रियाशीलतामें तल्लीन होना चाहिये। सर्वप्रथम, तुम्हें समस्याको इस प्रकार अपने सामने रखना चाहिये मानों तुम उसे किसी अन्य व्यक्तिके सामने रख रहे हो, फिर नीरव हो जाओ, उसी प्रकार, अचल-अटल बने रहो। और उसके बाद, कुछ क्षण बाद, तुम देखोगे कि कम-से-कम तीन भिन्न-भिन्न वस्तुएं होंगी, कभी-कभी अधिक भी। किसी बुद्धिमान् व्यक्तिका दृष्टांत ले लो जो अपने मस्तिष्ककी सूचनाओंके अनुसार कार्य करता है। उसने समस्या सामने रख दी है और वह प्रतीक्षा करता है। हां, यदि वह सचमुच सचेत है तो वह देखेगा कि वहां (यह क्रम-परंपरा अंतिम नहीं है, किसी भिन्न क्रममें भी ऐसा हो सकता है) सबसे पहले (जो बौद्धिक व्यक्तिमें सबसे प्रधान बात होती है) कोई विशेष भावना है : "यदि मैं उसे इस ढंगसे करूं तो बिलकुल ठीक होगा; इसे ठीक ऐसा ही होना चाहिये," अर्थात्, एक मानसिक रचना होती है। दूसरी चीज है एक प्रकारका आवेग है : "उस चीजको करना ही होगा। वह अच्छी है, उसे करना ही होगा।" उसके बाद तीसरी चीज है जो जरा भी शोर नहीं करती, जो दूसरोंपर अपनेको थोपनेकी चेष्टा नहीं करती, बल्कि जिसमें निश्चयताकी प्रशांति होती है — बहुत सक्रिय नहीं, कोई धकेलनेवाली नहीं, कर्ममें प्रवृत्त करनेवाली नहीं, बल्कि ऐसी चीज जो जानती है और बड़ी अचंचल, बड़ी स्थिर होती है। यह दूसरोंको रद्द नहीं कर देगी, आकर यह नहीं कहेगी, "नहीं, यह गलत है;" यह सहज-यह कहती है, "देखो, यह ऐसी बात है," बस, इतना ही, और फिर यह किसी प्रकारका आग्रह नहीं करती। अधिकांश मनुष्य इतने अधिक नीरव या इतने अधिक एकाग्र नहीं होते कि वे इसे जान लें, क्योंकि यह कोई शोर-गुल नहीं मचाती। परंतु मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि यह प्रत्येक व्यक्तिमें होती है और यदि कोई वास्तवमें सच्चा हो और यथार्थमें शांत-स्थिर होनेमें सफलता पा ले तो वह उसके विषयमें सज्ञान हो सकता है। चिंतनशील भाग तर्क करना आरंभ करता है, "परंतु आखिरकार, इस चीजका यह परिणाम होगा और वह चीज वह परिणाम ले आयेगी, और यदि हम इसे करें..." और यह, और वह.... और उसका शोर-शराबा फिर आरंभ हो जाता है। दूसरा (प्राण) यह कहेगा कि "हां, इसे इस तरह **करना होगा, इसे करना ही होगा,** तुम नहीं समझते, **इसे करना ही होगा,** यह अत्यंत आवश्यक है।" ठीक है न! फिर तुम जानोगे। और अपनी प्रकृतिके अनुसार तुम या तो प्राणके आवेगको अथवा मनके निदेशनको चुनोगे, पर

बहुत विरल अवसरोंपर तुम बिलकुल शांतिपूर्वक यह कहोगे, "अच्छा, बस यही चीज मैं करूंगा, चाहे जो भी हो," और यद्यपि तुम उसे बहुत अधिक पसंद नहीं करते। परंतु वह वहां बराबर विद्यमान रहती है। मुझे पूरा विश्वास है कि यह हत्या करनेसे पहले हत्यारेमें भी विद्यमान रहती है, समझे, परंतु उसकी बाह्य सत्ता इतना अधिक शोर मचाती है कि वह उसेके धमनियोंमें कभी नहीं आता कि वह इसे सुने। परंतु वह सर्वदा विद्यमान रहती है, सर्वदा। प्रत्येक परिस्थितिमें, प्रत्येक व्यक्तिके मर्म-स्थलमें, भागवत 'कृपा' का यह क्षीण संकेत (हम उसे "वाणी" नहीं कह सकते, क्योंकि वह कोई आवाज नहीं करती), यह क्षीण संकेत विद्यमान रहता है, और कभी-कभी उसका अनुसरण करनेके लिये घोर प्रयासकी आवश्यकता होती है, क्योंकि सत्ताके बाकी सभी अंग इसका भीषण विरोध करते हैं, एक भाग इस दृढ़ विश्वासके साथ विरोध करता है कि जो कुछ वह समझता है वही सत्य है, दूसरा अपनी कामनाकी समस्त शक्ति और बलके साथ विरोध करता है। परंतु तुम मुझसे यह मत कहो कि मनुष्य जान नहीं सकता, क्योंकि यह सत्य नहीं है। मनुष्य जान सकता है। परंतु वह सर्वदा यह नहीं जानता कि क्या आवश्यक है, और कभी-कभी तो, यदि वह जानता है कि क्या करना चाहिये तो भी वह उसे न करनेके लिये कोई-न-कोई बहाना ढूंढ लेता है। वह अपने-आपसे कहता है, "ओह! आखिर मैं इस आंतरिक संकेतके विषयमें निस्संदिग्ध नहीं हूं; यह चीज इतने पर्याप्त बलके साथ आग्रह नहीं करती कि मैं इसपर विश्वास कर सकूं।" परंतु तुम यदि एकदम उदासीन रहो, अर्थात् यदि तुम्हारे अंदर कोई कामना न हो, न मानसिक न प्राणिक न भौतिक कामना, तो तुम असंदिग्ध रूपसे यह जान जाओगे कि बस यही चीज है जो अवश्य की जानी चाहिये, अन्य कोई नहीं। जो चीज रास्तेमें आ जाती और बाधक होती है वह है अभिरुचि — अभिरुचियां और कामनाएं। प्रत्येक दिन तुम्हें सैकड़ों और हजारों दृष्टांत मिल सकते हैं जब मनुष्य यह कहना आरंभ करते हैं, "सचमुच मैं नहीं समझता कि क्या करना चाहिये," तो बस्सर्फ इसका मतलब होता है कि उनमें कोई रुचि-अभिरुचि है। परंतु यहां आश्रम-में, चूंकि वे जानते हैं कि कोई दूसरी चीज है और चूंकि वे कभी-कभी थोड़ा सतर्क रह चुके हैं, उन्हें एक प्रकारका अस्पष्ट संवेदन होता है कि यह ठीक ऐसा ही नहीं है: "यह ठीक ऐसा ही नहीं है, मैं चैन नहीं अनुभव कर रहा," इसके अतिरिक्त, तुम कुछ क्षण पहले कह रहे थे कि परिणामोंसे तुम्हें संकेत मिलता है; यहांतक कि यह भी कहा गया है (यह पुस्तकोंमें लिखा है) कि मनुष्य परिणामोंसे ही भागवत इच्छाका

अनुमान लगाता है! जो सब चीजें सफल होती हैं वे भगवान्द्वारा इच्छित होती हैं; जो सब नहीं होतीं उनके लिये उन्होंने इच्छा नहीं की होती! यह फिर उन पहाड़ जैसी मूर्खताओंमेंसे एक है। यह मनके द्वारा समस्याको सरल बना देना है, जो बिलकुल हास्यास्पद है। बात ऐसी नहीं है। यदि किसीको कोई संकेत मिल सके (उसकी सच्चाईके अनुपातमें) तो वह एक बेचैनी, थोड़ी-सी बेचैनी — कोई अधिक बेचैनी नहीं, एकदम थोड़ी-सी बेचैनी होती है।

यहां, जानते हो, एक दूसरा तरीका है, बिलकुल सीधा (मैं नहीं जानती कि तुम लोग इसका उपयोग क्यों नहीं करते, क्योंकि यह बिलकुल प्रारंभिक है); तुम कल्पना करो कि मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूं और फिर अपने-आपसे पूछो, "क्या मैं माताजीके सामने, बिना किसी कठिनाईके, बिना किसी प्रयासके, किसी चीजसे नियंत्रित हुए बिना रह कर सकूंगा?" यह चीज कभी तुम्हें धोखा नहीं देगी। यदि तुम सच्चे हो तो तुम्हें तुरंत पता चल जायगा। यह अधिकतर लोगोंको ठीक मूढ़ताके कगारपर रोक सकती है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जब हम खेलते हैं भगवान्को याद नहीं करते, फिर एकाएक याद करते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि कोई चीज टूट गयी है और फिर उसके बाद हम अच्छे ढंगसे नहीं खेलते। क्यों?

क्योंकि सब कुछ उलट जाता है। बस, यही है समस्या! तो तुम समझते हो कि जब तुम खेलते हो और याद नहीं करते तब तुम अच्छे ढंगसे खेलते हो! नहीं, बात बिलकुल ऐसी नहीं है। बात यह है कि तुम किसी विशेष प्रकारकी एकाग्रताके साथ कोई काम करते हो — काम करते या खेलते हो — और तुम एकाग्रचित्त होते हो, परंतु तुमने भगवान्की स्मृतिको एकाग्रताके साथ मिलाये रखनेकी आदतको विकसित नहीं किया है (जो कठिन नहीं है, पर कम-से-कम तुम्हें उसकी आदत नहीं है) और तब, अकस्मात् स्मृति हो आती है; तब दो चीजें हो सकती हैं: या तो एकाग्रता भंग हो जाती है क्योंकि तुम चेतनामें प्रवेश करनेवाले नये मनोभावको पकड़नेकी आकस्मिक क्रिया करते हो अथवा तुम एक प्रकारका थोड़ा-सा अनुताप, एक प्रकारका खेद, एक प्रकारकी बेचैनी अनुभव करते हो! "ओह: मैंने स्मरण नहीं किया;" बस, इतना काफी होता है जो कुछ तुमने किया है उस सबको अस्तव्यस्त कर देता है। कारण,

तुम परिस्थितिको पूर्ण रूपसे बदल देते हो। सच पूछो तो स्मरण करनेकी बात वह चीज नहीं है जो तुमको अब अच्छी ढंगसे नहीं खेलने देती बल्कि वह चीज है तुम्हारी एकाग्रताकी भंग हो जानेकी बात है। यदि तुम एकाग्रताको भंग किये बिना स्मरण कर सकते (जो कठिन नहीं है), तो तुम केवल अच्छी ढंगसे ही नहीं बल्कि और भी अधिक अच्छी ढंगसे खेलते।

और फिर, तुम एक दूसरा मनोभाव भी ग्रहण कर सकते हो। जब तुम खेल रहे हो और एकाएक ऐसी चीजके विषयमें सचेतन हो जाते हो जो गलत हो रही है — तुम भूलें कर रहे होते हो, असावधान होते हो, जो कुछ करते होते हो उसमें कमी-कभी विपरीत गतियां आ घुसती हैं — यदि तुम स्वाभाविक ढंगसे इस मुहूर्तमें मानों किसी मंत्रके द्वारा आह्वान करनेका, शब्दोंको दुहरानेका अभ्यास डाल लो तो उसका बड़ा आश्चर्यजनक प्रभाव होता है। तुम अपना मंत्र चुनते हो; अथवा यों कहें कि, एक दिन वह अपने-आप किसी कठिन क्षणमें तुम्हारे पास आ जाता है। ऐसे समय जब कि सारी बातें बहुत कठिन हो जाती हैं, जब तुम्हें एक प्रकारका मानसिक कष्ट, दुश्चिंता होती है, जब तुम यह नहीं जानते कि क्या होने जा रहा है, एकाएक यह तुम्हारे अंदर फूट पड़ता है, शब्द तुम्हारे अंदर प्रकट हो जाता है। प्रत्येक व्यक्तिके लिये यह अलग-अलग हो सकता है। परंतु तुम यदि इसे ध्यानमें रखो और जब-जब तुम्हारे सम्मुख कोई कठिनाई उपस्थित हो तब-तब उसे दुहराओ तो यह अदम्य बन जाता है। उदाहरणके लिये, यदि तुम्हें अनुभव हो कि तुम बीमार होने जा रहे हो, यदि तुम अनुभव करो कि जो कुछ तुम कर रहे हो उसे बुरी तरह कर रहे हो, यदि तुम अनुभव करो कि कोई अशुभ वस्तु तुमपर आक्रमण करने जा रही है, तो....। परंतु यह बात तुम्हारी सत्तामें एक स्वाभाविक वस्तुकी जैसी होनी चाहिये, इसे तुम्हारे अंदरसे, इसके बारेमें सोचनेकी आवश्यकताके बिना, उद्भूत होना चाहिये! तुम अपना मंत्र चुनते हो क्योंकि वह तुम्हारी अभीप्साकी एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति होता है; यह एक शब्द, दो शब्द या तीन शब्द, एक वाक्य हो सकता है, यह प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर है, परंतु इसे एक ऐसी ध्वनि होना चाहिये जो तुम्हारे अंदर एक विशेष स्थितिको जाग्रत् कर देता है। फिर, जब वह स्थिति तुम्हारे अंदर होती है तब, मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि तुम बिना कठिनाईके प्रत्येक अवस्थामेंसे निकल सकते हो। यहांतक कि किसी सच्चे, यथार्थ खतरेके आनेपर भी, जैसे किसी व्यक्तिके द्वारा आक्रमण होनेपर जो तुम्हें मार

डालना चाहता है, यदि, उत्तेजित हुए बिना, घबड़ाये बिना, चुपचाप अपने मंत्रका जप करो तो तुम्हारे विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता। स्वभावतः तुम्हें वास्तवमें अपने ऊपर प्रभुत्व होना चाहिये; सत्ताका कोई भाग ऐसा नहीं होना चाहिये जो एक पत्तेकी तरह कांपता हो; नहीं, तुम्हें इसे पूर्णतः सच्चाईके साथ करना होगा, फिर यह सर्वशक्तिसंपन्न होगा। सबसे उत्तम होता है जब शब्द अपने-आप तुम्हारे पास आता है। तुम महान् कठिनाईके एक क्षणमें (मानसिक, प्राणिक, भौतिक, भावात्मक चाहे जो भी वह हो) पुकारते हो और एकबारगी वह तुम्हारे अंदर उद्गत हो जाता है, दो या तीन शब्द, जादूके शब्दोंकी तरह। तुम्हें इन शब्दोंको याद रखना चाहिये और जिन मुहूर्त्तोंमें कठिनाइयां आती हैं उन्हें जपनेका अभ्यास डालना चाहिये। यदि तुम्हें अभ्यास पड़ जायगा तो वह एक दिन अपने-आप तुम्हारे पास आयेगा: जब कठिनाई आयेगी तो उसके साथ-ही-साथ मंत्र भी आयेगा। तब तुम देखोगे कि परिणाम अद्भुत होते हैं। परंतु यह कोई कृत्रिम वस्तु नहीं होनी चाहिये अथवा कोई ऐसी चीज नहीं होनी चाहिये जिसे तुम मनमाने ढंगसे निश्चित करो: "मैं इन शब्दोंका उपयोग करूंगा;" और न किसी दूसरे व्यक्तिको ही तुमसे कहना चाहिये, "ओह! तुम जानते ही हो, यह बहुत अच्छा है" — यह शायद उसके लिये बहुत अच्छा है पर सबके लिये नहीं।

"कर्ममें तुम्हारा एकमात्र लक्ष्य होगा भागवती 'शक्ति'की लीलामें उनकी सेवा करना, उन्हें धारण करना, चरितार्थ करना और उनकी प्राकट्यका यंत्र बनना.....।"

—श्रीअरविंद: 'माता'

जब तुम कर्म करते हो तुम्हारा एकमात्र लक्ष्य होता है सेवा करना, अर्थात्, अपने व्यक्तिगत हितके लिये कर्म करनेके बदले, तुम भागवती 'शक्ति' की सेवा करने, उसे ग्रहण करने, बाहरसे नहीं (इस कर्ममें तुम्हें बिलकुल विश्वास नहीं करना चाहिये), बल्कि अपने अंदरसे ग्रहण करने, जो दिव्य 'शक्ति' अपने कार्यमें तुम्हारा उपयोग करेगी उसकी ओर अपनेको उद्घाटित करने, और जो कुछ वह 'शक्ति' तुमसे संसिद्ध कराना चाहती है उसे संसिद्ध करनेकी भावनाके साथ कर्म करते हो। वहां अहंभावके लिये कोई स्थान नहीं है। यह एक वस्तु देने और उसके बदले दूसरी वस्तु ग्रहण करनेका कोई विषय नहीं है, यह वैसी बात नहीं है; यह बाहरसे ग्रहण करनेका कोई प्रश्न नहीं है।

कुछ साधनाएं ऐसी हैं जो इसे एक नियम बना लेती हैं (हम नियमोंको पसंद नहीं करते क्योंकि वे सर्वदा मनमाने और कृत्रिम होते हैं) कि भगवान् या भगवान्‌के प्रतिनिधि गुरुके सिवा किसी व्यक्तिसे कोई वस्तु बिलकुल नहीं ग्रहण करनी चाहिये। कुछ लोग किसी व्यक्तिसे एक फल भी नहीं ग्रहण करते क्योंकि वह गुरुसे नहीं आता। यह एक अतिरंजना है — यह निर्भर करता है परिस्थितियोंपर, अवस्थाओंपर, और यह बहुत अधिक उस मनोभावपर भी निर्भर करता है जिसे मनुष्य ग्रहण करता है, यह बहुत सारी बातोंपर निर्भर करता है, इसकी व्याख्या करनेमें बहुत अधिक समय लगेगा — पर एक बात है जिसे तुम्हें अवश्य सीखना होगा, भगवान्‌के सिवा कभी किसी दूसरे मनुष्य या दूसरी वस्तुपर, चाहे वह जो हो, निर्भर नहीं करना। कारण, यदि तुम किसी व्यक्तिपर सहारा लेनेके लिये झुकोगे तो वह सहारा टूट जायगा, तुम इस विषयमें निस्संदिग्ध हो सकते हो। जिस क्षणसे तुम योग करना आरंभ करते हो (मैं सर्वदा उन लोगोंकी बात कहती हूं जो योग करते हैं, मैं साधारण जीवनके बारेमें चर्चा नहीं करती), जो योग करते हैं उनके लिये किसी अन्य व्यक्तिपर निर्भर करनेका अर्थ है उस व्यक्तिको दिव्य शक्तिके एक प्रतिनिधिमें रूपांतरित कर देनेकी इच्छा करना; अब तुम यह निश्चित रूपसे मान सकते हो कि लाखों-करोड़ोंमें एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं होता जो उस भार-को वहन कर सके, वह तुरत चूर-चूर हो जायगा। अतएव भगवान्‌के अतिरिक्त और किसीसे सहारा, साहाय्य, सुख पानेकी आशा करनेका मनोभाव न ग्रहण करो। यह बात एकदम सुनिश्चित है; मैंने कभी, एक बार भी, किसी व्यक्तिको नहीं देखा है जिसने कोई साहाय्य पानेके लिये किसी वस्तुसे चिपकनेकी चेष्टा की हो (योग करनेवाले अथवा योगके संपर्कमें आये हुए किसी व्यक्तिको) और जिसने धोखा न खाया हो — वह टूट जाती है, रुक जाती है, मनुष्य अपना अवलंब खो देता है। तब मनुष्य कहता है, "जीवन कठिन है" — वह कठिन नहीं है परंतु मनुष्यको यह जानना चाहिये कि वह क्या कर रहा है। भगवान्‌को छोड़कर अन्यत्र कहीं कोई अवलंब मत खोजो। भगवान्‌को छोड़कर अन्यत्र कहीं संतुष्टिकी खोज मत करो। भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्तिमें अपनी आवश्यकताओंकी पूर्त्तिकी खोज मत करो — कभी, एकदम किसी भी वस्तुके लिये। तुम्हारी सभी आवश्यकताएं केवल भगवान्‌के द्वारा ही पूरी हो सकती हैं। तुम्हारी सभी दुर्बलताओंको केवल भगवान् ही वहन कर सकते और दूर कर सकते हैं। एकमात्र वही तुम्हें वह चीज देनेमें समर्थ हैं जिसे तुम प्रत्येक बातमें, सर्वदा, आवश्यक समझते हो, और यदि तुम

कोई संतुष्टि या सहारा या साहाय्य या सुख या.... भगवान् जानें और क्या-क्या, अन्य किसीसे पानेकी चेष्टा करो तो तुम सदा-सर्वदा अपने मुंहके बल गिर पड़ोगे, और उससे तुम्हें बराबर चोट पहुंचेगी, कभी-कभी बहुत अधिक चोट पहुंचेगी।

७ मई, १९५१

('माता' पुस्तकका छठवां अध्याय पढ़नेके बाद) **"सोपान-तंत्र" क्या चीज है?**

यह योग्यताके क्रममें व्यवस्थित एक प्रकारका वर्गीकरण है। उदाहरणार्थ, केंद्रमें एक अध्यक्ष है और उसके चारों ओर चार व्यक्ति हैं और इन चारोंके इर्द-गिर्द ८, फिर १२, २४, ३६, ४८, १२४ आदि-आदि, प्रत्येकका अपना विशिष्ट मिशन, अपना विशेष कार्य, अपना विशेष अधिकार होता है, और सब-के-सब केंद्रतक जानेवाली क्रमोन्नत परंपरामें निर्देशन प्राप्त करते हैं। यही है सोपान-तंत्र। शासन-तंत्रोंमें वे क्रम-परंपराएं बनानेकी कोशिश करते हैं, परंतु ये झूठी होती हैं, ये मनमानी होती हैं और इनका कोई मूल्य नहीं होता। परंतु सभी प्राचीन साधनाओंमें सोपानतंत्र थे जो व्यष्टिगत योग्यता — व्यष्टिगत शक्तियों और क्षमताओं — की अभिव्यक्तियां थे — और उनके केंद्रमें सर्वदा 'परमात्मा' और 'महाशक्ति'का प्रतिनिधि रहता था; कभी-कभी केवल 'परमात्मा' ही होता था, यह निर्भर करता था धर्मोंपर। परंतु सर्वदा उसी ढंगसे दल संगठित किये जाते थे, अर्थात् व्यक्तियोंकी एक बढ़ती हुई संख्या होती थी, प्रत्येकको तुरत अपनेसे ऊपरके अफसरसे पूछना होता था। उदाहरणार्थ, १२४ को ४८ से, ४८ को २४ से, २४ को १२ से, १२ को ८ से पूछना होता था। यही है सोपान-तंत्र। यह शब्द बहुत ही अशुद्ध और अस्पष्ट रूपमें व्यवहृत होता है। वे बात तो करते हैं सोपान-परंपराकी और समझते हैं कि यथार्थमें मनुष्य ही शासन करते हैं और अपने अधीनस्थ सहकारियोंको रखते हैं। परंतु सच्चा सोपान-तंत्र एक गुह्य सोपान-तंत्र होता है, और इस गुह्य शासन-तंत्रका उद्देश्य होता है एक अधिक गहरे सोपान-तंत्रको अभिव्यक्त करना, प्रकट करना जो अदृश्य जगतोंका सोपान-तंत्र है।

"परात्परा 'माता'" कौन हैं?

तुम नहीं जानते कि तीन तत्त्व हैं: परात्पर, विश्वगत और व्यक्तिगत? नहीं? — परात्पर वह है जो सृष्टिसे ऊपर है, सृष्टिके मूलमें है; विश्वगत वह है जो सृष्टि है और व्यक्तिगत वह है जो आत्म-व्याख्यात्मक है। एक तो हैं परात्पर भगवान्, एक हैं वैश्व भगवान् और एक हैं व्यक्तिगत भगवान्। *अर्थात्, मनुष्य स्वयं अपने अंदर, विश्वके अंदर और, समस्त* रूपोंके परे, परात्परके अंदर दिव्य 'चैतन्य' के साथ अपना संपर्क स्थापित कर सकता है। अतएव ये तीनों रूप भगवती 'माता'के भी तीन रूप हैं: परात्परा, वैश्व और व्यक्तिगत ....क्या तुम उस फूलको जानते हो जिसे मैंने "रूपांतर"[1] नाम दिया है? हां। तुम जानते हो कि इसमें चार दल होते हैं; ये चारों दल सूलीके जैसे व्यवस्थित हैं: सबसे ऊपरका एक दल परात्परका सूचक है, दोनों ओरके दो दल वैश्वको और नीचेका एक दल व्यक्तिगतको सूचित करता है।

ऊपरका दल दो भागोंमें विभक्त होता है।

बिलकुल ठीक, परात्पर एक ही साथ एक और दो (या द्वैत) होता है। यह फूल अपने आकारमें लगभग पूर्ण है। सूलीका भी मूल अर्थ यही था, पर वह उतना पूर्ण नहीं था जितना कि यह फूल, क्योंकि वह एक, दो और तीन था। वह उतना अच्छा नहीं था — यह फूल पूर्ण है।

भगवती 'माता' भागवत 'शक्ति' हैं, अर्थात् सृष्टिकारिणी शक्ति हैं। वह विश्वके साथ एकात्म हो गयी हैं। फिर भला उनका परात्पर रूप कैसे हो सकता है?

परंतु भगवती 'माता' संभवतः सृष्टिसे पहले भी विद्यमान थीं! निश्चय ही वह सृष्टिसे पहले भी अवश्य रही होंगी, क्योंकि वह अपनी ही रचना नहीं हो सकतीं। यदि वास्तवमें 'वही' हैं जिन्होंने सृजन किया था तो 'वह' अवश्य ही सृष्टिसे पहले ही विद्यमान रही होंगी, अन्यथा वे कभी सृजन न कर पातीं।

---

[1] भारतके कार्क-ओक वृक्षका फूल (Millingtonia Hortensis)।

तो, सृष्टिसे पहले वे 'परात्पर' भगवान्‌के अंदर विद्यमान थीं।

'परात्पर भगवान्' "में" ....। जब कोई समस्त रूपोंके परे हो तो उसके विषयमें "अंदर" और "बाहर" की चर्चा करना थोड़ा कठिन है! यदि तुम चाहो तो यह कहो कि 'वह' 'परात्पर' भगवान्‌की एक गति हैं (यदि इससे तुम अधिक अच्छे रूपमें समझते हो) अथवा 'परात्पर'की एक क्रिया या 'परात्पर'की एक अवस्था, एक प्रकार हैं .....। तुम जो चाहो कह सकते हो, जो तुम्हें उस विषयका सबसे अधिक बोध प्रदान करता हो। देखो, मानवमन वस्तुओंको छोटे-छोटे टुकड़ोंमें काट देना पसंद करता है ...मैं तुमको एक छोटी-सी कहानी सुना रही हूं जो बच्चोंकी कहानी है। जब 'परम प्रभु' ने विश्वकी सृष्टि करनेका निर्णय किया तो उन्होंने एक प्रकारकी आंतरिक वृत्ति ग्रहण की जो भगवती माता परात्परा 'महाशक्ति'की आंतरिक अभिव्यक्ति (अप्रकटसे मिलती-जुलती थी। उसके साथ-ही-साथ, उन्होंने ऐसा इस उद्देश्यसे किया कि उन्होंने जिस विश्वका सृजन करना चाहा उसकी सृजन-पद्धति, विश्वकी सृजनात्मिका शक्ति बने। अतएव, सर्वप्रथम, उन्हें भगवती माताकी संभावनाकी परिकल्पना करनी पड़ी ताकि यह भगवती माता विश्वकी संभावनाकी धारणा कर सके। समझ रहे हो? मैं एक बार फिर तुमसे कहती हूं कि बात बिलकुल ऐसी नहीं है (!) पर आखिरकार यह बचकाने मनोंके लिये कही गयी है। हम, हम भली-भांति कह सकते हैं कि एक परात्परा भगवती माता हैं, अर्थात्, अपनी सृष्टिसे स्वतंत्र। हो सकता है कि सृष्टिके लिये, सृजन करनेके उद्देश्यसे, उनकी परिकल्पना की गयी थी, उनका निर्माण किया गया था (जो कुछ तुम पसंद करो), परंतु सृष्टि करनेके लिये सृष्टिसे पहले उनका होना आवश्यक था, अन्यथा उन्होंने सृष्टि कैसे की होती? वही है परात्पर रूप और इस बातपर ध्यान दो कि यह परात्पर रूप नित्य है। हम वास्तवमें इस प्रकार बातें करते हैं मानों सारी चीजें एक विशेष तिथिको कालके अंदर प्रकट हो गयी हों और जगत्‌के प्रारंभ होनेकी उस तिथिको निश्चित कर सकती हों: पहली जनवरी, ०००० ; पर सच पूछो तो बात बिलकुल ऐसी नहीं है! वास्तवमें नित्य-निरंतर एक परात्पर रूप, नित्य-निरंतर एक वैश्व रूप, नित्य-निरंतर एक व्यष्टि रूप, विद्यमान रहता है, और परात्पर, वैश्व और व्यष्टिगत रूप नित्य संग-संग विद्यमान रहते हैं। यदि तुम चेतनाकी एक विशेष स्थितिमें प्रवेश करो तो तुम किसी भी क्षण परात्परा 'महाशक्ति' के संपर्कमें आ सकते हो, और तुम, एक दूसरी

किसके द्वारा, वैश्व 'शक्ति' के संपर्कमें भी आ सकते हो, और व्यष्टिगत 'शक्ति'के संपर्कमें भी, और यह सब एक साथ कर सकते हो — यह बात कालमें नहीं अभिव्यक्त होती, वास्तवमें जब हम बोलते हैं तब हम कालमें ही विचरण करते हैं, अन्यथा हम अपनी बात कह ही नहीं सकते। हम इसका अनुभव कर सकते हैं पर हम एक शब्दके बाद दूसरा शब्द कहकर ही व्यक्त कर सकते हैं (दुर्भाग्यवश, हम एक ही समय सभी शब्दोंको नहीं कह सकते; यदि हम उन सबको एक ही समय कह पाते तो वह थोड़ा-अधिक सत्यके जैसा होता)।

अंतमें जो कुछ कहा जाता है, जो कुछ कहा जा चुका है, जो कुछ कहा जायगा वह सब सर्वदा किसी ऐसी चीजका वर्णन करनेका केवल एक अत्यंत बेढंगा और सीमित तरीका है जिसे जीया तो जा सकता है पर जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। और एक मुहूर्त आता है जब मनुष्य उस चीजको जीता है, जिसमें वह देखता है कि वह चीज लगभग उसी सुस्पष्टताके साथ या उसी सत्यके साथ धार्मिक भाषा, रहस्यवादी भाषा, दार्शनिक भाषा और स्थूल जड़वादी भाषामें व्यक्त की जा सकती है तथा जीवनमें अनुभूत सत्यके दृष्टिकोणसे उसमें बहुत कम अंतर पड़ता है। सच पूछा जाय तो जब हम मानसिक चेतनामें रहते हैं केवल तभी एक चीज हमें सत्य प्रतीत होती है; और दूसरी सत्य नहीं प्रतीत होती; परंतु ये सब व्यक्त करनेके तरीके हैं। अनुभव स्वयं अपने अंदर इसके परम सत्यको वहन करता है, पर शब्द, उसका वर्णन नहीं कर सकते — मनुष्य अपनी बात व्यक्त करनेके लिये कोई-न-कोई भाषा चुन सकता है, और एकदम बहुत थोड़ी-सी सावधानीके साथ वह हमेशा ऐसी चीज कह सकता है जो सभी अवस्थाओंमें सत्यके समीप हो।

मैं यह बात तुम्हें उलझनमें डाल देनेके लिये नहीं कह रही हूं बल्कि तुम्हें बस यह समझानेके लिये कह रही हूं कि अनुभवके सत्य और उसे व्यक्त करनेके ढंगके बीच बहुत अधिक अंतर है, चाहे वह (ढंग) जो भी क्यों न हो, सर्वोत्तम ही क्यों न हो।

१० मई, १९५१

('माता' पुस्तकसे महाकाली-विषयक परिच्छेद पढ़नेके बाद)

क्या महाकालीकी मूर्त्तियोंके विषयमें कथित कहानियां सच्ची हैं?

कौन-सी कहानियां? सैकड़ों कहानियां कही जाती हैं, मेरे बच्चे। तुम किन कहानियोंकी बात कह रहे हो? कौन-सी महाकाली? उनकी बनी प्रतिमाएं, पत्थरकी मूर्तियां? यह वस्तुओंको देखनेका मानवीय तरीका है। वे वैसी नहीं हैं।

मैं समझती हूं मैं एक बार पहले तुम्हें बता चुकी हूं कि आदि देवगण अपने उच्चतर सत्य-स्वरूपोंमें विद्यमान हैं और ये एक विशेष प्रकारके हैं; फिर, जब वे अधिकाधिक स्थूल-भौतिक क्षेत्रोंमें अभिव्यक्त होते हैं, पृथ्वीके अधिकाधिक समीप आते हैं, तो भिन्न प्रकारका रूप ग्रहण कर लेते हैं और फिर अजीब ढंगसे अनेक बन जाते हैं। तुम चाहो तो कह सकते हो कि यहां श्रीअरविंद जिन देव-सत्ताओंकी चर्चा कर रहे हैं वे उन क्षेत्रोंकी हैं जो 'अतिमानस'के अत्यंत समीप हैं, वे सत्ताएं अभी भी अतिमानसिक मूलके साथ एकदम सुस्पष्ट और सचेतन संपर्क बनाये हुए हैं। ये सत्ताएं उस लोकमें भी अभिव्यक्त होती हैं जिसे श्रीअरविंद "अधिमानस" कहते हैं और वहां उनका आकार मानों अधिक स्पष्ट, थोड़ा अधिक सुनिश्चित पर साथ-ही-साथ शक्ति और क्षमतामें क्षयग्रस्त हो जाता है। फिर, अधिमानससे वे मानवमनमें, पार्थिव मनमें उतर आती हैं और वहां ...। उदाहरणके लिये इस बेचारी महाकालीको ही ले लो; कालियोंका एक बड़ा-सा समुदाय है, एक काली दूसरीसे अधिक भयंकर है; उनमेंसे कुछ तो पूर्ण रूपसे डराने और दहलानेवाली होती हैं, और कभी-कभी वे अत्यंत घृणित सत्ताएं बन जाती हैं जो नितांत मानवीय रचनाएं होती हैं, तात्पर्य उनका बाहरी रूप मानवीय कल्पनाद्वारा, मानवीय मनकी रचनात्मक क्षमताद्वारा प्रदत्त होता है। हो सकता है कि उस आकारके अंदर महाकालीकी शक्तिका कोई अस्पष्ट प्रतिबिंब विद्यमान हो, पर वह इतना क्षीण, विकृत, रूपांकित, मानवीय चेतनाके दायरेमें आबद्ध होता है कि वह वास्तवमें भली-भांति इनकार कर सकती है कि यह चीज वह नहीं है! मैंने महाकालीको प्रकाशित करनेवाली छविमोंके रूपमें सभी प्रकारकी भयावह वस्तुओंको देखा है। छवियोंके विषयमें हम कुछ नहीं कहेंगे। यदि (उनके) चित्रकार महान् कलाकार हों तो शायद कुछ सौंदर्य अभी

भी उनमें वर्तमान रहता है, पर चूंकि वे सामान्यतया रंग पोतनेवाले ही होते हैं, इसलिये कुछ भी सौंदर्य वहां नहीं रहता। उन प्रतिमाओं या चित्रोंका जहांतक संबंध है, जिन्हें मंदिरमें स्थापित किया जाता है, उसके लिये एक धार्मिक अनुष्ठान किया जाता है, और यदि पुरोहित या उसका सहकर्मी ऐसा होता है जिसे गुह्य शक्तियां प्राप्त होती हैं, यदि सीमित शक्तियां भी होती हैं, तो वह, अपनी अभीप्साके बलसे और अनुष्ठान-पद्धतिके द्वारा, एक अति-पार्थिव चेतनाको उन आकारोंमें उतार ला सकता है। यही है सिद्धांत। तुमसे कहा जाता है, "यह कोई लकड़ीका टुकड़ा नहीं है, यह कोई पत्थर नहीं है, यह कोई चित्र नहीं है; इसके अंदर तो एक शक्ति है जिसे धार्मिक अनुष्ठान नीचे उतार लाया है और तुम इससे बातें कर सकते हो।" यह बात सही है, परंतु तुम्हें पुरोहितका स्वभाव मालूम होना चाहिये, उसके गुह्य ज्ञान तथा जिन शक्तियोंके साथ उसका संपर्क है उनका भी ज्ञान होना चाहिये। इस तरह, इसमें बहुत-सी चीजें हो सकती हैं। वहां "कोई चीज" होती है (जबतक कि वहां कोई जड़ अनभिज्ञ व्यक्ति ही न हो जिसने अनुष्ठानको संपन्न किया हो, जिसमें बिलकुल कोई शक्ति न हो, जिसने कुछ भी नीचे न उतारा हो, जिसने महज दिखावा ही किया हो — परंतु यह विरल ही होता है; मैं यह नहीं कह सकती कि ऐसा प्रायः ही होता है, यह बहुत विरल होता है), सामान्य तौरपर वहां कोई चीज होती है, पर तब प्रश्न आता है इस चीजके स्वभावका, उसके गुणका, समझे... इसके अनंत भेद होते हैं और यह कभी-कभी थोड़ी बाधक भी होती है। मैंने महाकालीका दृष्टांत दिया है, क्योंकि मानव-चेतनामें महाकाली-संबंधी भावना विशेष रूपसे भयावह है: जब मनुष्य अन्य देवताओंकी ओर जाता है, उदाहरणार्थ, महासरस्वतीकी ओर, जिनके साथ सभी प्रकारकी कलात्मक, साहित्यिक तथा अन्यान्य क्षमताएं जुड़ी हुई हैं, तो उसकी कल्पना उतनी भयंकर नहीं होती। परंतु महाकाली विशेष रूपसे...। बल-वीर्य, शक्ति, सामरिक ओजकी उनकी परिकल्पना इतनी भीषण होती है कि जो कुछ वे नीचे उतार लाते हैं वह सचमुच उन लोगोंके लिये कुछ संकटपूर्ण होता है जो उसकी पूजा करते हैं। भारत आनेके समयसे मैंने अनगिनत कहानियां सुनी हैं। मैंने असंख्य आकृतियां देखी हैं और ऐसे लोगोंके संपर्कमें आयी हूं जिनके घरोंमें काली-की मूर्त्तिकी पूजा हुआ करती थी तथा जिनके साथ कभी-कभी भयानक घटनाएं घटित हुई थीं। मैंने सदा उन्हें सावधान रहनेको कहा, मैंने उनसे कहा, "यह बिलकुल न समझो कि तुम्हारी विपत्तियोंका उत्तरदायित्व महाकालीपर है,—क्योंकि वह उनके लिये जिम्मेदार नहीं हैं। परंतु यह

संभव है कि जो काली तुम्हारे घरमें है उसने अपने अंदर किसी प्रतिहिंसात्मक सत्ताको आश्रय दे रखा हो, शायद वह सत्ता बहुत ईर्ष्यालु, बेहद दुराग्रही और प्रतिशोधकी बहुत प्रबल भावनासे पूर्ण हो, और चूंकि तुम्हारा उसपर विश्वास है और चूंकि वह सामान्यतया कोई प्राणिक शक्ति है, उसके वास्तवमें खतरनाक परिणाम हो सकते हैं।" मैं ऐसे लोगोंको जानती हूं जिन्होंने, सभी प्रकारके दुर्भाग्यपूर्ण अनुभव होनेके बाद, महाकालीकी मूर्त्तिको उठाकर गंगामें फेंक दिया। यदि उसके साथ-ही-साथ उन्होंने आत्माकी एक प्रकारकी स्वतंत्रताको अर्जित कर लिया होता तो सभी प्रकारके अनिष्ट विलीन हो गये होते, पर उनमेंसे कुछ लोग अपने किये कर्मसे इतने भयभीत हो गये हैं कि बुरे प्रभाव अभी भी जारी हैं।

इन चीजोंको तबतक किसीको कभी नहीं छूना चाहिये जबतक उसे गुह्य ज्ञानकी कम-से-कम प्रारंभिक शिक्षा न प्राप्त हो। दुर्भाग्यवश, धर्मोंमें — सभी धर्मोंमें, न केवल यहां बल्कि सर्वत्र — अनुयायियोंको नहीं दिया जाता। कभी-कभी पुरोहितोंको वह प्राप्त होता है (मैं नहीं कहती कि सर्वदा), परंतु उन्हें जब वह प्राप्त होता है तो वे उसे अनुयायियोंको न देनेकी भरपूर सावधानी रखते हैं, क्योंकि उससे उनका अपना अधिकार और प्रभाव छिन जायगा, और यही वास्तवमें वह बुराई है जो सभी धार्मिक विधियोंके पीछे विद्यमान है।

जो हो, यह एक प्रकारकी पथभ्रष्टता है। अच्छा, हम अपने विषयपर वापस आयें। पार्थिव वातावरणमें निस्संदेह एक काली है जो पार्थिव वस्तुओंके साथ व्यवहार करती है और जो एक हदतक, हम स्वतंत्र नहीं कह सकते, फिर भी महाकालीकी ठीक अभिव्यक्ति नहीं है; परंतु वह उन (महाकाली) की पूर्ण अनुगत है और उसमें उनके प्रधान गुण विद्यमान हैं। उन गुणोंकी शक्ति और प्रभावशालिता तो क्षीण हो गयी हैं पर वे वहां हैं, तथा महाकालीकी प्रकृतिका सौंदर्य भी वहां है। संभवतः तुम लोगोंमेंसे कुछ लोग उन महाकालीके साथ संबंध रखते हैं। वह स्वयं प्रतिशोध नहीं लेतीं, वह कभी उन लोगोंको हानि नहीं पहुंचातीं जो उनकी भक्ति करते हैं, वह उन देशोंको महामारियोंके द्वारा आक्रांत नहीं करतीं जो उनके प्रति पर्याप्त आदर और सम्मान नहीं दिखाते। परंतु वह हिंसा पसंद करती हैं, वह युद्ध पसंद करती हैं तथा उनका न्याय कुचलनेवाला होता है।

अब दूसरा प्रश्न।

अवतार और विभूतिमें क्या अंतर है?

हमने उस दिन कहा था कि "विभूति" किसी सत्ताके रूप, गुण (जिन्हें गुह्यविद्यामें "इमेनेशन्स"—"अंशविभूति" कहते हैं) होते हैं। वे किन्हीं शक्तियों, सामर्थ्यों, गुणों, विशेषताओंकी तरह होते हैं जो किसी बाह्य आकारके — उदाहरणार्थ, भौतिक आकारके — संपर्कमें रख दी जाती हैं और जो इस आकारके माध्यमसे प्रकट होती हैं। वह कोई मानव आकार हो सकता है। अवतार (कम-से-कम जब उसे सच्चे अर्थमें समझा जाता है) परात्पर 'सत्य' की पृथ्वीपर साकार मूर्त्ति होता है। अब, इस शब्दको बहुत-से अर्थ दिये गये हैं। फ्रेंच भाषामें भी "अवतार" एक शब्द है जिसका एक बहुत विशेष अर्थ है! कहा जाता है कि एक दुःसाहसिक व्यक्तिके बहुत-से "अवतार" होते हैं, अर्थात्, वह अपना बाहरी रूप, व्यक्तित्व, कार्य बदलता रहता है...। परंतु मूलतः (जैसा कि, उदाहरण-स्वरूप, गीतामें कहा गया है) जब 'परात्पर भगवान्' किसी विशेष कारणसे पृथ्वीपर अभिव्यक्त होनेका निर्णय करते हैं और एक पार्थिव शरीर ग्रहण करते हैं तो वह कहा जाता है कि वह अवतार हैं। वह आवश्यकताओं और परिस्थितियोंके अनुसार क्रमशः अनेक शरीर धारण कर सकते हैं, पर सर्वदा ही वहां वह चीज रहती है जिसे "केंद्रीय सत्ता" कह सकते हैं जो कि पार्थिव शरीर ग्रहण करती है। बस, उसे ही अवतार कहा जाता है। मैं समझती थी कि तुम लोग यह बात जानते हो। श्रीअरविंदने इसे कई स्थानोंमें समझाया है।

"राजराजेश्वरी महेश्वरी मानसी तर्कबुद्धि और इच्छाशक्तिके ऊपर बृहत्में आसीन हैं....।"

— श्रीअरविंद : 'माता'

जिस तरह एक मनोमय लोक, एक प्राणमय लोक आदि है, उसी तरह क्या इच्छा-शक्तिका भी कोई लोक है?

मैंने सच्चिदानंदके प्रसंगमें यह बात तुम्हें समझायी है। सच्चिदानंद जगतोंके एकदम मूलमें विद्यमान हैं, परंतु सत्ताकी अन्य सभी स्थितियोंके पीछे भी एक सच्चिदानंद विद्यमान हैं। तुम एक मानचित्र बना सकते हो (यद्यपि इससे बहुत अधिक स्पष्ट नहीं होता, यह बिलकुल एक गलत विचार है, पर इससे चीजोंको समझना अधिक आसान हो जाता है), तुम सत्ताकी स्थितियोंको एक क्रम-परंपराके रूपमें व्यवस्थित करते हो। तब, पृथ्वी नीचे होती है और 'परात्पर' ऊपर (मैं तुम्हें बताती चलूं यह

ठीक ऐसा नहीं है! पर जो हो, इस तरह समझना आसान है), तुम पृथ्वीको नीचेके तलमें रखते हो और 'परात्पर' को ऊपरी शिखरपर, और उसे बहुत सारे छोटे-छोटे टुकड़ोंमें विभक्त कर देते हो जिनमेंसे प्रत्येक टुकड़ा सत्ताकी एक स्थितिको सूचित करता है; उससे एक प्रकारकी सीढ़ी बन जाती है। और तब, उसके पीछे, तुम्हारी सीढ़ीके पीछे मानों कोई ऐसी चीज होती है जो उसे सहारा देती है, जिसके ऊपर वह झुकी होती है। वह कोई दीवार नहीं है (!) पर वह कोई वस्तु है जो तुम्हारी सीढ़ीको सहारा देती है। और वही यथार्थमें विश्वके आकारका प्रथम तत्त्व है। हिंदू परिभाषामें उसे "सच्चिदानंद" कहते हैं। वह वहां विद्यमान है, सब कुछ उसीपर टिका हुआ है; उसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। यही वस्तु है जो धारण करती है, अस्तित्व प्रदान करती है। फिर, यदि तुम चेतनाकी एक विशेष स्थितिमें प्रवेश करो तो तुम, उदाहरणार्थ, उच्चतर मनमें पहुंच जाते हो (कारण, सामान्यतया वहींपर यह बात अधिक आसानीके साथ होती है; तुमने भौतिक स्तरसे आरंभ किया और धीरे-धीरे, सीढ़ीके एक-एक डंडेपर, उच्चतर मनतक चढ़ गये), परंतु सीढ़ीपर ऊपर चढ़नेकी जगह तुम एक प्रकारकी अंतर्मुखीनताकी स्थितिमें प्रवेश कर जाओ और आकारके बाहर चले जानेकी चेष्टा करो, तो तुम आकारसे बाहर एक प्रकारकी निश्चल-नीरवतामें चले जाते हो। तुम अपनी सीढ़ीके डंडोंके बीचमेंसे निकलकर सीधे सच्चिदानंदमें चले जाते हो जो पीछेसे सभी चीजोंको सहारा देता है। और तब तुम्हें अपने मनके द्वारा सच्चिदानंदका अनुभव प्राप्त हो सकता है। मैं ऐसे लोगोंसे मिली हूं जिन्हें यह अनुभव प्राप्त था और जो यह समझते थे कि वे 'परात्पर'की ऊंचाईतक पहुंच गये हैं। क्योंकि वहां अनुभवके अंदर एक प्रकारकी समानता है, बहुत अधिक अनुरूपता है, केवल यह मनतक सीमित है, एकमात्र मन ही उसमें भाग लेता है। हां, तो, इच्छा-शक्तिके लिये भी यही बात है। सीढ़ीका सहारा होनेके बदले यह एक प्रकारकी शक्ति है, एक बहुत प्रबल धारा है जो इन सभी स्थितियोंके भीतरसे प्रवाहित होती है, ऊपरसे शुरू करके — यह वहां परात्पर 'संकल्प-शक्ति' है — नीचे भौतिक अभिव्यक्तिमें उतर आती है। अतएव, यदि तुम इस प्रकंपन या इस ऊर्जाके संपर्कमें आ जाओ तो तुम "इच्छा-शक्तिकी स्थितिमें" प्रवेश कर सकते हो; तात्पर्य, तुम सत्ताकी चाहे जिस किसी स्थितिमें — भौतिक, प्राणिक, मानसिक आदि — क्यों न होओ, यदि तुम चेतना और शक्तिकी एक विशेष स्थितिमें चले जाओ तो तुम इस इच्छा-शक्तिके संपर्कमें आ जाते हो: वह तुम्हारे अंदर घुस जाती है और तुम किसी भी उद्देश्यसे उसका

उपयोग कर सकते हो। यदि तुम्हारी ग्रहणशीलता सब प्रकारकी अहंतासे मुक्त हो, यदि तुम शुद्ध, पूर्णतः समर्पित हो और केवल भगवान्‌से आनेवाली चीजोंको ही स्वीकार करते हो, और यदि तुम उसके साथ अन्य किसी चीजको नहीं मिलाते, न तो अहंभावको और न कामनाओं और न सीमाओंको... हां, इस स्थितिको प्राप्त करना जरा कठिन है, पर यदि तुम इसे पा लो, तुम इस इच्छा-शक्तिको इसकी मूल स्थितिमें, विशुद्ध रूपमें (क्योंकि यह विशुद्ध रूपमें नीचे आती है, केवल इसे ग्रहण करनेके समय इसमें विकृति आ जाती है) ग्रहण कर लेते हो, उस समय, यह तुम्हारी इच्छा होनेके बदले भागवत 'इच्छा-शक्ति' की अभिव्यक्ति बन जाती है। और यह बात भौतिक शरीर छोड़े बिना घटित होती है — तुम भौतिक शरीर छोड़े बिना भागवत 'इच्छा-शक्ति' को ग्रहण कर सकते हो। केवल, याद रखो, तुम्हें इसे ग्रहण करते समय बदलना और विकृत करना नहीं चाहिये, इसे नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर देना चाहिये। जब तुम कोई चीज संपन्न करनेके लिये एक प्रकारकी अदम्य शक्ति अपने अंदर अनुभव करो, जब तुम अपने-आपसे कहो, "चाहे जो भी मूल्य चुकाना पड़े मैं इसे अवश्य करूंगा, मैं अंततक जाऊंगा और अपनी समस्त इच्छा-शक्तिका (क्योंकि तुम बस्तर अपनी इच्छा कहा करते हो) प्रयोग करूंगा", तो तुम इस स्थितिमें तबतक नहीं आ सकते जबतक कि तुम इच्छा-शक्तिकी इस धाराके संपर्कमें नहीं आ जाते। केवल, अपनी तुच्छ व्यक्तिगत प्रतिक्रियाके द्वारा, स्वभावतः ही तुम उसे विकृत कर देते हो और उसे संपूर्ण गलत ढंगसे व्यवहृत करते हो, और तब तुम्हारा अन्य तत्त्वोंके साथ संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। परंतु तुम यदि वास्तवमें एक योगी होओ, तो तुम धाराको ग्रहण करते हो और कोई वस्तु, भौतिक रूपमें भी, तुम्हारे कर्मके प्रवेगको बंद नहीं कर सकती।

इस ढंगकी अन्य चीजें भी हैं, अन्य स्थितियां, अन्य शक्तियां, बहुत-सी ऐसी चीजें हैं। प्रधानतः, यदि कोई बहुत एकाग्रचित्त होकर अध्ययन करता है तो वह देखता है कि व्यष्टि-सत्ताके अंदर ऐसी कोई चीज नहीं है जो किसी ऐसी वस्तुकी अभिव्यक्ति या विकृति या कटा-छंटा-घटा हुआ रूप न हो जिसका मूल 'परात्पर' में है और जो विश्वव्यापी स्वभावकी है। अतएव, "खींचने", "पुकारने" की ये सब भावनाएं एकदम उचित नहीं हैं। मुख्यतः, एकमात्र कार्य जो मनुष्यको करना चाहिये वह है अपनेको तैयार करना, अपनेको इस 'संपर्क' के योग्य बनाना और, जब मनुष्य उसको प्राप्त कर ले तब उसे विकृत न करे। और यह चीज किसी व्यक्तिको बहिष्कृत नहीं करती। एक बहुत नन्हा-सा बच्चा भी, अपने जीवनके किसी विशेष मुहूर्त्तमें, भागवत स्रोतसे आनेवाली इन महान् वैश्व शक्तियों-

मेंसे किसी एक शक्तिके संसर्गमें आ सकता और अपनी बालोचित आवश्यकताओंके लिये उसका व्यवहार कर सकता है। दुर्भाग्यवश, मनुष्य उसके साथ इतनी अधिक सीमाओंको, इतनी अधिक अहंमन्यताको, अज्ञानता और मूढ़ताको जोड़ देता है कि वह अक्सर पूर्ण रूपसे कदाकार बन जाती है। उसे पहचाना भी नहीं जा सकता, वह पहचानने योग्य नहीं रह जाती। परंतु उस शक्तिका मूल वही होता है, और यही कारण है कि जब कोई चेतनाकी एक विशिष्ट स्थितिको प्राप्त कर लेता है तो देखता है कि यदि ये शक्तियां न होतीं तो कोई कुछ न रह जाता, किसीका अस्तित्व ही न होता। और आम मस्तीके साथ यह कहनेके स्थानमें कि "मैं यह करता हूं, मैं वह नहीं करता हूं, मैंने यह निश्चय किया है, मैं यह चीज चाहता हूं, मैं सफलता प्राप्त करूंगा..." यह सब ऐसे ढंगसे तुम्हारे अंदरसे चला जाता है कि तुम फिर कभी इस तरहकी बात नहीं सोच सकते। यह तुम्हें इतना हास्यास्पद — इतना हास्यास्पद प्रतीत होता है। जैसे ही तुच्छ "मैं" अंदर प्रवेश करता है, उसका मतलब होता है एक प्रकारकी विकृति, एक प्रकारका सीमांकन, एक प्रकारका पतन। सच पूछो तो तुम जिन चीजोंको मूल्य नहीं देते वे सब तुम्हारे "मैं" के साथ आती हैं — तुम इस "मैं" को हटा दो और सब कुछ उसके साथ-ही-साथ विलीन हो जायगा।

१२ मई, १९५१

"अंतःकरण और अंतरात्माका सामंजस्य और सौंदर्य, विचारों और भावनाओंका सामंजस्य और सौंदर्य, प्रत्येक बाह्य कर्म और गतिविधिमें सामंजस्य और सौंदर्य, जीवन और जीवनके चतुःपार्श्वका सामंजस्य और सौंदर्य — यह है महालक्ष्मीको प्रसन्न करनेका अनुष्ठान। .... जहां प्रेम नहीं, सौंदर्य नहीं और इनके होनेकी गुंजायश भी नहीं, वहां वे नहीं आया करतीं।"

— श्रीअरविंद : 'माता'

जब पारिपार्श्विक अवस्थाएं, परिस्थितियां, वातावरण, जीवनकी पद्धति और

~~अर्थात्~~ आंतरिक मनोभाव ये सब संपूर्णतः निम्न कोटिके, अमार्जित, कुत्सित, अहंकारपूर्ण, मलिन होते हैं। प्रेम आनेमें अनिच्छुक होता है, अर्थात् वह सर्वदा अभिव्यक्त होनेसे हिचकिचाता है और सामान्यतया बहुत देरतक नहीं ठहरता। सौंदर्यके रहनेके लिये सौंदर्यपूर्ण आवास प्राप्त होना चाहिये। मैं यहां बाह्य वस्तुओंकी — ~~सच्चे~~ मकान, ~~सच्चे~~ साज-सामान आदिकी — चर्चा नहीं कर रही हूं, मैं आंतरिक मनोभावकी, किसी ऐसी भीतरी वस्तु-की बात कर रही हूं जो सुन्दर, उदात्त, सुसमंजस, निःस्वार्थ हो। वहां प्रेमके आने और ठहरनेकी संभावना है। परंतु ~~जड़, जैसे ही वह~~ व्यक्त होनेकी कोशिश करता है, वह तुरत इतनी नीच और कुरूप वस्तुओंके साथ ~~मिश्रित हो जाता~~ है, तब वह नहीं ठहरता, वह चला जाता है। बस, ~~यही बात~~ यहां (श्रीअरविंद) कहते हैं: वह उत्पन्न होनेमें "अनिच्छुक" होता है — यह कहा जा सकता है कि वह उत्पन्न होनेपर तुरत पश्चात्ताप करता है। मनुष्य सर्वदा यह शिकायत करते हैं कि प्रेम उनके साथ ~~बना~~ नहीं रहता परंतु यह पूर्ण रूपसे उनका दोष है। वे इस प्रेमको एक ऐसा गंदा जीवन ~~प्रदान करते~~ हैं जो वीभत्स चीजोंके एक स्तूपके साथ और इतनी अमार्जित वस्तुओंके साथ, इतनी नीच, इतनी स्वार्थपूर्ण, इतनी गंदी चीजोंके साथ मिला-जुला होता है कि ~~वह~~ बेचारी ~~चीज~~ ठहर नहीं पाती। यदि वे इसे पूरी तरह मार डालनेमें सफल नहीं होते ~~तो वे~~ इसे सर्वथा बीमार बना देते हैं। अतएव एकमात्र चीज जो वह कर सकता है वह है भाग खड़ा होना। लोग हमेशा यह शिकायत करते हैं कि प्रेम अस्थायी और क्षणभंगुर होता है। सच बात तो यह है कि उन लोगोंको बहुत कृतज्ञ होना चाहिये कि उनके दिये हुए मकानकी गंदगीके बावजूद उनके अंदर ~~वह~~ व्यक्त हुआ था।

(श्रीमाताजी आगे पढ़ती हैं): "...महासरस्वती माताकी कर्म-शक्ति और सिद्धि तथा सुव्यवस्थामें उनकी प्राणशक्ति हैं। शक्ति-चतुष्टयमें सबसे कुशिल्पा और कर्मसंपादनमें सबसे निपुण तथा स्थूल प्रकृतिके लिये सबसे समीप हैं।.... सिद्ध कर्मीका अंतरंग और यथावत् ज्ञान, सूक्ष्म बोध और धैर्य, अन्तर्ज्ञानी मन और सचेत हाथ और यथावत् गुण-दोषदर्शी दृष्टिकी प्रमाद-रहित सुनिश्चितता, सिद्ध कर्मीके ये सब लक्षण महासरस्वतीकी प्रकृतिमें सदा ही अवस्थित रहते हैं और जिनपर वे अनुग्रह करती हैं उन्हें वे यह सारी संपदा प्रदान कर सकती हैं।"

— श्रीअरविंद: 'माता'

अभिव्यक्तिके क्रममें वह अंतिम थीं। और अपनी विशिष्ट प्रकृतिमें, अपने प्रकंपनके गुणमें, वह बहुत समीप.... एक नन्हें-से बच्चेके भी समीप हैं। वह नवयुवकोंको, बच्चोंको, बनती हुई वस्तुओंको, जिनके सामने रूपांतरित होने और पूर्ण बननेके लिये एक लंबा पथ पड़ा हुआ है उनको वह चाहती हैं। वह छोटे-छोटे बच्चोंकी क्रियावलियोंको पसंद करती हैं। वह स्वरूपमें सबसे छोटी और अभिव्यक्तिमें सबसे अंतिम हैं।

श्रीअरविंद यहां "सचेत हाथ" की बात कहते हैं, उसका तात्पर्य क्या है?

क्या? न मालूम कितनी बार मैंने यह बात तुम लोगोंसे कही है, मैंने सैकड़ों बार यह बात तुम्हें समझायी है और तुम फिर भी यह प्रश्न पूछते हो? मैंने तुमसे कहा है कि तुम चाहे जो भी कार्य करना चाहो, पहली बात है अपने हाथके कोषोंमें चेतना भर देना। यदि तुम खेलना चाहते हो, यदि तुम काम करना चाहते हो, यदि तुम कोई भी चीज अपने हाथसे करना चाहते हो तो जबतक तुम अपने हाथके कोषोंमें चेतना नहीं भर देते तुम कभी कोई अच्छी चीज नहीं कर सकोगे — कितनी बार मैंने यह तुमसे कहा है? और यह अनुभूत होता है। तुम इसे अनुभव करते हो। तुम इसे आयत्त कर सकते हो। हाथको सचेतन बनानेके लिये सभी प्रकारके अभ्यास किये जा सकते हैं और फिर एक क्षण ऐसा आता है जब वह इतना सचेतन बन जाता है कि तुम इसे कार्य संपन्न करनेके लिये छोड़ सकते हो; यह उन्हें स्वयं अपने-आप, तुम्हारे नन्हें मनके हस्तक्षेप किये बिना, संपन्न करता है।

श्रीअरविंद यहां कहते हैं: "जो सब चीजें दीन-हीन.... होती हैं, उनके (महालक्ष्मीके) आगमनको रोकती हैं"?

(वही)

हां, वह सब जो दरिद्र है, उदारतासे रहित, उत्साहकी प्रखरतासे शून्य, प्राचुर्यसे रहित, आंतरिक समृद्धिसे शून्य; जो कुछ सूखा, ठंडा, अपने ऊपर झुका हुआ होता है वह सब महालक्ष्मीके आगमनको रोकता है। यहां प्रश्न स्थूल धनका नहीं है, समझे! एक अत्यंत धनी व्यक्ति भी महालक्ष्मीकी दृष्टिमें भयानक रूपसे दरिद्र हो सकता है। और एक बहुत दरिद्र आदमी बहुत धनी हो सकता है यदि उसका हृदय उदार हो।

जब हम 'एक दरिद्र मनुष्य' कहते हैं तब "दरिद्र मनुष्य"का ठीक-ठीक अर्थ क्या होता है ?

दरिद्र मनुष्य वह व्यक्ति है जिसमें कोई गुण न हो, कोई शक्ति, कोई बल-सामर्थ्य, कोई उदार-भाव न हो। वह एक दुःखी, अभागा मनुष्य भी होता है। परंतु कोई व्यक्ति केवल तभी दुःखी होता है जब वह उदार नहीं होता — यदि किसीके अंदर ऐसा उदार स्वभाव हो जो बिना हिसाब लगाये अपने-आपको दे देता हो, तो वह कभी दुःखी नहीं होता। जो लोग स्वयं अपने-आपपर ही झुके होते हैं और जो सर्वदा स्वयं अपनी ओर ही (वस्तुओंको) खींचना चाहते हैं — केवल ये ही लोग दुःखी होते हैं। परंतु जब कोई अपने-आपको उदारतापूर्वक, हिसाब लगाये बिना, दे देता है तो वह कभी दुःखी नहीं होता — कभी नहीं। जो व्यक्ति लेना चाहता है बस वही दुःखी होता है; जो अपने-आपको दे देता है वह कभी दुःखी नहीं होता।

१४ मई, १९५१

"संयोग महज सुव्यवस्था और सामंजस्यका विपरीत भाव ही हो सकता है। बस, एक ही सच्चा सामंजस्य है और वह अतिमानसिक है — 'सत्य'का राज्य, भागवत 'विधान'की अभिव्यक्ति। 'अतिमानस'में, इसलिये, संयोगके लिये कोई स्थान नहीं है। परंतु निम्नतर 'प्रकृति'में, परम 'सत्य' अंधकाराच्छन्न हो जाता है : अतएव वहां उद्देश्य और कर्मकी उस दिव्य एकता-का अभाव है जिस एकमात्र वस्तुके द्वारा व्यवस्था गठित होती है। इस एकताके अभावके कारण, निम्नतर 'प्रकृति'का क्षेत्र उस चीजसे शासित होता है जिसे हम "संयोग" कहते हैं, कहनेका तात्पर्य, यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें विभिन्न विरोधी शक्तियां परस्पर मिलती-जुलती हैं और उनका कोई एक निश्चित लक्ष्य नहीं होता....।"

—'श्रीमातृवाणी' (तृतीय खंड)

यदि संयोग निम्नतर जगतोंमें अव्यवस्थाकी अभिव्यक्ति है, तो भी "सुखद" संयोग भी तो हैं जो आवश्यक रूपसे अव्यवस्थाकी अभिव्यक्ति नहीं हैं, क्या नहीं हैं?

सुखद किसके लिये? कारण, सामान्यतया इस जगत्में जैसा कि हम इसे देखते हैं, जो कुछ एकके लिये सुखद है वह दूसरेके लिये दुःखद है; जो कुछ एक प्रसंगमें सुखद है वह दूसरेमें दुःखद है, और वह भी अव्यवस्थाकी एक अभिव्यक्ति है। मैं यह नहीं कहती कि संयोगवश घटित घटना ही तुम्हें आवश्यक रूपसे दुःखी बनाती है, मैं कहती हूं कि सत्योंकी व्यवस्थाके साथ वह संगत नहीं है जो बहुत भिन्न बात है। मनुष्य अव्यवस्थाके बीच भी बहुत सुखी रह सकता है! ऐसे बहुत-से लोग हैं जो अपनी अव्यवस्थासे पूर्णतः संतुष्ट हैं और उसे बदलना भी पसंद नहीं करेंगे।

कोई सुखद संयोग ऐसी परिस्थितियोंके मेलसे भी तो हो सकता है जो किसीको हानि नहीं पहुंचातीं।

हम उन्हें किसी व्यक्ति या वस्तुको हानि पहुंचाते महज इस कारण नहीं देखते कि हमारे पास पर्याप्त तथ्य नहीं होते। हम परिस्थितियोंका विचार नहीं कर सकते, क्योंकि हम संसारको नहीं जानते। हम उसके विषयमें भला क्या जानते हैं? हमारी दृष्टि बहुत ही छोटी और बहुत ही सीमित है। जरा सोचो तो, मनुष्य यह कभी नहीं जान सकता कि उसके अधिक-से-अधिक एक सौ बीस वर्ष पहले क्या था, और मैं एक बहुत बड़ी सीमा रख रही हूं, और मैं उसके जीवनके प्रथम वर्षोंको भी गिन रही हूं, यद्यपि साधारण तौरपर उसे यह याद नहीं रहता कि उस समय क्या घटित हुआ था। भला मनुष्य इतने थोड़े समयमें जगत्के विषयमें क्या जानता है? और घटनाओंके परिणामोंके विषयमें? बिलकुल कुछ नहीं। और यदि हम यह मान भी लें कि मनुष्य किसी तथाकथित "संयोग" के परिणाम या पूर्वगत परिस्थितिको पूरे अच्छे रूपमें याद कर सकता है तो भी वह बिलकुल एकदेशीय ज्ञान होता है। मनुष्य उस चीजके विषयमें क्या जानता है जो विपरीत ध्रुवोंपर या पृथ्वीके लाखों-करोड़ों अन्य स्थानोंमें उसी मुहूर्त्तमें होती है? हम उसके विषयमें कुछ नहीं जानते। और जैसा कि हम जानते हैं कि जो कुछ होता है वह सब एक साथ जुड़ा हुआ होता है, सभी वस्तुएं घनिष्ठ रूपमें, सचेतन रूपमें, युक्त हैं, एक स्थानमें ऐसा कोई प्रकंपन नहीं हो सकता जिसके परिणाम दूसरे स्थानमें न उत्पन्न

होते हों, तो फिर हम कैसे कह सकते हैं कि हमारा संयोग किसी दूसरे व्यक्तिके लिये हानिकारक है या नहीं, भले ही वह हमारे लिये अनुकूल ही क्यों न हो? मैं समझती हूं कि इस विषयमें निर्णय करना असंभव है... इसे कैसे मैं कहूं? वस्तुओंके विषयमें सही निर्णय करना असंभव है, क्योंकि हम नहीं जानते कि संसारमें क्या हो रहा है। हम संपूर्णको नहीं जानते, हम शक्तियोंकी क्रीड़ाके विषयमें कुछ भी नहीं जानते। और हम कहते हैं कि संयोग शक्तियोंकी क्रीड़ाका परिणाम है; केवल, यह दिव्य सामंजस्यकी अभिव्यक्ति होनेके बदले, यह परस्पर-विरोधी इच्छाओंकी अभिव्यक्ति है। ये इच्छाएं अनिवार्य रूपसे सब-की-सब बुरी या विरोधिनी नहीं होतीं पर वे सर्वदा ही अज्ञानपूर्ण होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी इच्छा पूर्ण करनेकी कोशिश करता है और विजय सबसे अधिक शक्तिशालीको मिलती है — सबसे अधिक शक्तिशाली ही इस क्षेत्रमें सबसे अधिक उत्तम नहीं होता। जब एक चीज संसिद्ध हो गयी है, कितनी दूसरी चीजें भी संसिद्ध हो सकती थीं जो नहीं हुईं, क्योंकि वह संसिद्ध हो गयी थी? और इन सभी चीजोंको हम नहीं जानते। हम जो कुछ हैं उसकी तुलना उस चीजसे नहीं कर सकते जो हुई होती...। नहीं, मैंने यह कभी नहीं कहा है कि संयोग निश्चित रूपसे विरोधी शक्तियोंका कार्य होता है, पर यह निस्संदेह अज्ञानपूर्ण शक्तियोंका कार्य होता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे संयोगको बिना कारण होनेवाली कोई चीज अथवा ऐसे कई छोटे-छोटे कारणोंका परिणाम माना जाता है जो हस्तक्षेप करते हैं और कम या अधिक एक-दूसरेसे स्वतंत्र होते हैं और अव्यवस्थाकी धारणा उत्पन्न करते हैं। परंतु यह कैसे जाना जाय कि कोई चीज, कोई घटना आदि संयोगके कारण है या नहीं? "संयोग" शब्द एक प्रकारसे कहनेका एक ढंग है, है न?

परंतु ठीक यही बात मैं कह रही हूं! मैंने कभी नहीं कहा कि संयोगका कोई कारण नहीं होता। तुम कहते हो कि कोई वस्तु "संयोग"के कारण होती है क्योंकि तुम उन सभी कारणोंको नहीं समझ सकते जिन्होंने उस वस्तुको उत्पन्न किया है। परंतु जो व्यक्ति दिव्य सत्यके साथ संपर्क स्थापित कर चुका है वह यह भली भांति जान सकता है कि वह चीज वहांसे आयी या नहीं — बिलकुल आसानीके साथ।

परंतु जो व्यक्ति कार्यों और कारणोंका अनुसरण करता है उसके लिये . . . ।

मुझे क्षमा करो, हमने एक परिभाषा दी है, हमने कहा है कि जबतक कोई घटना बिना किसी मिश्रणके अभिव्यक्त भागवत 'संकल्पशक्ति' के हस्तक्षेपका परिणाम नहीं होती, तबतक वह उस वस्तुसे संबंधित होती है जिसे हम "संयोग" कहते हैं।

तब साधारण जगत्‌में बहुत-सी वस्तुएं संयोगके कारण होती हैं।

पर निस्संदेह, मैंने अन्य कोई बात नहीं कही है! साधारण जगत्‌में सर्वत्र संयोगका राज्य है; अवश्य ही, कभी-कभी, कोई ऐसी चीज हो जाती है जिसका कारण जनताकी समझसे बाहर होता है पर उस व्यक्तिके लिये ज्ञेय होता है जो भागवत 'संकल्पशक्ति'के संपर्कमें होता है। बस वही चीज संयोगसे बचती है — यह चीज बहुत, बहुत बार नहीं होती, इसी कारण यह कहना अत्यधिक खतरनाक नहीं है कि इस जगत्‌में सभी वस्तुएं संयोग-के द्वारा ही होती हैं।

तो फिर हम यहां संयोगवश ही हैं?

हम कोई साधारण नियम नहीं बना सकते। और न कोई व्यक्तिगत प्रश्न पूछ सकता है। सो, हम अस्पष्ट रूपमें यह कहेंगे कि कुछ लोगोंके लिये यह एक सांयोगिक घटना है, पर दूसरोंके लिये यह एक भागवत इच्छा है।

साधारण जगत्‌में भी वास्तवमें केवल संयोग ही कार्य नहीं करता। इस प्रकार, गर्म वायुके परमाणुओंके लिये दो गतियां हैं जो अध्यारोपित प्रतीत होती हैं: एक तो है अव्यवस्थित गति और एक है संयुक्त गति। इसलिये संभवतः हम कह सकते हैं कि साधारण जगत्‌की घटनाएं इन दोनों गतियोंका मिश्रण होती हैं: अव्यवस्थित गति और सम्मिलित गति जिसका एक निश्चित लक्ष्य होता है?

यह सब तुमने स्वयं अपने-आप जाना है!

(फिर श्रीमाताजी दूसरे प्रश्नपर जाती हैं) : **आपने उसी बात-चीतमें कहा है: "शांति तुम्हें कई बार दी गयी थी पर हर बार तुमने उसे खो दिया....।"**

(वही)

हां, कितनी बार तुम्हें शांति दी गयी है और कितनी बार तुमने उसे खो दिया है? असंख्य बार, मैंने कहा है। भागवत शांति (केवल सामान्य शांति नहीं, क्योंकि साधारण शांतिके लिये, मैं समझती हूं, तुम कई बार सारे संसारका चक्कर लगा सकते हो और उसे नहीं प्राप्त कर सकते) पर भागवत शांति तुम्हें दी गयी है और प्रत्येक बार तुमने उसे खो दिया है। क्यों? क्योंकि तुम्हारे अंदर कोई चीज अपनी तुच्छ स्वार्थपूर्ण दिनचर्याको छोड़ना अस्वीकार करती है।

परंतु भागवत शांति सर्वदा विद्यमान है, है न? वह "दी नहीं जाती"?

तुम्हें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि जब मैंने यह कहा था, हमारा बारह या सोलह लोगोंका एक छोटा-सा दल था जो नियमित एकत्र होता था, और उन्हीं लोगोंसे मैं बात कर रही थी। मैंने यह कभी नहीं सोचा था कि यह चीज मैं पचाससे अधिक लोगोंके सामने पढ़ूंगी, कभी नहीं। परंतु मैंने यह स्पष्ट रूपमें उन लोगोंसे कहा था जो वहां, उस छोटे-से दलमें, उपस्थित थे, उन लोगोंसे जिन्हें मैंने यह शांति अनगिनत बार दी थी और प्रत्येक बार जिन्होंने इसे खो दिया था। बस, यही मेरा मतलब है, यह एकदम विशेष अवसरपर कही गयी एक बात थी। अब, साधारण तौरपर, जो लोग यहां हैं, उनके विषयमें हम कह सकते हैं, जैसा कि तुम कहते हो, कि एक विशेष हदतक, जिस हदतक मन उसे ग्रहण करनेमें समर्थ है, शांति (जैसे कि चेतना, शक्ति, ज्ञान आदि भी) निरंतर दी जा रही है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि वह "खो जाती है"; परंतु कोई उसके विषयमें सचेतन हो सकता है, फिर अचेतन, और फिर सचेतन, और फिर अचेतन; बिलकुल सरल रूपमें ठीक उसी प्रकारके एक कारणसे जिसे मैंने बताया है (क्योंकि यह सदा सत्य है, चाहे मनुष्य सोलह हों या अठारह, या एक सौ पचास या सात सौ, कारण लगभग एक ही होता है), कि जब तुम सदाशयपूर्ण भी होते हो, तुम्हारी सत्तामें कोई ऐसी वस्तु होती है जो अपने अभ्यासोंसे प्राणपण चिपकी रहती है। लोग समझते हैं कि

यदि उनके तुच्छ बाहरी अभ्यासोंमेंसे कोई चीज बदल गयी है तो उन्होंने एक महान् उन्नति कर ली है; वे तुमसे कहते हैं, "पर क्या तुम नहीं देखते? मैं घूमता-फिरता हूं, मैं अपने परिवेशको बदलता हूं, अपनी परिस्थितियोंको बदलता हूं और बहुत अच्छी तरह सामंजस्य बैठा लेता हूं।" इस सबका बिलकुल ही कोई अर्थ नहीं होता। सच पूछो तो आंतरिक अभ्यास, आंतरिक प्रतिक्रियाएं, देखनेका आंतरिक तरीका, सोचनेका तरीका, अपना कार्य चलानेका तरीका आदि चीजें हैं जो बदलना इनकार करती हैं, जो परिवर्तित होना इतना कठिन अनुभव करती हैं।

जब आप "शांति देने"की बात कहती हैं तब क्या आप किसी विशिष्ट दानकी ओर अथवा किसी सामान्य चीजकी ओर संकेत करती हैं?

यह विशेष चीज है, यह एक ऐसी चीज है जो तुम्हारे ऊपर डाल दी जाती है, जोरके साथ, और तब, कुछ सेकंडों या कुछ मिनटोंतक, या कुछ घंटोंतक भी, तुम उसे अनुभव करते हो। तुम एकाएक शांतिसे, शक्तिसे, ज्योतिसे भरा हुआ अनुभव करते हो — कभी-कभी और भी अधिक मूल्यवान् वस्तुओंसे भी भरा हुआ; जैसे, ज्ञान, चेतना, प्रेम। और उसके बाद वह विलीन हो जाता है। तब तुम कहते हो, "ओह! सचमुच, ये दिव्य शक्तियां उदार नहीं होतीं। वे तुम्हें उस चीजको चखामर देती हैं ताकि तुम यह देखो कि वह कितनी अच्छी है, और फिर तुमसे उसे छीन लेती हैं ताकि तुम और भी अधिक उसकी कामना करो!" यही सामान्य निष्कर्ष होता है।

फिर भी हम उन कारणोंको जानते हैं जो दी हुई शांतिको बनाये रखनेमें हमें बाधा पहुंचाते हैं और हम उन बाधाओंसे मुक्त होनेका प्रयत्न करते हैं।

और इसलिये तुम एक भयानक युद्धमें उतर पड़ते हो और शांतिको और भी अधिक खो देते हो! .... तुम्हारा मतलब यह है कि जब मनुष्य संपर्क खो देता है और कोई प्रयास करता है, तो वह बाधासे मुक्त होनेका इन्तजाम करता है? वह केवल तभी होता है जब तुम वास्तवमें नंबर एक साधक होओ! ऐसा करनेवाले बहुत-से लोग नहीं होते। जो ऐसा

करते हैं उन्हें मैं अवश्य बधाई देती हूं, क्योंकि वे बहुत तेजीसे आगे बढ़ जायेंगे। परंतु ऐसे बहुत लोग नहीं होते जो कारण जानते हैं — मैंने यह बात तुमसे कही है — सौमेंसे निन्यानबे बार बिचारे भगवान् ही दोषी माने जाते हैं: वही उसे देते हैं और फिर जो कुछ वह देते हैं उसे वापस ले लेते हैं; वह बिलकुल मनमौजी हैं। वह उस भांति तुम्हें अद्‌भुत फलका रसास्वादन करा देते हैं, फिर वह तुमसे उसे ले लेते हैं, और फिर जब उनके मनमें आती है तो लौटा देते हैं....। सचमुच, वह एक बिलकुल सनकी व्यक्ति हैं!

शांति देनेके बदले, भगवान् एकदम एकबारगी ही अहंको नष्ट क्यों नहीं कर देते?

आह! यह बात, यह तो प्रत्येक व्यक्तिका काम है। यही बात मैंने तुमसे उस दिन कही थी, श्रीअरविंदने जो कुछ लिखा है उसे तुम्हारे सामने पढ़ा था, "इस मंद मिथ्या धारणाका पोषण मत करो कि अभीप्सा तुम्हें दी जायगी और तुम्हारे लिये कार्य कर दिया जायगा।" अभीप्सा तुम्हारी ओरसे आनी चाहिये और अहंका विलोप भी। तुम्हें सहायता दी जाती है, तुम्हें सहारा दिया जाता है; प्रत्येक बार जब तुम पग आगे बढ़ाओ, तुम यह अनुभव करोगे कि कोई ऐसी चीज है जो तुम्हें सभी आवश्यक वस्तुएं प्रदान करती है ताकि तुम पग आगे बढ़ा सको, परंतु सच पूछो तो चलना तुमको होगा, कोई दूसरा तुम्हें अपनी पीठपर लादकर नहीं ढोयेगा ....। सबसे पहले अहंको दूर करो, वह एक अद्‌भुत कार्यक्रम है! एक बार जब अहं विनष्ट हो जाता है तो फिर और कुछ करनेको बाकी नहीं रहता, समस्त कार्य संपन्न हो जाता है, कारण, ठीक अहंकार ही वह चीज है जो भगवान्‌के संपर्कमें आनेमें तुम्हें बाधा पहुंचाती है। एक बार जब अहं निर्मूल हो जायगा, बिलकुल सरल ढंगसे तुम वैसा बन जाओगे, भगवान्‌के साथ एक सुखकर एकत्व पा लोगे, और संपूर्ण कार्य समाप्त हो जायगा। परंतु सामान्यतया लोग अंतसे कार्य नहीं आरंभ करते। पर जो हो, मैंने अभी-अभी जो कुछ तुमसे कहा है वह उपयोगी है: अहंको दूर करना तुम्हारा काम है। तुम्हें सहायता मिलेगी, पर तुम्हें अपने ही पैरोंसे चलना होगा। यह बिलकुल आशा मत करो कि कोई दूसरा व्यक्ति तुम्हें अपनी पीठपर ढोयेगा और तुम्हें अपने-आपको ढोये जानेके सिवा और कुछ नहीं करना होगा।

शब्दावली

अंतर्बोध intuition
अंधकार obscurity
अज्ञान ignorance
अनासक्ति detachment
अनुभूति feeling
अभावात्मक negative
अभिव्यंजना expression
अभिव्यक्ति expression, manifestation
अभीप्सा aspiration
अमूर्त्त abstract
अवचेतन subconscient
अवतरण descent
असामंजस्य disharmony

आज्ञानुवर्तिता obedience
आध्यात्मिक spiritual
आयात-निर्यात import-export
आवरण envelop

इंद्रियबोध sense-perception
इच्छा will, desire
इच्छा-शक्ति will-power

उच्चतर मन higher mind
उत्तराधिकारी successor
उत्पादक producer
उत्पादन production
उपग्रह satellite
उपस्थिति presence
उपादान-तत्त्व substance

एकाग्र होना concentrate
ऐक्य identity

कठपुतली puppet
कला art
कलाकार artist
काल time
कृपा grace
कोषाणु cell
क्रमविकास evolution
क्षेत्र domain

खगोल विज्ञान astronomy

गुह्यविद् occultist
गुह्यविद्या occultism
ग्रह planet
ग्रहणशीलता receptivity

घटक component

चरित्र character
चलचित्रण cinematography
चित्रकार painter
चित्रशाला studio
चेतना consciousness
चैत्य psychic

छूत contagion

जड़तत्त्व matter

जड़वाद materialism
जन्मांतर metempsychosis
जाति species
जादू magic
ज्योतिषी astrologer
ज्वर fever

तटस्थ neutral
तत्त्व element

दर्शन perception
दर्शन-शास्त्र philosophy
दिव्यदृष्टि clairvoyance
दीक्षा initiation
दुर्घटना accident
देश space

धर्म religion
धार्मिक religious

नक्षत्रपुंज nebula
नमनीय plastic
नायक hero
नास्तिक atheistic
नियंत्रण control
नियतिवाद determinism
नियम article
निरपेक्षवाद absolutism
निर्व्यक्तिक impersonal
निश्चेतना inconscience
निष्क्रिय passive, static
नीरव silent
नैतिकता morality
न्यायतः logically

पदार्थ substance
परंपरा tradition
परात्पर supreme
परोक्ष-दर्शन-शक्ति clairvoyance
पार्थिव material
पुराना chronic
पुरुष being
पूर्वनिर्दिष्ट predestined
पूर्वाभास premonition
प्रकंपन vibration
प्रकृति nature
प्रतिबिंब reflection
प्रतिलिपि reproduction
प्रतीकात्मक symbolic
प्रत्यक्ष ज्ञान direct knowledge
प्रत्यक्षवाद positivism
प्रत्याख्यान negation
प्रबुद्ध enlightened
प्रयोग experiment
प्रशिक्षण discipline
प्राण vital
प्राणशक्ति vitality
प्रेम love

फाटका speculation

बोध perception

भागवत divine
भाग्य destiny
भावात्मक positive
भूतप्रेत apparition
भूदृश्य landscape
भौतिक material, physical

भौतिक चेतना physical consciousness
भौतिक मन physical mind
भौतिकवादी materialistic
भ्रम illusion
भ्रांति illusion

मन mind
मनोभाव attitude
मनोवैज्ञानिक psychological
मानचित्र diagram
मानसभावापन्न mentalised
मूर्त्त concrete
मूर्त्तिकला sculpture
मूर्त्तिकार sculptor
मूल-स्रोत origin

यकृत् liver
यातायात traffic

रक्तावरोध congestion
रहस्य secret
रुचि taste
रूढ़िवादिता dogmatism
रूपांतर transformation

लीला play
लू sun-stroke
लोकोपकार philanthropy

वर्ग species
वाद-विवाद discussion
वास्तवीकरण objectification
विज्ञान science, supermind
विधान code
विवेक discrimination
विश्लेषण analysis
विश्व universe
वृत्तचित्र documentary film
वैज्ञानिक scientific
व्यक्तित्व individuality

शक्ति faculty, force, power, strength

संकल्प will
संकल्प-शक्ति will-power
संगीतज्ञ musician
संतुलन balance
संयम control
संवेदन sensation
संवेदनशील sensitive
संवेदनशीलता sensitivity
सक्रिय dynamic, active
सत्ता being, entity
सत्य truth
सत्यता reality
सद्वस्तु reality
समर्पण surrender
समस्वरता harmony
समाधि trance
सवाक् चित्र talkies
सहज-प्रवृत्ति, सहज-प्रेरणा instinct
सहनशक्ति endurance
सांप्रदायिकता sectarianism
साक्षी witness
सादृश्य affinity
सापेक्षता relativity

सामंजस्य accord
सिद्धांत dogma, theory
सिद्धि realisation
सूक्ष्म दर्शन vision
सूक्ष्म शरीर subtle body
सूक्ष्म सत्ता apparition
सूर्यमण्डल solar system
सूर्याघात sun-stroke
सृष्टि creation
सोपान-तंत्र hierarchy
स्थूल material
स्नायु nerve
स्रष्टा creator
स्वभाव nature

हीनता inferiority
हैजा cholera

अनुक्रमणिका

अंतरात्मा, सचेतन, ९५

अंधकार,
प्रकाशके अनुपातमें, ११९
-पूर्ण चीजोंको 'इसी तरह' न छोड़ दो, ३६९

अंशविभूतियां (प्रथम), १८८, १९३

अच्छा और बुरा,
विशुद्ध मानवीय निर्णय है, ८०
भगवान्‌पर छोड़ना, १०१
-की भावनासे मुक्ति, १२०
सापेक्षिक, २९२
अपने-आपमें कुछ नहीं, ३९५
(दे० 'अशुभ' भी)

अज्ञान,
अर्ध-ज्ञानसे कभी-कभी अच्छा, १९५
मनुष्यका, २८५, ४१८
और भ्रमके टिके रहनेका कारण, २८५, २८८

अतिमानस, दे० 'विज्ञान'

अतिमानसिक ज्योति,
-को सहनेके लिये अपेक्षित तैयारी, ९६

अतिमानसिक शक्ति,
-योंका राज्य, २२५
-की अभिव्यक्ति और उसे जानना, २२८, २२९
-के दुरुपयोगका खतरा नहीं, ३९४

अतिमानसिक सत्य
और निम्नतर प्राणिक प्रकृतिमेंसे आज चुनाव करना होगा, ३५६-५७

अधिकार (पिता, अध्यापक, राज्याधिकारीकी तरहका),
-का यथासंभव उत्तम निर्वाह, ९२

अध्यापक,
-से, ३-४
अंक देनेवाला, ९२

अनातोल फ्रांस, १६१

अनासक्ति,
(सच्ची), में आवश्यक वस्तुकी स्वतः प्राप्ति, ३९५-९६

अनुभव [अनुभूति],

सूचना :

(१) ऐसे पढ़ें :

शक्ति	**अध्यापक**	**पशु**	**चीज**
-योंका	-से	-ओंमें	-(सभी)
शक्तियोंका	अध्यापकोंसे	पशुओंमें	सभी चीजें

(२) जिन वाक्योंमें केवल शुरूमें एक (') है वह अपने-आपमें पूरा वाक्य है, उन्हें मूल शब्दके साथ मिलाकर न पढ़ें।

चेतनाके परिवर्तनके, १९-२०
-का वर्णन ठीक नहीं, ७५-६
-के कथनमें यथार्थता . . . , ७६
अनंतताका, ९८, ९९
आनेपर सम्यक् वृत्ति, ९९
शरीरसे बाहर जानेके, १२६
(सच्चा), पानेकी शर्त्त, १३७, २३६-३७
दूसरे छोरपर जानेका, १४४
-की शब्दोंमें अभिव्यक्ति, २२१, २२६-२७, २४७, ४०७
-को मूल्य देनेवाली बात, २३५
भगवत्प्राप्तिकी सुनिश्चितता प्रदान करनेवाला, २६१-६२
-की व्याख्या, ३२८-२९
(आंतरिक), और बाहरी परिवर्तन, ३५९-६० (दे० 'प्रगति' भी)
बंद होना : मशालसे जांच, ३७१-३
सच्चिदानन्दका, सीढ़ीपर ऊपर चढ़नेकी जगह अंतर्मुखीनताके द्वारा, ४१२
(दे० 'मानसिक रचना' भी)
अब्दुल बाहा, ३२४, ३२५
अभीप्सा,
जलती रखना, २, ६६-७
(दे० 'पथ' और 'परिवर्तन' भी)
-की पहली क्रिया, ६६
और मांगमें भेद, १३८
सच्ची, १३८
हर्ष प्रदान करती है ?, १३९
और संकल्पसे सत्तामें दबाव, २९०
-में तीव्रता दुःख-कष्टसे, ३०३
और तपस्या सतत, ३५२
(महान्), के साथ जन्म ?, ३५२
और तपस्या क्या एक ही चीज है ?, ३५४
(प्रबल), के बाद ठीक उलटी चीज किनके साथ, ३७०
तुम्हें ही करनी है, ४२३
अभ्यास, [आदत]
"पुरानी आदत" "और पुरानी रचना" में भेद, ३५४-५५
-से चिपक, ४२१-२२
(दे० 'शरीर' भी)
अभ्यास [प्रयास], दे० 'प्रयास'
अमरता,
-के नामसे लोग जैसा जानते हैं, ६९
-का मूल्य, ६९-७०
क्या कोई खिलौना है ?, ३६४,
अवचेतना, २५८, २८१, ३९५
अवतार,
और विभूतिमें अंतर, ४१०-११
अशुभ,
असंतुलनका परिणाम, २३
कुछ भी नहीं है, ४०, १६१
(दे० 'अच्छा और बुरा' भी)
असुर,
प्रथम अंशविभूतियां, १२०, १९३
ये चार सत्ताएं थीं, १९३
अहं
-के लिये भागवत जीवन, ६९-७०
और व्यक्तित्व-बोध, १७७
-पूर्ण ढंगसे योगकी ओर मुड़ना, २६०
समस्त स्थान घेर रखता है, २८९, ३४२
-को विलीन करना आसान नहीं, ३४२-४३
(नैतिक), ३४३

(आध्यात्मिक), ३४३, ३७५
-का 'स्वतंत्रता' के लिये आग्रह और योग, ३५०
'अपनी ओर मुड़ा हुआ होना, ३७१, ३७५, ४१७
-के साथ कर्म करना: पुस्तक लिखना, ... भोजन बनाना, ३७३-७४
-से बाहर आनेका सर्वोत्तम तरीका, ३७५
-का विलोप तुम्हें ही करना होगा, ४२३
(दे० "मैं" भी)

आ

आंख, १२, २६
आंतरिक संकेत [आंतरिक वाणी], १०२,
-को जानना, ३९७-४००
(दे० 'भगवान्', 'सत्य' भी)
आकार,
-की आवश्यकता, १७५
-की आत्मा, २०२
आघात,
कबतक, १०२
आशीर्वाद बन जायगा, १२३
(दे० 'कठिनाई' भी)
आत्म-अनुसंधान, [आत्मान्वेषण]
-का खेल, ३७-९, ५२, २६० सबसे मजेदार, ८९, २६०, ३४६-४७
आत्मदान, दे० 'समर्पण'
आत्म-निवेदन, १३३-३६
आत्मा,
-से अभिप्राय, ३६
और चैत्य पुरुष, १३९
आदर्श,
-के पर्देपर से चीजोंको गुजारना, ३७-९, ८०, ११५, १२१
आधिपत्य,
धन, और काम तीनों परस्पराश्रित हैं, ३९२-९३
आध्यात्मिक,
और चैत्यमें अंतर, १६७-८, २३१-२
शब्दका प्रयोग, २३२
आध्यात्मिक जीवन,
प्रचलित धारणा, १०४
और यंत्रकी पूर्णता, ३३५
आध्यात्मिक शक्ति,
ही प्राणिक सत्ताओंको नष्ट कर सकती है, १९१-९२
(दे० 'रोग' भी)
आलस्य, ३०५, ३५३
और भौतिक तमस्में भेद, ३७६-७
आवश्यकता, दे० 'कामना'
आश्रम,
-में भरती होना और अमरता, ६८
-की स्थापनाका पहला आधार, ९३
'यहां सभी नमूने हैं और सबोंमें एक ही 'शक्ति' का कार्य, २२१-२२
-के वातावरणके प्रकंपनोंको जानना, २२८-२९
-में आंतरिक संकेतके प्रति संवेदनशीलता, ३९९
-में अब शांति ... निरंतर दी जा रही है, ४२७
आश्रमवासी,
'हम एक ही परिवारके हैं, ७०

'यहां होना ही सिद्ध करता है कि तुम योगके लिये निर्दिष्ट हो, २६२
'हम यहां आसान काम करनेके लिये नहीं हैं, ३९०, ३९५
'हमारा बाजारसे चीजें खरीदने जाना अच्छा है ?, ३९५-९६
'हम यहां संयोगवश ही हैं ?, ४२०
आसक्ति [विषक] १८०, ३४२
नहीं होनी चाहिये, ८९
जबतक है, समर्पण पूर्ण नहीं, ३८४
अभ्यासोंसे, ४२१-२२
(दे० 'कामना' भी)

इ

इंद्रियां,
दूसरी बहुत-सी हैं, २३६
बारह कौन-कौन-सी हैं, २४०-४१
इच्छा,
-का भगवान्‌को अर्पण, ११५-१६, २१३
'इच्छा-शक्ति'
भी क्या कोई लोक है ?, ४११-३
इतिहास, ११२

ई

ईश्वर,
शब्दका प्रयोग, २
ईसा,
-के पास जब मूर्खको लाया गया, ८२ टि०, ३८०

उ

उत्पादन, ३८७
'उदार होना', ३०
उदाहरण,
'शेर प्रशंसा सुनकर गर्वित, २९
'चमत्कार दिखानेवाला योगी, ८१
'नियति बदलना, ८३-४
'अनंतके अनुभवसे अस्तव्यस्त फ्रांसका संगीतज्ञ, ९८
'परोक्षदर्शी महिला ऑपरेशन मेजपर, १२६
'पूर्वजन्मोंका वर्णन करनेवाली महिला, १४६
'राजाका अनुभव लेनेवाला चैत्य पुरुष, १४७, १५२-५३
'वे व्यक्ति जो प्राण-जगत्‌की सत्ताओंके अवतार थे, १९५
'मृत्युके बाद कंजूसकी प्राणसत्ता, १९६
'मन व प्राणको संगठित करनेवाले लेखक और संगीतज्ञ, २००-१
'भगवान् मुझे हत्याके लिये नहीं कहेंगे, कहनेवाला, २१२
'दूसरोंमें भगवान्‌की इच्छाको देखनेवाला, २१३
'क्रुद्ध हाथी और महावत, २१४
'हैजेकी महामारीका डाक्टर, २१५
'चिड़ियाघरके सांपके सामने भयका परीक्षण करनेवाला मनोवैज्ञानिक, २१७-१८
'महिला, आंतरिक खोजमें लीन, सड़क पार करते हुए भी, २७५
'लू लगना, २७६-७७

'हैजेका रोगी, २७८
'बच्चा रेलवे लाइनपर, बगलमें सूक्ष्मसत्ता, २८१
'कलाकार दुःखी, कि भावी जगत् संपूर्ण ज्योतिसे बना होगा, ३०३
'बहाई धर्मकी खातिर बलिदान हुआ कवि, ३२४-२५
'बोतल भरना, ३७३-७४
'मूर्ख लड़की, चैत्य संपर्क होनेपर समझदार, ३८०
(दे० 'अनुभव', 'श्रीमाताजी' भी)
उद्देश्य [लक्ष्य],
पृथ्वीपर आनेका, ११८
(दे० 'मनुष्य' भी)
-हीन जीवन हर्षहीन, क्यों ?, ३०-१
(अंतिम), से तुम क्या समझते हो ?, ६३
सदा ही एक आरंभ होता है, १६७
उपकरण,
और चेतना, ४०-२

ऊ

ऊब, ८९
-से बचनेकी कोशिश, २१०-११

ए

एकाग्रता,
-की आवश्यकता, ४
क्या चीज है, ५-६
-को बढ़ाना, ६
-से दरवाजा खुलना, ९
-का उद्देश्य, १०
भगवान्‌पर, हृदयमें, ६७
-द्वारा समयकी बचत, १४०
-का प्रयोग रोग-निवारणमें, २७५-७६, २७७
(अभिभूतकारी), भगवान्‌में, ३५५
(अभिभूतकारी), से ज्योतिके दर्शन, ३५५-५६
(दे० 'कार्य', 'ध्यान' भी)
एकीकरण (सत्ताका),
आंतरिक और बाह्य सत्ताका, ७९-८०
-का प्रथम पग, ८८-९
(दे० 'चेतना' भी)
एलिजाबेथ (रानी), १५३-५४
एलेक्जेंडर ड्यूमास, १५७

क

कठिनाई [विपत्ति, तकलीफ],
सामर्थ्यके अनुपातमें, ४४, ७३
-में लोग अविवेकी, ४६
प्रगतिका साधन बन सकती है, ५१-२, ३६५
-को दबाना नहीं, पीछे हटना, ७१-२
और विश्वास, ७२
-को जीतनेमें सफल न होनेका अर्थ, ७२
-से छुटकारा पाना, ७३, १७२, १८३-८४
-का आरंभ परिवर्तनकी इच्छासे, ७४
उपलब्धिके अनुपातमें, ११९
-यां, जो माता-पिता या पूर्वपुरुषानुकृतिसे आती हैं, २६७-६९

मुझे दी गयी है, इससे सिद्ध होता है . . . ३६४-६५
और मंत्र-जप, ४०१-२
(दे० 'आघात', 'दुःख-कष्ट', 'प्राकृतिक आपदाएं', 'विरोधी-शक्ति' भी)
कला, २९१
और योग, ३०४
(आधुनिक), इतनी कुत्सित क्यों है, ३०५-९
-एं (कुछ), क्या अन्योंसे अधिक सत्यको प्रकटकरती हैं, ३२१-२२
(दे० 'जापान' भी)
कलाकार,
विगत शताब्दी के, ३०५
(बड़े-बड़े), एक ही काल और एक ही देशमें क्यों जन्म लेते हैं, ३१८-१९
कल्पना,
सत्ताके एकीकरणके कार्यमें, ८०, २४९
असत्यपूर्ण, १५७-५८
अपनेको विस्तारित करनेकी, २७२-७३
कहानी,
काल्पनिक, १५७
महानताके स्वरके साथ समाप्त करना, १५८
किस हदतक मूल्यवान् है, २९१
कामना [बुभुक्षा, रुचि, आकर्षण-विकर्षण],
सहायक थी, और कामना ही बाधक है, ३
होनी ही नहीं चाहिये, ३
यथार्थ निर्णयमें बाधक, १२-३
और सच्ची आवश्यकता, ४८-४९, ३४१, ३९६-९७
(दबी), और स्वप्न, ५७
उमर आनेपर तुम्हारा कर्तव्य, ७१-२, ७७-८
-की तृप्तिको ढकनेके लिये भगवान्‌का उपयोग, ७७
और अभीप्सा, १३८
अंदर उत्पन्न नहीं होती, वह प्रकृति-की लहर है, ३३२-३३
-ओंसे बचानेवाला संरक्षण, ३३३
'मांगोंकी स्वेच्छापूर्वक तुष्टि', ३४१, ३४२
-पर व्यक्तिगत प्रभुत्व या समष्टि-गत भी ?, ३९३
-का प्रकंपन, ३९४
बाधक, आंतरिक संकेतको जानने-में, ३९९
(दे० 'आसक्ति', 'कार्य' भी)
कामावेग [कामवासना], ३९२, ३९३
-पर विजय सभी मनुष्योंमें, १९४
-से संबंधित छोटी-छोटी सत्ताएं, १९७
कारारुद्ध,
होनेका अनुभव, ९७
अनुभव होनेपर क्या करना चाहिये, १००
कार्य [कर्म, काम], १५८, १७४
बिना कामनाके, १
इसलिये करना कि इसे करना चाहिये, १३, ३८४
(किसी भी), को ग्रहण करने और छोड़नेमें समर्थ होना, ८९, ३८४

के अपने पार्टको गंभीरतापूर्वक अदा करना, ९२
भगवान्‌की पूजा हो, ९३
और समर्पण, ११५
अच्छे-से-अच्छे रूपमें, ११८
'क्या करना चाहिये' इसका अंतर्ज्ञान, १२०-२१
(श्रमसाध्य), में भी ध्यान, १२२, १२४-२५
(अच्छा), करनेके लिये समयकी आवश्यकता ?, १३९-४०
आरंभ नहीं करोगे, यदि पहलेसे पता हो कि वह व्यर्थ जायगा, १६६
करने लायक, २२१, २५९-६०, ४१३
-का सर्वोत्तम क्षेत्र, २५९-६०
नहीं करोगे, यदि जान जाओ कि क्या होने जा रहा है, २८५
पूरी दिलचस्पीके साथ करना, परिणाम विपरीत होगा यह ज्ञात होनेपर भी, २८५
-में "मैंने किया है" की भावना, २८७-८९
करनेसे पहले पानेकी प्रवृत्ति, ३०५
संपीडनके भावके साथ, ३२३
करने या जीवन-यापनके अपने तरीकेको न बदलनेवाले, ३४१, ३४२, ३५०
तुम्हारे लिये कर दिया जायगा, यदि तुम अपने समर्पणको पूर्ण बनाओ : व्याख्या, ३५३, ४२३
-को सुचारु रूपसे करना हो तो वही बन जाना होगा, ३७३-७४
-का निवेदन क्या समर्पण नहीं ?, ३८३-८५
हाथमें लेनेसे पहले आंतरिक संकेत-को जानना, ३९७-४००
-में एकाग्रताको भंग किये बिना भगवत्स्मरणका अभ्यास करना, ४००
बिगड़ने लगना और मंत्र-जप, ४०१
-में तुम्हारा लक्ष्य भागवती 'शक्ति' की सेवा, ४०२
काल [काल-तत्त्व], २०४, २२५
-का आरंभ, १६४-६५
अतिमानसिक स्तरपर, १६५
सापेक्षिक है : व्याख्या, २३७
काली,
-की मूर्तियां और चित्र, ४०८-१०
कृपा, दे० 'भागवत कृपा'
क्रोध,
-पर विजय, १७२, १८३, २५६

ख

खेल,
खेलना बुरी तरह, १०-११
-में चेतना और उपकरणकी बात, ४१-२
खेलना जीतनेके लिये ?, ४२
और ध्यान, १२२
और भगवत्स्मरण, ४००

ग

गप-शप,
चेतनाको नीचे गिराती है, १५५-५६

गर्भाधान,
-का क्षण, १४८, २६६-६७
गीमेका अजायबघर, २०२
गुरु, बनना, ७५
गुलाब, १६९
गुस्ताव मोरो, का शिष्य, ३०५-७
ग्रहण करना,
भागवती 'शक्ति' को, ७
पर बाहरसे नहीं, ४०२
'किसी व्यक्तिसे कोई वस्तु न ग्रहण करनेका नियम', ४०३
ग्रहणशीलता, ३२, ४०२
शरीरमें और विचारमें, २७०-७४
'इच्छा-शक्ति' के प्रति, ४१३

च

चमत्कार, ८२-५, ८६-७
चलचित्रण-कला, ३३४
चिंता, ४६, ७२
चीज [वस्तु],
-ोंका वस्तुनिष्ठ रूपमें देखना, १३
", अपने स्थानपर नहीं हैं, ३९-४०, २९३
-ोंको देखनेका सामान्य और यौगिक तरीका, २०
-ोंको देखनेके तरीकेका महत्त्व, १७३
(दे० 'भाषा' है प्रत्येक)
-ोंका मूल्य तभी जब उन्हें स्वतंत्र पसन्दसे चुना जाय, २६४
-ोंका मूल्य किस हदतक, २९२
" (सभी), घनिष्ठ रूपमें युक्त हैं, ३९३, ४१८
चुनाव
बिना पक्षपातके, १
धर्म, देश, परिवारका, २६४
-की आवश्यकता, ३३४-३५
तुम्हें ही करना होगा, ३५२
आज करना ही होगा, ३५७-५८
चेतना, २६१, २९१
-का परिवर्तन, १८, १९, २०, ३६७
और उपकरण, ४०-२
-का अंतर, ४४-५
-की उच्चतर स्थितिमें पहुंचनेसे पहले बुद्धिवृत्तिके विकाससे व्यक्ति अपनेको सुखी बना सकता है, ४६
(उच्चतर और बाह्य) के व्यवधान-को पाटना, ६०
-के अन्य भाग छिपे रहते हैं, ७२-३
-की अवस्था, जब सर्वोत्तम घटित होता है, १०५
-की अवस्था, जहां दुर्घटित नहीं होता, १२२-२३
-की मध्यवर्ती स्थितिमें अवांछनीय वस्तुओंसे संबंधविच्छेद जरूरी, १५६
-की 'विज्ञानमय' अवस्था, १६०-६२
इसकी नकल करना, १६१
क्या वस्तु है? २३९, २४६
एक ही है, २४०
विचारके बिना भी होती है, २४६
-की शिथिलता, दुर्घटनाओंका कारण, २८०-८१
(अपनी), को बदल दो, फिर कुछ दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत न होगा, ३०१
मूल रूपमें और बाहरी रूपमें, ३८०

और भौतिक 'प्रकृति'में भेद, ३८२-८३
चैत्य उपस्थिति,
उद्‌भिद् जीवनमें, १६९, १७०
चैत्य केंद्र,
-में विद्यमान भगवान्‌के प्रति उद्‌घाटनका परिणाम, २०
-के चारों ओर मन व प्राणको संगठित करनेका अर्थ, २३४
चैत्य जगत्,
-के मूल उपादान-तत्त्वके गुण, २३४
चैत्य पुरुष,
-में विराजमान भागवत उपस्थिति, बच्चों, पौधों, जानवरोंमें, २५
-के साथ संपर्क खो जाना (बच्चेका), २६
-के संपर्कके लाभ, ५१, १६८
ही योगका संकल्प करता है, ७८
अधिकांश समय तुम्हारे अंदर नहीं होता, १३२, १४१-४२
बच्चेमें कब आता है, १४२
और दिव्य स्फुलिंगमें भेद, १४३
केवल पृथ्वीपर ही, १४४ टि०, १६६-६७, २४७, २४८
-का विकास, १४६-४८
-का अगले जीवनकी अवस्थाओं-का चुनाव, १४६-५४, १८७
-का बच्चेके निर्माणका निरीक्षण, १४८-४९ (दे० 'अंतरात्मा' भी)
जो अपना विकास पूरा कर चुका है, उसका अगला चुनाव, १४९-५०, २४८
-के शरीरमें आनेमें 'आकस्मिक घटना' की व्याख्या, १५०-५१
-की प्रगति व्यक्तीकरणसे, १५२
-को जगानेका साधन क्या है ?, १६८
-के ठीक स्थानपर जन्म लेनेके बारेमें, १७१
ही व्यक्तिकी स्थायी वस्तु, १७६
(सभी), का उद्‌गम एक ही है क्या ?, १८८
दूसरे जगतोंमें, २४८, २५३
-के संपर्कमें आओ, दिव्य प्रेमको अनुभव करनेके लिये, २५०-५१
-के संपर्कमें लानेवाले गुण, २५१
सच्चाई, संकल्प, अध्यवसायका मूल स्रोत, २६१
(जाग्रत्), की निगरानी व्यक्तिकी परिस्थितिपर, २६८
के संपर्कसे मूढ़तासे मुक्ति, ३७९-८०
चैत्यसत्ता,
-में प्रवेश चौंधियानेवाला, ९६
क्या है, ९७
चैत्य स्मृति, १५०

ज

जगत् [संसार]
बुरा है, की शिक्षा, २१
-में प्रगति हो रही है, २३
विषसे भरा है, ७४
बुरा है, इसीसे अच्छा बननेकी आशा, १२०
-को कोसनेके बदले, उसे बदलनेके लिये कार्य करें, २५९, ३९४

-में सब कुछ भ्रम है, २८५
-में बुराइयां कहां से आयीं, दुःख-कष्ट क्यों है .... पर बच्चोंके साथ विचार, २९४-३०४
(यह स्थूल), सबसे नीची श्रेणीका है ?, २९६
(दे० 'विश्व', 'सृष्टि' भी)
जड़तत्त्व, २९६
उच्चतर इच्छाशक्तिके प्रति ग्रहण-शील बन रहा है, २१६
-में प्रेमका अवतरण, २४५
जड़वाद,
-का आधार, २८६, २८९
जागरूकता, दे० 'सचेतनता'
जाति,
-की आत्मा, २४२
जापान, २३६, २६४
-की कला और जीवन, ३१३-१८
-का जीवन और आध्यात्मिकता, ३१७-१८
-के भू-दृश्य, ३२७
जीवन,
(यह), पहले जी चुके हो, का अनुभव, १४५
कबतक समाप्त नहीं होता, १४७
(साधारण), में बाह्य सत्ता और चैत्य पुरुषके मध्यका संपर्क कटा-कटा, १५०
(साधारण), की अनुभूतियां ऐसे ही गुजर जाती हैं, १५२
पहले ही घृणित वस्तुओंसे भरा है, १५७
-को दीर्घस्थायी बनानेका उद्देश्य, ३३८
'द्विविध' बिताना, ३५०, ३८९
जीविका,
-का उपार्जन और ईमानदारी, ३८८
ज्ञान,
-की प्राप्ति, १३, ४७, १६२, २२१
-को अमलमें लाना महत्त्वपूर्ण, १८५
अंदर ही है, २०३
(दे० 'अज्ञान', 'अनुभव', 'सचेतनता' भी)

झ

झूठ, ३७, १३०, ३४६-४७

ट

टारटिनी, १२९
टालस्टाय, के लड़के के मानव-एकता-संबंधी विचार, २९३-९४
टिटियन, ३०९
टेरेसा (महान्), २९५
टोकियो, ३१६

त

तत्त्वमीमांसा,
सबसे निरर्थक, २२२
तपस्या,
और समर्पण, ७१
-का सच्चा अर्थ, ३५३
और अभीप्सा, ३५४
करना और अपनी ओर देखते रहना, ३७५

तमस्,
-से बाहर निकालनेवाली चीज, ३५८
(भौतिक), क्या चीज है ?, ३७६-७७
त्याग,
-की अभावात्मक क्रिया भी आवश्यक, ३६९-७०

थ

थकान [थकावट],
अपनेको छितरा देनेके कारण, १४०
साधारण पुस्तकें पढ़नेसे, १५४
उच्च स्तरपर रहनेके प्रयाससे, १५५
नीचे डूबकर दूर नहीं कर सकते, १५९

द

दमन [निग्रह], ५८
दरिद्र,
-का अर्थ, ४१६-१७
दर्शन-शास्त्र, १८०, २९२, ३८१
दिखावा, ७५, ३४९
दिव्यचेतना,
-को पानेके लिये सब कुछ खोना जानना, २०८, २५२-५३
सीधे कार्य कर सके इसके उपयुक्त आंतरिक अवस्था, ३८३
दिव्य जीवन,
क्या कोई पुरस्कार है ?, ३६४
-के प्रति उत्सर्ग सच्चा होना चाहिये, ३८८-८९
दिव्य शक्ति,
-के लिये भौतिक प्रमाणोंकी मांग अनुपयुक्त, ८२-३
-के बिना कुछ भी संपन्न न हुआ होता, इसे सच्चाईसे अनुभव करना, २८७-८८
-यां, पृथ्वीपर, धनके अलावा, ३९२
दीक्षा पद्धतियां (प्राचीन), २२७, २७०
दुःख-कष्ट [कष्ट, पीड़ा, यातना],
दूर हो जायं यदि... ३, ४०
-का कारण, २३, ४०
भोगना और उससे ऊपर होना: समन्वय, ४४-६
(अपनी श्रद्धा या उच्च आदर्शके लिये), सहनेवालोंका अनुभव, ३२५, ३६५
अंधकारपूर्ण वस्तुओंपर ज्योति डालनेपर, ३७२
'मनुष्य दुःखी कब होता है, ४१७
दुःस्वप्न, १९६-२००
(दे० 'स्वप्न', 'स्वप्नाचरण' भी)
दुर्घटना,
-को देखनेवाले विभिन्न व्यक्ति, १२
-ओंका कारण, २७९-८०
खेल-कूद और व्यायाममें, २८०
(दे० 'चेतना' भी)
दुर्बलता,
शक्तिका चिह्न, ११९
एक असच्चाई है, २५८-५९
दिसंबर २५,
-का त्योहार, ६

दूसरे,
-को जानना व समझना, १३, २०, १६०, १९५, २३२-३३
क्या कहते या करते हैं इससे उदासीन, १७, ९०, ११८, ३८९-९०
-को अपनी पद्धतिके लिये राजी करना, १८४, २९३, ४०२
-की इच्छाके सामने नमनीय, २१३
-के मार्गका अनुसरण, ३६१
-का सहारा, ४०३
(दे० 'निर्णय' भी)
देकार्त, १७५, ३०१
देवता,
-ओंके पृथ्वीपर अवतार, १८८
-ओंका अतिमानस, अधिमानस और मानव मनमें स्वरूप, ४०८
देश,
-देशकी हवामें भिन्नता, २३६
-को चुनना, २६५-६६
देश और काल,
प्राणमय और मनोमय लोकोंमें, २३१
(दे० 'काल' भी)
दोष,
-से मुक्तिकी पद्धति, १८३-८४
(दे० 'कठिनाई', 'परिवर्तन' भी)

ध

धन [धन-शक्ति],
प्राण-जगत्‌की शक्तियोंके अधिकारमें, १९३-९४
-राशिपर सांपोंका पहरा, १९४
एक विश्वजनीन शक्तिका दृश्य-चिह्न है, ३८५
-का उपयोग भागवत भावसे : व्याख्या, ३८५-८६
-के कारण उत्पन्न आदतोंका बंधन : व्याख्या, ३८६
-के प्रति समुचित मनोभाव, ३८६
कमानेकी शक्तिका अर्थ, ३८६
-का अंबार बिना अन्यत्र गढ़ा खोदे नहीं : टिप्पणी, ३८७
(अनुचित तरीकोंसे प्राप्त), में-से भगवान्‌के लिये मांगना, ३९०-९२
निर्व्यक्तिक शक्ति है, ३९०-९१
-को श्रीमांके लिये कैसे पुनः जीतना, ३९२
-को इतना महत्त्व देनेवाली चीज, ३९२-९३
धर्म, २४, ८२, ४१०
और आध्यात्मिकता, २६३
-में बलिदानको इतना महत्त्व क्यों ?, ३२३-२५
"धर्मार्थ बाजार", १७९
धैर्य, दे० 'विजय' और 'पथ'
ध्यान,
और एकाग्रता, ८-९
-की क्षमताका गर्व, १०४
कई प्रकारके, १०४-६
सक्रिय, १०४
(आश्रममें), और खेलके मैदानमें एकाग्रतामें भेद, १०६-७, १२३-२४
और आध्यात्मिक प्रगति, १२१-२३
और काम, १२२, १२४-२५
करनेके लिये कुछको कहा गया

है . . . हम किस श्रेणीके हैं ?, १२७-२८
जिसमें समस्त शक्ति समाप्त हो जाती है, २८८
-में "आंतरिक चेतनाके दबावकी मात्रा" : व्याख्या, २९०
-में अपने-आपको शून्य बना देनेका अर्थ, २८९-९०

न

नमनीयता, ३८५
क्या चीज है, २१२, ३७७-७८
और दुर्बलता, २१२-१३
निंदा,
और प्रशंसासे ऊपर, ९०
(दे० 'दूसरे' क्या कहते)
निग्रह, ५८
नियति, १८०
बदल जाती है, ८३-४
'पूर्व निर्णीतका स्तर और संभावनाओंके खेलका स्तर, १६२-६४
-यां, बहुत सारी हैं और एक-दूसरेपर कार्य करती हैं, ३८१
निराशा [निरुत्साह, अवसाद], ११, २५९, ३८२
-वादी दृष्टि, २१
एवं विद्रोहके दौरे, ५०-१, २५४, २५८, ३४५
सबसे बुरी बात, १८४, १८५
'अवसन्न हो जानेके स्वभावका परिवर्तन, ३५१
निरीक्षण [आंतरिक अवलोकन],
ही पर्याप्त नहीं, ३८
और विवेककी योग्यता अवश्य होनी चाहिये, रूपांतरके लिये, २५३ (दे० 'आत्म-अनुसंधान', 'परिवर्तन' भी)
निर्णय,
यथार्थ, ११-३
न करना चीजों और मनुष्योंके विषयमें, ३, ४६-७, १९५, ३४७, ४१९
निश्चल-नीरवता, ९९
-में सुनना, २०४
-में समझना, २३२-३३
सच्चा अनुभव पानेके लिये, २३६-३७
और पूर्ण शून्यावस्था, २८९
-में आकर्षित होनेवाली शक्तियां, २९१
(मानसिक), दे दिये जानेपर भयभीत लोग, ३४२
निश्चेतना,
और पत्थरका अंतर, २४५
क्या है, २४६-४७
नींद [निद्रा, सोना],
-पर ध्यान देना आवश्यक, ५७
(उच्चतर), के तीन मिनट . . . ६१-२
स्वप्नरहित, १०८-९
-में शरीरसे बाहर जाना, १३०
-को संरक्षित करना, १३१
-में निश्चेतना या अतिचेतना में जानेके परिणाम, ३२६-२७
-में सचेतन होना, ३६१-६२
(अच्छी), लेनेकी विधि, ३६२
(दे० 'स्वप्न' भी)

नैतिकता,
और सत्य, १२
और भगवान्, ८१
नैतिक धारणाएं, ८०, ८१
न्याय, २३
संबंधी मानवीय भावना, १०१

प

पथ [आध्यात्मिक व योगपथ], ११७
बहुत लंबा है, इसमें बहुत समय, सतत दीर्घकालीन प्रयास एवं अटूट धैर्यकी आवश्यकता होती है, ४८, ६०, ६६, ८८, ९५, १८५, २४९, २५१, २५३, २५५, २५७-५८, ३४०, ३४५, ३५२, ३७२
-के लिये तैयार हो जानेके चिह्न, ६६, ९७, २६२
-में प्रविष्ट हो चुके, इसके लक्षण, १०३
-पर चलनेका निश्चय लेनेके परिणाम, २६८
-पर स्वीकार्य निम्नतर सत्य" : व्याख्या, ३५३
-का चित्रण, ३६१
-पर चलनेका मनोभाव, ३६१
परम सत्य, २
परात्पर चेतना,
और "देश और काल", १६४-६५
जैसे-जैसे नीचे आती है मलिन होती जाती है, १६६
परात्पर सत्य,
-के प्रतिनिधि होनेकी भावना, ९३
परात्परा 'माता',
कौन हैं ?, ४०५-६
परिणाम [फल, प्रतिफल],
-की चाह, १३, ५०, ३१३,
'भागवत कृपा' पर निर्भर, २८६, २८८-८९
(दे० 'कार्य' भी)
परिवर्तन,
जीवनमें सतत प्रयासद्वारा, ३९, १०३, १२३, ३७२
मानव प्रकृतिका, १८१-८५
प्राणका, १८२-८४, २५३-६२
स्वभावका, ३५०-५१
बाह्य प्रकृतिका और आंतरिक अनुभव, ३५९-६०
बाहरी अभ्यासोंका, उन्नतिका लक्षण नहीं, ४२२
(दे० 'स्वभाव', 'मानव-स्वभाव' भी)
परिवार, २६६
को चुननेका मतलब, २६४-६५-
परिस्थिति, २१७, ३२५
-का अधिक-से-अधिक लाभ, ३५
-को श्रद्धावनत भावसे स्वीकार करना, १०१
-यां, जो हमें प्रदान की गयी हैं, ११९, ३६४
(दे० 'विश्वास' भी)
परोक्ष दर्शन,
-की क्षमता, १२७
पशु,
-ओंमें चैत्य उपस्थिति, २७, १४६
जातिकी आत्माका अनुसरण करते हैं, २४२

-ओंकी इंद्रियां मनुष्योंसे विकसित, २४२-४३
मनुष्यके संपर्कमें अपनी क्षमता खो देते हैं, २४३, २४४
पानी,
-के विषयमें भविष्यवाणी, २४१
पारितोषिक, दे० 'बालक'
पार्थिव स्मृति, १११-१२
-में प्रवेशकी साधना, १२५
पियेर क्यूरी, २०१
पुनरुज्जीवन, १४५
पुनर्जन्म,
लगातार एक ही देशमें !, १५१
-के युगचक्र, ३१९-२०
(दे० 'चैत्य पुरुष' भी)
पुरुष,
या नारीकी योनिमें जन्म लेना, १८७
पुस्तक,
(साधारण), पढ़नेका प्रभाव, १५५
-में कुत्सित चित्रण, १५७-५८
-की कौन चीज तुम्हें प्रभावित करती है, २०३
पढ़नेके बाद फिर छः मास बाद पढ़ना, २०४
", आध्यात्मिक, २२७
जो तुम्हारी समझके परे है...., २७४
पूर्णता, १७
क्या है, १४-६
और सफलता, १४-६
और प्रगति, १४-६
-के लिये पहला पग, ३३
व्यक्तिमें, २१९
पूर्णयोग,
-को अंततक कौन कर सकते हैं, ३४०-४१
नहीं किया जा सकता यदि..., ३४०-४१, ३४९-५०
पूर्वजन्म,
-में हम मिल चुके हैं, ७०
-ोंकी स्मृति, १४६, १५०, १५१, १५४
-ोंकी सच्ची स्मृति प्राप्त करना, १८५-८६
-ोंके विषयमें सामान्य नियम ?, १८७
पृथ्वी, २०८
-का अस्तित्वमें आना, २४६-४७
(दे० 'चैत्य-पुरुष' भी)
"पौधोंका बगीचा", २९
प्रकाश, ९६, २९१, २९७
-की गति और युगपदताकी चेतना, २२४
-की शक्तियोंकी सहायता अल्पकालिक क्यों ? ३६३-६४
प्रकृति (वैश्व),
-की गतियां ज्वार-भाटेकी तरह, २२
-का ही सब कार्य है, इस कथनमें खतरा, ७७
-की प्रचंड शक्तियोंके साथ क्रीड़ा, १७८
प्रकृति (अपनी, बाह्य निम्नतर),
-की धारामें अपनेको न बहने देना, ९३-४
-के दुराग्रही अंगोंके साथ व्यवहार, १८६-८७
-की बाधाका स्वरूप, अतिमानसिक

सत्यके प्रति, ३४१, ३५७
पूर्णतः अज्ञ होनेसे चुनाव कैसे कर सकती है ?, ३५७-५८
(दे० 'परिवर्तन', 'सत्ता' भी)
प्रगति,
करना मुख्य वस्तु, ८
और पीछे हटाव, २२
-का सुनिश्चित लक्षण, १०३
करानेकी इच्छा करना, १६१
-का संकल्प चैत्य प्रभावसे, १६८
स्तर-पर-स्तर, १८४-८५, ३४५
(आंतरिक), का व्यवहार भौतिक रूपमें करना जरूरी, १८५
सीखे हुएको भुला देनेमें..., २०९
-की अभीप्साको जाग्रत् करनेवाली चीज, ३५८
(दे० 'चैत्यपुरुष', 'पूर्णता', 'ध्यान' भी)
प्रतिभाशाली व्यक्ति,
और निर्दोष यंत्र, ४०
प्रतीत होने,
-की अपेक्षा 'होना' कहीं अच्छा है, १७
प्रत्यय,
(नवीन), मस्तिष्कमें छोटी-सी कुंडली बना देता है, २०३, २७४
(किसी), पर विचार करना, २०७
प्रयास [प्रयत्न, अभ्यास, अध्यवसाय]
-से सब चीजें विकसित की जाती हैं, ६, २७४-७५, ३५२
-में ही आनन्द, ३१-३
-का उत्साह, ५२, २५४, २८५
-में सफल न होनेका अर्थ, ७२-३
(व्यक्तिगत), से विज्ञानमय अवस्था नहीं पायी जा सकती, १६२
(दे० 'पथ', 'परिवर्तन', 'समर्पण' भी)
प्रलय, २२३
प्रशंसा, दे० 'निंदा'
प्रसन्नता,
बनाये रखना जरूरी, २५६
प्राकृतिक आपदाएं,
क्यों घटित होती हैं, १७८
प्राण [प्राण-सत्ता],
-को प्रशिक्षित करना, ४८, ७८
-का सहयोग अपेक्षित, ४९-५०, २६१
-में क्रियाशक्ति, ५०
-का सतत सहयोग पाना आसान नहीं, ५०
और मनके मेलसे शक्तिशाली रचना, ५८
रूपांतर नहीं चाहता, ७८, २५४, २५८, ३५४
-पर दबाव ?, ९८-९
-का मृत्युके बाद ?, १९६-९७, २००, २१०
-को व्यष्टिभावापन्न बनाना, १९८
-के साथ बरतनेमें सम्यक् वृत्ति, २५५-५६
क्या जन्मसे ही विकृत ?, २६६-६७
'प्राणिक रूपमें हमारा जीवन, ३४४
(दे० 'परिवर्तन', 'दुःस्वप्न' भी)
प्राण-जगत्,
-की समस्त भयावह वस्तुएं युद्धके

समय पृथ्वीपर उतर आयीं थीं, ३११
-की शक्तियोंका स्थूल जगत्में मुकाबला कठिन, ३११
प्राणिक शरीर, दे० 'स्नायविक शरीर'
प्राणिक सत्ता (प्राण जगत्की), १३१
-एं, तुम्हारा मजाक उड़ाती हैं, ८६-७
-ओंमें चैत्यपुरुष नहीं होता, १४४ टि०, १८८
-ओंका व्यक्तिको अधिकृत करना, १८९
-ओंका आध्यात्मिक जीवनकी ओर आकर्षण, १८९
-ओंकी प्रमुख विशेषता, १८९
-ओंके लिये मनुष्य नन्हीं वस्तुएं, १९०
(दे० 'विरोधी शक्ति', 'सत्ताएं' भी)
प्रेम, ४६
अभीप्सा-रूप और कामना-रूप, १३८-३९
प्राण और जड़तत्त्वमें, १६९
पत्थरतकमें, २४५-४६
निश्चेतनामें कूद पड़ा, २४७
-को प्राणिक प्रकंपनसे पृथक् करना, २५०
"उत्पन्न होनेमें अनिच्छुक" : व्याख्या, ४१५

फ

फल, दे० 'परिणाम'
फूल,
-में सौंदर्य-बोध, १६९-७०
-का अपना विशिष्ट अर्थ, १७०
फोटोग्राफी, ३०८
फ्रांस, २३६, ३१९

ब

बलिदान, दे० 'समर्पण'
बहाई धर्म, ३२४
बालक [बच्चे],
-को क्या जानना चाहिये, २१-८
-को सत्यकी विजयमें विश्वास कैसे दिलाया जाय, २२-३
-में नैतिक अशांतिको अनुभव करनेका अभ्यास, २३-४
-की आंतरिक सत्यके प्रति सचेतनता, २५
-को डांटना नहीं चाहिये, २८
-को पारितोषिक क्यों ?, ९१
सच्चे, पर कल्पना और वास्तविक जीवनमें भेद न करनेवाले, १३०
स्वप्न जारी रखनेवाले, १३०
-से सात वर्षसे पहले मानसिक प्रयासके लिये न कहना, १४२
जगत्में आता है तो रोता आता है, १४५
पूर्वजीवनका विवरण देनेवाले, १५२
लगभग मृतजात, १८९
जो युद्धके दिनोंमें, यूरोपमें, पैदा हुए, ३११
(दे० 'चैत्य पुरुष' भी)
बिल्ली,
-का मातृप्रेम, २७

-यां, प्राण-सत्तामें निवास करती हैं, ३३१
(दे० 'श्रीमाताजी' भी)
बुद्ध, ९०
-का दृष्टिकोण, १७८, २१९, २६३, ३०१, ३९३-९४
बुद्धिमान्, ४७, १७३, ३८०
'बुलेटिन',
-के अंक किनके लिये, ७
बोलना, ४०७
नहीं, बिना सोचे, ३७
-पर संयम, २०६
ब्लैवसत्की (मादाम), २८२

भ

भगवान्,
-को प्रसन्न करना और पूर्णता, १७
प्रत्येक अंगमें भिन्न-भिन्न ढंगसे प्रकट होते हैं, ५६
-की प्राप्तिके पग, ६६-७
-में छलांग, ६८
-के शासनका मतलब औसत मानवके लिये, ६८
-को पानेकी एक बार भी यदि अभीप्सा उठी हो तो... ७९, २६१-६२
और नैतिकता, ८१
-की वाणी, ८७ (दे० 'आंतरिक संकेत' भी)
अभीतक क्यों नहीं आये ?, ९५
-की ओर मुड़नेवालोंके सहारे छीन क्यों लिये जाते हैं, १०१
हमसे अधिक जानते हैं, १०१
-के साथ मोल-तोल, १०२
सर्वशक्तिमान् हैं, फिर भी परिस्थितियां परिवर्तित नहीं, ११६
-की इच्छाको जानना, २, ८७-८, १३७, २१३
-की उपस्थितिमें निवासको कैसे जानें ?, १३६-३७
-की उपस्थिति परमाणुमें भी, १४१-४२
ऐसा जिसे हम नहीं मानते, १८०
-के समीप आनेपर होनेवाली सबसे बड़ी मूर्खता, २११
-पर अपनी धारणाओंको लादना, २१२
-की आत्माहुति, २४६, २४७, ३२४
धर्मके, २९५
सुहृदोंके साथ कठोर, २९५, ३६४
क्रीड़ा-रत बालक हैं, २९९
-को पानेके प्रयासमें अभिभूतता, ३५५
अपनी योगमायासे आवृत : व्याख्या, ३८०
-को छोड़ कहीं अवलंब, संतुष्टि, आवश्यकताकी पूर्ति मत खोजो, ४०३-४
शांति देनेके बदले अहंको ही नष्ट क्यों नहीं कर देते ?, ४२३
-की सृष्टि-रचना, दे० 'सृष्टि'
(दे० 'ईश्वर', 'सच्चिदानंद', और दिव्य, परात्पर, भागवतके अंतर्गत भी)
भय [भीति], २७८
-से भरा है मानव, २१६
-को शरीरमेंसे भगाना कठिन,

२१६-१७, २१८
क्यों होता है ?, २१७-१८
रोगका कारण, २६९
(युद्धसे उत्पन्न), ३११
भागवत 'इच्छा-शक्ति'
-को ग्रहण करना, ४१३
भागवत कर्म,
-के यदि तुम सच्चे कर्मी..., ३९५
भागवत कृपा,
और नियति, १६४
-को लोग बीचमें आने देना नहीं चाहते, २८६-८९
-पर दोषारोपण, ३७२, ४२३
भागवत चैतन्य,
मूलतः मुक्त है, १६३
भागवत प्रेम,
और कृपा, २४९
-से सचेतन कैसे हों ?, २४९-५०
भागवत शक्ति,
-से बदहवास होना, ९६
और दिव्य 'शक्ति' में अंतर, ३६७
-से अवांछित प्रकंपनोंको रूपांतरित करना, ३९४
भारत,
-में आध्यात्मिक जीवनविषयक अंतर्विश्वास, १५१
एक सुविधा-प्राप्त देश, ३११
और यूरोपके सामान्य मनुष्यमें भेद, ३२०-२१
भाषा,
बाह्य सत्ताकी, ८, ३७६ टि०
है प्रत्येक विज्ञान, धर्म..., सब समझनेके तरीके हैं, १७३, २९१, ३२०, ४०७
-का निर्माण मानव उद्देश्यसे, २२६-२७
किस हदतक कामकी, २९१
भूल, ११७
दोहरानेका अर्थ, १५९-६०
भूलना, [भूल जाना]
पहला सीखा हुआ, २०९
-की कोशिश, मनुष्यका प्रधान कार्य, २१०
-की कोशिश, युद्धकी विभीषिका-को, ३१०, ३१२
जगनेपर कि हम कहां हैं, ३२६
भोजन,
खानेसे पहले भगवान्‌को समर्पित करना, ३४३
भौतिक,
क्षेत्रमें सब कुछ एक पद्धतिका प्रश्न है, २७६
रूपमें हमारा जीवन, ३४३
भौतिक चेतना,
-के कई स्तर हैं, २४१
और प्रकृतिको उद्घाटित करने और नमनीय बनानेका संकल्प": व्याख्या, ३७७-७८
भौतिक जगत्,
और अंधकार व अज्ञान सहवर्ती हैं, २८३-८४; इस सहवर्तिता-का कारण, २९१
भौतिक पूर्णता,
-का अर्थ, ३३४
और आध्यात्मिकता, ३३४-३५
भौतिक प्रकृति, ३८२-८३
भौतिक विज्ञान, २१६, २२७

भौतिक शक्ति,
प्राण-जगत्‌में अशक्त, २००
भ्रम-भ्रांति, २२०, २८४, २८५, २८८

म

मंत्र,
वेदोंके, १३८
और कठिन परिस्थिति, ४०१-२
मन, ९९
-के शांत होनेपर समस्याका हल, ३
ज्ञानका साधन नहीं, ३, ४७, १७३, १७४, २३०
कर्मका, व्यवस्थाका यंत्र, ३, १७४
-का समर्थनका स्वभाव, ३८
अपने-आपसे संतुष्ट, ४३
-के विकासकी विधि, ४३
-की बुद्धिवृत्तिके विकासके लाभ, ४६
-को निर्णय मत करने दो, ४६-७
(दे० 'निर्णय' भी)
-को भी विश्रामकी आवश्यकता ?, ६१
जानता है छिद्रोंको कैसे भरा जाय, ७६, ११०
-से किसीके विषयमें सोचना, १३२, १९८
-को बाध्य करना !, १८१
-में अंतहीन तर्क-वितर्क, १८३, २३८
-को नीरव बनाना, १८६
-की सहायता समर्पणमें, १८७
शरीरमें बद्ध नहीं, १९८
-को व्यष्टिभावापन्न बनाना, १९८
एक गति है... बहुत-से स्तर हैं ... भौतिक मनके स्तर प्राणमय शक्तियोंसे प्रभावित, २३०
-का विचार ही चीजोंको दुःखपूर्ण या सुखपूर्ण बनाता है, ३०१, ३६४-६५
-के काम करनेका नमूना, ३०३
'मानसिक रूपमें हमारा जीवन, ३४४
(दे० 'मस्तिष्क' भी)
मनुष्य,
जो करना चाहता है उसे करना कठिन नहीं, ५
एक मध्यवर्ती सत्ता है, १६
क्षुद्र, पर अपनेको बड़ा समझनेवाले, २९
सुन्दर पशुओं जैसे, ३२
बुरे स्वभाववाले, ५१
संतुष्ट रहनेवाले, ७८
एक टुकड़ेका बना नहीं, ९५, ३४५
-का दैवनिर्दिष्ट कार्य, ११८, ३३२, ३३६-३७
क्षमताके विपरीत वस्तुको वहन करता है, ११९
-का व्यक्तिगत जीवन निम्न स्तरका, १५८-५९
(ज्योति-प्राप्त), जब कार्य करना आरंभ करते हैं, १८१
-के बारेमें कैसे जानना कि वह प्राणिक सत्तासे युक्त है या नहीं ?, १९४-९५
जिनका मन पक्का किला था, १९८-९९
-के लिये किसी विशाल, परिवर्तन-

शील स्थितिमें रहना कठिन, २०५
जो सोचते एक बात हैं, कहते दूसरी हैं, २०६
-के दो प्रधान कार्य : भूलनेकी कोशिश और उकताहटसे बचना, २१०-११
-की प्रवृत्ति : शुभको सुरक्षित रखनेकी, २१९
-पर एक बड़ी जिम्मेदारी है, २५१
-में यह प्रश्न उठना : "मैं यहां क्यों हूं", २५२
-की वस्तुओंमें दिलचस्पी भ्रम-भ्रांतिपर आधारित, २८४-८६
-को जिस भावनाने नास्तिक बना दिया, २८९
-ने उन सबपर जुल्म ढाया जो विशिष्ट कृपाशक्तिके साथ आये, ३२६
-का अपनेको दूसरोंसे भिन्न अनुभव करना अज्ञान !, ३३७
(दे० 'मानवजाति', 'व्यक्ति', 'सत्ता' भी)

मनोमय पुरुष,
बहुत कम तुम्हारे अंदर होता है, १३२

मस्तिष्क, ११२
-का व्यायाम, २०९
-की पांच मिनटकी नीरव विश्रांति का फल, ३६३

महत्त्वाकांक्षा, ८१, ९९, १३१, १९१

महाकाली, ४०८-१०

महालक्ष्मी,
-को प्रसन्न करनेका अनुष्ठान . . ., ४१४
-के आगमनको रोकनेवाली चीजें, ४१६

महासरस्वती,
माताकी कर्मशक्ति . . . ., ४१५
किन्हें चाहती हैं, ४१६

माताजी, दे० 'श्रीमाताजी'

मानवजाति ,
-की सेवा, ६५
-का अल्पसंख्यक वर्ग ही योग के लिये "तैयार" है, २६२
-में उसको अतिक्रम करनेवाली चीजके प्रति विद्वेष, ३२६
-की तीन महान् बाधाएं, ३९३
(दे० 'युद्ध' भी)

मानव प्रकृति, दे० 'प्रकृति', 'परिवर्तन'

मानव स्वभाव,
-के नामसे निम्न वृत्तियोंका समर्थन, ३४०-४१
(दे० 'स्वभाव' भी)

मानसिक असच्चाई, ११०

मानसिक किला, २०५, २०८

मानसिक जगत्,
-में मानसिक आकार, २०३
-की सत्ताएं, २३०-३१

मानसिक रचना, ५७, २०५, २३१
और अनुभव, १३७, १९९, २३६

मानसिक सत्ता,
मृत्युके बाद, २००

माने (कलाकार), ३०९

मारी क्यूरी, २०१

"मिथ्यात्वका प्रभु", १९०, १९२, १९३

मिथ्याभिमान, २९, ३९, ५२
मित्र,
-की कब्रोंकी खुदाई और दुर्घटनाएं, २०१-२
मुक्ति,
और उसका मार्ग, ८९-९१
और स्वेच्छाचारिता, ८९
मूर्खता [मूढ़ता],
निरुत्साहवश और शठतावश होनेवाली, ५१
-एं (कुछ), कभी-कभी लाभदायी होती हैं, १७३
-से मुक्त होनेका तरीका, ३७९-८०
मूर्ति, दे० 'काली'
मूर्तिकार, ३२१
मूल्यांकन,
अपना (सही), २८-९
मृत्यु,
-के रहते अंत सदा बुरा, २२ टि०
आवश्यक नहीं, ५६, १७४-७५
वास्तवमें कब घटित होती है, १४५
-से पूर्वका चुनाव, १८७
-के बादका अनुष्ठान, २१०
-को भव्य वस्तु बनाना, ३६५-६६
-के संबंधमें निष्कर्ष, ३६६
(दे० 'प्राण' भी)
"मैं",
तुम्हारा सच्चा, ७८
-से मतलब, बहुसंख्यक लोगोंका, १७६
-ने किया है" की भावना, २८७-८९; यह भ्रम क्यों और कबतक जरूरी, २८८
मोरिस माग्रे, १९७

य

यंत्र,
(निर्दोष, पूर्ण), ४०-२
तैयार नहीं है, २८८
-की पूर्णता और चुनावकी आवश्यकता, ३३५
और भगवान्‌की अभिव्यक्ति, ३३८
युद्ध, ३३०
कुत्सित वस्तुओंके प्रति रुचिके लिये उत्तरदायी, ३१०
तो बना ही हुआ है, ३११
-की विभीषिका और चरित्र-निर्माण, ३११-१२
-की विभीषिकाने मानव-वर्गको दोमें विभक्त कर दिया है, ३१२
यूरोप,
-के मकान, ३१६
-का सामान्य मनुष्य, ३२०-२१
अब उच्चतर वस्तुओंकी खोजमें, ३२१
योग, २९२, ३०४
साधारण जीवनमें, ८, ३८९-९०
किस लिये करना चाहते हो ?, ६३-५
-साधनामें तैयारी, ६८; मन, प्राण, शरीरकी, ९८-९
-का प्रथम प्रभाव : मानसिक संयमका हट जाना, ७१
करनेका संकल्प कहांसे आता है, ७८
आसान नहीं, ७९, ३४४, ३७३

-का आधार कौन चीज, ७९
आरंभ करनेपर प्रतिकूल परिस्थितियां, १०१
स्वार्थके लिये !, १०२
-में साधारण पुस्तकें पढ़ना, १५४-५८
और रोग, २१४
-का स्वाभाविक प्रारंभ-बिंदु, २५२
-में प्रवेशकी शर्त्त, २५७-५८
-के लिये तैयार लोग, २६२
-में द्विविध जीवन !, ३५०, ३८९
-का संपूर्ण उद्देश्य, ३५०
-की पद्धतिका संपूर्ण सार, ३५०
-को गंभीरतापूर्वक लेना, ३५२; इसमें क्या व्यक्ति अभिभूत नहीं हो जाता ?, ३५५
-में प्रवेश करनेपर सभी मूल्य बदल जाते हैं, ३८८
है प्रत्येक वस्तु, यदि उसे यथार्थ रूपमें क्रिया जाय, ३७४-७५
(दे० 'पथ', 'पूर्णयोग' भी)
योगी,
-के लिये सच्चा मनोभाव, २१२
यौगिक शब्दावली, ७-८

र

रचनाएं,
आदतोंकी और स्वभावकी, ३५४-५५
राजराजेश्वरी महेश्वरी, ४११
राजा,
-का जीवन, १४७, १५३-५४
राफेल, ३०९
रासपुटीन, १९२
रूढ़िवादिता, २९२, २९३
रूप,
-पर आंतरिक स्थितिका प्रभाव, ५४-५
रूपांतर,
-का आरंभ-बिंदु, १८
(भौतिक), से पहले आंतरिक रूपांतर आवश्यक, १८
-के लिये निर्भरयोग्य भाग, ७८
(आंतरिक और बाह्य), के बीच असामंजस्य न बढ़ने देनेके लिये कौन-सी सावधानी ?, २७९
-की कठिनाई, भौतिक, प्राणिक, और मानसिक रूपमें, ३४३-४४
अपरिवर्तनीय : व्याख्या, ३६७
सर्वांगीण, त्याग भी सर्वांगीण : व्याख्या, ३६८-७०
(पूर्ण, व्यक्तिगत), समष्टिसे संबंधित, ३९३
नामका फूल, ४०५
(दे० 'परिवर्तन' भी)
रैंबें (चित्रकार), ३०९
रोग, ४५, ४६
(समस्त) का इलाज, ५३
दूर करना आध्यात्मिक ढंगसे, ६२, २७०-७३, २७४-७८
-का कारण, २१४-१५
-कीटाणुओंमें विश्वास नहीं तो छाना हुआ पानी क्यों ?, २१६
-को जीतना, योगसे, २५७
-का मूल कारण मनकी किसी अव्यवस्थामें ?, २६९

-को सूक्ष्म शरीरमें प्रवेशसे रोकना, २७४-७६
एक बार जब घर कर लेता है, २७६
दूर करनेके लिये इच्छा-शक्तिका प्रयोग या विश्वास या भागवत कृपापर निर्भरता ? २८६
-पर आंतरिक चेतनाका दबाव, २९०
और मंत्र-जप, ४०१
(दे० 'विश्वास' भी)
रोगप्रतिकारक पिंड, २१५

ल

लक्ष्य, दे० 'उद्देश्य'
लियोनार्दो द विन्सी, ३०९
लोकोपकार, ६५, २९८

व

वाग्नर, ३२२
विचार,
विशुद्ध भाव और ज्ञान, ४७
अपना निजी, कितनोंमें ?, २०७
-से चिपक, २०८
-की गति, २२५
जिसे तुम नहीं समझते, २७३-७४
-पर संयम, ३४४
विजय [सफलता], १४-६, ७२
धैर्यशीलको, ५२, ११८
(दे० 'परिवर्तन' जीवनमें)
विज्ञान (भौतिक) दे० 'भौतिक'
विज्ञान (अतिमानसिक),
-मय जीवन निश्चित है, १६२
सब कुछके पीछे विद्यमान है, २८४
(दे० 'सच्चिदानन्द' और मनकी विश्व-लीला चस्पियोंमें भेद, २८१
'विनम्र होना', २८-९
'विफलता पुरानी',
: व्याख्या, ३५९
विभूति, दे० अवतार
विभेद [विविधता],
(बाहरी), को अस्वीकार अज्ञान, ३३७
-के अंदर एकत्वकी सिद्धि यत्न करना सृष्टिका हेतु ३३६-३७ (दे० 'सृष्टि' भी)
विरोधी शक्ति, ३४०
कब हानि नहीं पहुंचा सकती (दे० 'चेतना' भी)
-योंको क्यों बर्दाश्त किया है, १७१-७२, २५८
-योंका सामना करनेका पथ, १७२
-यों द्वारा अधिकृत लोग, ९१
-यां तबतक रहेंगी, १९३
-को देवदूत मान लेना, (दे० 'प्राणिक सत्ता')
विवेकानन्द, ३७०
विश्राम [आराम], ६१, ६२
सच्चा, १५९
-का ढंग जापानमें, ३१३
(दे० 'शिथिलीकरण')
विश्व, ७०, १८०
(यह), प्रलयमें नहीं २२ टि०

असंतुलनपर स्थापित नहीं हो सकता, २३
-का सच्चा आधार, २५
-की प्रत्येक वस्तु अभिव्यक्ति चाहती है, ५८
-की व्यवस्था योजनाके अनुसार, ८३
-को समझनेकी कोशिश न करना, मानसिक आलस्य, ३८९
(दे० 'जगत्', 'सृष्टि' भी)
विश्वास,
और कठिनाई, ७२
कि सदा सर्वोत्तम घटित होता है, ७२, २१७, २१८-१९
स्वास्थ्य-संबंधी नियमोंमें, २१५
-का अभाव, भयके मूलमें, २१७
-का प्रयोग, रोग-निवारणमें, २७५-७६
व्यक्ति,
कोई पृथक् सत्ता नहीं, ३५-६
-का निर्माण कौन चीज करती है, १७५-७७
(प्रत्येक), की अपनी पद्धति, १८४
(प्रत्येक), विशिष्ट, ३६०-६१
व्यष्टि,
-भावको समाप्त कर देना..., ३३६-३७
और समष्टिके बीच अन्योन्य संबंध, ३९३
-सत्ताकी सभी वस्तुएं अपने मूलमें, ४१३
व्यवसाय,
आयात-निर्यातका, ३८८

श

शंकर [शंकराचार्य], १२०, १७८, ३३६
शक्ति,
खर्च और ग्रहण करना, ४-५
(अक्षय), ६-७
-के साथ संपर्क बनाना, ११, ३२
-योंका (उच्चतर), व्यवहार, ८५-६
दूसरेको बाध्य करनेकी, २९३
निष्क्रिय और सक्रियमें भेद, ३७८-७९
(व्यक्तिगत), 'इच्छा-शक्ति'के संपर्कसे, ४१३
शब्द,
कोरे, अर्थसे खाली, ६३-४
-ोंके पीछेकी वस्तुको देखना, ६४
-ोंको समझका आधार बनाना, २३२
(दे० 'अनुभव' भी)
शरीर, ४०, ७८, ९९
-को सबल और नमनीय बनाना चाहिये, ५३
-के साथ मन, प्राणका दुर्व्यवहार, ५३
-में सहनेकी क्षमता, ५३-४
-के सौंदर्यका आदर्श, ५४
आंतरिक स्थितियोंको प्रकट करता है, ५५
बड़ा आज्ञाकारी है, ७९
-से बाहर जाना, १२६, १३०-३३, १४४-४५, २००
-की चेतना, १२९

-में वापस आना, १३०, १४५
-में कोई दूसरा घुस सकता है ?, १३०-३१
-से बाहर कौन-सा मार्ग जाता है ?, १३१-३२
चैत्य पुरुष द्वारा संघटित : अर्थ, १४३
मनुष्यका रक्षाकवच, १९५
-की संवेदन-शक्ति, स्थान या देशके वातावरणके प्रति, २३५
-की ग्रहणशीलताको कैसे बढ़ायें ?, २७२-७३
-को संवेदनशील होना होगा, २७४
-से बाहर जाकर रोग दूर करना, २७७
-को पूर्ण बनाओ, पर चुनाव करना न भूलो, ३३५
-को दीर्घजीवी बनानेका हेतु, ३३८-४०
-का योग, ३४८
-की आदत बदलना, ३७७
शांति, २७८
(आंतरिक), में बने रहनेका उत्तम तरीका, ११५-१६
-का आह्वान, रोग-निवारणके लिये, २७३
बनाये रखना किसी अप्रिय चीजके सामने कठिन, ३७९
(माणवत), तुम्हें कई बार दी गयी, पर हर बार तुमने उसे खो दिया, ४२१
-को खो देनेका कारण; ४२१-
दी जाती है : व्याख्या, ४२२
शारीरिक शिक्षा, ५३-६
शिक्षा, २४, ९२
-का आधार, २५
दूसरोंको, ७४
छोटे बच्चेसे भी, ९१
-का प्रयोजन, २०९
शिखर,
एक ही है या प्रत्येक विशिष्ट है ?, ३६०
शिथिलीकरण, १५९
-का प्रयोग, रोग-निव
विचारको समझनेमें,
शून्य,
बनाना अपने-आपको, २
श्रीअरविंद,
-का बिल्लीको अच्छा करन
-का लोगोंको नीरोग करन
-के कमरेकी घड़ियां एक
२८३
लंबे वाक्योंका प्रयोग क
हैं, ३७६ टि०
हमसे जो चाहते हैं कि
३९४
श्रीमाताजी,
'मैंने टेनिस खेलना आठ
आयुमें सीखा था. . .
'मैं श्रीअरविंदके साथ
किया करती तो. . .
'लोगोंने मुझे देखा अनुपयु
णामोंके साथ, ११४
'. . मैं बेहोश हो गयी, मैं
शरीरको वहां देखा, ल
हुआ, . . ., १२६-२७
'मैं यहां हूं ही इसीलिये,
-के पास जाना, स्वप्नोंमें या

से बाहर जानेपर, १३२-३३
धन-कोषके रक्षक सांपके सामने, १९४, ३९३
'मैं जान गयी कि हम श्रीअरविंदके ज्योतिर्मंडलमें प्रवेश कर रहे हैं, २२९
' "झील" के उस ओर मैंने अनुभव किया कि वातावरण बदल रहा है, २२९
-की क्लासकी बात दूसरोंको कहना, २३४
'मुझे ख्याल नहीं था कि वहां पानी है, महज एक परीक्षणके लिये मैंने ऐसा किया था . . . , २४१
-की असाधारण बिल्ली, २४३-४४
-का बिल्लियोंके साथ परीक्षण, २४५
'मैं आगपर दूध चढ़ा छोड़ चली जाया करती . . ., २८२
-की टालस्टायके लड़केसे मुलाकात, २९४
'मुझे जापानमें प्रत्येक चीज सीखनी पड़ी थी, कलात्मक दृष्टिसे, ३१६
-का जापानी मित्र, जो अंतरात्माका संपर्क पानेके बाद वहांसे भाग गया था, ३१८
'मैंने जापानके भू-दृश्योंको फ्रांसमें रहते अपने अंतर्दर्शनमें देखा था, ३२७
-के पास फ्रांसमें, मरनेके बाद बिल्लियोंके रूपमें आनेवाले दो युवक, ३३०-३१
-का शरीरका योग, ३४८-४९
-का खड़े होनेके निर्णयके साथ खड़े हो जाना, ३७७
-की फ्रांसमें चार व्यक्तियोंके साथ यात्रा : पहले चर्चा, किन चीजोंकी वास्तवमें आवश्यकता है, ३९७
'मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूं, यह कल्पना करो, फिर पूछो : क्या मैं माताजीके सामने . . . ४००
श्रीरामकृष्ण, ९३ टि०

स

संकल्प [संकल्प-शक्ति],
-को बढ़ाना, ६
बनाये रखनेपर विजय निश्चित, ५२
कठिनाइयोंको जीतनेका जरूरी, योगपर चलनेके लिये, ७७-८
भगवान्‌को अर्पण करना, ११४-१५ ११८, १२१
-में तीव्रता प्राणसे, २६१
-का प्रयोग तनावको शिथिल करनेमें, २७२
(दे० 'प्रयास' भी)
संयोग, ४१७-२०
सचेतनता [जागरूकता, सजगता],
उन शक्तियोंके प्रति जिन्हें तुम ग्रहण और खर्च करते हो, ४-५
अपने विषयमें, ३३-५; ३७; इसमें कोई समय न जल्दीका है न देरका, ३४, ३९
पहला पग है, ६८
-का प्रथम पग, ८८

आवश्यक, १८३, २७५, २७६, २८१, ३३५, ३६१
'सचेतन होनेवाला भाग, २३८
एकमात्र सच्चा संरक्षण, ३३३
-के लिये आवश्यक बातें, २४९
अवांछित तत्त्वोंको न घुसने देने की, ३४४
-में वृद्धि, ३४६
पहले, फिर संयम, फिर परिवर्तन, ३५०-५१
सच्चाई,
(पूर्ण), से तात्पर्य, १७
-की जरूरत, ३८, ४८-९, ५२, ७२, ७९, ८७, ९९, ११०, ११३, १३७, २५८, २६०, २६९, ३३५
'सच्चे लोगोंके लिये सांत्वना, ५१-२
(मानसिक), का शीर्षबिन्दु, १६२
(आत्मदानकी अखण्ड) कोषोंतकमें, ३४९
-की जांच, (दे० 'विरोधी शक्ति' -योंको क्यों)
सच्चिदानंद,
सभी स्थितियोंके पीछे विद्यमान हैं, ४११-१२ (दे० 'विज्ञान' भी)
सत्ता (अपनी बाह्य),
-में परस्पर-विरोधी प्रेरणाएं, ३७
एक पपड़ीकी तरह है ... ७९
-में अनेक व्यक्तित्व, ७९
-के बाहर और भीतरका भेद, १७२-७३
-की विशेषताको कैसे अभिव्यक्त किया जा सकता है, ३३६-३७
-के कुत्सित कोनोंकी खोज ७३
(दे० 'एकीकरण' भी)
सत्ताएं,
एक ही प्रकारके कार्यके लिये संग आती हैं, ३१९-२०
सत्ताएं (छोटी-छोटी),
इनका मनोरंजन आंखोंपर रख देना, २८१-८२
प्यारी, २८२
सत्य, १५७, १६१, ३०४
(बाह्य रूपके पीछेके), को देखने की दृष्टि पा जाना, २०
-की अंतिम विजयमें विश्वास, २१, २५
(आंतरिक), के विपरीत करनेपर व्याकुलता, २३ (दे० 'आंतरिक संकेत' भी)
-को बहुत शीघ्र संसिद्ध करनेकी कोशिश, ११६-१७
हमारा, हमारे पड़ोसीका सत्य नहीं, २९२-९३
(स्वीकार्य निम्नतर), ३५३
सफलता, दे० 'विजय'
सभ्यता,
चक्राकार गतिसे आगे बढ़ती है, ३१९
(वर्तमान), का अंत हो जायगा, यदि अगला युद्ध हुआ तो, ३१२-१३; यह अंत पृथ्वीके लिये अनुकूल होगा या प्रतिकूल, ३३८-३९
क्या होती है और क्या करती है, ३३८

समय,
आ गया है, २२ टि०
-की क्षति, सभ्यता या जीवनको दुबारा आरंभ करनेमें, ३३९, ३४०
(दे० 'पथ' और 'कार्य' भी)
समर्पण [आत्मदान],
-का अर्थ, ७१, १२१
मुक्त होनेका सर्वोत्तम पथ, ९०
आरंभसे पूर्ण होना संभव है ?, ९१
और व्यक्तिगत प्रयास, ९४, ३७५-७६
निष्क्रिय, ११४, १२१, ३७३
और आत्मनिवेदन, १३३-३६
व्योरेवार, १३४-३५
दुराग्रही अंगोंका, १८६
और बलिदानमें अंतर, ३२२-२५
अपने अंदरकी या दूसरेकी कठिनाइयोंका, ३४६, ३४७
शरीरके कोषोंकी प्रतिक्रियाओंतकका, ३४८-४९
-को पूर्ण बनानेका चुनाव करना होगा, वह स्वयं नहीं हो जायगा, ३५३
तामसिक, ३५३
पूर्ण है या नहीं, कैसे जानें ?, ३५६
भी भगवती शक्ति कर देंगी . . ., ३६६, ४२३
और तामसिक निश्चेष्टता, ३६७-६८, ३७२
"प्रसन्न, प्रबल, सहायक" : व्याख्या, ३६८
निष्क्रिय और सक्रियमें भेद, ३६८
"सजीव सत्ताका, यंत्रका-सा नहीं" : व्याख्या, ३६८
-के अलावा दूसरे मार्ग, ३७३
(महत्त्वपूर्ण), चरित्रका, जीवन-विधिका, ३८३
कबतक पूर्ण नहीं होता, ३८४
(सच्चे), का तात्पर्य, ३८४
-को सच्चे रूपमें करना, ३८८-८९
बिना हिसाब लगाये, ४१७
(दे० 'कार्य' भी)
समस्या,
-का समाधान रातमें, ६०
-पर दृष्टिपात कई तरीकोंसे, १६०
सृष्टि-संबंधी, दे० 'सृष्टि'
समूह,
-के अंदर व्यक्तित्व, ३६
व्यक्तिसे निम्न कोटिका, ३६
(दे० 'व्यष्टि' भी)
सहज-प्रवृत्ति, २७, २४२, ३४०, ३४१
सहायता,
मिलेगी, पर तुम्हें अपने ही पैरोंसे चलना होगा, ४२३
सांप, ३०४
साक्षीतत्त्व,
सत्ताके प्रत्येक भागमें, २३८
सापेक्षता, १७३
-का बोध, २९२-९३
सालों बोतोम (कलाकार), ३०९
सिद्धांत,
और विपरीत सिद्धांतमें समन्वय, ४४
(सभी) को देखनेमें समर्थ होना, १६०-६१

सूक्ष्म-दर्शन,
(झूठे), क्या नहीं होते, १०९-१०
(मिथ्या), ११३
सूली,
-का मूल अर्थ, ४०५
सृष्टि,
-रचना (सर्जन, उद्देश्य, कारण आदि), १६३-६७, १७७, २१९-२३, २३९-४०, २४६-४८, २८३-८४, २९१-९३-३८१-८२ ४०६-७
(दे० 'जगत्', 'नियति', 'विश्व' भी)
सेजान्न (चित्रकार), ३०७-८
सोपान-तंत्र,
क्या चीज है ?, ४०४-५
सौंदर्य,
शारीरिक, ५४
-बोध फूलोंमें, १६९
-के लिये सौंदर्यपूर्ण आवास, ४१५
स्कूल,
हम यहां क्यों चलाते हैं, ४
-के कोई-कोई विषय इतने कठिन क्यों होते हैं ?, २०३
-में पाठ पढ़ते हुए वहीं बन जाना, ३७५
स्टालिन, १९२
स्नायविक आवरण,
-का स्वरूप, ६२
-को क्षति पहुंचानेवाली चीजें, ६२, २८०
-में खरोंचके अनुपातमें दुर्घटना, २७९, २८०
नैतिक, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणके भी उपयोगी हो सकता है या नहीं, ३३३
स्वच्छता,
(आंतरिक), महत्त्वपूर्ण, ३७०
स्वतंत्रता,
-का अर्थ, १८०
'तुम्हारी इच्छा जानबूझकर [illegible] छोड़ दी गयी है, तुम्हें [illegible] करना होगा, ३५२, ३५३
अहंकारकी, दे० 'अहं'
(दे० 'मुक्ति' भी)
स्वप्न,
-ोंकी उपयोगिता, ५८
विभिन्न श्रेणियोंके, ५९
-में उच्च स्तरमें अनुभूत [illegible] को न भूलनेकी साधना, ६०
-ोंको लिख रखना क्या जरूरी है ?, ६१
प्रतीकात्मक, १०८-९
मरनेका, १३२
-की व्याख्या करना, ३२७-२९
(दे० 'दुःस्वप्न' भी)
स्वप्नाचरण, १२८-३०
"स्वप्नोंकी माता", १, १०
स्वभाव,
बदलना, ३५ वर्ष, ९३
बदलना असंभव : यह मिथ्या बात है, २६८-६९
-की रचनाएं, ३५४-५५
(दे० 'परिवर्तन', 'मानव-स्वभाव' भी)
स्वर्ग,
-की कल्पनाका जन्म, ५०

ह

हाथ,
-को सचेतन बनाना, ४१६
हिटलर, १८९-९०, १९२
हीनता,
-की भावना, ३७५
हीनयान और महायान, २६१-६४
हृदय,
-से मतलब, ६७

सूची

१	दिसंबर,	१९५०	१	१०	मार्च,	१९५१	१९३
२३	दिसंबर,	१९५०	४	१२	मार्च,	१९५१	२०३
२५	दिसंबर,	१९५०	६	१४	मार्च,	१९५१	२१२
२८	दिसंबर,	१९५०	११	१७	मार्च,	१९५१	२२२
३०	दिसंबर,	१९५०	१४	१९	मार्च,	१९५१	२३०
४	जनवरी,	१९५१	१८	२२	मार्च,	१९५१	२३७
८	जनवरी,	१९५१	२१	२४	मार्च,	१९५१	२४५
११	जनवरी,	१९५१	२८	२६	मार्च,	१९५१	२५२
१३	जनवरी,	१९५१	३०	२९	मार्च,	१९५१	२६३
१५	जनवरी,	१९५१	३७	३१	मार्च,	१९५१	२६९
२०	जनवरी,	१९५१	४३	२	अप्रैल,	१९५१	२७९
२५	जनवरी,	१९५१	४८	५	अप्रैल,	१९५१	२८४
२७	फरवरी,	१९५१	५७	७	अप्रैल,	१९५१	२९४
३	फरवरी,	१९५१	६३	१२	अप्रैल,	१९५१	३१३
८	फरवरी,	१९५१	७९	१४	अप्रैल,	१९५१	३२२
१०	फरवरी,	१९५१	८९	१७	अप्रैल,	१९५१	३३२
१२	फरवरी,	१९५१	९५	१९	अप्रैल,	१९५१	३४०
१५	फरवरी,	१९५१	१०८	२१	अप्रैल,	१९५१	३४९
१७	फरवरी,	१९५१	११३	२३	अप्रैल,	१९५१	३६०
१९	फरवरी,	१९५१	१२५	२६	अप्रैल,	१९५१	३६६
२२	फरवरी,	१९५१	१३३	२८	अप्रैल,	१९५१	३७५
२४	फरवरी,	१९५१	१४१	३	मई,	१९५१	३८५
२६	फरवरी,	१९५१	१५४	५	मई,	१९५१	३९५
१	मार्च,	१९५१	१६२	१०	मई,	१९५१	४०८
३	मार्च,	१९५१	१७१	१२	मई,	१९५१	४१४
५	मार्च,	१९५१	१७८	शब्दावली			४२५
८	मार्च,	१९५१	१८५	अनुक्रमणिका			४२९

सूची (उद्धरण)

'प्रार्थना और ध्यान' पुस्तकसे	१
'अक्षय शक्ति' लेखसे	४
'टूर्नामेंट' लेखसे	१४-१७
'जीवनविज्ञान' पुस्तकसे	३०-५६
'पहलेकी बातें' पुस्तकसे	५७-५९
'वार्तालाप (१९२९)' पुस्तकसे	६३-३३२
'श्रीअरविंदके पत्र', तृतीय भाग (शताब्दी संस्करण) पुस्तकसे	३४०-३५७
'पथ' लेखसे	३६१
'माता' पुस्तकसे	३६६-४१५
'मातृवाणी', तृतीय खण्ड (पुराना संस्करण) पुस्तकसे	४१७